पाञ्चरात्रागम

डॉ० राघवप्रसाद चौधरी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

पाञ्चरात्रागम

श्री कृष्णाचार्य "वेदान्ताचार्य"
श्री लक्ष्मी नारायण मन्दिर
दशाश्वमेध - नैमिषारण्य
सीतापुर (उ.प्र.)
पौ. वे. अ. अ. संस्थान
नैमिषारण्य

लेखक
डॉ॰ राघवप्रसाद चौधरी

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक !
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—८०००४

प्रथम संस्करण, विक्रमाब्द २०४४,
शकाब्द १९०५; खृष्टाब्द १९८७

मूल्य : ५०.०० रुपये

मुद्रक :
एकेडेमिक प्रेस
पटना-८१०००६

वक्तव्य

वैष्णव-सम्प्रदायों के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में परिज्ञात 'पाञ्चरात्रागम' का प्रस्तवन परिषद् के ऐतिहासिक प्रकाशन-कार्यों में परिगण्य है। संस्कृत-भाषा का यह आचार-प्रधान ग्रन्थ विद्वान् लेखक ने साधनापूर्वक प्रस्तुत किया है। वैदिक आगम के अन्तर्गत 'पाञ्चरात्रागम' का विशिष्ट महत्त्व परिमान्य है, यद्यपि यह वैदिक परम्परा का अनुगमन नहीं करता। वैष्णव-आगम के दो भेदों में तान्त्रिकता की दृष्टि से 'पाञ्चरात्रागम' का और वैदिकता की दृष्टि में 'वैखानस' का सातिशय महत्त्व है। वस्तुतः, 'पाञ्चरात्रागम' में निहित 'आगम' शब्द तो तन्त्रबोधक ही है; परन्तु तान्त्रिकता के बावजूद पाञ्चरात्रागम की वैदिकता भी असन्दिग्ध है।

यह ग्रन्थ चार भागों तथा सोलह अध्यायों में विभक्त है। किन्तु, सभी भागों की अध्याय-संख्या समान है। भाग भी चार और प्रत्येक भाग की अध्याय-संख्या भी चार ही है। 'पाञ्चरात्रागम'-ग्रन्थों की संख्या तो बहुत बड़ी है, परन्तु विद्वान् लेखक डॉ० राघवप्रसाद चौधरी ने उन सभी के मन्थन के पश्चात् इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। एतदर्थ हम डॉ० चौधरी के प्रति आभार निवेदित करते हैं। उन्होंने सहायक ग्रन्थों की जो विशद सूची प्रस्तुत की है, वह भी सर्वथा उपादेय है।

विद्याव्यसनी पाठकों के समक्ष इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हुए हम ततोऽधिक आश्वस्त हैं कि वे इसके अध्ययन-अध्यापन से प्रचुर मात्रा में लाभान्वित होंगे और शोध-अनुशीलन में भी इसका पर्याप्त उपयोग होगा। इसमें ही उपादेय ग्रन्थों की सार्थकता निश्चित रहती है।

परिषद् भविष्य में भी अपने सार्थक प्रकाशनों से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए कृतसंकल्प है।

चैत्र-पूर्णिमा; २०४४ वि०
दिनांक १४ अप्रैल, १९८७ ई०

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

कृतज्ञता-ज्ञापन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना द्वारा 'पाञ्चरात्रागम' ग्रन्थ का प्रकाशन भारतीय विद्यानुरागियों के लिए निश्चित ही अतिशय प्रमोद का विषय है। इस पुस्तक के प्रकाशन के सन्दर्भ में आज से प्रायः दस साल पूर्व का वह समय स्मृति-पटल पर आता है; जब मैं आन्ध्रप्रदेश के पवित्र तिरुपति-क्षेत्रस्थ केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ में कार्यरत था और विद्यापीठ के एक विशेष समारोह में बिहार के तत्कालीन शिक्षामन्त्री तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के अध्यक्ष कीर्त्तिशेष स्वनामधन्य मान्य डॉ० रामराजप्रसाद सिंह तिरुपति पहुँचे थे और उसी क्रम में मेरा उनसे सम्पर्क हुआ था। डॉक्टर साहब विद्यापीठ के कार्यकलाप को देखकर बहुत प्रभावित हुए थे; पर उन्होंने यह कहा था कि "भारत की अमूल्य सांस्कृतिक निधियाँ अधिकतर संस्कृत में ही सुरक्षित हैं। फलतः, संस्कृत-भाषा से अपरिचित सामान्य जन इस अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर से वंचित रह जाते हैं। अतः, हिन्दी में भी इन विषयों को प्रकाशित किया जाना चाहिए।" उसी प्रसंग में मैंने प्रस्तुत पुस्तक 'पाञ्चरात्रागम' के प्रकाशन का प्रस्ताव डॉक्टर साहब के समक्ष उपस्थित किया और उन्होंने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से इस पुस्तक को प्रकाशित करना सोल्लास स्वीकार किया। मैंने अपने शोध के प्रसंग में संकलित सामग्री के आधार पर पुस्तक का अन्तिम रूप देना निश्चित किया और उस कार्य में प्रवृत्त हो गया।

यथासमय डॉक्टर साहब से पत्राचार के बाद, मैं उनके आदेश से बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग के सम्पर्क में आया और परिषद् के तत्कालीन निदेशक पं० हंसकुमार तिवारी, तदनन्तर पं० श्रुतिदेव शास्त्री से पत्राचार तथा शास्त्रीजी से साक्षात् सम्पर्क का अवसर प्राप्त हुआ। फिर भी, सुदूर आन्ध्रप्रदेश में मेरी स्थिति के कारण, चाहते हुए भी प्रस्तावित पुस्तक के प्रकाशन का कार्य गतिशील नहीं हो पा रहा था। संयोगवश, मैं सन् १९७८ ई० की जुलाई में तिरुपति से स्थानान्तरित होकर गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, इलाहाबाद आ गया। इलाहाबाद से पटना का केवल कुछ घण्टों का रास्ता मेरे लिए पहले की तरह दुर्गम नहीं रहा, विशेष रूप से, जब भी कभी मैं इलाहाबाद से अपने गाँव (बररी-बेहटा, जि० सीतामढ़ी) आता-जाता, तब पटना रास्ते में होने के कारण परिषद् से सम्पर्क करना अत्यन्त आसान हो गया। उसी बीच परिषद् के आदेशानुसार पुस्तक की पाण्डुलिपि शास्त्रीजी को दे दी गई। परिषद् द्वारा आवश्यक औपचारिकताओं के पश्चात् अन्तिम रूप से पुस्तक-प्रकाशन का निर्णय किया गया।

पुस्तक-प्रकाशन के लिए अनुबन्ध के बाद मुद्रण-कार्य परिषद् के वर्त्तमान उपाध्यक्ष-सह-निदेशक मान्य पण्डित श्रीरामदयाल पाण्डेयजी द्वारा प्रारम्भ हुआ और इनकी तत्परता तथा समर्थ कार्यसम्पादन-क्षमता से ही आज यह पुस्तक प्रकाशित रूप में उपन्यस्त है।

इस पुस्तक के लेखन तथा प्रकाशन में मेरे आदरणीय गुरुजनों तथा सहृदय सुहृद्वरों का आशीर्वाद एवं शुभकामनाएँ प्रेरणादायी रही हैं। प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव

डॉ० बी० आर्० शर्मा (पूर्वप्राध्यापक; मिथिला-शोधसंस्थान, दरभंगा; संस्थापक-निदेशक, केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति एवं निदेशक, विं० वै० शो० संस्थान, होशियारपुर, पंजाब-विश्वविद्यालय, लब्धावकाश) की प्रेरणा तथा आशीर्वाद मुख्य रूप से इस पुस्तक-लेखन में कारण रहा है। गुरुदेव के प्रति सादर प्रणामांजलि समर्पित करता हुआ मैं केवल यही कहना चाहूँगा—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'**। छात्रजीवन से ही मेरे प्रेरक तथा यथावसर सहायक आदरणीय **डॉ० योगेन्द्रकिशोर सिन्हा** (पूर्वप्राचार्य, दरभंगा-चिकित्सा-महाविद्यालय तथा बिहार-चिकित्सा-सेवा के अन्य महत्त्वपूर्ण पद से लब्धावकाश) का मेरे ऊपर जो अनुग्रह रहा है, उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। आदरणीय **डॉ० रामकरण शर्माजी** (पूर्वकुलपति, दरभंगा-संस्कृत-विश्वविद्यालय) के वात्सल्य तथा प्रेरणा के लिए भी मैं उनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

पुस्तक-प्रकाशन के लिए दी गई प्रेरणा तथा सक्रिय प्रयास के लिए **स्व० डॉ० रामराजप्रसाद सिंह** निश्चित ही धन्यवादार्ह हैं। पर, आज भारी मन से उनका स्मरण करना ही अपने वश में है। आज डॉक्टर साहब होते, तो निश्चित ही इस पुस्तक को देखकर उन्हें बहुत प्रसन्नता होती। भारतीय विद्या के उस अनुरागी का मैं हृदय से आभारी हूँ और उनकी दिव्यात्मा को श्रद्धापूर्वक सहस्रशः धन्यवाद समर्पित करता हूँ।

परिषद्-परिवार के पूर्व तथा वर्त्तमान सभी सदस्यों का भी मैं आभारी हूँ। मुख्य रूप से वर्त्तमान निदेशक महोदय मान्यवर **श्रीरामदयाल पाण्डेयजी** का हृदय से आभारी हूँ। पुस्तक का प्रूफ देखने के साथ-साथ अनेकानेक उपयोगी सुझाव देनेवाले पूज्य भ्रातृवर **श्रीरामकिशोर ठाकुरजी** तथा आदरणीय **डॉ० श्रीरंजन सूरिदेवजी** का भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

मेरे मान्य सुहृद् **डॉ० जगन्नाथ पाठक** (प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, जम्मू) तथा **डॉ० किशोरनाथ झा** (रीडर, गं० ना० झा के० संस्कृत-विद्यापीठ, प्रयाग) से पुस्तक-प्रकाशन के क्रम में जो प्रोत्साहन मिलते रहे हैं, उसके लिए मैं इन्हें भी हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। आज के इस कठिन काल में अनेकानेक पारिवारिक परेशानियों के बीच कोई भी सारस्वत अनुष्ठान असम्भव नहीं, तो अतिकठिन अवश्य है। मेरी धर्मपत्नी **श्रीमती गायत्री देवी** ने अत्यन्त सहयोगपूर्वक पारिवारिक परेशानियों से मुझे मुक्त रखकर ग्रन्थ को पूर्ण करने में सहायता की है। अतः, इन्हें भी हार्दिक धन्यवाद है। अपनी पुत्री **सौ० पद्मा** को अनुक्रमणिका आदि के निर्माण-कार्य में सहायता प्रदान करने हेतु आशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में, उन सभी व्यक्तियों, पुस्तकालयों तथा संस्थाओं के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिनसे मैं इस ग्रन्थ की प्रस्तुति में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त कर सका हूँ।

केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ
शास्त्रीनगर, जम्मू—४
१२ जनवरी, १९८७ ई०

—राघवप्रसाद चौधरी

विषयानुक्रम

उपोद्घात

भारतीय वाङ्मय के विपुल तथा विस्तृत क्षेत्र में दार्शनिक तथा आचारपरक साहित्य का गौरवमय एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय समाज के एक-एक अंग के आचार-शास्त्र का पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्य भी है। इन आचारपरक साहित्यों में बहुत-सारे ऐसे साहित्य भी हैं, जो उस समाज-विशेष के आचार-व्यवहार के साथ दूध-पानी की तरह एकरस हो गये हैं। यह स्वाभाविक भी है। पर, बाह्य जगत् को उस साहित्य का समुचित परिचय नहीं है। ऐसे साहित्यों में वैष्णव-आगम के पाञ्चरात्रागम-साहित्य का परिगणन हो सकता है। संस्कृत-वाङ्मय के अन्य अंगों पर जो कार्य हुए हैं, उनके अनुपात में इन आगमिक ग्रन्थों तथा साहित्य से सम्बद्ध किये गये कार्य सर्वथा नगण्य ही कहे जा सकते हैं। यहाँ तक कि इस आगम की विपुल साहित्य-सम्पदा का बड़ा अंश अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

प्रायः सर्वविदित तथ्य है कि पाञ्चरात्रागम-सिद्धान्त वस्तुतः बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। डॉ० एस० एन० दासगुप्ता के अनुसार पाञ्चरात्रागम-सिद्धान्त एक तरह से भविष्य के समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों की नींव है।[1] भक्ति-भावनामूलक आराधना पर आधारित विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के विकास में पाञ्चरात्र-सिद्धान्त तथा तात्त्विक पदार्थों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के विशिष्ट व्यवस्थापक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य श्रीरामानुज से पूर्व भगवान् आदिशंकराचार्यपाद ने अद्वैतवाद की सुव्यवस्थित तथा दृढ़ व्याख्या की थी और उसके द्वारा उन्होंने बौद्धधर्म से पराभूतप्राय सनातनधर्म के उद्धार का सफल प्रयत्न किया था। आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार प्रस्थानत्रयी ने निर्गुण, सत्य, ज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। उस ब्रह्म का ज्ञान ही परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहा गया है। उस मोक्ष-प्राप्ति के लिए समदमादि साधन-सम्पत तथा मुमुक्षुत्वादि की आवश्यकता भी निश्चित रूप से निर्धारित है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य शंकर की यह निर्गुण अद्वैतब्रह्म की भावना तथा उपासना अत्यन्त तेजस्वियों तथा प्रखर बुद्धिवालों से ही सम्भव है। सामान्य जनों के लिए इस मार्ग का अनुसरण करना आसान नहीं है। अतः, ऐसे सामान्य जनों के मोक्ष के लिए एक ऐसे मार्ग या सिद्धान्त की आवश्यकता का अनुभव किया गया होगा, जो सगुण, अतः साकाराधनपरक होने के कारण सर्वसामान्य जनों के लिए भी सुकरतया ग्राह्य एवं अनुभवगम्य या अवगमन-योग्य हो। आचार्य श्रीरामानुज ने, साथ-साथ उनके पूर्ववर्त्ती विशिष्टाद्वैत-वेदान्ताचार्यों ने भी उस तरह के सगुणोपासनपरक

---

१. भारतीय दर्शन का इतिहास, अध्याय १६, पृ० १२ (हिन्दी-संस्करण)

सिद्धान्त का बीज निश्चित ही पाञ्चरात्रागम में प्राप्त किया होगा, जो कि आल्वार सन्तों के प्रबन्ध-साहित्य के बाद व्यवस्थित परम्परा के रूप में प्राचीन समय से वैष्णव-समाज में समरस रूप से प्रवर्त्तित था। इस पाञ्चरात्र-परम्परा में सगुण-साकार मूर्त्ति की आराधना को सर्वापेक्षया सर्वश्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट स्थान दिया गया है। यहाँ मूर्त्याराधन-क्रम में परब्रह्म को न केवल प्रतिमा में प्रतिष्ठापित ही करते हैं, अपितु उसका जीवत्वापादन भी करते हैं।[1] अर्थात्, ब्रह्म को इस स्तर पर ले आते हैं, जहाँ वह जीवनयुक्त सामान्य मनुष्य की तरह व्यवहार के योग्य हो। अतएव, उनका राजोपचार से आराधन तथा विवाहाद्युत्सव ठीक मानवीय व्यवहार की तरह सम्पादित होते हैं। अतः, इस तरह की परम्परा में प्राप्त आधार को स्वीकार कर विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के पूर्ववर्त्ती आचार्य तथा श्रीरामानुजाचार्य ने भक्ति, प्रपत्ति आदि भावना-प्रमुख अपने विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा विवेचनपूर्वक विकास किया होगा। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों के प्रतिपादित तात्त्विक विषयों में वह सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विशिष्टाद्वैत-वेदान्त में विधिवत् प्रतिपादित है। पर, स्थूल रूप में उसका मूल अवश्य ही पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में देखा जा सकता है। यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य से पूर्व अनेकान्तवाद नानात्वैकत्ववाद, द्वैताद्वैतवाद, भेदाभेदवाद आदि नाम से प्रसिद्ध अद्वैत-सिद्धान्त के विरुद्ध आचार्य भर्तृप्रपञ्च ने भी अपना अनेकान्तवाद प्रतिपादित किया था, परन्तु परमार्थतः उसने भी अद्वैतवाद ही स्वीकारा था।[2] वहाँ भी विशिष्टाद्वैत की तरह सगुणपरक द्वैत की स्थापना हुई थी, यह कहना कठिन है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रीरामानुजाचार्य तथा विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने जिन तत्त्वों को विशिष्ट सैद्धान्तिक रूप में अपने विशिष्टाद्वैत-वेदान्त में विस्तृततया सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित किया है, वे विषय सामान्यतः व्यावहारिक रूप में पाञ्चरात्रागम-सिद्धान्त में पहले से उपलब्ध थे। अतः कहना अनुचित न होगा कि पाञ्चरात्रागम के सगुणोपासनापरक स्वरूप को प्रमुख रूप से आधार मानकर विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के प्रवर्त्तक आचार्यों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना में सौविध्य का अनुभव किया होगा। यह सही है कि पाञ्चरात्रागम में दार्शनिक तथा तात्त्विक विषयों का विस्तृत रूप से ठोस विवेचन या मत-स्थापन नहीं हुआ है, फिर भी पाञ्चरात्रागम-साहित्य में वर्णित क्रिया तथा आचार एवं चर्यापरक विषयों की विस्तृत व्याख्या तथा प्रतिपादन निश्चित ही विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-संस्थापन में सहायक सिद्ध हुए होंगे। इस दृष्टि से भी पाञ्चरात्रागम-साहित्य का अपना विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है। सामान्यतः कुछ दार्शनिक विषय भी, जैसे ब्रह्म-स्वरूप, सृष्टि-प्रक्रिया आदि स्थूल रूप से पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इन विषयों को इस ग्रन्थ में यथास्थान देखा जा सकता है।

---

१. नारदीय संहिता, १५.१८८
२. शंकरात्प्राक् अद्वैतवाद : डॉ० मुरलीधर पाण्डेय; पृ० १७६-१७७

पाञ्चरात्रागम-साहित्य में पाञ्चरात्रिक वैष्णव-देवालयों के कर्षणादि-प्रतिष्ठान्त एवं अन्य भगवदाराधनादि-सम्बद्ध क्रियाकलाप-परक विषयों का प्रतिपादन तो प्रमुख रूप से किया ही गया है, साथ-ही-साथ पाञ्चरात्र-सम्प्रदायानुगामी वैष्णवों के आचार आदि विषयों का भी विस्तृत रूप से प्रतिपादन तथा विवेचन किया गया है। इस प्रकार पाञ्चरात्रागम-साहित्य आलयाराधन तथा वैष्णवों के आचार का प्रतिपादक शास्त्र कहा जा सकता है। पाञ्चरात्र-वैष्णवों की परम्परा प्राचीन है, साथ-ही-साथ कालक्रम से विकसित, अतः सुदृढ़ आधार पर आधारित है। ग्रन्थों में यथास्थान पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की प्राचीनता से सम्बद्ध विषय का विवेचन किया जायगा। चूँकि यह सम्प्रदाय अत्यन्त प्राचीन है, इसलिए इसकी साहित्यिक सम्पदा का विपुल एवं विस्तृत होना भी स्वाभाविक ही है। श्रेडर ने पाञ्चरात्रागम-सम्बद्ध ग्रन्थों की संख्या २१० बताई है।[१] एक अन्य वैयक्तिक संग्रह में पाञ्चरात्रागम के पूर्ण तथा अपूर्ण ग्रन्थ २४४ कहे गये हैं।[२] पर, अभीतक इनमें केवल १७ या १८ ग्रन्थ मुद्रित तथा प्रकाशित रूप में उपलब्ध हैं। इस साहित्य के अध्ययन तथा विवेचन की ओर प्रवृत्त होनेवालों की संख्या नगण्य ही कही जा सकती है। इन नगण्य पाञ्चरात्रिक साहित्य के विवेचकों में श्रीश्रेडर तथा डॉ० दासगुप्ता का नाम-निर्देश किया जा सकता है। श्रेडर साहब ने सन् १९१९ ई० में 'Introduction to the Pancharatra and Ahirbudhnya Samhita' नामक ग्रन्थ में श्रमपूर्वक पाञ्चरात्रागम के विषयों का विवेचन किया है। पर, जैसाकि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, इस पुस्तक में विवेचित विषय केवल अहिर्बुध्न्य संहिता पर ही प्रमुख रूप से आधृत है। अतः, अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें पाञ्चरात्रागम में प्रतिपादित सभी अंगों पर प्रकाश नहीं डाला जा सका है। डॉ० दासगुप्ता ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' के १६वें अध्याय में 'पाञ्चरात्रमत' नाम के प्रकरण में सामान्य रूप से इस विषय पर प्रकाश डाला है। पं० श्रीबलदेव उपाध्यायजी ने अपने 'भारतीय दर्शन' में 'वैष्णव-तन्त्र'[३] नाम के एक अध्याय में इसकी चर्चा की है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर श्रीउपाध्यायजी ने पाञ्चरात्रागम के विषय का संक्षेपतः विवेचन किया है। पर, यहाँ इस आगम के दार्शनिक पक्ष के कुछ अंश की ही प्रधान रूप से विशिष्ट चर्चा हुई है। पाञ्चरात्रागम के अन्य अंशों की चर्चा यहाँ नहीं देखते। पाञ्चरात्रागम का अध्ययन तथा कुछ प्रकाशन आदि कार्य डॉ० एच० डेनियल स्मिथ[४] ने भी किया है। इन्होंने पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित मूर्त्तिकला विषयों का एक संकलनात्मक ग्रन्थ 'वैष्णव-आइक्नोग्राफी'[५] तथा पाञ्चरात्रागम की पाद्मसंहिता के आलय-कल्पन से सम्बद्ध भाग

---

१. Introduction to the Pancharatra and Ahirbudhnya Samhita, p. 6—11.

२. श्रीआसुरी श्रीनिवास आय्यंगार का वैयक्तिक संकलन

३. भारतीय दर्शन, पृ० ५३६—५४८

४. आचार्य तथा अध्यक्ष, धार्मिक अध्ययन-विभाग, सीराकस विश्वविद्यालय, यू० एस० ए०।

५. पाञ्चरात्र-परिशोधन-परिषत्; ट्रिप्लिकेन, मद्रास-५, सन् १९६९ ई०

का आलोचनात्मक संस्करण 'प्रसाद-मण्डल' के नाम से प्रकाशित किया है। डॉ० स्मिथ यदाकदा अपने विश्वविद्यालय से भी पाञ्चरात्रागम-सम्बद्ध साहित्य का प्रकाशन करते रहते हैं। दिवंगत डॉ० वी० राघवन के निर्देशन में पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों के विषयों की विस्तृत सूची हाल में ही बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। पूना के डॉक्टर पी० पी० आप्टे ने पाञ्चरात्रागम पर अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर वहाँ से ही पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त और भी कुछ लोग तथा संस्थाएँ पाञ्च-रात्रागम के विषय में कुछ-कुछ कार्य कर रही हैं। पर, ये कार्य नगण्य ही कहे जायेंगे। केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति ने अपनी दीर्घकालिक शोध-योजना के अन्तर्गत 'पाञ्चरात्रागम-कोश' तैयार करने का संकल्प कर रखा है। अभी भी इस आगम-साहित्य के आमुद्रित बहुत-सारे ग्रन्थ दक्षिण-भारत में देवालयों के परम्परागत अर्चकों के पास विद्यमान हैं। उन अर्चकों में कुछ इस सम्प्रदाय से सम्बन्द्ध विषयो के मर्मज्ञ ज्ञाता भी हैं। उन्हें इस शास्त्र के व्यावहारिक पक्ष का पूर्ण आधिकारिक ज्ञान है। मैसूर संस्कृत-महाविद्यालय में न्याय-व्याकरण आदि शास्त्रों की तरह आगमशास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। इस आगम-विभाग में पाञ्चरात्रागम का एक पृथक् स्वतन्त्र विभाग है। इस विभाग में छात्र पाञ्चरात्रागम के आधिकारिक विद्वान् से इस शास्त्र का अध्ययन कर 'आगमविद्वत्'-परीक्षा पास करते हैं। इस तरह अत्यन्त सामान्य रूप में पाञ्चरात्रागम के ऊपर कुछ कार्य अवश्य हो रहा है।

पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के जीवन में आचार-प्रधान इस पाञ्चरात्रागमशास्त्र का आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाञ्चरात्रिकों की आलयार्चा हो या गृहार्चा अथवा वैयक्तिक दीक्षादि संस्कार कर्म, सर्वत्र पाञ्चरात्र-ग्रन्थों का आधार-रूप में ग्रहण किया जाता है। इनके सारे क्रिया-कलाप प्रायः इन आगम-ग्रन्थों के अनुसार ही प्रति-पादित होते हैं। अतः, इस महत्त्वपूर्ण आगम के अध्ययन तथा विवेचन की उपादेयता को अस्वीकार नहीं कर सकते। विशेष रूप से इस सम्बन्ध में एक ऐसे मौलिक तथा प्रामाणिक ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभूत की जा सकती है, जिसमें पाञ्चरात्रागम के अन्तर्गत प्रति-पादित विषयों का परिचयात्मक विवेचन किया गया हो, जिसके द्वारा इस आगम में प्रतिपादित सभी विषय पूर्ण रूप से आसानी से ज्ञात हो सकें। इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर मैं संस्कृत-साहित्य के इस उपेक्षित अंग में प्रवृत्त हुआ। इस क्रम में दक्षिण-भारत के पवित्रतम स्थान तिरुपति-क्षेत्र में भगवान् श्रीवेंकटेश्वर के सान्निध्य में अनेक वर्षों तक केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ में रहकर कार्य करते हुए मुझे इस आगम के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस क्रम में वहाँ के वैष्णव-देवालयों को तथा उनके विविध क्रिया-कलाप एवं चर्या आदि विषयों को भी देखने तथा समझने का मुझे अच्छा अवसर मिला। इस सम्प्रदाय के कुछ अधिकृत विद्वानों तथा आचारवान् व्यक्तियों से सम्पर्क-स्थापना का अवसर-लाभ हुआ। पाञ्चरात्रागम समाज-विशेष से सम्पृक्त एवं एक जीवन्त सम्प्रदाय से सम्बद्ध विशाल साहित्य है।

अतः, मैं दावा तो नहीं कर सकता कि मैं इस आगम-साहित्य का पूर्ण अधिकृत विद्वान् हूँ, पर इतना तो आत्मविश्वासपूर्वक कह ही सकता हूँ कि इस आगम की भूमि में सुदीर्घ अवधि तक मैंने पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों के सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक पक्षों को अच्छी तरह समझने के उपलब्ध अवसर का सदुपयोग किया है। उस क्षेत्र के वातावरण एवं उस समाज के सहृदय आचारवान् वैष्णवों की बड़ी सहायता प्राप्त कर सका हूँ। अतः, हमारा यह प्रयास प्रामाणिक है, यह कहना असत्य एवं अनुचित नहीं होगा।

प्रधानतः पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। इस आगम के विषय की प्रकृति के आधार पर ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया गया है। पुनः पृथक्-पृथक् विषयों के स्वरूप के अनुरूप एक-एक भाग को आवश्यकतानुसार कतिपय अध्यायों में विभक्त किया गया है। ग्रन्थ के चार भागों में पाञ्चरात्रागम से सम्बद्ध प्रायः सभी प्रमुख विषयों के विवेचन का प्रयत्न किया गया है। इस आगम-साहित्य में कुछ ऐसे भी विषय वर्णित हैं, जो सम्प्रदाय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विवेचन की दृष्टि से उतने महत्त्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते; क्योंकि ये विषय अत्यन्त व्यावहारिक तथा सुगम एवं सामान्य हैं। जैसे—भगवत्-निवेदन योग्य पुष्प, फल आदि वस्तुओं का परिगणन तथा निर्देश, हविष्-निवेदन तथा अनेकविध दोषों के निवारणार्थ विहित विविध प्रायश्चित्त-स्वरूप निरूपण। वस्तुतः विषय की अत्यन्त सरलता के कारण इसमें कुछ अधिक विवेच्य दीखता भी नहीं। अतः, 'प्रकीर्ण विषय' शीर्षक के अन्तर्गत एक अध्याय में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इन विषयों का विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के उपोद्‌घात के रूप में अर्थात् विषय-प्रवेश के रूप में पाञ्चरात्रागम से सम्बद्ध सामान्य विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अधोलिखित रूप में विषयों का व्यवस्थापन किया गया है।

विषय-प्रवेश में 'पाञ्चरात्रागम' शीर्षक के अन्तर्गत पाञ्चरात्रागम का सामान्य परिचय, पाञ्चरात्र-साहित्य तथा उसके प्रतिपाद्य विषयों का परिचयात्मक विवरण एवं पाञ्चरात्रागम-साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों का सामान्य परिचय तथा उनकी विशेषताओं के दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया गया है। इसके बाद के चार भागों में अधोलिखित रूप में विषय-व्यवस्थापन हुआ है:

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय—'ब्रह्मतत्त्व' नामक इस अध्याय में पाञ्चरात्रागम के अनुसार वर्णित ब्रह्मतत्त्व अर्थात् परवासुदेव के स्वरूपादि का विवेचन।

द्वितीय अध्याय—'सृष्टि-प्रक्रिया' नामक इस अध्याय में पाञ्चरात्रमत के अनुसार वर्णित शुद्ध तथा शुद्धेतर सृष्टि-प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। इसी क्रम में अन्य पाञ्चरात्रिक तत्त्वों के विवेचन का भी प्रयत्न हुआ है।

तृतीय अध्याय—'मन्त्र-विचार' नामक इस अध्याय में पाञ्चरात्रिक मन्त्रों एवं उनसे सम्बद्ध विषयों का विवेचन किया गया है। इसमें मन्त्र-शब्दार्थ, मन्त्र के मूल मातृका-सम्बद्ध विषयों का विवेचन, मन्त्रोद्धारादि क्रम-निरूपण एवं चतुर्मूर्त्यादि मन्त्र-विषय के विवेचन की चेष्टा की गई है। उसके बाद पाञ्चरात्रागम में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के औचित्य आदि विषयों का विवेचन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय—'मुद्रा-विचार' नामक इस अध्याय में सामान्य मुद्रा-विषयक विवेचन के साथ पाञ्चरात्रिक मुद्राओं का विशेष विवेचन किया गया है।

द्वितीय भाग

प्रथम अध्याय—'प्रतिमा-विचार (मूर्त्तिकला)' नामक इस अध्याय में पाञ्च-रात्रागम में वर्णित प्रतिमा के आराधन का औचित्य, प्रतिमा के विविध भेद, उनके स्वरूप तथा उपयोगिता आदि विषय वर्णित हैं।

द्वितीय अध्याय—'प्रतिमोपादान-द्रव्य' नाम के इस अध्याय में शिला, लोह, दारु आदि प्रतिमोपादान-पदार्थ से सम्बद्ध विषय का विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय—'प्रतिमा-मान' नामक इस अध्याय में अङ्गुल्यादि सामान्य भारतीय मानादि का स्वरूप-वर्णन तथा ध्रुवादि बिम्बों के मानादि का विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय—'प्रासाद-लक्षण' (आलय-कल्पन तथा निर्माण) नामक इस अध्याय में भगवदालय-कल्पन के लिए भूमि-संग्रह से प्रासाद-निर्माण-पर्यन्त सभी विषयों का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

तृतीय भाग

प्रथम अध्याय—'वैष्णव-प्रतिष्ठा' नामक इस अध्याय में देवालय में प्रतिमा की स्थापना, तदङ्गभूत अधिवास, अक्षिमोचन आदि विषयों का विवेचन करते हुए प्रतिष्ठा-विधि का वर्णन किया गया है।

द्वितीय अध्याय—'उत्सव' शीर्षक इस अध्याय में उत्सव का शब्दार्थ, उसके भेद तथा ध्वजारोहणादि का विवेचन एवं उत्सव की प्रक्रिया के वर्णन के साथ कुछ विशेष उत्सवों की भी सामान्य चर्चा की गई है।

तृतीय अध्याय—'स्नपन' नामक इस अध्याय में स्नपन के उत्तमादि भेदों का वर्णन तथा उनके उद्देश्य, स्नपनपीठ-कल्पनादि, स्नपनार्थ प्रयुक्त द्रव्यादि का निर्देश एवं उपयोगादि विषयों का विवेचन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय—'पवित्रारोपण (पवित्रोत्सव)' नामक इस अध्याय में वैष्णवों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्सव-विशेष पवित्रोत्सव का स्वरूप-निरूपण करते हुए उसकी आवश्यकता, पवित्रकल्पन-प्रकार तथा उत्सव-सम्पादन-प्रक्रिया का सामान्य निरूपण किया गया है।

चतुर्थ भाग

प्रथम अध्याय—'वैष्णवाचार तथा भेद' नामक अध्याय में वैष्णवों के विविध भेदों, जैसे—आचार्य, दीक्षित, समयी, चक्रवर्त्ती आदि के लक्षण-निर्देश उनके आचारादि के आधार पर प्रतिपादित हैं। ये आचार दीक्षा एवं स्नपनादि के आधार पर निर्धारित हैं।

द्वितीय अध्याय—'पाञ्चरात्रिक दीक्षा' नामक इस अध्याय में दीक्षाङ्गभूत विषयों के विवेचन के क्रम में मण्डल तथा अग्निकुण्ड से सम्बद्ध विषयों का भी प्रतिपादन हुआ है। इस प्रसंग में वर्णित षडध्व का तथा दीक्षा से सम्बद्ध अन्य विषयों का विवेचन भी यहाँ देखा जा सकता है।

तृतीय अध्याय—'वैष्णव-संस्कार' नामक इस अध्याय में वैष्णवों के गर्भाधान से प्रारम्भ कर और्ध्वदेहिक क्रिया-कलापों के स्वरूपादि का सामान्य परिचय दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय—'पञ्चकाल-प्रक्रिया' नामक इस अध्याय में वैष्णवों के दैनन्दिन कर्म के रूप में अनुष्ठान-योग्य अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग—इन पाँच कालों के स्वरूप तथा तत्तत्काल में वैष्णवों द्वारा अनुष्ठीयमान क्रिया-कलापों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से इस ग्रन्थ के चार भागों तथा १६ अध्यायों में पाञ्चरात्रागम-निर्दिष्ट प्रायः सारे प्रधान विषयों का विवेचन किया गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कुछ सामान्य विषय अत्यन्त संक्षिप्त रूप में 'प्रकीर्ण विषय' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित हैं।

विषय-विवेचन के क्रम में विषय की स्पष्टता के लिए पाञ्चरात्रागम के मुद्रित तथा अमुद्रित ग्रन्थ एवं आवश्यकतानुसार विषय के समान प्रकृतिक अन्य शास्त्रीय ग्रन्थों की भी सहायता ली गई है। ग्रन्थ-रचना का मुख्य आधार पाञ्चरात्रागम के मौलिक संहिता-ग्रन्थ ही रहे हैं। किन्तु, इस आगम-क्षेत्र में मुझे कोई भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे कुछ अधिक सहायता मिल सकती। अतः, मात्र मूल पाञ्चरात्रिक संहिताएँ ही मेरे लिए आधार रहीं। विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ पाञ्चरात्रागम के स्वरूप से अपरिचित अध्येता को पाञ्चरात्रागम के स्वरूप एवं उसके प्रतिपाद्य विषयों का सुगमता से ज्ञान कराने में उपयोगी सिद्ध होगा, जो कि वस्तुतः इस रचना का मुख्य

उद्देश्य है। यह रचना इस क्षेत्र में किया गया अपने ढंग का प्रायः प्रथम प्रयास है। इस क्षेत्र में अभी बहुत-सारे शोध-कार्य करने को अवशिष्ट हैं; जैसे—पाञ्चरात्रिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन तथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन, मन्त्र-विषय की अन्य तान्त्रिक मन्त्रों के साथ तुलनात्मक समीक्षा तथा आलोचनात्मक अध्ययन। इनके अतिरिक्त वास्तुशास्त्र तथा मूर्तिकला-सम्बन्धी अनेक विषय भी इस आगम में प्रतिपादित हैं, जिनका शिल्पशास्त्र के साथ तुलनात्मक विवेचन एवं अध्ययन किया जा सकता है। इस तरह यह पुस्तक इस क्षेत्र में अध्ययन-अनुशीलन का मात्र प्रारम्भिक प्रयत्न है।

विषय-प्रवेश

पाञ्चरात्रागम :

भारतीय संस्कृति निगमागममूलक है। इस संस्कृति का आधार जिस तरह निगम है, उसी तरह आगम भी।[1] अनादि सम्प्रदाय-सिद्ध गुरु-शिष्य-परम्परा-क्रमागत शास्त्र-सन्दर्भ 'आगम' शब्द से अभिहित होता है।[2] पदवाक्य-प्रमाणज्ञ भगवान् भर्तृहरि ने महाभाष्य-पस्पशाह्निक में निर्दिष्ट 'आगमः खल्वपि' इस प्रतीक की व्याख्या करते हुए उस आगम को श्रुतिलक्षण तथा स्मृतिलक्षण होना कहा है।[3] वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मात् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः सः आगमः', अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक कल्याण) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) के उपाय बुद्धि में आते हैं, उसे आगम कहते हैं।[4] निष्कर्ष-रूप में अभ्युदय तथा निःश्रेयस के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र आगमशास्त्र है। इस शास्त्र में प्रधान रूप से साधना पर अधिक बल दिया गया है। इस साधना के अन्तर्गत क्रिया-प्रधान अनुष्ठानों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वराहीतन्त्र ने अधोलिखित रूप में आगम का लक्षण-निर्देश किया है :

> सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
> साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
> षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः।
> सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

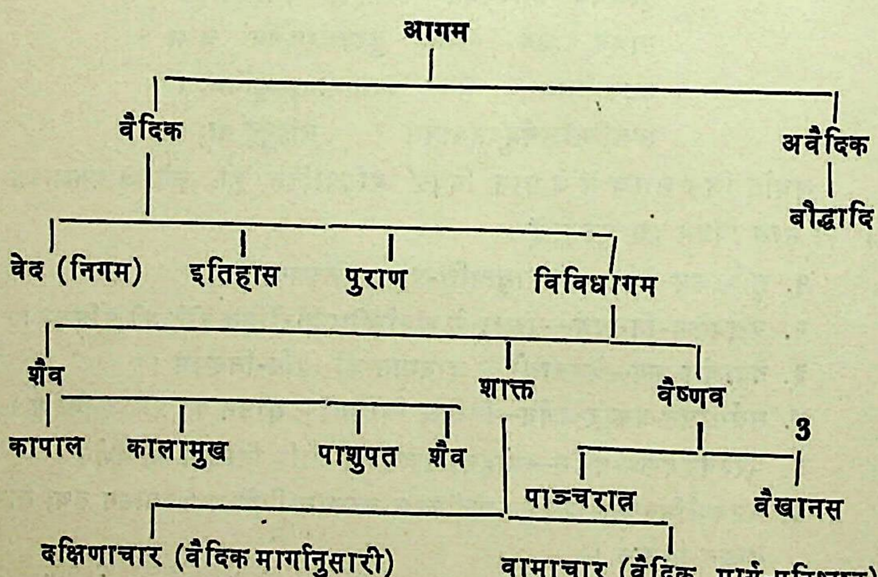
अर्थात् जिस शास्त्र में ये सात विषय प्रतिपादित हों, उसे आगमशास्त्र कहते हैं। ये सात विषय इस प्रकार हैं :

१. सृष्टिक्रम-वर्णन—जगदाद्युत्पत्ति-प्रकार-निरूपण।
२. प्रलयक्रम-निरूपण—संसार के सर्वाङ्गीण तिरोहित होने की प्रक्रिया।
३. देवार्चन-क्रम—देवताओं के आराधन का विधि-निरूपण।
४. सर्वसाधन-प्रकार-वर्णन—विविध सिद्धियों के साधन का प्रकार-निर्देश।
५. पुरश्चरणक्रम-वर्णन—मोहन, उच्चाटन आदि विधियों का वर्णन।
६. षट्कर्मनिरूपण—शान्ति-वशीकरण-स्तम्भन-विद्वेषण-उच्चाटन तथा मारण का साधन-विधान।
७. ध्यान-योग—आराध्य के ध्यान के निमित्त योग-प्रक्रिया का वर्णन।[5]

---

१. भारतीय दर्शन : आचार्य बलदेव उपाध्याय; सन् १९७१ ई० का संस्करण; पृ० ४३२
२. लक्ष्मीतन्त्र, उपोद्घात, पृ० १
३. 'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेशः आगमः श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः। महाभाष्य-त्रिपदी टीका, १।१।१; पृ० १० (हिन्दू वि० वि०, बनारस : सन् १९६५ ई०); सं० श्री वी० स्वामिनाथन्।
४. योगभाष्य (तत्त्ववैशारदी व्याख्या), १.७
५. भारतीय दर्शन, पृ० ४३३-४३४

तन्त्रशास्त्रों के अनुसार तन्त्र का आधार कोई ग्रन्थ-विशेष नहीं है। वह अपौरुषेय ज्ञान-विशेष है। इसी ज्ञान-विशेष को आगम कहते हैं।[1] ब्रह्मसूत्र पर आचार्य श्रीकण्ठ के शैवभाष्य की व्याख्या 'शिवार्कमणिदीपिका' में अप्पय दीक्षित ने आगम के दो भेद कहे हैं—१. वैदिक तथा २. अवैदिक। वैदिक आगम वेदाधिकारियों के लिए तथा अवैदिक आगम वेद में अनधिकृत लोगों के लिए कहा गया है।[2] बौद्धादि आगमों को अवैदिक आगम कहा जा सकता है। इतिहास, पुराण, महाभारत, पाञ्चरात्रादिकों को विषय के आधार पर वैदिक आगम के अन्तर्गत स्वीकारा जा सकता है। ये आगम प्रमुख रूप से तीन प्रकार के हैं—शैव, शाक्त तथा वैष्णव। शैवागम के चार आन्तरिक भेद हैं—१. कापाल, २. कालामुख, ३. पाशुपत तथा ४. शैव। शैव-सम्प्रदाय भी दो तरह के हैं—कश्मीर-शैव-सम्प्रदाय तथा दक्षिण-भारतीय शैवागम-सम्प्रदाय। शाक्तागम के भी दो सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—१. दक्षिणाचार तथा २. वामाचार। दक्षिणाचार प्रायशः वैदिक कर्मानुगामी तथा वामाचार वैदिक मार्ग-परिभ्रष्टमार्गानुगामी है। इन दोनों सम्प्रदायों में शक्ति को परमाराध्य मानकर उसकी उपासना की जाती है। वैष्णव-आगम के दो भेद हैं—पाञ्चरात्रागम तथा वैखानस-आगम। ये दोनों आगम मुख्य रूप से विष्णु-आराधनापरक हैं। इन विविध आगमिक सम्प्रदायों को संक्षेपतः अधोलिखित रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं :



प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय प्रधान रूप से वैष्णव-आगम का पाञ्चरात्र-आगम तथा सम्प्रदाय का विवेचन है। यह विवेचन मुख्यतः पाञ्चरात्रागम की प्रकाशित तथा

१. भारतीय दर्शन, पृ० ४३३-४३४
२. ब्रह्मसूत्र, २।२।३।८, शैवभाष्य की व्याख्या
३. लक्ष्मीतन्त्र-उपोद्घात, पृ० १

अप्रकाशित ग्रन्थों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत पाञ्चरात्र-साहित्य के सामान्य परिचय के अतिरिक्त इस आगमिक सम्प्रदाय के प्रत्येक विभाग पर स्थूल रूप से परिचयात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयत्न हुआ है। प्रस्तुत अध्याय में विशेषतः पाञ्चरात्र-आगम का सामान्य परिचय, पाञ्चरात्र का शब्दार्थ, इस आगम के विविध भेद तथा उनके लक्षणादि के प्रतिपादन का प्रयास हुआ है।

जैसा कि पहले हमने देखा है, आगम दो तरह के कहे गये हैं—वैदिक तथा अवैदिक। पाञ्चरात्रागम वैदिक आगम के अन्दर आता है। पाञ्चरात्रागम यद्यपि सर्वथा वैदिक परम्परा का अनुसरण नहीं करता, तथापि वैदिक परम्परा का इस आगम पर प्रबल प्रभाव है। इसका प्रतिपादन यथास्थान किया जायगा। वैष्णव-आगमिक परम्परा के अनुसार आगम तीन प्रकार के हैं १. निगम, २. तान्त्रिक तथा ३. मिश्र। वैखानसागम निगम तथा भागवत-मिश्र है।[1] वैखानस-शाखा को निगम तथा पाञ्चरात्र को आगम की संज्ञा दी गई है।[2] वैखानस-आगम को वैदिक तथा पाञ्चरात्र को तान्त्रिक होना कहा है।[3] वैखानस की वैदिकता तथा पाञ्चरात्रागम की तान्त्रिकता, वस्तुतः इन दोनों आगम-साहित्य के आलोड़न से भी स्पष्ट ही ज्ञात होती है। सामान्य रूप से वैखानस-आगम-संहिता-ग्रन्थों में उन तान्त्रिक विषयों का वर्णन नहीं देखते, जो पाञ्चरात्रागम के प्रायः प्रत्येक संहिता-ग्रन्थ में वर्णित हैं। पाञ्चरात्र-आगम में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ बहुत-सारे हूं, फट् आदि युक्त तान्त्रिक मन्त्रों के प्रयोग विहित हैं। मुद्रा-कल्पन-प्रकार, उसका विविध अवसरों पर प्रयोग, दीक्षा का विस्तृत वर्णन, मण्डल-कल्पन तथा अर्चन-प्रक्रिया, मारण, मोहन, उच्चाटनादि शुद्ध रूप से तान्त्रिक विषयों का विवेचन प्राय. सभी पाञ्चरात्र-संहिताओं में उपलब्ध है। इस प्रतिपादन-क्रम के विपरीत वैखानसागम-संहिता-ग्रन्थों में मुख्य रूप से केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग निर्दिष्ट है। वैखानस-आगम की किसी भी संहिता में पाञ्चरात्रागम की तरह मुद्रा, तान्त्रिक मन्त्र-दीक्षा तथा मारण-मोहन-उच्चाटनादि का निर्देश नहीं देखते। पाञ्चरात्रागम का तान्त्रिक तथा वैखानसागम का वैदिक आगम होना कई वैखानसागम-संहिता ग्रन्थों में स्पष्ट निर्दिष्ट है।[4] पर इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता कि पाञ्चरात्रागम अवैदिक अथवा वेदमूल-विरुद्धमूलक है। वस्तुतः पाञ्चरात्र-परम्परा भी वेदमूलक वैदिक परम्परा ही है। इस विषय का उल्लेख नारदीय संहिता तथा पाञ्चरात्रागम की अनेक अन्य संहिताओं में देखा जा सकता है। नारदीय संहिता के अनुसार—

---

१. निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः। निगमः विखनः प्रोक्तः मिश्रो भागवतः स्मृतः॥
(आनन्द सं० ८.२३)

२. वैखानसं हि निगमः पाञ्चरात्रं तथागमः। (आनन्द सं० ९.५)

३. वैखानसं पाञ्चरात्रं वैदिकं तान्त्रिकं क्रमात्। 'आनन्द सं० १३.१)

४. विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तं सौम्यमाग्नेयमित्यपि ॥१॥
सौम्यं वैखानसं प्रोक्तमाग्नेयं पाञ्चरात्रकम्॥
सौम्याग्नेये तथा प्राक्ते शास्त्रे वैदिकतान्त्रिके ॥२॥ —खिलाधिकार ४१.१-२;

अत्र मन्त्रास्तु ये केचित् पाञ्चरात्रप्रकाशिताः ।
ते सर्वे वैदिकाः ज्ञेयाः रहस्यं वैदिकं त्विदम् ॥
पाञ्चरात्रमिति ख्यातं वेदाध्वप्रकटीकृतम् ।[१]

मार्कण्डेय-संहिता तथा विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार पाञ्चरात्रशास्त्र श्रुतिमूलक है तथा यह शास्त्र कल्पसूत्र की तरह प्रमाणभूत है ।[२] विष्णुतन्त्र-संहिता के अनुसार सभी पाञ्चरात्र श्रुतिमूलक हैं ।[३] विष्णु-संहिता ने पाञ्चरात्र को तन्त्र कहते हुए श्रुतिमूलक तथा आप्तमूलतया स्वीकार किया है । यह तन्त्र पुराण तथा मन्वादि वाक्यों की तरह प्रमाणभूत कहा गया है ।[४] इस प्रसंग में एक और अवधार्य विषय यह है कि पाञ्चरात्रागम में वर्णित व्यावहारिक पक्ष वैदिक श्रौतप्रक्रिया से अत्यन्त ही प्रभावित है । दोनों प्रक्रियाओं अर्थात् श्रौत तथा पाञ्चरात्र के व्यावहारिक पक्ष के क्रिया-कलापों के तुलनात्मक विवेचन से यह विषय स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। सामान्य रूप से यदि कहें तो कह सकते हैं कि पाञ्चरात्रागमिक प्रक्रिया वैदिक श्रौतप्रक्रिया की छाया है । हाँ, यह अवश्य है कि उसमें कालक्रम तथा देश आदि के प्रभाव से कुछ नये विषयों का समावेश हो गया है । श्रौतप्रक्रिया के यागों में जहाँ केवल अमूर्त्त (अग्नि-होमादि) आराधन का विधान है, वहाँ इस पाञ्चरात्रागमिक प्रक्रिया में मुख्यतः समूर्त्त आराधन विहित है । पर साथ-साथ पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में श्रौत प्रक्रिया के अमूर्त्ताराधन अर्थात् अग्नि-आराधन को भी स्वीकार किया गया है। यह सर्वविदित है कि इस आगमिक प्रक्रिया में मूर्त्ति, अग्नि, कुम्भ तथा मण्डल-आराधन प्रमुख विषय हैं। इसे 'चतुरस्थानार्चन' के नाम से अभिहित किया गया है ।[५]

पाञ्चरात्रागम निर्विवाद रूप से एक प्राचीन आगमिक परम्परा है । कुछ विद्वानों ने इसकी प्राचीनता के विषय में विचार किया है। संक्षिप्त रूप में हम इसे देखने का प्रयत्न करेंगे । महाभारत के भीष्मपर्वस्थ मोक्षधर्म में सात्वत विधि (पाञ्चरात्र) की प्रशस्ति दृष्टिगोचर होती है।[६] इसके आधार पर सामान्य रूप से पाञ्चरात्र-प्रक्रिया के काल को भीष्मपर्व के रचना-काल से प्राचीन माना जा सकता है। परन्तु महाभारत

---

१. नारदीयसंहिता, २९. ३९-४०
२. श्रुतिमूलमिदं शास्त्रं प्रमाणं कल्पसूत्रवत् । (मार्कण्डेय-संहिता, पृ० ६, अ० १, श्लो० ३८)
विष्वक्सेन-संहिता ८-६-७
३. श्रुतिमूलानि तान्येव पाञ्चरात्राणि पङ्कज । (विष्णुतन्त्र-संहिता १.३६)
४. वेदमूलतया तन्त्रमाप्तमूलतयापि च ।
पुराणवत् प्रमाणं स्यात् तथा मन्वादिवाक्यवत् ॥ विष्णुसंहिता, पटल २.११
५. (i) एकं तु विम्वकं प्रोक्तं द्विस्थानं विम्वपावकम् । त्रिस्थानं कुम्भसंयुक्तं चतुःस्थानं तु मण्डलम् ॥
—अनिरु० सं० ६.६३-६४
(ii) कुम्भमण्डलविम्वाग्नौ पूजनं चोत्तमं भवेत् ।
उत्तमाराधनेनैव सर्वदोषक्षयं गतम् ॥ —अनिरु० सं०, ६.६०
६. महाभारत, भीष्मपर्व, ६६. ४०

का रचनाकाल ही सर्वथा निश्चित तथा निर्विवाद रूप से एक नहीं माना गया है। आधुनिक विमर्शकों की दृष्टि में महाभारत कालक्रम से विकसित (विरचित), अतः बहुत लम्बी अवधि में विरचित ग्रन्थ माना जाता है।[1] अतः भीष्मपर्व का उपर्युक्त अंश, जिसमें पाञ्चरात्र की चर्चा है, का काल-निर्धारण सुकर नहीं है। फिर भी, पाञ्चरात्र-प्रक्रिया आलोचकों द्वारा निर्धारित महाभारत-रचना-काल से निश्चित ही प्राक्कालिक है। कुछ विचारक श्रीमद्भगवद्गीता में चतुर्व्यूह-वर्णन का अभाव तथा नारायणीय अध्याय में[2] उसका वर्णन देखकर यह विचार करते हैं कि नारायणीय अध्याय की रचना गीता की रचना के पश्चात् हुई है। यदि नारायणीय अध्याय की रचना पहले होती तो गीता में चतुर्व्यूह का निर्देश अवश्य होता।[3] अतः नारायणीय के अन्तर्गत चर्चित वासुदेवादि चतुर्व्यूह की स्थिति गीताकाल की अपेक्षा अर्वाचीन है। फलतः चतुर्व्यूह के आराधनादि विधानपरक पाञ्चरात्रशास्त्र का काल उससे (प्राचीन नहीं हो सकता। परन्तु गीता में चतुर्व्यूह का वर्णन न होने के कारण नारायणीय अध्याय को उससे) परवर्ती बताना कोई प्रामाणिक, युक्तियुक्त तथा तर्कसंगत बात नहीं कही जा सकती। वस्तुतः गीता के प्रतिपाद्य कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग विषयों के प्रतिपादन-क्रम में गीताकार ने चतुर्व्यूह-वर्णन की आवश्यकता नहीं समझी हो। अतः, गीता में उसका निर्देश नहीं किया। इससे गीता की अपेक्षा नारायणीय अध्याय का परकालीनत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।[4]

जहाँ तक महाभारत के रचना-काल का सम्बन्ध है, उस विषय में श्री सी० वी० वैद्य महाशय का मत है कि क्रमशः लम्बी अवधि में विकसित होने के बाद भी महाभारत का वर्त्तमान स्वरूप ई० सन् की तृतीय शताब्दी में पूर्ण हो गया था।[5]

सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के अनुसार ई० सन् की द्वितीय तथा चतुर्थ शताब्दी के मध्य वर्त्तमान महाभारत की रचना पूर्ण हो गई थी।[6] विण्टरनित्ज़ ने महाभारत के रचना-काल के विषय में ई० पू० चतुर्थ शतक से ई० सन् के चतुर्थ शतक तक की लम्बी अवधि स्वीकार की है।[7] इन सभी मतों के पर्यालोचन से भी पाञ्चरात्र का अस्तित्व-काल ई० सन् की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

ब्रह्मसूत्र के अविरोधाध्याय नामक द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्कपाद) में[8] सांख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्तिवाद आदि मतों के युक्तियुक्त खण्डन के क्रम में 'पाञ्चरात्र-

---

१. संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : ले० डॉ० रामजी उपाध्याय; पृ० ४१९
(रामनारायण लाल वेनीमाधव, कटरा रोड, इलाहाबाद; विक्रमाब्द २०१८)
२. महाभारत, शान्तिपर्व (मोक्षधर्मपर्व), अ० ३९, श्लो० २१—४६
३. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३८-४१
४. जयाख्यसंहिता, प्रस्तावना, पृ० ४२-४३
५. वही
६. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ४६५ और ४७५ (कलकत्ता विश्व०)
७. जयाख्यसंहिता, प्रस्तावना, पृ० ४३
८. ब्रह्मसूत्र २।२।४२—४५

मत' के खण्डन का भी निर्देश देखते हैं। ब्रह्मसूत्र का निर्माणकाल विक्रम-पूर्व षष्ठ शतक से पूर्व कहा गया है।[१] फलतः ब्रह्मसूत्र में उल्लेख होने के कारण पाञ्चरात्र-प्रक्रिया को ई० पू० षष्ठ शतक से प्राचीन मानने में कोई क्षति नहीं।

महान् वैयाकरण आचार्य पाणिनि ने 'वासुदेव' शब्द की व्युत्पत्ति के लिए 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'[२] सूत्र की कल्पना की है। इस सूत्र से विहित वुन् प्रत्यय का प्रवृत्ति-निमित्त 'वसुदेवस्य पुत्रः' अर्थात् वसुदेव का पुत्र यह अर्थ नहीं है। वसुदेव का पुत्र—यह अर्थ स्वीकार करने पर 'गोत्र क्षत्रियाख्येभ्यः'[३] इत्यादि सूत्र से वुञ् प्रत्यय का विधान कर 'वासुदेव' शब्द की सिद्धि सम्भव है। इस प्रकार 'गोत्र' इत्यादि सूत्र से वुञ् प्रत्यय-विधान कर 'वासुदेव' शब्द की सिद्धि सम्भव होने पर 'वासुदेवार्जुनाभ्याम्' इत्यादि सूत्र की व्यर्थता सिद्ध होने लगेगी। पर, यहाँ द्रष्टव्य यह है कि वुञ् प्रत्यय से निष्पादित 'वासुदेव' शब्द का अर्थ 'वसुदेव-पुत्र' हो सकता है, परमात्मा नहीं हो सकता। परमात्मा अर्थपरक 'वासुदेव' शब्द की व्युत्पत्ति वुन् प्रत्यय के द्वारा ही हो सकती है। अतः केवल वुञ् प्रत्यय के विधान से वुन् प्रत्ययलभ्य अर्थ का लाभ नहीं होने के कारण उस अर्थ की उपलब्धि के लिए 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'—इस सूत्र की आवश्यकता होती है, इस सूत्र की व्यर्थता नहीं होती। कैयट ने स्पष्ट कहा है—**नित्यः परमात्मा देवताविशेषः इह वासुदेवो गृह्यते इति विशेषः**[४]। अतः हम कह सकते हैं कि पाणिनि के काल, ई० पू० सप्तम शताब्दी[५] से पूर्व भी परमात्मार्थक 'वासुदेव' शब्द का व्यवहार था और उसका आराधनापरक शास्त्र पाञ्चरात्रशास्त्र समाज में विद्यमान तथा प्रचलित था।

कुछ शिलालेखों के आलोचन से भी पाञ्चरात्र के काल पर प्रकाश पड़ता है। राजपूताना के घोसुण्डि नामक नगर में उपलब्ध शिलालेख में संकर्षण तथा वासुदेव के मन्दिर के चतुर्दिक् प्राकार-निर्माण का उल्लेख देखते हैं। इस शिलालेख का काल २०० ई० पू० है। नानाघाट गाँव की गुहा में उपलब्ध एक शिलालेख में 'वासुदेव' तथा 'संकर्षण' शब्दों का उल्लेख देखते हैं। यह उल्लेख यहाँ मङ्गलश्लोक में किया गया है। शिलालेख का काल ई० सन् के अव्यवहित पूर्व शताब्दी है। वेश नगर गाँव में समुपलब्ध शिलालेख में वासुदेव की तृप्ति के निमित्त भागवत हेलियो दोरा के द्वारा गरुड़-ध्वज-स्तम्भ प्रतिष्ठापित करने का निर्देश देखते हैं। इस शिलालेख का समय ई० पू० द्वितीय शतक का पूर्व भाग है। इस शिलालेख से वासुदेव-पूजा का प्रचलन तथा उनके आराधकों को भागवत कहा जाना अत्यन्त स्पष्ट है।[६] इन तीनों शिलालेखों के आधार पर

१. भारतीय दर्शन, पृ० ३३६
२. अष्टाध्यायी, ४.३.९८
३. वही, ४.३.९९
४. महाभाष्य : 'नैषा क्षत्रियाख्या। संज्ञैषा तत्र भवतः।' (अष्टाध्यायी, ४.३.९८ का भाष्य तथा प्रदीप)
५. संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास : सत्यकाम वर्मा; पृ० १०० (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)
६. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रेलिजन्स इन इण्डिया : आर० जी० भण्डारकर

ई० पू० तृतीय शतक से पूर्व ही पाञ्चरात्र के अस्तित्व का होना प्रमाणभूत सिद्ध होता है; क्योंकि वासुदेव, संकर्षण, व्यूहभेद, वासुदेव की तृप्ति के लिए गरुड़ध्वज-प्रतिष्ठापन, उसके प्रतिष्ठापक का भागवत नाम—ये सारे विषय पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में ही स्पष्टत: उल्लिखित तथा वर्णित हैं।

ई० पू० चतुर्थ शतक में चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में भारत आये हुए यवन मेगास्थनीज ने सौरसेनीय किसी क्षत्रिय को वासुदेव का आराधक बताया है।[१] यह वासुदेवाराधन सात्वत-विधिमूलक है। अनुमानत: कहा जा सकता है कि प्राचीन समय में वासुदेवाराधन की संज्ञा सात्वत-विधि रही होगी अर्थात् सात्वत तथा भागवत—ये दोनों पर्यायवाचक शब्द होंगे। सात्वत-विधि का सामान्य निर्देश महाभारत के भीष्मवध-पर्व में भी किया गया है :

ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
सेव्यतेऽभ्यर्च्यते चैव नित्ययुक्तैः स्वकर्मभिः॥
द्वापरस्य युगस्यान्ते आदौ कलियुगस्य च।
सात्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः॥[२]

इससे सरलतापूर्वक सिद्ध होता है कि जिस विधि से भगवान् वासुदेव की आराधना होती है, वह भागवत-विधि है। उस विधि के द्वारा जो व्यक्ति भगवदाराधन करता है उसे भी भागवत कहा जाता है, और उसके मत को भागवतमत कहते हैं। भागवत-विधि, भागवत तथा भागवतमत—ये तीनों ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में उपलब्ध थे। अत: इन सबका विस्तृत विवेचन करनेवाले शास्त्र पाञ्चरात्रशास्त्र का उस समय होना स्वयं सिद्ध होता है। कदाचित् यह कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में यह शास्त्र भागवतशास्त्र या सात्वतशास्त्र के नाम से ही अधिक प्रचलित रहा हो।

पाञ्चरात्र की प्राचीनता के विषय में कुछ प्रमाण प्रचीन तमिल-साहित्य में भी उपलब्ध होते हैं। 'शिलप्पधिकारम्' तथा 'परिपदल'[३] में गरुड़ध्वज, संकर्षण, वासुदेव तथा अनिरुद्ध की प्रतिमाओं का निर्देश देखते हैं। 'परिपदल' का निर्माण-काल ई० सन् की द्वितीय शताब्दी कहा गया है। इसके अनुसार मदुरई के समीपस्थ तिरुमञ्जोलै में श्रीकृष्ण तथा बलदेव की प्रतिमाएँ थीं। ई० सन् के द्वितीय शतक में लिखित 'कुरुल' में त्रिविक्रम-अवतार तथा कमलनयन श्रीविष्णु का निर्देश देखते हैं।[४]

---

१. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रेलिजन्स इन इण्डिया : भण्डारकर
२. महाभारत, भीष्मवध-पर्व, अ० ६२, श्लो० ३७—३९ (भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, सन् १९४७ ई०)
३. आलवारकल् कालनिलै (तमिल) : ले०—राघव अय्यंगार तथा वैखानस-धर्मसूत्र की भूमिका : श्रीरङ्गाचारी; पृ० १३
४. वैखानस-धर्मसूत्र की भूमिका : ले० श्रीरङ्गाचारी, पृ० १३

डॉ० एस० के० अय्यंगार ने 'सात्वत' शब्द की उपलब्धि ऐतरेयब्राह्मण[1] तथा शतपथब्राह्मण[2] में होना कहा है। इसके आधार पर पाञ्चरात्र का काल ज्यादा नहीं तो ई० पू० दशम शताब्दी माना जा सकता है।

इस तरह पाञ्चरात्र के काल के सम्बन्ध में अंगुलिग्राहिकतया निश्चित काल का निर्देश करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इतना तो स्पष्ट ही कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया अत्यन्त प्रचीन है और यह ई० सन् के प्रारम्भ से कई सौ वर्ष पूर्व से ही प्रचलित रही होगी। जहाँ तक पाञ्चरात्र-साहित्य के ग्रन्थों के काल का प्रश्न है, उस विषय में भी किसी संहिता-ग्रन्थ का किसी निश्चित काल-विशेष में निर्मित होने का दृढ़ प्रमाण प्राप्त नहीं होता। एम्बार श्रीकृष्णमाचारी ने जयाख्यसंहिता का काल ई० सन् की सप्तम शताब्दी से पूर्व होना स्वीकार किया है।[3]

जहाँ तक नारदीय संहिता के काल का प्रश्न है, इस विषय में हम कोई ऐसा ठोस प्रमाण नहीं पाते, जिसके आधार पर नारदीय संहिता का कोई निश्चित काल माना जा सके, पर कुछ ग्रन्थों में प्राप्त नारदीय संहिता के उद्धरण आदि के अनुसार इसका समय अष्टम शताब्दी से पूर्व तथा बुद्ध-अवतार के अनन्तर स्वीकार किया जा सकता है।[4]

पाञ्चरात्र : शब्दार्थ :

विविध पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में विविध रूप से 'पाञ्चरात्र' शब्द का अर्थ वर्णित है। 'पाञ्चरात्र' शब्द का सर्वाधिक प्राचीन प्रयोग शतपथब्राह्मण में देखते हैं। यहाँ नारायण (पुरुष) को पाँच (दिन) रातों में सम्पन्न होनेवाले यज्ञ का सम्पादक कहा गया है।[5] इस यज्ञ के सम्पादन से नारायण को विश्वरूपत्व की प्राप्ति का संकेत किया गया है। इस प्रकार उस पाञ्चरात्र की उत्कृष्टता के आधार पर इस शास्त्र का नाम भी पाञ्चरात्र रखने का प्रयास हुआ है, ऐसा कह सकते हैं। प्रायः प्राञ्चरात्रागम को अत्यन्त उत्कृष्ट बताने की भावना से ही विविध स्थलों में पाञ्चरात्र के साथ विविध विशेषणों का प्रयोग देखने में आता है। आचार्य उत्पल ने पाञ्चरात्र-श्रुति, पाञ्चरात्र-उपनिषत् तथा पाञ्चरात्र-संहिता—इन तीन नामों से पाञ्चरात्र-साहित्य का उल्लेख किया है।[6]

---

१. ऐतरेयब्राह्मण, ११. २५. ६; ८. १४.३

२. शतपथब्राह्मण, १३. ५. ४. २१

३. जयाख्यसंहिता, उपोद्घात, पृ० ५३

४. नारदीय संहिता, उपोद्घात, पृ० झ-ञ

५. शतपथब्राह्मण, १३-६-१

६. (क) पाञ्चरात्रश्रुतावपि : "यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत् प्लवेन वा नदीं तरेत्, तद्वत् शास्त्रेण हि शास्ता भगवान् अवगन्तव्यः।"

(ख) पाञ्चरात्रोपनिषदि च – "ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च।"

—जयाख्यसंहिता, अँगरेजी फ़ोरवर्ड, पृ० ७

आचार्य उत्पल का काल दशम शताब्दी स्वीकृत है। उस काल में पाञ्चरात्र-श्रुति आदि तीन तरह के पाञ्चरात्र-साहित्य के अस्तित्व के प्रमाण में कोई बाधा नहीं आती। इस विषय की चर्चा के साथ श्रीप्रश्नसंहिता की विदुषी सम्पादिका ने पाञ्चरात्रागम के इन तीन प्रकारों के अस्तित्व में यद्यपि सन्देह व्यक्त किया है[१], तथापि कुछ पाञ्चरात्र-संहिताओं की अध्यायान्त-पुष्पिकाओं के देखने से उत्पल का विभाग-क्रम उचित जँचता है। विश्वामित्र-संहिता के कुछ अध्यायों की पुष्पिकाओं में 'उपनिषत्' शब्द का प्रयोग देखते हैं।[२] पाद्म तथा पौष्कर-संहिताओं की अध्यायान्त-पुष्पिकाओं में 'महोपनिषत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[३] इसी तरह वराहसंहिता की पुष्पिका में भी 'महोपनिषत्' शब्द प्रयुक्त है।[४] जहाँ तक पाञ्चरात्र के साथ 'संहिता' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, वह तो अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। जैसे नारदीय संहिता, श्रीप्रश्नसंहिता आदि मुद्रित तथा अमुद्रित रूप में उपलब्ध हैं, जिनकी पुष्पिकाओं में 'संहितायां' ऐसा पाठ विद्यमान है। इस प्रसंग में पाञ्चरात्र के साथ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग ईश्वरसंहिता तथा पौष्कर-संहिताओं में उपलब्ध है। 'आगम-सिद्धान्त' का लक्षण-निर्देश करते हुए इस शास्त्र को श्रुतिस्वरूप कहा गया है।[५] पर इन तीन में विषय-विवेचन की दृष्टि से कोई विशेष भिन्नता या वैलक्षण्य नहीं देखते।

विष्णुतन्त्र के अनुसार देहियों के लिए वियत्, वायु, वह्नि, आप तथा धरा—ये पाँच रात्रि कहे गये हैं। ये पाँचो अविद्या से उत्पन्न होते हैं। जो शास्त्र इन पाँच के भोग से निवृत्ति दिलाता है उसे पाञ्चरात्रशास्त्र कहते हैं।[६] पाञ्चरात्र का एक दूसरा अर्थ बताते हुए विष्णुतन्त्र में अव्यक्त मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त एवं गन्धादि तन्मात्राएँ देहियों के लिए रात्रि कही गई हैं। इन सबसे युक्त देहियों के लिए भुक्ति-मुक्तिप्रद साधन भगवदर्चन-विहित है। यह अर्चनादि रूप-साधन जिस शास्त्र में वर्णित है, उस शास्त्र को पाञ्चरात्र-

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता : इंगलिश इण्ट्रोडक्शन; पृ० १६ (के० सं० वि०, तिरुपति संस्क०, १९६९ ई०)

२. "इति पाञ्चरात्रे महोपनिषदि विश्वामित्रसंहितायां प्रथमोऽध्यायः।"—विश्वामित्र-सं०, पृ० ८

३. (i) "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पासंद्महितायां ज्ञानपादे शास्त्रावतारकं नाम प्रथमोऽध्यायः"
—पाद्म सं० ज्ञा० पा० अ० १

(ii) "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोपनिषदि पौष्करसंहितायां शिष्यपरीक्षालक्षणो नाम प्रथमोऽध्यायः;
—पौ० सं०, पृ० ३

४. "इति श्रीपाञ्चरात्रे महोनिषदि वराहसंहितायां गृहार्चाप्रतिष्ठानाम पञ्चदशोऽध्यायः।"
—वराह सं० के० सं० वि० तिरुपतिमातृका—५५२; कागज—पृ० ६; तेलुगु-लिपि।

५. (i) ईश्वरसंहिता २१.५६६
(ii) पारमेश्वरसंहिता १९ ५२८

६. वियद्वायुश्च वह्निश्च आपश्चैव धरा तथा।
राश्रयो देहिनां प्रोक्ता अविद्या सम्भवस्तथा॥
तद्भोगाद्विनिवृत्तिं तु वारयेयुर्यतस्ततः।
पाञ्चरात्रमिति प्रोक्तम् एतच्छास्त्रमथा तथा॥
—विष्णुतन्त्र, अ० १, श्लो० ७७—७९.

शास्त्र कहा गया है।[1] हयशीर्ष-संहिता ने भी प्रायः विष्णुतन्त्र में वर्णित प्रथम अर्थ की तरह 'पाञ्चरात्र' शब्द के अर्थ का निर्देश किया है।[2]

श्रीप्रश्नसंहिता ने अज्ञान को रात्रि कहा है। 'पञ्च' यह अज्ञान का नाशक है। अतः अज्ञाननाशक होने के कारण इस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है। यह अन्वर्थ नाम[3] है। परमसंहिता ने महाभूत के पाँच गुणों को प्राणियों का रात्रि होना कहा है। उस रात्रि के निवृत्ति-साधक शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है। इस संहिता में भूतमात्र को गर्व तथा अव्यक्त पुरुष की रात्रि कहा गया है।[4] भारद्वाजसंहिता के अनुसार इस शास्त्र में पाञ्चरात्रों का समावेश है, अतः इस शास्त्र को पाञ्चरात्र-शास्त्र कहा गया है। ये पाञ्चरात्र निम्नलिखित हैं: १. ब्रह्मरात्र, २ शिवरात्र, ३. इन्द्ररात्र, ४. नागरात्र तथा ५. ऋषिरात्र[5]। जहाँ तक रात्रों के अनुसार पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थ के विभाग का प्रश्न है, इस क्रम में सनत्कुमार-संहिता में भी नागरात्र के विना अन्य चार रात्रों का निर्देशपूर्वक विभाग देखते हैं।[6] ईश्वर-संहिता के वर्णनानुसार भगवान् के पञ्चायुध शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज के रूप में उद्भूत हुए और इन पाँचों को पृथक्-पृथक् एक-एक दिन-रात शास्त्रों का उपदेश दिया गया। अतएव, इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र-शास्त्र हुआ।[7] मार्कण्डेय-संहिता ने भी 'पाञ्चरात्र' शब्द का कुछ इसी प्रकार का अर्थ-निर्देश किया है। इसके अनुसार सार्धकोटि

---

१. अव्यक्तं च मनोबुद्धिरहङ्कारश्च चित्तकम्।
तन्मात्रावगन्धाद्याः रात्रयो देहिनः स्मृताः॥
एभिः समन्वितैर्देहैः देहिनां भुक्तिमुक्तिदम्।
साधनं पूजनं त्वेतत् पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्॥

—विष्णुतन्त्र, अ० १, श्लो० ८०-८१

२. आकाशवायुतेजांसि पानीयं वसुधा तथा।
एता वै रात्रयः ख्याताः ह्यचैतन्यास्तमोत्कटाः॥
—हयशीर्षसंहिता, आदिकाण्ड, पटल ४.२; राजशाही संस्करण १९५२; पू० पाकि०

३. रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम्।
तच्छास्त्रं पाञ्चरात्रं स्यात् अन्वर्थस्यानुरोधतः॥ —श्रीप्रश्नसं० २.४०

४. परमसंहिता १.३९.४१

५. प्रथमं ब्रह्मरात्रं तु द्वितीयं शिवरात्रकम्।
तृतीयम् इन्द्ररात्रं. तु चतुर्थं नागरात्रकम्॥
पञ्चमं ऋषिरात्रं तु पाञ्चरात्रमिति स्मृतम्।
एवं ज्ञातं ऋषिश्रेष्ठ पाञ्चरात्रं पुरा युगे॥ —भारद्वाजसं० २.१२.१३

६. अड्यार-संस्करण, सन् १९६९ ई०

७. ईश्वरसंहिता २१.५१९—५३३

प्रमाण से युक्त शास्त्र को विष्णु ने पाँच रात्रों में पढ़ाया। अतः इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र हुआ।[१]

वाशिष्ठसंहिता के अनुसार सात्त्विकाचार-सम्पन्न पाञ्चरात्राधिकारियों के द्वारा अनुष्ठित शास्त्र पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है।[२] पाद्मसंहिता का कहना है कि इतर पाँच महत् शास्त्र इस शास्त्र के समक्ष रात्रित्व को प्राप्त करते हैं। अतएव, इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्रशास्त्र है। ये पाँच इतर शास्त्र हैं—१. बौद्ध, २. पाशुपत, ३. कापाल, ४. शैव तथा ५. गाणपत्य। अर्थात् इन सभी पाँच शास्त्रों (सम्प्रदायों) की अपेक्षा पाञ्चरात्रशास्त्र उत्कृष्टतर शास्त्र है।[३] पुरुषोत्तम-संहिता ने भगवद्भक्ति को भक्तों की मुक्ति का साधन कहा है और उस भक्तिबोधक शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहते हैं।[४] अनिरुद्ध-संहिता में वर्णित 'पाञ्चरात्र' शब्दार्थ कुछ हद तक पाद्मसंहिता के समान है। इसके अनुसार जिस प्रकार दिन में चन्द्र तथा तारागण समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार सांख्ययोगादि शास्त्र जिस शास्त्र के समक्ष सर्वथा प्रभावहीन हो जाते हैं, उसी शास्त्र का नाम पाञ्चरात्रशास्त्र है। अथवा दिवाकर भगवान् भुवनभास्कर के प्रदीप्त होने पर जिस तरह अन्य नक्षत्र महत्त्वहीन तथा प्रभावहीन हो जाते हैं उसी तरह पाञ्चरात्रशास्त्र के समक्ष अन्य सभी शास्त्र मलिन हो जाते हैं।[५] विश्वामित्र-संहिता ने पाञ्चरात्रस्थ 'पञ्च' शब्द से पाँच इन्द्रियों तथा उनके विषय एवं उनके गुण का अभिधान किया है। 'रा' धातु आदानार्थक स्वीकार की गई है। इस प्रकार, विषय, इन्द्रिय तथा भूतों के आदाता को 'पाञ्चरा' कहा गया है। इनके द्वारा मनुष्य का पालन होता है, अतः इसे पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है। मनुष्यों के द्वारा इस शास्त्र के सान्निध्य तथा अनुसरण से सांख्य-योगादि पाँच शास्त्र रात्रभूत हो जाते हैं। अतः इस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहते हैं। अथवा रात्रि (अज्ञान) जिस शास्त्र के

---

१. सार्धकोटि प्रमाणेन कथितं तस्य विष्णुना।
रात्रिभिः पञ्चभिः सर्वं पाञ्चरात्रमतः स्मृतम् ॥—मार्कण्डेयसं०, पृ० ४, अ० १, श्लो० २२-२३
(K. S. V. Ms. 549),
C. V. Sheshacharilu-edition

२. वाशिष्ठसंहिता, अ० १३

३. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद १.७२—७४

४. भगवद्भक्तिरेव स्यात् भक्तानां मुक्तिसाधनम्।
तद्भक्तिबोधकं शास्त्रं पाञ्चरात्रागमस्थितम् ॥—पुरुषोत्तम संहिता, अ० १, श्लो० ४ (भद्राचल-सं०)

५. सांख्ययोगादि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि ॥
तत्सन्निधौ समाख्यासौ तेन लोके प्रवर्त्तते।
चन्द्रतारागणं यद्वत् शोभते नैव वासरे ॥
तथेतराणि शोभन्ते पञ्च नैवास्य सन्निधौ।
पञ्चत्वमथवा यद्वद्दीप्यमाने दिवाकरे ॥
गच्छन्ति रात्रयस्तद्वत् इतराणि तदन्तिके।
तस्मात् पाञ्चरात्राख्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥—अनिरुद्ध-संहिता, १.३५—३८

समक्ष पञ्चत्व अर्थात् समाप्ति को प्राप्त करती है उस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है।[१] कपिञ्जल-संहिता ने परमसंहिता में निर्दिष्ट प्रथम अर्थ की तरह ही 'पाञ्चरात्र' शब्द का अर्थ-निर्देश किया है।[२]

इन सभी अर्थों पर अच्छी तरह से विचार करने पर ये सभी 'पाञ्चरात्र' शब्द की अर्थ-प्रतिपादक निरुक्तियाँ अर्थवाद की तरह अधिक प्रतीत होती हैं। फिर भी पाञ्चरात्रागम की विविध संहिताओं में निर्दिष्ट 'पाञ्चरात्र' शब्द के निर्वचन को ध्यान में रखते हुए सांख्यादि शास्त्रों का इस पाञ्चरात्रशास्त्र के समक्ष पञ्चत्व-प्राप्ति के निर्देश को व्यावहारिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण भी कहा जा सकता है। सांख्ययोग अथवा अद्वैतादि सभी दार्शनिक परम्परा निश्चित ही सभी पुरुषार्थ-साधक हैं। पर, वे सभी अमूर्ताराधनपरक शास्त्र हैं। इन शास्त्रों या दर्शनों में प्रवृत्ति यदि असम्भव नहीं, तो निराधार होने के कारण कठिन अवश्य है। पर, यह पाञ्चरात्रशास्त्र समूर्ताराधनपरक होने से सबके लिए सुलभतया पुरुषार्थ-साधक होने के कारण अन्य शास्त्रों या दर्शनादिकों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझा गया है। साधार होने के कारण इसमें लोगों की अधिक प्रवृत्ति स्वाभाविक है। फलतः, सांख्यादि शास्त्रों की उपेक्षा हुई है, और उसे ही पञ्चत्व-प्राप्ति की संज्ञा दी गई है।

वस्तुतः 'पाञ्चरात्र' शब्द में प्रयुक्त 'रात्र' शब्द सामान्य कालवाचक प्रतीत होता है। अर्थात् पाञ्चरात्र शब्द पञ्चकाल शब्द के समान अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है। पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में अनेक स्थलों में **पञ्चकाल-परायण** शब्द पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय-विशेषज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः, इस शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि 'पाञ्चरात्र' शब्द से वह सम्प्रदाय-विशेष अभिहित है, जिसके आचार-निर्वाह के लिए चौबीस घण्टे के काल (रात्र) अर्थात् दिन-रात को पाँच भागों में

---

१. पञ्चेन्द्रियाणि विषयाः पञ्चभूतानि तद्‌गुणाः ॥
पञ्चशब्दाभिधेयानि विद्वांसोऽप्याचचक्षिरे ।
रा इत्ययमपि प्रोक्तो धातुरादानवाचक ॥
विषयेन्द्रियभूतानामादातारश्च पञ्चराः ।
मनुष्याः पालनात्तेषां पाञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥
सांख्योगादयः पञ्चरात्रा (त्री) यन्तेऽस्य सन्निधौ ।
तस्माद्वा पञ्चरात्रार्थः प्रोच्यते सूरिसत्तमैः ॥
अथवा रात्रयो यद्वत् सन्निधौ पञ्चताय वै ।
नीयन्ते तद्वदन्यानि शास्त्राण्येतस्य सन्निधौ ॥
इति वा पाञ्चरात्रार्थो विद्वद्भिः कथ्यते द्विज । —विश्वामित्र-संहिता, अ० २, श्लो० ३—८

२. पृथिव्यादीनि भूतानि गुणाः पञ्चमहामते ॥
रात्रयो जन्तवः प्रोक्ताः सर्वशास्त्रेषु निश्चिताः ।
तद्योगाद्विनिवृत्तिस्तु पञ्चरात्रमिति स्मृतम् ॥३२॥—कपिञ्जलसंहिता, अ० १, श्लो० ३१-३२;
भद्राचलम्-संस्क०, सन् १९३१ ई० (तेलगु-लिपि)

विभक्त किया गया है। यहाँ इस कथन से पाञ्चरात्रिक वैष्णवों की पञ्चकाल-प्रक्रिया में वर्णित आचार विवक्षित है। इसके अन्तर्गत प्रातः से आरम्भ कर रात्रि के उत्तर-भाग-पर्यन्त वैष्णवों के विविध आचार-सम्पादन के लिए अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय तथा योग—ये पाँच काल निर्दिष्ट हैं। इन पाँच कालों का विस्तृत विवेचन हम पञ्चकाल-प्रक्रिया नाम के एक पृथक् अध्याय में आगे देखेंगे। इस तरह 'पाञ्चरात्र' शब्द से वह शास्त्र निर्दिष्ट है, जिसमें रात्रि-दिन को पाँच भागों में विभक्त कर पाँच कालों के लिए पृथक्-पृथक् विशिष्ट आचारपरक क्रियाओं का प्रतिपादन किया गया हो। शायद यही कारण है कि इस शास्त्र को पाञ्चरात्रशास्त्र कहा गया है।

पाञ्चरात्र-साहित्य :

'पाञ्चरात्र' शब्द के अर्थ पर विचार के पश्चात् पाञ्चरात्र-साहित्य के विषयों की सामान्य चर्चा आवश्यक है। जैसा कि अत्यन्त प्रसिद्ध 'निगम' तथा 'आगम' शब्द भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीनकाल से व्यवहृत होते आये हैं। ये दोनों परम्पराएँ भी भारतीय जन-जीवन में साथ-साथ समान रूप से देखने को मिलती हैं। पारमेश्वरसंहिता ने आगमिक परम्परा को श्रुतिरूप कहा है।[१] पाञ्चरात्र-साहित्य एक विशाल आगमिक साहित्य है। इसके प्रवर्त्तकों के आधार पर इस साहित्य का विभाग किया गया है। ईश्वर-संहिता ने सामान्य रूप से इस साहित्य को दिव्य तथा मुनिभाषित रूप से दो भागों में विभक्त किया है। इसके अनुसार मूलवेदानुसारी सात्वत, पौष्कर तथा जयाख्य—इन तीन दिव्य शास्त्रों का उपदेश भगवान् वासुदेव ने संकर्षण को दिया था। पीछे भगवान् संकर्षण ने लोक में इन दिव्य शास्त्रों का प्रवर्त्तन किया।[२] इस शास्त्र को सात्वतशास्त्र भी कहा गया है।[३] पाञ्चरात्रशास्त्र का एक अन्य नाम एकायन-वेद भी है। नारद के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए पाञ्चरात्र-मार्ग के अलावा दूसरे मार्ग का अभाव होने के कारण एक-मात्र मोक्षसाधक शास्त्र पाञ्चरात्र को एकायन-वेद कहा गया है। यह एकायन-वेद महान् वेद-वृक्ष का मूल तथा सद्ब्रह्म वासुदेवाख्य तत्त्व का संशय भी है। यह शास्त्र दिव्यबलादिक मन्त्रों से युक्त है। इस शास्त्र को संशय-रहित तथा अविद्यातिमिर का नाशक भी कहा गया है।[४] सात्वतशास्त्र के लोक में प्रवृत्त होने के निर्देशक्रम में तत्तद् युगों में अनुष्ठान योग्य धर्मों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए कहा गया है कि आदिकृत्य-युग में योग्य मानव आदि भागवद्धर्म का अनुष्ठान करते हैं। त्रेतायुग में विविध कामनाओं के वशीभूत मानव 'व्यामिश्रयाजी' हो जाते हैं और उस आदिसनातन भागवद्धर्म का त्याग कर देते हैं। उस समय वासुदेव के द्वारा समाहृत यह (आदिभागवद्धर्म) अन्तर्धान हो जाता है।

---

१. पारमेश्वरसंहिता १९.५२८
२. ईश्वरसंहिता १.४७—५१
३. वही, १.९
४. वही, १.१८—२१

उसके बाद स्वयं भगवान् ने योग्य अधिकारियों के लिए इस शास्त्र को प्रवृत्त किया।[1]

सामान्यतः विचार करने पर ऐतिहासिक दृष्टि से श्रौतकर्मानुष्ठान का प्रवर्त्तन सर्वप्रथम माना जा सकता है। उत्तरोत्तर उसके साथ-साथ तत्तदागमिक प्रक्रियाओं का भी विकास हुआ होगा। आगम-साहित्य की भाषा को देखते हुए तथा आगमिक प्रक्रिया में श्रौतकर्मों के बहुशः अनुकरण आदि के पर्यालोचन से लोक में सर्वप्रथम युग सत्ययुग में केवल आदिभागवद्धर्म का अनुष्ठान तथा प्रवर्त्तन अच्छी तरह युक्तियुक्त नहीं जँचता। इस प्रकार ईश्वरसंहिता में वर्णित विषय ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से चिन्त्य है। अतः कहा जा सकता है कि ईश्वरसंहिता में वर्णित उपर्युक्त विषय शास्त्र-स्तुति-परक हो सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्य नगण्य ही है।

इस ऐकान्तिक धर्म के आचार्य तथा प्रवर्त्तक निम्नलिखित कहे गये हैं :

१. सन, २. सनत, ३. सुजात, ४. सनक, ५. सनन्द, ६. सनत्कुमार, ७. कपिल तथा ८. सनातन। यहाँ प्रतिज्ञावाक्य में सात ऋषियों के नाम परिगणित हैं।[2]

ऐकान्तिक शास्त्र के उद्भव का संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है: प्राचीनकाल में शाण्डिल्य ऋषि ने तोताद्रि पर्वत के शिखर पर बहुत लम्बी अवधि तक अत्यन्त कठोर तपस्या की। अन्ततः त्रेतायुग के अन्त तथा कलियुग के आदिकाल में संकर्षण से एकायन-वेद प्राप्त किया। पुनः शाण्डिल्य ने यह वेद १. सुतन्तु, २. जैमिनि, ३. भृगु, ४. औपगायन तथा ५. मौञ्जायन ऋषियों को पढ़ाया।[3] इस क्रम में संकर्षण के द्वारा शाण्डिल्य को पढ़ाया गया शास्त्र दिव्यशास्त्र के नाम से अभिहित हुआ। यह शास्त्र अनुष्टुभ् छन्दोबद्ध व्यास तथा समास रूप में ब्रह्मा, रुद्र तथा इन्द्रादि प्रभुवरों के लिए दिव्यलोकों में प्रवर्त्तित हुआ था। अतः इसका नाम दिव्यशास्त्र हुआ।

पाञ्चरात्रशास्त्र के वक्ताओं के आधार पर इस शास्त्र के कुछ भेदों का निर्देश किया गया है। इस क्रम में दिव्यशास्त्र के पश्चात् मुनिभाषित शास्त्र का स्थान आता है। मुनिभाषित शास्त्र चार प्रकार के हैं—१. सात्त्विक, २. राजस, ३. तामस तथा ४. पौरुष। इन सबके लक्षण अधोलिखित हैं :

सात्त्विकशास्त्र : पुण्डरीकाक्ष के द्वारा यथास्थित अर्थजाल को जानकर उस अर्थ के अनुरूप जिस शास्त्र का प्रणयन हुआ उस शास्त्र को सात्त्विकशास्त्र कहते हैं।

राजसशास्त्र : सात्त्विकशास्त्र के अर्थ को जानकर और उसका अवलम्बन कर स्वबुद्ध्युन्मेष के द्वारा अर्थजात का बोधक, विज्ञान-तत्त्वयुक्त ग्रन्थ-विस्तार से युक्त, सर्वेश्वर से लेकर संक्षेप प्रसार से अपने विकल्प विजृम्भणों के द्वारा ब्रह्मादि से प्रणीत पुनः

---

१. ईश्वरसंहिता १.२६—२८

२. वही, १. २८—२९

३. वही, १. ३८—४१

ब्रह्मादि से संक्षेप में ऋषियों द्वारा सुनकर स्वविकल्प से उनके द्वारा ही प्रणीत शास्त्र को राजसशास्त्र कहा गया है।

तामसशास्त्र : केवल स्वविकल्प से कल्पित शास्त्र तामसशास्त्र कहा गया है। पौरुषशास्त्र केवल मनुजों के द्वारा निर्मित शास्त्र पौरुषशास्त्र कहा गया है।[१]

नारायणसंहिता में पाञ्चरात्र-आगम के सात्त्विक, राजस तथा तामस—ये तीन भेद कहे गये हैं। यहाँ तीनों के लक्षण नहीं कहे गये हैं। केवल सात्त्विकादि शास्त्रों के नाम-निर्देश किये गये हैं। सात्त्विक संहिताओं के नाम-निर्देश के क्रम में अधोलिखित संहिताओं के नाम निर्दिष्ट हैं—१. पौष्कर, २. श्रीकर, ३. विष्णुसिद्धान्त, ४. हारित, ५. वैहिगेन्द्र, ६. प्रश्नाख्य (पाँच संहिताएँ), ७. सत्यसंहिता, ८. विश्वसंहिता, ९. महाप्रश्नसंहिता, १०. श्रीसंहिता, ११. सनन्दसंहिता, १२. परमसंहिता, १३. पुरुषसंहिता, १४. पुरुषोत्तमसंहिता, १५. महासनत्कुमारसंहिता, १६. बृहन्नारदीयसंहिता, १७. अनन्तसंहिता, १८. भागवतसंहिता, १९. जयाख्यसंहिता, २०. तत्त्वसारसंहिता, २१. विष्णुवैभविक संहिता। अन्त में यहाँ **'षट्त्रिंशत् सात्त्विकाः मताः'** का निर्देश किया गया है। इस तरह इस कथन के अनुसार सात्त्विक संहिताओं की संख्या ३६ कही गई है। परन्तु, ऊपर केवल २१ संहिताओं के नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किये गये हैं। **'प्रश्नाख्यां पञ्च संहितां'** का उल्लेख अवश्य मिलता है। इसका अर्थ यदि यह माना जाय कि प्रश्न नाम की विविध पाँच संहिताएँ हैं, तब कुल मिलाकर सात्त्विक संहिताओं की संख्या २५ होगी। तब यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि अन्त में निर्दिष्ट संख्या षट्त्रिंशत् न होकर पञ्चविंशत् होनी चाहिए। लेखन-परम्परा के कारण कदाचित् यह व्यत्यास हो गया होगा।[२]

राजस संहिताओं की अनुक्रमणिका के अन्तर्गत निम्नलिखित संहिताएँ दिखाई गई हैं : १. पाद्म, २. पाद्मोद्भव, ३. मायावैभव, ४. नलकूबर, ५. त्रैलोक्यमोहन, ६. विष्वक्सेन, ७. ईश्वरसंहिता, ८. नारायणसंहिता, ९. आत्रेयसंहिता, १०. वाशिष्ठसंहिता, ११. द्राविड़संहिता, १२. वैहायससंहिता, १३. भार्गवसंहिता, १४. हारितसंहिता, १५. ताण्डवसंहिता, १६. संकर्षणसंहिता, १७. प्रद्युम्नसंहिता, १८. वामनसंहिता, १९. शार्वसंहिता, २०. पाराशर्यसंहिता, २१. जाबालिसंहिता, २२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २३. उपेन्द्रसंहिता, २४. योगिहृदयसंहिता, २५. आदिराममिहिरसंहिता, २६. वाराहमिहिरसंहिता, २७. योगसंहिता, २८. नारदीय संहिता, २९. वारिणसंहिता, ३०. भारद्वाजसंहिता, ३१. नारसिंहसंहिता, ३२. कार्ष्णाम्बिरसंहिता, ३३. राघवसंहिता। ये ३३ राजस संहिताएँ परिगणित हैं। इन राजस संहिताओं की संख्या के विषय में कहा गया है : **'राजस्यः षट्त्रिंशत् संहिताः स्मृताः'**। अर्थात् राजस संहिताओं की कुल

---

१. ईश्वरसंहिता १. ५२—६३
२. नारायणसंहिता, पृ० १६२ (के० सं० वि०, तिरुपति, मातृका—५७९)

संख्या ३६ है। पर जैसा कि ऊपर नाम-निर्देशपूर्वक राजस संहिताओं का परिगणन किया गया है, उसके अनुसार ये केवल ३३ ही देखी जाती हैं।[१]

तामस संहिताओं के अन्तर्गत अधोलिखित नामों का निर्देश किया गया है : १. शातातपसंहिता, २. त्रैलोक्यविजयसंहिता, ३. विष्णुसंहिता, ४. पुष्टितन्त्र, ५. शौनकीय, ६. संवादसंहिता, ७. शुकसंहिता, ८. इन्द्रसंहिता, ९. याज्ञवल्क्यसंहिता, १०. गौतमसंहिता, ११. पुलस्त्यसंहिता, १२. दक्षसंहिता, १३. अर्चकप्राप्ति, १४. सांख्यसंहिता, १५. दत्तात्रेयसंहिता, १६. काश्यपसंहिता, १७. पैंगलसंहिता, १८. मार्कण्डेयसंहिता, १९. कात्यायनसंहिता, २०. वाल्मीकिसंहिता, २१. बोधायनसंहिता, २२. याम्यसंहिता, २३. नारायणसंहिता, २४. बार्हस्पत्यसंहिता, २५. कापिलसंहिता, २६. जैमिनि-संहिता, २७. जयोत्तरसंहिता, २८. कौमारमयसंहिता, २९. मारीचसंहिता, ३०. तैजससंहिता, ३१ उशनससंहिता, ३२. हिरण्यगर्भसंहिता।[२] यहाँ तामससंहिताओं की कुल संख्या ३६ कही गई है। पर, ग्रन्थपात के कारण कुछ संहिताओं के नाम स्पष्ट ज्ञात नहीं होते।

जहाँ तक नारायणसंहिता का प्रश्न है, इस नाम से दो संहिताग्रन्थ उपलब्ध हैं। एक तेलुगु-लिपि में मुद्रित तथा प्रकाशित है।[३] इस मुद्रित तथा प्रकाशित नारायणसंहिता में उपर्युक्त गुणपरक संहिताओं का विभाग तथा नाम-परिगणन दृष्टिगोचर नहीं होता। इस मुद्रित संस्करण में इन ग्रन्थों की चर्चा भी नहीं देखते। दूसरी नारायणसंहिता मातृका-रूप में उपलब्ध है और उसी में उपर्युक्त विभाग तथा नाम-परिगणन दृष्टिगोचर होता है। इस मातृका-ग्रन्थ में अध्याय-विभाग-निर्देश नहीं देखते। इस मातृका में ग्रन्थपात तथा अशुद्धि-बाहुल्य भी है।

उपर्युक्त गुणपरक विभागों का निर्देशपूर्वक एक-एक के जो लक्षण ईश्वरसंहिता में दिये गये हैं, उनके आधार पर नारायणसंहिता में परिगणित तत्तत्संहिताओं का परीक्षण करने पर हम निश्चित रूप से तत्तल्लक्षणलक्षित संहिताओं को उसी रूप में सात्त्विक, राजस तथा तामस कहने की स्पष्ट स्थिति में अपने को नहीं पाते। इसके विस्तृत विवेचन तथा विमर्श के लिए पृथक् रूप से इसके अध्ययन की आवश्यकता है, जो सर्वथा एक स्वतन्त्र विषय है।

कुछ विचारकों के अनुसार कुछ पाञ्चरात्रागम-संहिताएँ अति प्राचीन तथा उपजीव्य संहिताएँ कही गई हैं। ये मूलतः तीन हैं। इन्हें रत्नत्रयी के नाम से अभिहित किया गया है। ये तीन संहिताएँ हैं : १. सात्वतसंहिता, २. पौष्करसंहिता तथा ३. जयाख्य-संहिता। ये तीनों संहिताएँ पाञ्चरात्रागम-साहित्य के सर्वाधिक प्रमाणभूत ग्रन्थ मानी

---

१. नारायणसंहिता, पृ० १६२-१६३; के० सं० विद्यापीठ, तिरुपति, मातृ० सं० ५७९
२. "तन्त्राण्येतानि षट्त्रिंशत् तामसानि निबोध मे।" नारायण-सं०, पृ० १६३; मातृ० सं० ५७९
३. श्रीरङ्गम्-संस्करण, सन् १९७० ई०

जाती हैं।[1] इन तीनों की प्रधानता का उल्लेख ईश्वरसंहिता में भी देखते हैं।[2] इन तीनों के आधार पर क्रमशः सात्वत के अनुसार ईश्वरसंहिता का, पौष्करसंहिता के आधार पर पारमेश्वर-संहिता का तथा जयाख्य-संहिता के आधार पर पाद्मसंहिता का उपबृंहण हुआ है। इन संहिताओं के विषयों का बहुत स्थलों में सर्वथा अक्षरशः साम्य के आधार पर यह उपर्युक्त कथन तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है। पाद्मसंहिता ने पाञ्चरात्रागम-साहित्य के छह रत्न स्वीकार किये हैं। वे छह रत्न अधोलिखित हैं: १. पाद्म, २. सनत्कुमार, ३. परम, ४. पद्मोद्भव, ५. माहेन्द्र तथा ६. काण्व।[3]

पाञ्चरात्रागम-साहित्य के स्वरूप, विस्तार तथा उत्पत्ति आदि के विषय में पाञ्चरात्रागम की कुछ संहिताओं में भी उल्लेख देखने को मिलता है। उनके आधार पर कोई भी निश्चित मत स्थिर करना आसान नहीं है। फिर भी, उस विषय का एक संक्षिप्त विवेचन इस प्रसंग में अत्यन्त अपेक्षित है।

ईश्वरसंहिता तथा पारमेश्वरसंहिता के अनुसार पाञ्चरात्र-आगम के चार भेद कहे गये हैं: १. आगम-सिद्धान्त, २. मन्त्र-सिद्धान्त, ३. तन्त्र-सिद्धान्त तथा ४. तन्त्रान्तर-सिद्धान्त।[4] इनके लक्षणादि भी पृथक्-पृथक् वर्णित हैं। पाञ्चरात्रशास्त्र के भेदों के उल्लेख के क्रम में 'सिद्धान्त' का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार चातुरात्म्य (वासुदेव, सङ्कर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न) का आराधन जहाँ कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट हो और वह क्रमागत ब्राह्मणों के द्वारा आगत हो, उसे 'आगम-सिद्धान्त' कहते हैं। पुनः इसी प्रसंग में कहा गया है कि हृत्पद्मपूर्वक नाना व्यूह-समेत द्वादश मूर्त्तियों, अन्यान्य मूर्त्तियों, प्रादुर्भावगणों, प्रादुर्भावान्तर्गणों, लक्ष्मी आदि शंखचक्रगरुडदिक्पाल, सगण अस्त्रादि वर्णनयुक्त शास्त्र 'सिद्धान्त'-पाञ्चरात्र के अन्तर्गत आता है। मन्त्र-सिद्धान्त में चतुर्मूर्त्तियों के अलावा अन्यों की उपासना वर्णित होती है। यह मन्त्र-सिद्धान्तशास्त्र सर्वविध फलदायक होता है। तन्त्र-सिद्धान्तशास्त्र में वाक् संवृत्त के मन्त्र से भगवद्रूप का आराधन होता है। इसमें सविग्रह विभिन्न आभरण तथा अस्त्रादियों से आवृत कान्ता व्यूहश्रियादि का वर्णन होता है। तन्त्रान्तरसिद्धान्त शास्त्र में व्यूहादि भेद के विना मुख्यानुवृत्ति भेद से रहित, परिवार-समूह से परिवृत्त सिंहादि प्रादुर्भावगणों के अर्चन आदि का विधान होता है। या भेद प्रायः सभी आगमों में सामान्य होते हैं।[5]

---

१. इण्ट्रोडक्शन टु पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० २१

२. ईश्वरसंहिता, १.६४

३. पाद्मसंहिता, चर्यापाद, अ० २३, श्लो० १९

४. चतुर्धा भेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः।
पूर्वमागमसिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम्॥
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तम् अन्यतन्त्रान्तरं भवेत्।
(क) ईश्वरसंहिता, अ० २१, श्लो० २६०-२६१
(ख) पारमेश्वरसंहिता, अ० १९, श्लो० ५२२-५२३

५. पौष्करसंहिता, अ० ३८, श्लो० २९३—३०२

ईश्वर-संहिता ने लक्षण-निर्देशपूर्वक 'आगम-सिद्धान्त' का निर्देश किया है। इसके अनुसार नित्योदित व्यूहस्थापनादि प्रकाशक, अपौरुषेय, सद्ब्रह्मवासुदेवादि याजियों का लक्ष्य भूतब्रह्मोपनिषदाख्य दिव्यमन्त्र तथा क्रियाओं से उपेत, विवेकद, अनिच्छा से भी अपवर्गदायक, नित्य वासुदेवाभिधान कथित षाड्गुण्योपेत देव के वर्णनों से युक्त श्रुति-स्वरूप शास्त्र को आगम-सिद्धान्त कहते हैं। यह कृत्ययुग का धर्म कहा गया है। साथ ही इसे सर्वोत्तम धर्म स्वीकार किया गया है।[1] त्रेतायुग के आदि में भोग तथा मोक्ष की प्रसिद्धि के निमित्त पूर्वोक्त आगम-सिद्धान्त से जाग्रत् व्यूहादि मूर्त्तियों से मन्त्र-सिद्धान्त-संज्ञक शास्त्र की उत्पत्ति होती है। इसके अनन्तर उत्तरोत्तर आगमन का क्रम अधोलिखित है। वासुदेव से द्वितीय मूर्त्ति अर्थात् संकर्षण को, संकर्षण से प्रद्युम्न को, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध को यह शास्त्र प्राप्त हुआ। उसके बाद अनिरुद्ध से वागीश्वर तथा द्विपाख्य-विग्रह में इस शास्त्र का संक्रमण होना कहा गया है। पुनः उसके बाद यह शास्त्र इन्द्र, रुद्र, आदित्य, वह्नि आदि देवताओं तथा नारदादि ऋषिगणों में संक्रमित हुआ और उसी विविध भेद-सम्पन्न शास्त्र को मन्त्र-सिद्धान्त की संज्ञा दी गई। मन्त्र-सिद्धान्त के विकास-परम्परा-निर्देश के बाद इस शास्त्र का लक्षण-निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसमें शान्ततर व्यूह, शान्त, सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रव्यूह, केशवादि मूर्त्यन्तर तथा प्रादुर्भाव, हृत्पद्म, पद्म-पीठादि पर लक्ष्मी, पुष्टि आदिशक्ति, शंख, चक्र आदि लाञ्छनों, गरुडादि प्रमुखों, भूतसिद्धादि प्रमुख शास्ताओं, विश्वत्राता नृसिंहादि विभव, व्यूह, यथाक्रम सूक्ष्माख्य अधिकार, समयी, पुत्रकादि चारों का अभिषेक तथा उनका समयाचार, मूर्त्तियों की स्थापना का क्रम, मन्त्र, मण्डल, मुद्रा तथा कुण्डादि लक्षण आदि का पुष्कल विवरण तथा विधान हो, उस शास्त्र को मन्त्र-सिद्धान्तशास्त्र कहते हैं। यह मन्त्र-सिद्धान्तशास्त्र अनेक भेद-सम्पन्न कहा गया है।

तन्त्र-सिद्धान्त का लक्षण अत्यन्त विस्तार से नहीं देखते। जहाँ पर व्यूहादि मूर्त्तिभेद के विना ही, अङ्गसहित या केवल कान्तव्यूह, भूषणों तथा अस्त्रविग्रहों से उपेत वर्णन किया गया हो, उस शास्त्र को तन्त्र-सिद्धान्त कहते हैं।

चतुर्थ अर्थात् तन्त्रान्तर सिद्धान्त का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिस शास्त्र में नृसिंह, कपिल, क्रोड, हंस तथा वागीश्वरादि मुख्यानुवृत्ति-भेद से अथवा केवल अपांग संयुक्त चक्रादि अस्त्रवरों, मुकुटादि भूषणों, लक्ष्म्यादि कान्तागणों का सपरिवार पूजन निर्दिष्ट हो, उस शास्त्र को तन्त्रान्तर सिद्धान्त कहते हैं।[2]

पाद्मसंहिता ने ऋगादि चार वेदों की तरह पाञ्चरात्रशास्त्र को भी सिद्धान्त-भेद से चतुर्विध होना कहा है। ऋगादि एक-एक वेद भी जिस प्रकार शाखा-भेद से

---

१. (i) ईश्वरसंहिता २१.५६१—५६६
(ii) पारमेश्वरसंहिता १९.५२४—५२८

२. (i) ईश्वरसंहिता, अ० २१, श्लो० ५६६—५८१
(ii) पारमेश्वरसंहिता, अ० १९, श्लो० ५२९—५४३

बहुविध हैं, उसी प्रकार वक्ताओं के भेद के आधार पर एक-एक सिद्धान्त भी अनेक प्रकार के होते हैं।[1] यहाँ अत्यन्त संक्षेप में चार विविध सिद्धान्तों का लक्षण-निर्देश किया गया है। इसके अनुसार चतुर्मूर्त्ति-प्रधान शास्त्र को आगम-सिद्धान्त, एक मूर्ति-प्रधान शास्त्र को 'मन्त्र-सिद्धान्त' कहा गया है। आगम-सिद्धान्त लोकविश्रुत है। नव मूर्त्ति-प्रधान शास्त्र को तन्त्र-सिद्धान्त कहा गया है। जहाँ अर्चना-विधि में चतुर्मुख या त्रिमुख देव का वर्णन निर्दिष्ट हो, उस शास्त्र को तन्त्रान्तरसिद्धान्त कहा गया है।[2] पाद्मसंहिता को मन्त्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत होना स्वीकार किया गया है।[3]

कुछ संहिताओं ने 'सिद्धान्त' शब्दार्थ का विवेचन किया है। कोटि जन्मों से सिद्धों की अन्त में यहाँ ही संस्थिति होती है, अतः इस शास्त्र को सिद्धान्त-शास्त्र कहा गया है।[4] पाद्मसंहिता के अनुसार 'सिद्धान्त' यह अन्वर्थ नाम है। मीमांसा आदि शास्त्रों में सिद्ध अर्थवाले मनीषियों का ही अन्त में इस शास्त्र में अधिकार होने के कारण इस शास्त्र को सिद्धान्तशास्त्र कहा गया है।[5]

उपर्युक्त पाञ्चरात्र के चार भेद सामान्यतः स्पष्ट हैं। पौष्करसंहिता में वर्णित लक्षण अत्यन्त स्पष्ट नहीं प्रतीत होते। व्यावहारिक दृष्टि से मन्त्र-सिद्धान्त के लक्षण से युक्त वर्त्तमान काल में अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं और इसीलिए यह सिद्धान्त अनेक भेद-सम्पन्न कहा जा सकता है, जैसा कि ईश्वरसंहिता ने स्वीकार किया है।

इस प्रसंग में नारदीय संहिता के विषयों के परिशीलन के आधार पर यहाँ पाञ्च-रात्र-साहित्य के इस प्रकार के स्वरूप तथा भेदादि विषय यहाँ उल्लिखित नहीं दीखते। नारदीय संहिता के तेरहवें अध्याय के अन्त में तन्त्र-संकर-निषेध का निर्देश करते हुए यह अवश्य कहा गया है कि जिस तन्त्र के अनुसार जो बिम्ब या वस्तु-निर्माण प्रारम्भ किया गया हो उसे उसी तन्त्र के अनुसार सम्पन्न करना चाहिए। तन्त्र-सांकर्य से राष्ट्र, राजा तथा निर्माता का नाश होता है। ऐसा निर्देश करते हुए—'नान्यसिद्धान्तवर्त्मना' का उल्लेख किया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट है कि पाञ्चरात्रागम में अनेक सिद्धान्तों को नारदीयसंहिता ने भी प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है।

पाद्मादि संहिताओं में निर्दिष्ट मन्त्र-सिद्धान्त के लक्षण को दृष्टि में रखते हुए नारदीयसंहिता के विषयों को देखने के बाद यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नारदीय-संहिता मन्त्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है। नारदीयसहिता में चतुर्मूर्त्ति नृसिंहादि

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, अ० १, श्लो० ७६—७८
२. वही, अ० १, श्लो० ८०—८३
३ वही, अ० १, श्लो० ८६
४. ईश्वरसंहिता, २१. ५८२
५. पाद्मसंहिता, ज्ञानपाद, १. ७८-७९
६. नारदीयसंहिता, अ० १३. ३८५—३८६

प्रादुर्भावों के वर्णनों के साथ समयी, आचार्य, दीक्षित आदि के लक्षणों का वर्णन भी देखने में आता है। इसके अतिरिक्त उनके अभिषेक, समयाचार, मूर्त्तियों की स्थापना, मण्डल, मन्त्र, मुद्रा तथा कुण्डादि के लक्षणों का विस्तृत विवेचन किया गया है। अतः, ईश्वरसंहिता में वर्णित मन्त्र-सिद्धान्त के लक्षण के अनुसार भी नारदीयसंहिता को मन्त्र-सिद्धान्त के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है।

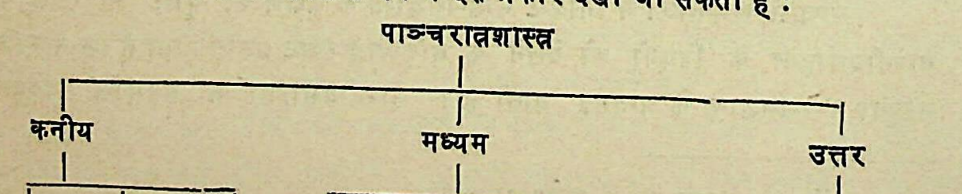
पौष्करसंहिता ने संक्षेपतः कनीय, मध्य तथा उत्तम भेद से पाञ्चरात्रागम के तीन भेद कहे हैं।[1] इसकी विस्तृत व्याख्या के क्रम में परिमाण के आधार पर पाञ्चरात्र-साहित्य के नौ भेद बताये गये हैं। वे नौ भेद हैं : १. पाद, २. मूल, ३. उद्धार, ४. उत्तर, ५. बृहदुत्तर, ६. कल्प, ७. संहिता, ८. कल्पस्कन्ध तथा ९. तन्त्र। ये नौ उपर्युक्त पूर्वोक्त तीन के ही भेद हैं।[2]

शत अनुष्टुभ् छन्दोबद्ध शास्त्र को 'पाद' संज्ञक शास्त्र कहा गया है। पाद की अपेक्षा द्विगुणित श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'मूल' संज्ञा दी गई है। सार्धशत श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'उद्धारशास्त्र' कहा गया है। इस प्रकार प्रथम अर्थात् कनीय के ये उपर्युक्त तीन भेद हैं। इनकी श्लोक-संख्या कदाचित् न्यूनाधिक भी हो सकती है।

सार्धद्विशत श्लोकवाले शास्त्र को 'उत्तर'शास्त्र कहते हैं। उत्तरशास्त्र की अपेक्षा द्विगुण श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'बृहदुत्तर' शास्त्र कहते हैं। सार्धसहस्र श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'कल्प'शास्त्र कहते हैं। कल्प के भी अवान्तर अनेक भेद हो सकते हैं। इनकी श्लोक-संख्या में कदाचित् न्यूनाधिक्य भी हो सकता है। इस प्रकार 'मध्यम' के ये तीन भेद कहे गये हैं।

सार्धत्रिसहस्र श्लोक-संख्या से षट्सहस्र या बारह सहस्र श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'संहिताशास्त्र' की संज्ञा दी गई है। उपर्युक्त संख्या की मध्यवर्ती संख्याओं से युक्त शास्त्र का अन्तर्भाव भी 'संहिता' में ही होता है। लक्ष श्लोक-संख्या से प्रारम्भ कर सपाद लक्ष श्लोक-संख्या या उससे अधिक परिमाणवाले शास्त्र को 'कल्पस्कन्ध'-शास्त्र की संज्ञा दी गई है। बहुलक्षपरिमित श्लोकयुक्त सार्धलक्षत्रयान्त श्लोक-संख्यायुक्त शास्त्र को 'तन्त्रशास्त्र' कहा गया है। ये तीनों भेद उत्तरशास्त्र के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं।[3]

इन भेदोपभेदों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है :



१ पौष्करसंहिता, अ० ३९. २: संक्षिप्त त्रिप्रकारं च कनीयो मध्यमोत्तमम्।
२. नव प्रकारमित्येतत् भेदमुक्तं त्रयस्य च। —पौष्करसंहिता, ३९. १२
३. वही, ३९. २—१२

इन दिनों उपलब्ध पाञ्चरात्रागम-साहित्य में कल्पस्कन्ध तथा तन्त्र उपलब्ध नहीं हैं; क्योंकि इन दोनों के जो परिणाम प्रयुक्त लक्षण बताये गये हैं, उतनी श्लोक-संख्यायुक्त एक भी पाञ्चरात्र-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। संहिता के लक्षण को देखते हुए कई उपलब्ध पाञ्चरात्र-ग्रन्थ इसके अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। नारदीयसंहिता में कुल श्लोक-संख्या ३६०० से अधिक है और इसके आधार पर यह ग्रन्थ स्पष्ट ही संहिता के लक्षण से लक्षित ग्रन्थ कहा जा सकता है। कल्प के लक्षण से लक्षित भी अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसके अन्तर्गत अनिरुद्धसंहिता, भार्गवसंहिता, विश्वामित्रसंहिता, शेषसंहिता आदि ग्रन्थ आ सकते हैं। ये सभी १५०० श्लोक-संख्या से लेकर २५०० श्लोक-संख्या तक के ग्रन्थ हैं। इस प्रकार उपलब्ध पाञ्चरात्र-साहित्य में अधिकतर ग्रन्थ संहिता या कल्प के अन्तर्गत आते हैं। अप्रकाशित बहुत-सारे पाञ्चरात्र-ग्रन्थ जो उपलब्ध हैं, उनमें कुछएक अध्याय तो दो या तीन अध्यायवाले हैं। कदाचित् अल्प परिमाणात्मक ये ग्रन्थ 'पाद', 'मूल' या 'उद्धारादि' के लक्षणों के अनुसार पृथक्-पृथक् एक-एक ग्रन्थ हो सकते हैं। पर; उनके अध्यायान्त में निर्दिष्ट पुष्पिकाओं में कहीं 'एकविंशः अध्यायः' तो कहीं केवल विषयानुरूप पटल का निर्देश पाते हैं।[1] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये ग्रन्थ जिस परिमाण में उपलब्ध हैं, उसकी अपेक्षा इससे अधिक अध्याय तथा श्लोक-संख्या उनमें होगी। अतः, हम केवल उपलब्ध श्लोक-संख्या के आधार पर इन्हें किसी विशिष्ट लक्षण-युक्त विभाग के अन्तर्गत रखने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं देखते।

पाञ्चरात्रागम का साहित्य मुख्यरूप से 'संहिता' शब्द से अधिक प्रचलित है। ये संहिताभिधान वेद के संहिता-भाग की ही अनुकृति की तरह किये गये हो सकते हैं। इन संहिताओं की भाषा प्रायः पद्यमय है। कुछ संहिताओं में यदाकदा मध्य में कुछ गद्य का भी समावेश है।[2] पर, वैसा भाग नगण्य की तरह है। इन ग्रन्थों की भाषा सामान्यतः सरल तथा चलती-फिरती-सी पौराणिक भाषा की तरह है। बहुशः अपाणिनीय प्रयोग देखे जाते हैं। इस विषय को संक्षिप्त रूप में हम पृथक् देखने का प्रयत्न करेंगे। कुछ संहिताएँ परिमाण तथा विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत हैं। इस तरह की संहिताओं में पाद्मसंहिता, ईश्वर तथा पारमेश्वर संहिताएँ रखी जा सकती हैं। ये तीनों ग्रन्थ प्रायः पूर्णरूप से उपलब्ध हैं। पाद्मसंहिता बहुत ही व्यवस्थित रूप से विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से चार पादों में विभक्त है। ये चार पाद हैं : १. ज्ञानपाद, २. योगपाद, ३. क्रियापाद तथा ४. चर्यापाद। नाम के अनुरूप ही इन पादों में विषयों का विवेचन किया गया है। ज्ञानपाद के अन्तर्गत ग्रन्थावतार, सृष्टि-प्रक्रिया, पाञ्चरात्रिक तत्त्व तथा इसी प्रकार के अन्य ज्ञान अर्थात् दर्शन-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन १२ अध्यायों में

---

१. (i) नलकूबरसंहिता, के० सं० वि०, तिरुपति मातृ० सं० ५९३
(ii) गौतमसंहिता, ,, ,, ,, ,, ,, ५९२

२. (i) विष्वक्सेनसंहिता, पृ० २९३—३००
(ii) शेषसंहिता

किया गया है। दूसरा पाद योगपाद है। इस पाद में प्रायशः सामान्य रूप से पातञ्जल योगदर्शन में वर्णित विषय ही प्रतिपादित हैं। कुछ स्थलों में सामान्य भेद अवश्य है। जैसे ध्यान के अवसर में ध्येय का रूप वासुदेव कहा गया है[1], जो पातञ्जल योगदर्शन की अपेक्षा भिन्न विषय है। इसका विस्तृत तथा स्पष्ट विवेचन पञ्चकाल-प्रक्रिया के योग-काल में किया जायगा। पर, सामान्यतः मूल रूप से यहाँ का योगपाद पतञ्जलि के योग से सर्वथा भिन्न तथा नवीन नहीं है। क्रियापाद के अन्तर्गत समूर्त्तार्चन-सम्पादनार्थ आवश्यक कर्षणादि प्रतिष्ठान्त विषयों का विशद विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत आलय-कल्पन योग्य भूमि-संग्रह, आलय-निर्माण, उसके विविध भेद तथा प्रकारादि, प्रतिमा-निर्माण के क्रम में प्रतिमा के विविध उपादान द्रव्य, प्रतिमा के भेद तथा लक्षण, निर्माण-प्रक्रिया आदि विषय सविस्तर वर्णित हैं। चतुर्थ तथा अन्तिम पाद चर्यापाद है। इसके अन्तर्गत वैष्णवों की दीक्षा, आचार तथा भगवदाराधनपरक विषय मुख्य रूप से प्रतिपादित हैं। भगवदाराधन के अन्तर्गत नित्यार्चन, तदङ्गभूत अन्यान्य विषय, सामान्य तथा विशेष उत्सवादि प्रकार, तत्तद्विविध प्रायश्चित्त आदि विषय इस पाद में विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

यद्यपि पारमेश्वरसंहिता ने भी कुछ उसी प्रकार ज्ञानादि काण्डों के अनुसार विषय-विवेचन का प्रयत्न किया है, तथापि इसका प्रतिपादन-क्रम पाद्मसंहिता की तरह व्यवस्थित ढंग से चार भागों में प्रत्यक्ष तथा चारों पादों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित नहीं है। पर, सामान्यतः यहाँ भी पाद्म के चारों पादों में प्रतिपादित विषयों का समावेश हुआ है।

पाञ्चरात्रागम-साहित्य में वर्णित प्रमुख विषयों के सम्बन्ध में विचार करते हुए डॉ० श्रेडर ने पाञ्चरात्रागम में विद्यमान दस विषयों का निर्देश किया है। वे दस विषय हैं: १. दर्शन, २. मन्त्रशास्त्र, ३. यन्त्रशास्त्र, ४. मायायोग, ५. योग, ६. आलय-निर्माण, ७. प्रतिष्ठा-विधि, ८. आह्निक कर्म, ९. वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा १०. उत्सव-विधि-वर्णन।[2] पाञ्चरात्र-साहित्य के आलोड़न से यह उपर्युक्त कथन तथ्यपूर्ण प्रतीत होता है। आगे के अध्यायों में यथासम्भव एक-एक विषय के विवेचन का प्रयत्न किया जायगा।

ईश्वरसंहिता भी पाद्म की तरह पादों में विभक्त नहीं है, फिर भी यहाँ प्रायः वे सभी विषय प्रतिपादित हैं, जो कि ज्ञानादि पादों में पाद्मसंहिता के द्वारा प्रतिपादित हैं। हाँ, विषय-प्रतिपादन के अवसर में क्रम का या संक्षिप्त विस्तारपरक भेद अवश्य है। पर, सामान्यतः विषयगत महान् भेद नहीं कहा जा सकता।[3]

इन विस्तृत संहिताओं के बाद कुछ ऐसी पाञ्चरात्र-संहिताएँ हैं, जो मध्यम परिमाण की हैं। सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता, श्रीप्रश्नसंहिता आदि इस कोटि में आ

---

१. (i) पाद्मसंहिता, योगपाद ५.१—४
(ii) विष्णुतिलकसंहिता, ५.४-५

२. इण्ट्रोडक्शन टू पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० २६

३. 'भागवतशास्त्र', श्रीगोविन्दाचार्य का निबन्ध—जे० आर० ए० एस०, ग्रेटब्रिटेन, सन् १९११ ई०; पृ० ९५१, एफ ११;

सकती हैं। ये संहिताएँ ५००० श्लोक-संख्या से अधिक परिमाणवाली नहीं हैं। जबकि ऊपर निर्दिष्ट पाद्मादि संहिताओं की श्लोक-संख्या पाँच हजार से अधिक है।

परिमाण की दृष्टि से तृतीय कोटि में जो संहिताएँ हैं, उनमें श्लोक-संख्या १५०० से लेकर ३००० तक है। इस कोटि में आनेवाली संहिताओं में कपिञ्जलसंहिता, विश्वामित्रसंहिता, पराशरसंहिता, अनिरुद्धसंहिता तथा भार्गवसंहिता आदि रखी जा सकती हैं। इन संहिताओं ने भी संक्षेप में या विस्तृत रूप से उपर्युक्त चार पादों में वर्णित विषयों में से ही किसी-न-किसी विषय का प्रतिपादन किया है। पर, इन संक्षिप्त संहिताओं में उपर्युक्त चार पादों के सभी विषय नहीं आ पाये हैं। किसी ने ज्ञानपादस्थ किसी एक-दो विषय का कुछ अधिक विस्तार से वर्णन किया है, तो किसी ने क्रियापादस्थ विषयों का विस्तृत निर्देश किया है। उदाहरण के लिए हम शेषसंहिता[1] को देख सकते हैं, जिसमें केवल मन्त्र-सम्बन्धी विषय विस्तार के साथ वर्णित हैं, अन्य विषयों की चर्चा नहीं के बराबर है।

पाञ्चरात्रागम का विषय-प्रतिपादन-क्रम अत्यन्त वैज्ञानिक तथा औचित्यपूर्ण है। प्राय: अधिकांश पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में प्रश्नोत्तर-प्रणाली से इस आगमिक विषय का मनोवैज्ञानिक ढंग से, औचित्यपूर्ण क्रमिक विकास के आधार पर प्रतिपादन किया गया है।

अधिकतर संहिताएँ प्रस्तावनाध्याय के साथ प्रारम्भ की गई हैं। इस प्रस्तावनाध्याय में ग्रन्थावतार-वर्णन से संहिता-ग्रन्थों का प्रारम्भ होता है। ग्रन्थावतार-क्रम में तत्तत्संहिताओं के प्रवर्त्तन का इतिहास तथा प्रवर्त्तकों का क्रम निर्दिष्ट है। ऐसी संहिताओं में ईश्वरसंहिता[2], जयाख्यसंहिता[3], श्रीप्रश्नसंहिता[4], नारदीयसंहिता[5] तथा अनेक अन्यान्य संहिताओं का समावेश कहा जा सकता है।

कुछ पाञ्चरात्रागम-संहिता-ग्रन्थों में विना मङ्गलाचरण या प्रस्तावना के ही आगमिक विषयों का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। उदाहरण-स्वरूप विष्वक्सेन-संहिता का उल्लेख किया जा सकता है। कुछ संहिताओं के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण भी देखे जाते हैं; जैसे ईश्वरसंहिता, विश्वामित्रसंहिता[6]। कुछ संहिताओं में मंगलाचरण का निर्देश नहीं देखते। ऐसी संहिताओं में अनिरुद्धसंहिता[7], परमसंहिता[8], जयाख्यसंहिता तथा नारदीयसंहिता का निर्देश किया जा सकता है।

---

१. इण्ट्रोडक्शन टु द पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता, पृ० २१
२. सुदर्शन प्रेस, काञ्ची, संस्क०, सन् १९२१ ई०
३. बड़ौदा गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज—५४
४. केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति सिरीज—१२
५. ,, ,, ,, ,, ,, —१५
६. ,, ,, ,, ,, ,, —१३
७. सं० आ० श्रीनिवास अय्यंगार, मैसूर, सन् १९५६ ई०
८. बड़ौदा गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज—VOL. LXXXIV.

प्रत्येक संहिता के ग्रन्थावतार-क्रम में तथा प्रस्तावनाध्याय में एक विषय प्राय: समान रूप से निर्दिष्ट है। वह विषय है—विविध मुनियों के द्वारा परमज्ञान या मोक्षोपलब्धि के उपाय जानने का प्रश्नोपस्थापन। इस प्रसंग में यह भी अवधारणीय है कि जितने भी जिज्ञासु मुनि मोक्ष-साधनोपाय-निर्देश या ज्ञान-प्राप्ति के लिए तत्तदाश्रमों में तत्तद्मुनि-विशेष के समक्ष उनकी प्रार्थना करते हैं वे सभी मुनि समस्त वेदवेदाङ्ग तथा तत्तच्छास्त्रादि में अपने को पारंगत बताते हैं। इन मुनियों के अनुसार उन वेदवेदाङ्गों के ज्ञान से मोक्षादि-साधन हेतु ज्ञान में सहायता नहीं प्राप्त होने के कारण ये ऋषि उन-उन (ऋषि-विशेष के आश्रम में आते हैं और उन्हें उन-उन) विशिष्ट मुनियों से पाञ्चरात्र-ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह पाञ्चरात्र भुक्ति-मुक्ति-प्रदायक कहा गया है।[1] सामान्यत: इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया भारतीय दर्शन के तत्तद्विभागों की अपेक्षा उत्तरकाल में अपने वर्त्तमान रूप में आई है। इसका आधुनिक रूप श्रौत-प्रक्रिया के आधार पर प्रतिष्ठित-सा प्रतीत होता है। सूक्ष्म रूप से पर्यालोचन करने पर ज्ञात होता है कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया श्रौत यागादि-प्रक्रिया का अनुकरण है। पर, हरएक स्थान पर मुनियों ने इस पाञ्चरात्र-ज्ञान को नारायण से उपलब्ध हुआ कहा है। अर्थात् यह पाञ्चरात्र-प्रक्रिया मूलत: अपौरुषेय है। यह किसी पुरुषविशेष के द्वारा साक्षात् वर्णित या प्रतिपादित नहीं है।[2] पाञ्चरात्र-संहिताओं की प्रस्तावना या ग्रन्थावतार-प्रसंगों के विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस शास्त्र का परम प्रतिपाद्य विषय मोक्ष-साधनोपाय है। उस क्रम में दो वस्तुएँ आती हैं—एक ज्ञान तथा दूसरी क्रिया। ये दोनों सभी देहियों के इष्ट हैं। ज्ञान की अधिकता से मुक्ति होती है, कर्माधिक्य से संसृति। परिमाण से अन्वित कर्म का फल परिमेय होता है। आत्यन्तिक फल ज्ञान-परिमाण की कामना से ही होता है।[3]

पाञ्चरात्रागम के प्रतिपाद्य विषय विविध पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में स्वतन्त्र तथा पृथक्-पृथक् रूप से वर्णित हैं। जिस विषय को किसी एक संहिता-विशेष ने अत्यन्त विस्तार के साथ प्रतिपादित किया है। प्राय: अन्य संहिताओं ने उस विषय का वर्णन उतने विस्तार के साथ नहीं किया है। जैसे पाद्मसंहिता ने जितने विस्तार के साथ योग विषय का वर्णन किया है[4], उस तरह अन्य किसी संहिता ने उस विषय का उस

---

१. (i) अनिरुद्धसंहिता, १.१—३२
 (ii) विश्वामित्रसंहिता, १.३६—४८
२. (i) नारदीयसंहिता, १.७६
 (ii) अनिरुद्धसंहिता, २.१०
 (iii) परमसंहिता, १,३४
 (iv) नारायणसंहिता, पृ० १६१; के० सं० वि०, मातृका ५७६
३. परमसंहिता, १.६३-६४
४. पाद्मसंहिता, योगपाद

विस्तार के साथ पृथक् स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रतिपादन नहीं किया है। हाँ, आवश्यक सम्बद्ध स्थलों में संक्षेप या कुछ विस्तृत रूप से उस विषय का वर्णन अवश्य हुआ है। योग विषय नारदीय संहिता तथा अन्यान्य अनेक संहिताओं में पञ्चकाल-प्रक्रिया के अङ्गरूप में वर्णित है।[१] यहाँ यह अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित है। नारदीय संहिता में दीक्षाविधि-निरूपण के क्रम में जितने विस्तार के साथ भुवनादि का वर्णन हुआ है[२], उतने विस्तार से यह विषय बहुत कम ही स्थलों में देखते हैं। इस क्रम में पौष्कर, पारमेश्वर, विष्वक्सेन, विश्वामित्र आदि संहिताओं में प्रतिपादित विषयों का अवलोकन अधिक उपकारक हो सकता है। सामान्यत: सभी संहिताओं में प्रथम उस संहिता-विशेष के अवतरण का प्रसंग वर्णित होता है। अर्थात् ग्रन्थावतार तथा ग्रन्थ एवं पाञ्चरात्र-शास्त्र के परिचय से इन संहिताओं का आरम्भ देखते हैं। कुछ संहिताओं ने पाञ्च-रात्रागम की संहिताओं का भी इस क्रम में परिगणन किया है। इसीके आधार पर पाञ्चरात्रागम-साहित्य-सम्पदा का हम अन्यत्र इसी ग्रन्थ में वर्णन देखेंगे। सामान्यत: ये ग्रन्थ आगम-लक्षण से लक्षित हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से वैष्णव आचार तथा व्यवहार पर पाञ्चरात्रागम-संहिताओं का प्रबल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस क्रम में वैणष्व-सम्प्रदाय से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों में पाञ्चरात्रागमसंहिता-ग्रन्थों के उद्धरण को प्रमाण-रूप में उपस्थित किया जा सकता है। इन ग्रन्थों में कुछ प्राचीन तथा कुछ नवीन—दोनों तरह के ग्रन्थ हैं। श्रीमद्वेदान्तदेशिक की सच्चरित्र-रक्षा तथा पाञ्चरात्र-रक्षा[३] में विविध पाञ्चरात्र-ग्रन्थों के बहुत उद्धरण दिये गये हैं। परिशिष्ट-रूप में इन उद्धृत स्थलों को इसी ग्रन्थ में अन्यत्र देखा जा सकता है। यद्यपि वेदान्तदेशिक ने 'नारदीये एकोनसप्ततितमे अध्याये'—ऐसे उद्धरण भी दिये हैं, पर इस तरह के उद्धरण वस्तुत: इस नारदीय संहिता के नहीं, अपितु किसी अन्य नारदीय के हो सकते हैं; क्योंकि उपलब्ध पाञ्चरात्रागम की नारदीय संहिता में कुल अध्याय-संख्या मात्र ३० है। ग्रन्थ के आरम्भ तथा अन्त के वर्णन का पर्यालोचन तथा विवेचन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपलब्ध नारदीय संहिता से 'एकोनसप्ततितम अध्याय' से उद्धरण का अवकाश ही नहीं है; क्योंकि यह संहिता वर्त्तमान उपलब्ध रूप में उपोद्घात एवं उपसंहार-निर्देश-पूर्वक सर्वथा पूर्ण है। उपलब्ध नारदीय संहिता में इस ६९वें अध्याय के श्लोक कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। आचार्य वेदान्तदेशिक ने उपर्युक्त उद्धरण के अतिरिक्त भी कुछ

---

१. (क) नारदीय संहिता, अ० २९
(ख) श्रीप्रश्नसंहिता, अ० १३
(ग) विष्णुतिलकसंहिता, अ० ४

२. नारदीय संहिता, अ० ९. ४१—२१२

३. पाञ्चरात्र-रक्षा, अधिकार ३, पृ० ७८-७९; ८१ (वेदान्तदेशिक ग्रन्थमाला, सच्चरित्र-रक्षा; काञ्ची, सन् १९४१ ई०)

उद्धरण नारदीय संहिता से अपने रक्षाग्रन्थ में दिये हैं। ये उद्धरण निर्दिष्ट अध्याय के अनुरूप उपलब्ध नारदीय संहिता में प्राप्य हैं। ये श्लोक सामान्यत: दूसरे तथा २५वें अध्याय से लेकर उद्धृत हैं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि वेदान्तदेशिक के काल में भी नारदीय संहिता तथा अन्य संहिताओं की व्यावहारिक क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा थी।

डॉ० एच० डेनियल स्मिथ के द्वारा सम्पादित पाञ्चरात्रागम के मूर्त्तिकला-विषयक संग्रहात्मक ग्रन्थ 'वैष्णव आइकोनोग्राफी'[2] में प्राय: उपलब्ध सभी पाञ्चरात्र-संहिताओं से विषय स्वीकृत हैं। डॉ० स्मिथ ने अधोलिखित पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों से विषय का संकलन किया है :

१. (क) अगस्त्यसंहिता (ख) अगस्त्यसंहिता	२. अनिरुद्धसंहिता	३. अहिर्बुध्न्यसंहिता
४. (क) ईश्वरसंहिता (ख) ईश्वरसंहिता	५. कपिञ्जलसंहिता	६. काश्यपसंहिता
७. गरुडसंहिता	८. जयाख्यसंहिता	९. नारदीयसंहिता
१०. परमसंहिता	११. पराशरसंहिता	१२. पाद्मसंहिता
१३. पारमेश्वरसंहिता	१४. पुरुषोत्तमसंहिता	१५. पौष्करसंहिता
१६. बृहद् ब्रह्मसंहिता	१७. भार्गवतन्त्र	१८. मार्कण्डयसंहिता
१९. मार्कण्डेयसंहिता	२०. लक्ष्मीतन्त्र	२१. वायुसंहिता
२२. वाशिष्ठसंहिता	२३. विश्वामित्रसंहिता	२४. विष्णुतत्त्वसंहिता
२५. विष्णुतन्त्रसंहिता	२६. विष्णुतिलकसंहिता	२७. विष्णुसंहिता
२८. विष्वक्सेनसंहिता	२९. विहगेन्द्रसंहिता	३०. शाण्डिल्यसंहिता
३१. शेषसंहिता	३२. श्रीप्रश्नसंहिता	३३. सनत्कुमारसंहिता
३४. सात्त्वतसंहिता	३५. हयशीर्षसंहिता	

यद्यपि डॉ० स्मिथ ने अत्यन्त श्रम तथा श्रद्धापूर्वक मुद्रित पुस्तकों के अलावा मातृकाग्रन्थों का भी संकलन कर विषयों का संग्रह किया है, तथापि कहीं-कहीं कुछ संकलन अपूर्ण-से हैं। जैसे डॉ० स्मिथ को नारदीय संहिता की केवल दो या तीन ही मातृकाएँ उपलब्ध थीं। इनमें एक भी पूर्णतया सम्पूर्ण नहीं थी। अधोलिखित सन्दर्भ से इस विषय को प्रमाणित किया जा सकता है। नारदीय संहिता के तेईसवें तथा अट्ठाईसवें अध्यायों में विस्तारपूर्वक मूर्त्तिकला विषय वर्णित है। तेरहवें अध्याय में ३८९३ श्लोक हैं। इस सम्पूर्ण अध्याय में केवल मूर्त्ति विषय ही वर्णित है। डॉ० स्मिथ को जो मातृकाएँ उपलब्ध थीं उनमें प्राय: ग्रन्थपात के कारण तेरहवाँ अध्याय अनुपलब्ध था। इसी कारण स्मिथ

१. नारदीय संहिता २. १२१—१२३
   ,, ,, २५.७६—८०

२. पाञ्चरात्र-परिशोधन-परिषद्, मद्रास-५, सन् १९६९ ई०

के संकलन में सामान्यतः केवल नारदीय के अट्ठाईसवें अध्याय में वर्णित मूर्त्ति विषय की ही चर्चा देखते हैं। इस संग्रह में नारदीय के २७वें अध्यायस्थ विषय भी दृष्टिगोचर होते हैं।

पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में वर्णित उत्सव-सम्बन्धी विषयों का 'उत्सव-संग्रह'[१] नाम का संकलन अप्रकाशित मातृका-ग्रन्थ है। अर्थात् यह 'उत्सव-संग्रह' विविध पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित उत्सव-प्रकरण का संकलन-मात्र है। यह संग्रह दो भागों में उपलब्ध है। इसमें पाद्मसंहिता, नारदीय संहिता तथा अन्य अनेक संहिताओं का उत्सव-प्रकरण देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए नारदीय संहिता के अधोलिखित भाग 'उत्सव'-संग्रह' में देखे जा सकते हैं :

नार० सं० अ० श्लो०	विषय	उत्सव-सं० भाग	पृष्ठ
१. २३.७९—८६;	'गृहे देवतापवित्रारोपण-फलश्रुति'	II	२८४-२८५
२. २४.४—८;	'एकादश्यर्चनविधि'	II	४३७
३. २४.४५—४९;	'कृत्तिकादीपोत्सवविधि'	I	२२१
४. २४.५७—७८;	'तिलपद्मदान-विधि'	I	७०-७१
५. २४.१००—१०७;	'फलपूजा-विधि'	I	१३१-१३२

'देवालयार्चनाविधानम्'[२] नामक लघु पुस्तक में पाद्मसंहिता के अनुसार आलयार्चन विषय का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक में टिप्पणी के रूप में पाञ्चरात्रागम के अनेक संहिता-ग्रन्थों से उनके उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। कई अन्य उद्धरणों के साथ नारदीय संहिता के २२वें अध्याय के २ से ९ संख्यावाले श्लोकों का उद्धरण दिया गया है। यह प्रसंग स्नपन-द्रव्यों के प्रतिनिधियों के परिगणन का प्रसंग है। यहाँ देवता की मुखवास-विधि का निर्देश किया गया है।[३]

वैखानस-आगम के अमुद्रित तालपत्रात्मक ग्रन्थों के उद्धरण देखे जा सकते हैं।[४] इन सब उद्धरण आदि के देखने से यह बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्र-साहित्य का प्राचीन तथा आधुनिक काल में व्यावहारिक दृष्टि से समाज में पूर्ण प्रभाव तथा उपयोग होता रहा है। पर, संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में इसका कोई खास महत्त्व-पूर्ण विवेचनात्मक स्थान नहीं रहा है।

---

१. मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी—R. 3286. I, II

२. देवालयार्चनाविधानम्, सम्पादक—वङ्गीपुरम् नृसिंहाचार्य
प्रकाशक : श्रीयादवगिरि लक्ष्मीनृसिंह देवस्थान कार्यकारिणी समिति, १९६० ई०

३. वही, पृ० २१, २३

४. वासाधिकार, अ० १, श्लो० १२४
तालपत्रात्मक मातृका; फो० ४ बी० प्रथम पंक्ति।
(श्री आर० पार्थसारथी भट्टाचार्य की मातृका)

सामान्यतः सभी आगमों की भाषा कुछ-न-कुछ दोषपूर्ण देखने में आती है। दोषपूर्ण कहने से हमारा तात्पर्य मुख्यरूप से अपाणिनीय प्रयोग से है। पाञ्चरात्रागम की संहिताओं में भी अत्यधिक अपाणिनीय प्रयोग उपलब्ध हैं। इन प्रयोगों पर अलग से भाषाशास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत विशिष्ट विचार किया जाना अपेक्षित है। यह अपने-आप में एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकता है।

पाञ्चरात्रागम का समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी एक स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

प्रथम भाग

प्रथम अध्याय

पाञ्चरात्रिक ब्रह्मतत्त्व

पाञ्चरात्रागम के उपलब्ध ग्रन्थो के विषय-पर्यालोचन से यह अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आगम प्रधानरूप से विष्णुभक्तिमूलक सगुणमूर्त्ति-आराधना विषय-प्रतिपादक आगमशास्त्र है। अतः स्वाभाविक रूप से वासुदेव की सगुण-आराधना के लिए अपेक्षित मूर्त्ति एवं आलय-कल्पन तथा आराधनाक्रम-निरूपण आदि विषयों के साथ पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के आचार-विचार से सम्बद्ध क्रिया-प्रधान विषय प्रमुख रूप से इसमें प्रतिपादित हैं। यही कारण है कि इस आगम के विविध ग्रन्थों में मूर्त्तिकल्पन विषय तथा आलय-निर्माण विषयों के साथ विविधोपचारपूर्वक देवता-आराधन आदि विषय अत्यन्त विस्तार से निरूपित हुए हैं। ब्रह्म आदि तात्त्विक विषयों के प्रतिपादन में उतना अवधान नहीं दिया गया है। अतः, उपलब्ध सभी पाञ्चरात्रिक ग्रन्थों ने ब्रह्मस्वरूपादि के निरूपण के लिए अलग से अध्याय स्वीकार नहीं किया है, जबकि मूर्त्ति एवं आलय-कल्पनादि विषयों के प्रतिपादन के लिए बड़े-बड़े अध्यायों को स्वीकार किया है। अर्थात् इन पाञ्चरात्रागम-संहिता-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भगवदाराधन है, न कि ब्रह्म आदि तात्त्विक विषयों का विवेचन। पर, यहाँ वासुदेव को परम तत्त्व अर्थात् ब्रह्मतत्त्व स्वीकारा गया है और प्रासंगिक रूप से तत्तत् स्थलों में आवश्यकतानुसार गौण विषय की तरह ब्रह्मस्वरूपादि-विषय प्रतिपादित हुए हैं। कुछ पाञ्चरात्रिक ग्रन्थों, जैसे—पाद्मसंहिता[1], अहिर्बुध्न्य-संहिता[2] तथा जयाख्यसंहिता[3] ने विस्तारपूर्वक तात्त्विक विषयों का निर्देश एवं विवेचन किया है।

इन तात्त्विक विषयों में सृष्टि-प्रक्रिया तथा ब्रह्मस्वरूप-विषय मुख्य रूप से देखे जा सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रमतानुसार वर्णित उक्त ब्रह्मविषय के विवेचन का प्रयत्न होगा। तात्त्विक विषयों के विवेचन के क्रम में सर्वप्रथम नारदीय संहिता में वर्णित उन विषयों को देखना अधिक प्रासंगिक होगा, जिनमें सृष्टि से पूर्व की स्थिति का वर्णन किया गया है। सृष्टि के पूर्व केवल सनातन वासुदेव के अस्तित्व का निर्देश है। कहते हैं कि निरालोक, अतिगह्वर, निर्मर्याद, निराभास, निष्प्रपञ्च, निरालय इस महान् जगत् में जब चन्द्र तथा सूर्य की किरणें नष्ट हो गई थीं, यह प्रपञ्च ग्रह तथा नक्षत्र से रहित था, पक्षिगण के सन्तान नहीं थी, न देव थे, न राष्ट्र था, न ब्रह्मा थे, न अन्य जन्तु ही। उस समय एक सनातन भगवान् वासुदेव ही था। उस निराभास, तत्त्वातीत, परशिव ज्ञानशक्ति

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, अ० ५ तथा ६
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, अ० २
३. जयाख्यसंहिता, पट ६

समोपेत परमात्मा को पुरुषोत्तम समझना चाहिए। यह पुरुषोत्तम वासुदेव सर्वापेक्षया उत्तमपुरुष अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है।[१] उपर्युक्त यह ब्रह्मस्वरूप-वर्णन औपनिषदिक ब्रह्मस्वरूप का स्मरण कराता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित प्रारम्भिक स्थिति पर विचार करने पर इस पाञ्चरात्रिक क्रम के साथ कुछ साम्य देखा जा सकता है। उपनिषदकार कहता है 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादि।[२] नारदीय संहिता ने प्रथमाध्याय के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थलों में प्रासंगिक रूप से ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया है। जैसे भगवत्प्रतिमा के प्रतिष्ठा-क्रम-वर्णन एवं दीक्षानिरूपण के अवसर में प्रसंगवश ब्रह्म के स्वरूप के विषय में सामान्य रूप से कुछ बताया गया है। यहाँ ब्रह्म को सर्वकलातीत, शक्त्यतीत, परशिव, निर्गुण, निर्मल, शान्त, परमात्मा, सनातन, ब्रह्मपद, सत्-असत्-तत्पर, परमधाम, सर्वशक्तिपदातीत, अव्यय, वासुदेवाख्य, शून्य, सर्वगुण, शुद्ध, सर्वलक्षणवर्जित, महेश्वर, परब्रह्म, सर्वज्ञनाम-शिव, कूटस्थ, एकविष्णु तथा अच्युतादि से व्यापी कहा गया है। यह वासुदेव अज परम-परमार्थ पदों से युक्त है।[३]

अहिर्बुध्न्य-संहिता ने अनादि तथा अनन्त परब्रह्म को अक्षर तथा अव्यय कहा है। वह अनामयरूप-संवेद्य तथा वाक् एवं मन से अगोचर है। ब्रह्म सर्वशक्ति है। वह षाड्गुण्ययुक्त अजड तथा ध्रुव है।[४] षाड्गुण्य का अर्थ निरवच्छिन्न ज्ञान, निरवच्छिन्नशक्ति, निरवच्छिन्न ऐश्वर्य, निरवच्छिन्न बल, निरवच्छिन्न वीर्य एवं निरवच्छिन्न तेज कहा गया है। जो अजड स्वात्मसम्बोधि, नित्य तथा सर्वावगाही हो उसे ज्ञान कहते हैं। गुण-चिन्तकों के अनुसार इसी तरह का ज्ञान ब्रह्म का प्रथम गुण है। यही ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप है, साथ-साथ उसका गुण भी। शक्तिगुण जगत् निर्मातृ प्रकृति-शक्ति है। ब्रह्म का स्वातन्त्र्य-परिबृंहित कर्त्तृत्व ही उसका ऐश्वर्य-गुण है। अर्थात् ब्रह्म सर्वथा स्वतन्त्र कर्त्तृत्वयुक्त है। सतत प्रपञ्च की सृष्टि करते हुए भी ब्रह्म को श्रम नहीं होता और उसकी यही श्रमहानि उसका बल-गुण है। उपादान के अभाव में भी विकार-विरह-रूप जो ब्रह्म का अच्युतत्व रूप है, वही वीर्यगुण है। ब्रह्म को सहकारी की अनपेक्षा ही उसका तेजगुण है। अहिर्बुध्न्य के अनुसार शक्त्यादि पाँच गुण प्रथम ज्ञानगुण के ही प्रकार हैं। जैसा कि ऊपर देखा गया है, ज्ञान ही परब्रह्म का स्वरूप भी है। इस तरह परब्रह्म का षाड्गुण्य स्वशक्ति-परिबृंहित ही है। ज्ञानस्वरूप वह परब्रह्म 'बहुस्याम' इस संकल्प अर्थात् इच्छा से सुदर्शन को प्राप्त करता है।[५] ये सभी उपर्युक्त गुण ब्रह्म के अप्राकृतिक गुण कहे गये हैं। अतः, ब्रह्म इन अप्राकृतिक गुणों से युक्त होकर भी प्राकृतिक गुणों से रहित है। अतः वह निर्गुण है। इस प्रकार अहिर्बुध्न्य-संहिता के अनुसार अप्राकृत गुणों के स्पर्श के बाद भी

---

१. नारदीय संहिता १·२५—२९
२ बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१
३. नारदीय संहिता ६. २०३—२११; १५. ८६—८८
४. अहिर्बुध्न्यसंहिता २. ६—७
५. वही, २·५६—६२

पाञ्चरात्रमत में ब्रह्म सगुण न होकर निर्गुण ही है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में वैश्वानर-विद्या अर्थात् आत्मा, ब्रह्म या सत्‌देवता का स्वरूप बताने के पश्चात् उस देवता के ईक्षण का निर्देश किया गया है। वह सत्‌देवता इच्छा करता है 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय', और उससे तेज, आप तथा अन्न (पृथ्वी) आदि देवताओं की सृष्टि होती है।[2] इस उपनिषद्-प्रतिपादित क्रम के साथ तुलना करने पर कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद्-प्रतिपादित प्रक्रिया के समान ही प्रायः पाञ्चरात्र में भी ब्रह्म एक से बहुत होने की इच्छा कर सुदर्शन आदि रूप में सृष्टि-क्रम का विस्तार करता है।

पाञ्चरात्रागम से ब्रह्म अनेक रूपों में वर्णित है। जैसे—एक, निर्दुःख, निःसीम, सुखानुभव-लक्षण, आदि-अन्तरहित, नारायण, अनामय, सभी भूतों में आवास किया हुआ, सर्वव्यापकरूप से अवस्थित, निरवद्य, अविक्षिप्त तथा तरंगरहित समुद्र के समान, अप्राकृत गुणस्पृष्ट, अप्राकृत गुणास्पद, भवसागर-पार, निष्कलंक, निरञ्जन; आकार, देश तथा कालानवच्छेद्य, पूर्ण, नित्योदितव्याप्ति, हेय तथा उपादेयोज्झित, किसी भी इयत्ता से अपरिच्छेद्य।[3]

ब्रह्म को अनेक शब्दों से अभिहित किया गया है। जैसे—परमात्मा, भगवान्, वासुदेव, अव्यक्त, सर्वप्रकृति, प्रधान, नित्य, अनन्त, अपरिमित, अक्षर, अरिष्ट, अच्युत, समधी, सम, अचिन्त्य, प्रभव, अव्यय, ब्रह्म, कपिल, कापिल, हिरण्यगर्भ तथा शिव। इन शब्दों की व्युत्पत्ति तथा तदनुरूप अर्थों का विवेचन भी किया गया है। यह व्युत्पत्तिसम्मत अर्थ हम आगे देखेंगे।[4]

ब्रह्म में सभी तत्त्व विद्यमान हैं। उसमें ज्ञानसूत्रमय रूप से सभी भाव तथा अभाव पदार्थ प्रोत रहते हैं। ब्रह्म अधोलिखित रूप में त्रिविध-परिच्छेदशून्य कहा गया है। परमपद ब्रह्म सर्वप्रत्यक्षदर्शी सर्वात्म है। वह न वर्त्तमान है, न अतीत है, न भावी ही है, वह अग्रतः नहीं है, पृष्ठतः नहीं है, ऊर्ध्वतः नहीं है तथा दोनों पार्श्व भागों में भी नहीं है। वह कालमाय नहीं है। वह विकल नहीं है, वह कृष्ण वर्ण या पिङ्गल वर्ण नहीं है, सारङ्ग वर्ण नहीं है, कपिलवर्ण अथवा अरुणवर्ण भी नहीं है। वह बभ्रुवर्ण नहीं है, नकुलवर्ण अथवा श्यामवर्ण भी नहीं है। वह ब्रह्म रोहितवर्ण भी नहीं है। ब्रह्म दीर्घ नहीं है, ह्रस्व नहीं है। स्थूल नहीं है, इसी प्रकार वह अणुरूप भी नहीं है। ब्रह्मवृत्तया अपावृत नहीं है। न तो वह आश्रित है न अनाश्रित, वह न तो भाव है न अभाव ही है, वह भावाभाव से अचित् भी नहीं है। वह शीत नहीं है, वह उष्ण नहीं है, न अनुष्णाशीत ही है। ब्रह्म दुःख अथवा सुख नहीं है। निर्दुःख अथवा निःसुख भी नहीं है। उसका मूल नहीं है, उसका मध्य नहीं है, उसका अन्त भी नहीं है। वह न तो सोता है, न बैठता है,

---

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता, २.५५

२. छान्दोग्योपनिषद्; ५.२.३-४

३. अहिर्बुध्न्य-संहिता, २.२२—२६

४. वही, २.२६—४०

न खड़ा है, न चलता ही है। वह सर्वथा सभी द्वन्द्वों से रहित है। सभी उपाधियों से वर्जित षाड्गुण्यरूप सभी कारणों का कारणभूत है।[१] पाञ्चरात्रागम का यह ब्रह्मस्वरूप-वर्णन बहुत-कुछ उपनिषद् के उस ब्रह्मस्वरूप के समान प्रतीत होता है, जहाँ उसे सर्वत्र 'नेति नेति' रूप में ही कहा गया है।[२]

पाद्मसंहिता तथा विष्णुतिलक-संहिता ने भी प्रायः इसी तरह ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार ब्रह्म अव्यक्त; अच्युत, अनादिमध्यान्त, अक्षर, नित्यतृप्त, निरुपम परममह, वर्णों का विकार नहीं है। वह मह और तमस् से परे है, वह उष्ण नहीं है, शीत नहीं है, उष्णशीत भी नहीं है। वह सर्वाकार निरामय है, वह निराकार परतत्त्व है। उसका ज्ञाता कोई नहीं है, मुमुक्षुओं से वह सर्वव्यापक रूप में जाना जाता है। इस प्रकार का ब्रह्म कारणवश स्फटिक की प्रभा से युक्त चिद्घनरूप हुआ।[३] यहाँ एक जगह **'तेजो राशिः भवेद्ब्रह्म'** कहा गया है। पुनः **'ब्रह्मणोऽस्य जगत् कर्त्तुः'** कहकर ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता बताया है।[४] पूर्वोक्त अहिर्बुध्न्य-संहिता ने जिस विषय को पृथक्-पृथक् भाव तथा अभावरूप में प्रदर्शित किया है, उसी विषय को विष्णुतिलक-संहिता ने साथ-साथ भावात्मक तथा अभावात्मक उभयविध ब्रह्मस्वरूप का वर्णन किया है।

ब्रह्म अविक्रिय, दिव्यरूप, स्वयंवेद्य, निरञ्जन, निर्दोष, अनवच्छिद्र, अस्पष्ट, निर्विकल्प, अद्वन्द्व, अक्षर, शान्त, अर्कज्योति, अनामय, चिदानन्दस्वरूप, अदृष्टान्त, अबुद्धिमत्, स्वभावनिर्मल, शुद्ध, निर्मर्याद, गतागत-विवर्जित, निस्तरंग, निर्विकार, निराकुल, सभी भूतों का प्रभव, वासुदेवाह्वय, महः, मोक्षमाणः, हीनवर्णों से असंसेव्य एवं अतर्क्य, सतत योगियों से ध्येय होते हुए भी अध्येय तथा अगोचर, प्रधान और प्रकृति से अन्यत् भोग्य-भोक्तृ निराश्रय, सर्वतः अक्षि, शिर, वक्त्र, श्रुति तथा पाणिवाला है। वह ब्रह्म अन्तर्बहिः सब जगह स्वयं प्राप्त कर प्रकाशित होता है। ओंकार, अक्षर; व्यक्त मायारूप तथा कल्याणकारक है। ब्रह्म मूलमन्त्रात्मक, पूर्वोक्त की तरह नित्य, अव्यक्त तथा अज भी कहा गया है। वह महान् से भी महान्, अणु से भी अणु, मृदु से भी मृदु, अमाय, चिद्घन मूर्त्त तथा अमूर्त्त है।[५]

जैसा पहले कहा गया है, पाञ्चरात्रागम के कुछ स्थलों में ब्रह्म के विविध नामों का अर्थपरक निर्वचन किया गया है। उस प्रसंग में सर्वतः पाणिपाद इत्यादि के विषय में अधोलिखित मत व्यक्त किये गये हैं। परमात्मा ने इन सभी चराचरों को आक्षिप्त किया, अतएव ये सभी उसके पाणि कहे गये। देश-कालविशेष परमेष्ठि से एककालावच्छेदेन

---

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता, २.४२—५३
२. बृहदारण्यकोपनिषद्, ३.९.२६; २.३.६
३. विष्णुतिलक-संहिता, २.५—८
४. वही, २.३४.३५
५. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, ५.२८—४०
   विष्णुतिलक-संहिता, २.७४—८२

सतत संयुक्त रहने के कारण 'सर्वतः पात्' कहा गया। यह ब्रह्म रवि की तरह पार्श्वभाग, ऊर्ध्वभाग तथा अधोभाग से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है। अतः, उस ब्रह्म को सर्वतश्चक्षु की संज्ञा दी गई है। प्रपञ्च की सारी वस्तुएँ उस ब्रह्म के पुरःस्थित हैं, अतः उसे सर्वतोमुख कहा गया है। शरीरस्थ सारी इन्द्रियों में शिर को सर्वोत्तम माना गया है, वह शिर ज्ञान का आश्रय भी है, अतः ब्रह्म को सर्वशिरा कहा गया है। दूर तथा समीप एवं व्यवहितेतर में शब्द-संघात को सुनने के कारण ब्रह्म को सर्वतःश्रवा कहा गया है।[1]

जिस प्रकार अयःपिण्ड अग्नि से भिन्न होते हुए भी अग्नि से अभिन्न दीखता है, उसी प्रकार व्यक्त से अलग भी ब्रह्म उसको समावृत कर वर्त्तमान रहता है। मालिन्य से आवृत स्वच्छ दर्पण में जिस प्रकार रूप का अव्यक्त दर्शन होता है, उसी प्रकार यह प्रपञ्च ब्रह्म का अव्यक्त रूप कहा गया है। विज्ञान इन्द्रियों के अधीन नहीं है, अतः भगवान् बुधजनों के द्वारा सर्वज्ञ कहा गया है। परमात्मा के परम महत्त्व के कारण मनीषियों ने विष्णु को व्यापी कहा है। ब्रह्म अनादि है, अज है, उसी प्रकार अनन्त भी है, इसीलिए सबके परोक्षत्व होने के कारण मनुष्य उसे असत् कहते हैं। इसकी अपरोक्षता पुष्प में गन्ध की तरह होती है। जिस प्रकार पुष्कर-पत्र में स्वच्छ जल की अवस्थिति होती है, उसी प्रकार परमात्मा तीन गुणों से अबद्ध भी उनमें बद्ध की तरह रहता है। जिस प्रकार महार्णव में निमग्न कुम्भ अन्तर्बहिः चतुर्दिक् जल-संयुक्त होता है, उसी प्रकार यह परमात्मा भी प्रपञ्चस्थ वस्तुओं के साथ स्थित रहता है। श्रुति ने पर तथा क्षेत्रज्ञ के ऐक्य का निर्देश किया है। पर क्षेत्रज्ञ की बहुलता देह-भेद के कारण प्रतीत होती है। जिस तरह एक ही बिम्ब के दर्पणों में अनेक प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं, उसी तरह भूतादि पञ्चसंघात क्षेत्ररूप में व्यवस्थित हैं। सूरि लोग परात्पर विष्णु को ज्ञानचक्षु से देखते हैं। सामान्य जन ज्ञानगोचर, अक्षय ब्रह्म को नहीं जानते हैं। जिस तरह घट को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हुए तत्रस्थ आकाश का चलना प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार परव्यापी का देह में चलन आदि प्रतीत होता है। अतः, परव्यापी ब्रह्म का चलन विभ्रम नहीं कहा जा सकता। इस तरह पर तथा जीव में भेद नहीं है। जिस तरह सहस्र पद्मपत्र में सूचिभेदन के समय सूक्ष्मत्व के कारण अनुक्रम का बोध नहीं होता, उसी प्रकार इस परमात्मा को अणु नाम से अभिहित किया गया है। ब्रह्म को अज्ञ लोग दूरस्थ देखते हैं, वस्तुतः वह हृदय-देश में स्थित होता है। जिस प्रकार एक वायु तथा आकाश का वितान स्थित है, उसी प्रकार अजब्रह्म चराचर विश्व को व्याप्त कर स्थित है। अतएव, ब्रह्म को अज कहते हैं। जिस प्रकार नभ में रवि अपनी रश्मि की सृष्टि तथा संहार में समर्थ है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि तथा संहार में समर्थ है, अतः वह प्रभु है। यह चिद्घन स्व तथा पर उभयविध विषयों को प्रकाशित करता है। जिस तरह प्रदीप अपना तथा घटादि का प्रकाशक होता है, उसी तरह सित आदि वर्णों से रहित

१. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, ६. २—७

हरि स्वयं का तथा अन्यान्य वस्तुओं का प्रकाशक है। ब्रह्मज्ञानादि षट् अनन्यग गुणों से अन्वित होने के कारण सत् पुरुषों के द्वारा परमात्मा जगन्मय भगवान् कहा गया है। जिस प्रकार दधि में घी, तिल में तेल तथा गुडादि में माधुर्य तत्त्वतः द्रव्य से अभिन्न तथा अमूर्त्त रूप में स्थित रहते हैं और उपलम्भन के सामर्थ्य से ही अनुभूत होते हैं, न कि पृथक् रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार अज, अमूर्त्त सबका अन्तरात्मभूत परपुरुष ज्ञानियों के भावनायोग से उपलब्ध होता है।[१] नारदीय संहिता ने आत्मवेदन पुरुष की प्रधान में अवस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है : जिस तरह काष्ठ में अग्नि, तिल में तेल, उदुम्बर में मसक अवस्थित रहता है, उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान में विद्यमान रहता है।[२]

ब्रह्म अर्थात् परवासुदेव का पाञ्चरात्रागम के अनुसार वर्णित स्वरूप हमने ऊपर देखा है। इसके बाद सामान्य रूप से यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त चराचर सभी वस्तुओं में व्यापक रूप से व्याप्त, अमूर्त्त, अपृथक्भूत स्वसंवेद्य ब्रह्म को कौन जान सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि चक्रमण्डल में पाञ्चरात्रोक्त विधि से दीक्षित द्वादशाक्षर-मन्त्र के द्वारा शास्त्रोक्त विधि से विष्णु की आराधना करनेवाले के हृदय-कमल में भगवान् साक्षात् आविर्भूत होता है। उसके बाद मनुष्य माया का संतरण कर ब्रह्म को जान पाता है।[३] एक जगह स्पष्टतः कहा गया है कि ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा जानना चाहिए।[४] इस विषय को अधोलिखित रूप से भी बताया गया है। कहते हैं कि ब्रह्म के अनुभव की सम्भावना अनेक जन्मों में अर्जित पुण्य से तथा पापक्षय के पश्चात् विज्ञानशास्त्र के द्वारा पापजाल के विच्छेद से होती है, जब सत्, तमस् तथा रजस्—इन तीनों गुणों की उपरति होती है। ब्रह्म स्वयं अनुभव किया जाता है। प्रत्यक्षतः 'यह ब्रह्म है', यह वाणी के द्वारा नहीं कहा जा सकता। अर्थात् वह ब्रह्म केवल अनुभवगम्य है, न कि शब्दवाच्य।[५] विष्णुतिलकसंहिता का कहना है कि जिसके द्वारा ब्रह्म जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। अतः, सतत ध्यानस्थित होकर ब्रह्म को जानना चाहिए।[६] जयाख्यसंहिता के अनुसार ब्रह्म से अभिन्न ज्ञान की प्राप्ति से ब्रह्म की संसक्ति होती है। अतः, ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।[७]

ब्रह्म के तीन रूप हैं—१. स्थूलरूप, २. सूक्ष्मरूप तथा ३. पररूप। स्थूलरूप सकल है, सूक्ष्मरूप सकल-निष्कल है तथा पररूप निष्कल है। वेदोक्त सहस्रशीर्षादि रूप परमात्मा का सकलरूप कहा गया है। सकल-निष्कलरूप तेजःपुञ्ज की तरह है।

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञा० ६. ८—२९
२. नारदीय संहिता, ९. २००
३. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, ६. ३०—३३
४. वही, ५. २८
५. अहिर्बुध्न्य-संहिता, २.४१-४२
६. विष्णुतिलकसंहिता, २.४
७. जयाख्यसंहिता, पट० ४.३८

सच्चिदानन्दादि ब्रह्मस्वरूप उसका निष्कल रूप कहा गया है।[1] प्रकृति तथा विकृति—ये परमात्मा के अपने रूप हैं। सत्त्वादि गुण-संघात ही प्रकृति तथा विकृति है। पुरुष परमात्माख्य है, जिससे यह त्रिगुणात्मिका कही गई है। पुरुष से अधिष्ठिता प्रकृति ही सर्वजगत् की सृष्टि करती है। उसी के नियोग से सबका संहार भी करती है। इस प्रकार नाना शक्तियों से समन्वित वह एक ही परदेव सृष्टि तथा संहार करता है। उसे ही नारायण कहते हैं, और नारायण ही परब्रह्म हैं।[2]

जैसा कि हमने पहले देखा है, जयाख्य-संहिता ने ज्ञान के द्वारा ब्रह्मसंसक्ति का निर्देश किया है। उस ज्ञान का लक्षण तथा भेद भी बताया गया है। जैसे—ब्रह्म-सिद्धि-प्रदत्व जिसमें हो उसे ज्ञान कहते हैं, ऐसा कहना एवं स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा। स्वभावतः ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जन्म तथा भवबन्धन नहीं होते। ज्ञान दो तरह के कहे गये हैं : १. सत्ताख्य ज्ञान तथा २. क्रियाख्य ज्ञान। क्रियाख्य ज्ञान के साथ सत्ताख्य ज्ञान के अभ्यास से धृति की उपलब्धि होती है। अर्थात् सत्ताख्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है। प्रधान रूप से सत्ताख्य ज्ञान ही यहाँ ब्रह्मज्ञोनोत्पत्ति में हेतु है। पर, यह सत्ताख्य ज्ञान एकाकी ही ब्रह्मप्राप्ति का साधन नहीं हो सकता। कहा जा सकता है कि क्रियाज्ञान के विना अर्थात् क्रियाज्ञानपूर्वक क्रिया-आचरण के विना साक्षात् केवल सत्ताख्य ज्ञान ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति में कारण नहीं हो सकता। स्पष्ट कहा गया है : 'येनाभ्यस्तेन सत्ताख्यं ज्ञास्यामि ब्रह्मसिद्धिदम्'।[3] अतएव, पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में क्रियाप्रधान भगवदाराधन को प्रमुख स्थान दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि पाञ्चरात्रागमोक्त ब्रह्म श्रीशङ्कराचार्य के निर्विशेष ब्रह्म के समान निर्गुण केवल सत्, चित् एवं आनन्दमय ही नहीं है, अपितु ज्ञानरूप होते हुए षाड्गुण्ययुक्त भी है। इसी प्रकार यह ब्रह्म श्रीरामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य के विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत-मत के अनुसार केवल स्थूल-सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट अर्थात् सकल, सकल-निष्कल एवं केवल निष्कल-मात्र ही नहीं है, किन्तु सकल-निष्कलादि रूप से स्थूल-सूक्ष्म-चिदचित्विशिष्ट होकर भी केवल शुद्धनिर्विशेष ज्ञानरूप भी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाञ्चरात्रागम ने निर्विशेषाद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैतमत के ब्रह्मतत्त्व को समन्वित रूप से स्वीकारा है। परमतत्त्व के रूप में परवासुदेव को ही ब्रह्म कहा गया है। उसीसे चतुर्व्यूह तथा अन्य शुद्ध तथा शुद्धेतर सृष्टि का क्रम विकसित होता है, जिसका विवेचन अन्यत्र स्वतन्त्र देखा जा सकता है।

पाञ्चरात्रागमोक्त ब्रह्मतत्त्व के उपर्युक्त विवेचन से पाञ्चरात्रागम-साहित्य की रचना एवं उसके विकास-क्रम पर भी कुछ सामान्य प्रकाश पड़ता है। कहा जा सकता है

---

१. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा० ६. ३७—३९

२. वही, ६.३७—४३

३. जयाख्यसंहिता, ६.४१

कि श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्य के द्वारा सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत तथा द्वैतादि दार्शनिक मतों के स्थापन से पूर्व के ये आगम-सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, जिसके कारण इस आगम में उक्त ब्रह्मतत्त्व में लचीलापन या अद्वैत विशिष्टाद्वैत आदि के मध्य का समन्वयात्मक रूप दीख पड़ता है। बाद में भक्तिमार्गीय वैष्णवाचार्यों ने पाञ्चरात्रोक्त ब्रह्मतत्त्वादि के आधार पर विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त-दर्शन का व्यवस्थित, ठोस तथा सूक्ष्म स्वरूप प्रतिपादित कर अपने सम्प्रदाय तथा सिद्धान्त का स्थापन किया है।

द्वितीय अध्याय

सृष्टि-प्रक्रिया

मानवीय मस्तिष्क-विकास के साथ-साथ अध्यात्म-चिन्तन तथा प्रत्यक्षतः परिदृश्यमान वस्तुओं की प्रथमोत्पत्ति आदि विषयों की जिज्ञासा, उनके मूलरूप के ज्ञान की आकांक्षा का विकास तथा विवेचन भी प्रारम्भ हुआ होगा। इसीलिए सामान्यतः सभी दर्शनों ने सत्तात्मक या असत्तात्मक रूप से सृष्टि-विषय-विवेचन के साथ प्रपञ्च के मूल-तत्त्वों के विवेचन का प्रयत्न किया है। सभ्यता के प्रारम्भिक ग्रन्थ ऋग्वेद में भी नारदीय सूक्त तथा पुरुषसूक्त[1] आदि के रूप में यह विषय सरलतया देखा जा सकता है, जहाँ आदिपुरुष के स्वरूप का वर्णन तथा उससे उत्पन्न वस्तुओं का स्पष्ट वर्णन देखते हैं। वेद से प्रारम्भ कर प्रायः सभी प्रारम्भिक तथा परवर्त्ती दर्शनों ने सृष्टि के विषय में निश्चित रूप से अपने मत का प्रतिपादन किया है। आगम के लक्षण में 'सृष्टिश्च' इत्यादि कथन के साथ सृष्टिक्रम-वर्णन विषय को आगम का एक प्रमुख, अतः प्रथम विषय स्वीकारा गया है। सामान्यतः सभी आगमिक सम्प्रदायों ने सृष्टिक्रम-वर्णन को एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्वीकार किया है। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में भी इस सृष्टि-प्रक्रिया का अपने ढंग से वर्णन किया गया है। अनेक पाञ्चरात्रिक संहिताओं ने संक्षेप अथवा विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन किया है। परस्पर कुछ सामान्य भेद के बावजूद पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में प्रतिपादित सृष्टिक्रम मौलिक रूप से प्रायः समान है। प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित सृष्टि-विषय के आधार पर पाञ्चरात्रिक सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन का प्रयास होगा।

क्रिया तथा चर्या विषय-प्रतिपादन-प्रधान होते हुए भी पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में जहाँ कहीं दार्शनिक विषयों का विचार किया गया है, वहाँ पाञ्चरात्रिक सृष्टि तथा सृष्टि-तत्त्वों की चर्चा देखते हैं। कुछ संहिताओं ने स्वतन्त्र तथा विस्तृत रूप से इस विषय का प्रतिपादन किया है। जैसे पाद्मसंहिता ने ज्ञानपाद के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अध्यायों में इस सृष्टि-प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अहिर्बुध्न्यसंहिता के पाँचवें अध्याय में विष्णुतिलकसंहिता के दूसरे अध्याय में जयाख्य-संहिता के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में तथा परमसंहिता के दूसरे अध्याय में इस विषय को देखते हैं। नारदीय संहिता ने प्रथमाध्याय में प्रमुख रूप से इस विषय की चर्चा की है। इन्हीं वर्णनों के सामान्य विवेचन से पाञ्चरात्रिक सृष्टि-प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्ट होगा।

जैसा कि 'पाञ्चरात्रिक ब्रह्मतत्त्व'-निरूपण-क्रम में देखा जा सकता है, पाञ्चरात्रिक विचारधारा के अनुसार परवासुदेव को सर्वापेक्षया प्रमुख तत्त्व स्वीकारा गया है।

---

१. ऋग्वेद, १०. ९०

वह वासुदेव सृष्टि में मूल कारण होता है। पर, प्रश्न है कि आखिर इस सृष्टि का प्रयोजन क्या है?[१] किस उद्देश्य से सृष्टि की जाती है? इस क्रम में नारदीय संहिता में वर्णित सृष्टि से पूर्व की स्थिति आदि का अवलोकन युक्तियुक्त होगा। कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व केवल सनातन वासुदेव की स्थिति थी। उसपर वासुदेव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। उस स्थिति में साराभिभूत, विमलात्म उस पुरुषोत्तम वासुदेव की क्रीडा तथा भोग के लिए विग्रह उत्पन्न हुआ। वह विग्रह सत्त्वाश्रित होकर द्विधा-विभक्त हुआ।[२] इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाञ्चरात्र-मत में सृष्टि का प्रयोजन परब्रह्म पर-वासुदेव की क्रीडा तथा उसका भोग है। सृष्टि का प्रयोजन सामान्यतः इसी प्रकार पाद्म-संहिता तथा परमसंहिता में भी वर्णित है।[३]

पाञ्चरात्रागम की सृष्टि-प्रक्रिया की अनितर साधारण विशेषता, जो प्रायः अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती, वह है इसकी शुद्ध तथा शुद्धेतर सृष्टि-प्रक्रिया का स्वीकार करना। जहाँ भी कहीं पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थ में यह विषय वर्णित है वहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सृष्टिक्रम को दो तरह का कहा जा सकता है। सामान्यतः शुद्ध सृष्टि से चतुर्व्यूह का सर्ग एवं शुद्धेतर सृष्टि से चतुर्व्यूहातिरिक्त अन्य तत्त्वों तथा भौतिक सृष्टि का विचार विवक्षित है। इस विषय में निश्चित रूप से किसी ग्रन्थ ने स्पष्ट कुछ अधिक नहीं कहा है, पर पाद्मसंहिता ने एक स्थान में चतुर्मुख ब्रह्मा आदि को सांसारिक सृष्टि के अन्तर्गत स्वीकार किया है।[४] सामान्य रूप से विचार करने पर यद्यपि अन्यत्र कहीं इस प्रकार की सृष्टि-प्रक्रिया का विभाग नहीं देखते तथापि सांख्यदर्शन की सृष्टि-प्रक्रिया के विषय-प्रतिपादन के प्रसंग में श्रीगैरोलाजी कहते हैं कि 'सृष्टि का विकास केवल सैद्धान्तिक निर्वाह के लिए नहीं होता है, बल्कि साभिप्राय होता है। उसका उद्देश्य भी होता है। प्रकृति से प्रारम्भ कर पाँच महाभूतों तक उत्पत्ति-कम की दो अवस्थाएँ होती हैं, प्रत्यय-सर्ग या बुद्धि-सर्ग एवं तन्मात्र-सर्ग या भौतिक-सर्ग। प्रथम अवस्था में बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। द्वितीय अवस्था में पञ्चतन्मात्राओं, पञ्चमहाभूतों तथा उनके विकारों का आविर्भाव होता है।'[५] गैरोलाजी का यह कथन सांख्यकारिकास्थ निम्ननिर्दिष्ट श्लोकमूलक है :

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गं भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो भावाख्यः तस्मात् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः॥[६]

---

१ नारदीय संहिता, १ २५—३०
२. (क) पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा, ३. २६
(ख) परमसंहिता, २. ३
३. पाद्मसंहिता, ज्ञा०, पा०, ४. १०
४. भारतीय दर्शन, पृ० ३०९; लोकभारती-प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६२ ई०
५. सांख्यकारिका, ५२

इस कथन से यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि सामान्यतः सांख्य-सिद्धान्त में भी सृष्टि दो अवस्थाओं में स्वीकृत है, पर इन दोनों अवस्थाओं का स्वरूप पाञ्चरात्रिक सृष्टि-क्रम के सर्वथा समान नहीं है। आगामी विवेचन से यह विषय पूर्णरूप से स्पष्ट हो सकेगा। जयाख्य-संहिता ने तीन सर्गों (सृष्टियों) का निर्देश किया है। जैसे—१. शुद्ध सर्ग, २. प्राधानिक सर्ग तथा ३. ब्राह्म सर्ग। अर्थात् सृष्टि का प्रथम चरण शुद्ध सर्ग है। जैसा कि शुद्ध सर्ग, इस नाम से ही स्पष्ट है कि प्रथम शुद्ध सर्ग की अपेक्षा अन्य जो दो सर्ग हैं, वे प्रथम की तरह शुद्ध नहीं हैं। उन दोनों में शुद्धता के अभाव का कारण गुणत्रय (सत्त्व, रजस्, तमस्) का संसर्ग है। इससे ऐसा स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि गुणों के संसर्ग से रहित सृष्टि शुद्ध सृष्टि तथा गुणों से युक्त सृष्टि शुद्धेतर सृष्टि कही जा सकती है। इसके अनुसार जयाख्य की सृष्टि का द्वितीय चरण अर्थात् प्राधानिक सर्ग शुद्धेतर सृष्टि होगा; क्योंकि इसके अनुसार प्रधान त्रिगुणात्मक स्वीकारा गया है। इस प्रधान से बुद्ध्यादि की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सारे भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस सृष्टि का विस्तृत रूप आगे देखा जा सकता है। ब्राह्म सर्ग भी स्पष्टतः पाश्चोक्त रीति से शुद्धेतर सृष्टि कहा जायगा। इस तरह शुद्ध तथा शुद्धेतर सृष्टि का सामान्यतः स्थूल अर्थ देखने के पश्चात् आगे इन दोनों सृष्टि-प्रक्रियाओं का स्वरूप-विवेचन देखने का प्रयत्न करेंगे। उसी प्रसंग में सृष्टि-प्रक्रिया में वर्णित अपेक्षित तात्त्विक पदार्थों का विवेचन होगा।

नारदीय संहिता के अनुसार विष्णु (परवासुदेव) से निर्गत मूर्त्ति तमोमय सबका भेदन कर विष्णु की अपेक्षा शुक्ल तेजोमय सूक्ष्म कोटि सूर्य की प्रभा के समान, नयज्ञ, परमेश्वर सबको प्राप्त कर स्थिर हुई और वही वासुदेव हुआ। यह वासुदेव श्वेतवर्ण तथा चार कलाओं से युक्त था, उसका रूप चतुर्भुज था। उस मूर्त्ति ने अर्थात् वासुदेव ने अपने शरीर को संक्षिप्त कर पुनः उसी से आकृष्ट कर संकर्षण को उत्पन्न किया। संकृष्ट शरीर होने के कारण इस मूर्त्ति का नाम संकर्षण हुआ। संकर्षाख्य पुरुष रक्तवर्ण तथा चतुष्कल था। वह संकर्षण भूष्णु मूल तनु कहा गया है। उस संकर्षण ने वासुदेवाश्रित होकर घोर तपस्या की और प्रद्युम्न की सृष्टि की। वह ब्रह्म कहा गया है। यह तृतीया प्रद्युम्न-मूर्त्ति सनातन पुरुष शंख-चक्र-गदा-पाणि, विश्वात्मा भुवनेश्वर कहा गया। प्रद्युम्न की सृष्टि के अनन्तर निश्चितात्मक प्रद्युम्न ने महान् यत्नपूर्वक तपश्चर्या की और उस तपस्या के अन्त में देहार्ध से अनिरुद्ध की सृष्टि की। वह अनिरुद्ध-मूर्त्ति चतुर्बाहु थी। वह सर्वलोकेश्वर प्रभु योगीश्वर महत्तपस्या में लीन हुआ। वह नागपर्यङ्क पर क्षीरदशायी था। उसका स्वरूप महेन्द्रनील की तरह था। वह अनेक रवि की प्रभा के समान प्रभावाला था। यही चतुर्व्यूह की अन्तिम चौथी मूर्त्ति कही गई है। इन चार मूर्त्तियों को चार नामान्तरों से भी अभिहित किया गया है। जैसे—१. वासुदेव =पुरुष (परमहंस), २. संकर्षण=सत्य (नाद), ३. प्रद्युम्न=अच्युत (व्योम), ४. अनिरुद्ध=नारायण (हंस)। ये चारों मूर्त्तियाँ वासुदेवात्मिका कही गई हैं।[1] चतुर्मूर्त्तियों

१. नारदीय संहिता, १. ३३—४७

से सम्बद्ध देवियों की सृष्ट्या के साथ इन चतुर्मूर्त्तियों के प्रतिष्ठाधिकारी तथा उसके कालादि का निर्देश भी किया गया है। इन चार मूर्त्तियों से केशव विष्णवादि बारह मासाधिप की उत्पत्ति होती है। इन्हीं चारों से दशावतार का उद्भव कहा गया है।[1] यह विषय प्रायः इसी प्रकार पाद्मसंहिता में भी वर्णित है। वहाँ का वर्णन किञ्चित् विस्तृत तथा अधिक स्पष्ट है, अतः इस विवेचन-क्रम में उसका उल्लेख अधिक उपयुक्त होगा। पाद्मसंहिता कहती है कि आदि, मध्य तथा अन्त से रहित, वृद्धि तथा क्षय से रहित, अच्युत, नित्य, निरुपम, ज्योतिरूप, नित्य तृप्त निरञ्जन, सर्वाकार, निराकार तमस् से पर, अव्यय, रूप कारणभूत सनातन से वासुदेव का आविर्भाव हुआ। वह आविर्भूत वासुदेव द्विहस्त, एकवक्त्र, शुद्ध स्फटिक के समान, सहस्र सूर्य, वह्नि, लक्ष कोटि चन्द्र के समान प्रभाववाला, मरीचिचक्र के मध्य स्थित, चक्रायुध से लांछित, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ से सुशोभित वक्षवाला, वनमाला-विभूषित; किरीट, हार, केयूर तथा बलयादि से अलंकृत, पीताम्बरधारी, सौम्य रूपवाला था। इस वर्णन के अनुसार यह परवासुदेव कहा जा सकता है। उस वासुदेव से अपर वासुदेव की भी उत्पत्ति होती है। यह अपर वासुदेव एकवक्त्र, चतुर्बाहु, चक्राद्यायुधधारी होता है। उसके चक्रादि धारण का प्रयोजन अधोलिखित है : स्थिति के लिए चक्र, सृष्टि के लिए सरसिज, मुक्ति के निमित्त पाञ्चजन्य तथा संहृति के लिए गदा का धारण होता है। इस मूर्त्ति के हृदय में श्रीवत्स तथा कौस्तुभ एवं वनमाला सुशोभित होती है। इसका वर्ण मयूर के कण्ठ की तरह श्यामवर्ण कहा गया है। पीताम्बरधारी वह भगवान् सृष्टि, स्थिति तथा अन्त-मुक्तिदायक है। इस अपर वासुदेव ने किसी हेतु से अपने को दो भागों में विभक्त किया। उनमें एक शुद्ध स्फटिक की तरह वासुदेव हुआ और दूसरा नीलाम्बुद की प्रभा के समान नारायण। पुनः, वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई। ये सभी मूर्त्तियाँ चतुर्भुज कही गई हैं।[2] यहाँ अपर वासुदेव के, किसी हेतु से अपने को दो भागों में विभक्त करने की बात कही गई है। यह हेतु पहले कहा गया है। अर्थात् यह हेतु वासुदेव की आत्मक्रीडा कही गई है।

ये चार मूर्त्तियाँ गुणों की समता एवं विषमता के कारण एक-दूसरी से भिन्न होती हैं। ज्ञानादि छह गुणों की सामान्य दशा में वह वासुदेव कहा जाता है। अनन्तर छह गुणों की विषमावस्था में अन्य मूर्त्तियाँ प्रकट होती हैं। उसकी प्रक्रिया अधोलिखित है : जब ज्ञान की अधिकता तथा अन्य गुणों की न्यूनता होती है तब उसे संकर्षण कहा जाता है। जब बल की अधिकता होती है, तब वह प्रद्युम्न के नाम से जाना जाता है। जब ऐश्वर्य की अधिकता होती है तब अनिरुद्ध-रूप में समझा जाता है।[3] इस विषय को अहिर्बुध्न्य-संहिता ने किञ्चित् भिन्न रूप में प्रतिपादित किया है। जैसे षड्गुणों में ज्ञान

---

१. नारदीय संहिता १. ४७—६२

२ पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, २. ६—१८

३. वही, २. १९-२०

तथा बल की अधिकता से संकर्षण, ऐश्वर्य तथा वीर्य के आधिक्य से प्रद्युम्न और शक्ति तथा तेज से अनिरुद्ध-मूर्त्ति की स्थिति होती है। इन तीनों के कार्य क्रमशः अधोलिखित हैं: संकर्षण का कार्य ऐकान्तिक मार्ग-प्रवर्त्तन, प्रद्युम्न का कार्य शास्त्रार्थ भाव से स्थिति तथा अनिरुद्ध का शास्त्रार्थ फलप्रापकत्व है। प्रथम मूर्त्ति के रूप में यहाँ भी वासुदेव का छह गुणों की साम्यावस्थायुक्त रूप स्वीकृत कर चतुर्व्यूह रूप उक्त है। ये शक्तिमय व्यूह गुणोन्मेष स्वलक्षण, सनातन, निर्दोष, अनन्त तथा अक्षर कहे गये हैं।[1] वासुदेव से अन्य मूर्त्तियों के उद्भव का क्रम यहाँ भी सामान्यतः पूर्वोक्त ही कहा गया है, पर यहाँ उन-उन मूर्त्तियों की तपस्या का निर्देश अधोलिखित रूप से वर्णित है। जैसे—सर्वशक्तिमय वासुदेव सिसृक्षा से जिस प्रकार सूर्य उदय के साथ प्रभा का विस्तार करता है उसी प्रकार अपना विभाग कर संकर्षण को उत्पन्न करता है। उसके बाद संकर्षण ने षोडश शतवर्षपर्यन्त प्रतीक्षा की, अनन्तर उससे प्रद्युम्न-शक्ति उदित हुई। उसी प्रकार प्रद्युम्न ने भी उतने काल तक प्रतीक्षा की और तब अनिरुद्ध-शक्ति का उद्भव हुआ। अनिरुद्ध-शक्ति षोडश वर्ष-पर्यन्त चुपचाप स्थित रहकर पूर्वोक्त दो मूर्त्तियों के साथ प्रयत्नशील हुई। निस्तरंग दशा में अर्थात् केवल परवासुदेव की स्थिति-दशा में ये चतुर्व्यूह निःसत्ताक सक्तचिन्मय रहते हैं। गुणोन्मेष-दशा में शक्त्यात्मक रूप से स्थूल दशा में व्यक्ति भावापन्न होते हैं। उनका रूपागमन जगत् के उपकार के लिए होता है।[2] इस प्रकार यहाँ के वर्णन से इस सृष्टि का एक और प्रयोजन प्रतीत होता है, और वह है 'जगदुपकार'। अर्थात् जीवोपकार के लिए यह सृष्टि होती है।

विष्णुतिलक-संहिता ने प्रायः व्यूहों की उत्पत्ति का क्रम उपर्युक्त रीति से ही बताया है। स्थूल रूप से प्रतिपादन-प्रक्रिया में सामान्य भेद होनें पर भी मौलिक विकास-क्रम विषय यहाँ भी पूर्वोक्त की तरह ही है।[3]

जयाख्य-संहिता ने इस चतुर्व्यूह-सृष्टिक्रम को किञ्चित् भिन्न रूप में अधोलिखित ढंग से प्रस्तुत किया है। ज्ञानानन्दस्वरूप परब्रह्म अपने को अच्युत के रूप में परिवर्त्तित करता है। अच्युत अपने को सत्य के रूप में परिवर्त्तित करता है, सत्य अपनी शक्ति के द्वारा अपने को पुरुष के रूप में परिवर्त्तित करता है। इस तरह वासुदेव ही इन रूपों में आविर्भूत होता है। अर्थात् वासुदेव से अच्युत, अच्युत से सत्य, पुनः उस सत्य से पुरुष की सृष्टि होती है। वह वासुदेव सभी देवताओं का आश्रय कहा गया है। उपर्युक्त अच्युतादि शान्त, संवितस्वरूप वासुदेव में अवस्थित होता है। यह शुद्ध सर्ग (शुद्ध सृष्टि) अन्य सृष्टि से उत्कृष्ट कहा गया है।[4] यद्यपि नारदीय संहिता आदि अन्य पाञ्च-रात्रागम संहिताओं की तरह यहाँ भी सर्वापेक्षया प्रमुख पर वासुदेव को ही दिखाकर उससे

---

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता, ५.१७-१८; २३—२६

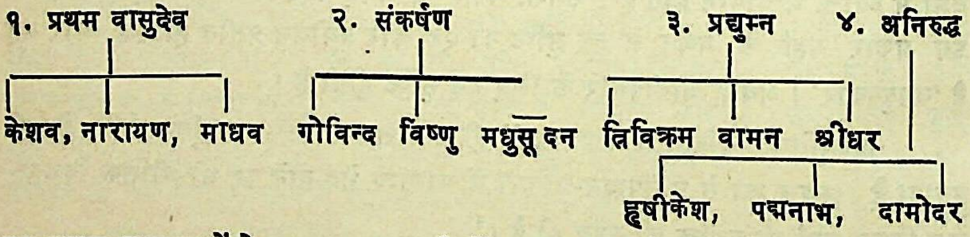
२. वही, ५.२६—४३

३. विष्णुतिलक-संहिता, २.८—१५

४. जयाख्य-संहिता, ४.२—१६

अन्य तीन देवों के उद्भव का निर्देश किया है, और क्रम की दृष्टि से यहाँ भी चतुर्व्यूह-क्रम ही दीखता है, तथापि क्रमशः उद्भूत देवों के नाम में समानता नहीं है। जैसे अन्य संहिताओं ने वासुदेव से संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध का क्रमशः नाम-निर्देशपूर्वक उद्भव बताया है। पर, यहाँ अच्युत, सत्य तथा पुरुष-रूप में आविर्भाव-क्रम वर्णित है। जयाख्य ने इस शुद्ध सर्ग को अत्यन्त संक्षेप में ही प्रतिपादित किया है। अत्यन्त सीमित शब्दों में रामादि अवतार देवों के उद्भव का निर्देश वहाँ किया है। नारदीय संहिता आदि की तरह विस्तारपूर्वक उस सृष्टिक्रम का वर्णन नहीं किया गया है।

उपर्युक्त चतुर्व्यूहों से द्वादशमासाधिपों, दशावतारों तथा विभव-देवों की उत्पत्ति होती है। नारदीय संहिता ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इस मासाधिपोत्पत्ति के विषय में मात्र इतना कहा है कि ये वासुदेव से उद्भूत हैं, इनमें केशवादि तथा विष्ण्वादि का अन्तर्भाव हुआ है। ये भुक्ति-मुक्ति प्रदायक हैं।[1] पर, पाद्मसंहिता में यह विषय नारदीय संहिता की अपेक्षा विस्तृत तथा स्पष्ट रूप में प्रतिपादित है। इसके अनुसार चतुर्मूर्त्तियों से चतुर्विंशति मूर्त्तियों का उद्भव होता है। यह सृष्टि दीप से दीप-प्रज्वलन की तरह होती है। ये सभी मूर्त्तियाँ पद्म, शंख, चक्र और गदाधारी होती हैं। इन सबके आविर्भाव का क्रम अधोलिखित है :



इस प्रकार चार व्यूहों से इन द्वादशमासाधिपों का उद्भव होता है।[2] नारदीय संहिता ने यद्यपि इन द्वादश मासाधिपों का नाम-निर्देश प्रथमाध्याय में सृष्टिक्रम-कथन-प्रसंग में नहीं बताया है, फिर भी मूर्त्तिमन्त्र-वर्णनक्रम में चतुर्थ अध्याय में मासाधिप-मन्त्र-कथन-प्रसंग में उनका नाम-निर्देश किया है। मन्त्र-कथन के साथ यहाँ द्वादशमासाधिपों का नाम-निर्देश अवश्य है, पर किससे किसकी उत्पत्ति हुई, यह क्रम नारदीय संहिता ने नहीं बताया। नारदीय संहिता में मन्त्रोद्धार-प्रसंग में जो द्वादशमासाधिप कहे गये हैं, उनका क्रम पाद्मसंहिता में उक्त क्रम की अपेक्षा किञ्चित् भिन्न है।[3] इसके अतिरिक्त त्रयोदश अध्याय में प्रतिमा-कल्पन-प्रसंग में भी द्वादशमासाधिपों की चर्चा की गई है। वहाँ वर्णित द्वादश मासाधिप अधोलिखित हैं : १. विष्णु, २. मधुसूदन, ३. त्रिविक्रम, ४. वामन, ५. श्रीधर, ६. हृषीकेश, ७. पद्मनाभ, ८. दामोदर, ९. केशव, १०. नारायण, ११. माधव तथा

१. नारदीय संहिता, १.५५-५६
२. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, २.२१—२५
३. नारदीय संहिता, ४

१२. गोविन्द ।[१] परमसंहिता ने द्वादश मासाधिपों का उनके अधीनस्थ मासों के नाम-निर्देशपूर्वक परिगणन अधोलिखित रूप में बताया है :

मास	मासाधिप	मास	मासाधिप
१. मधु (चैत्र)	आदिविष्णु	७. ईष (आश्विन)	पद्मनाभ
२. माधव (वैशाख)	मधुसूदन	८. ऊर्ज (कार्त्तिक)	दामोदर
३. शुक्र (ज्येष्ठ)	त्रिविक्रम	९. सहस (अग्रहण)	केशव
४. शुचि (आषाढ)	वामन	१०. सस्य (पौष)	नारायण
५. नभस् (श्रावण)	श्रीधर	११. तपस (माघ)	माधव
६. नभस्य (भाद्रपद)	हृषीकेश	१२. तपस्य (फाल्गुन)	गोविन्द ।[२]

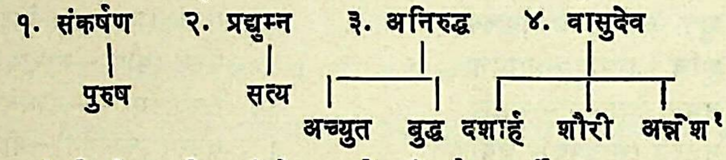
अहिर्बुध्न्य-संहिता ने ठीक पाद्मसंहिता की तरह चतुर्व्यूह से मासाधिपों के उद्भव का वर्णन कहा है। इसके अनुसार ये मासाधिप व्यूहान्तर के नाम से भी अभिहित होते हैं।[३] इन द्वादश मूर्त्तियों के उद्भव-वर्णन के पश्चात् पाद्म-संहिता ने वासुदेवादि चार मूर्त्तियों से द्वितीय वासुदेवादि चार मूर्त्तियों का क्रमशः उद्भव कहा है। जैसे—वासुदेव से वासुदेव, संकर्षण से संकर्षण, प्रद्युम्न से प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध से अनिरुद्ध। पुनः द्वितीय वासुदेव से अधोलिखित मूर्त्तियों का उद्भव बताया गया है। १. पुरुषोत्तम, २. अधोक्षज, ३. नरसिंह, तथा ४. अच्युत। इन चार मूर्त्तियों से भी एक-एक से क्रमशः पुरुषोत्तम से जनार्दन, अधोक्षज से उपेन्द्र, नरसिंह से हरि तथा अच्युत से कृष्ण के उद्भव का निर्देश किया गया है।[४] इस प्रकार पाद्म ने चतुर्व्यूह से चतुर्विंशति मूर्त्तियों के उद्भव का क्रम बताया है।

चतुर्व्यूह से ही अधोलिखित क्रम से दशावतारों की उत्पत्ति कही गई है। नारदीय संहिता ने मत्स्य तथा कूर्म—इन दो अवतारों को संकर्षण के अंश से उत्पन्न कहा है। वराह अनिरुद्धांशज है। वराह को सर्वविद्येश्वर कहा गया है। नृसिंह को अनिरुद्धांशज तथा वामन को वासुदेवांशज कहा गया है। परशुराम तथा दाशरथि राम संकर्षणांशज कहे गये हैं। वसुदेवसुत श्रीकृष्ण को वासुदेवांशज बताते हैं। बुद्ध का उद्भव प्रद्युम्नांश से होता है। कल्की संकर्षणांशज कहा गया है।[५] पाद्म ने भी दशावतारों के उद्भव का वर्णन किया है, पर यह वर्णन सर्वथा नारदीय के समान नहीं है। पाद्म का दशावतार-आविर्भावक्रम अधोलिखित है :

- वासुदेव — मत्स्य, कूर्म, वराह
- संकर्षण — नृसिंह, वामन, राम, जामदग्न्य
- प्रद्युम्न — राघव राम
- अनिरुद्ध — कृष्ण, कल्की[६]

१. नारदीय संहिता, १३. २३५—२४०
२. परमसंहिता, २.८३—८६
३. अहिर्बुध्न्य-संहिता, ५.४६—४८
४. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा०, २.२५—३०
५. नारदीय संहिता, १.५७—६१
६. पाद्मसंहिता, २.३०—३३

उद्भव के मूल में भेद के साथ-साथ यहाँ यह भेद भी दीखता है कि पाद्म ने नारदीय की तरह बुद्ध का अवतार के रूप में निर्देश नहीं किया है। उसकी जगह राम का निर्देश किया है, जो स्पष्टतः बलराम ही है। पाद्म ने बुद्ध का उद्भव दस अवतारों में न बताकर पुरुषादि देवों के उद्भव के मध्य अन्तर्भावित कर बताया है। यहाँ पुरुषादि अनेकानेक देवों के उद्भव का क्रम अधोलिखित है :



पुनः संकर्षण से हयग्रीव, शंखोदर, नृकेशरी, वैकुण्ठमूर्त्ति, मुकुन्द, वृषाकपि, आदि-वराह तथा अन्नेश (पन्नग)। इस क्रम में यहाँ सुदर्शनादि आयुध एवं किरीटादि विभूषण को मूर्त्तियों के आविर्भाव के साथ आविर्भूत होना बताते हैं। उसी प्रकार मूर्त्ति-भेदाश्रित श्रीआदिदेवी का श्रीवत्स से उत्पन्न होना निर्दिष्ट है। अहिर्बुध्न्य-संहिता में व्यूहदेवों के वर्णन के पश्चात् विभवदेवों के नाम का परिगणन किया गया है। ये विभव-देव अधोलिखित हैं। इनकी उत्पत्ति का क्रम यहाँ स्पष्ट नहीं है :

१. पद्मनाभ, २. ध्रुव, ३. अनन्त, ४. मधुसूदन, ५. विद्याधिप, ६. कपिल, ७. विश्वरूप, ८. विहङ्गम, ९. क्रोडात्मा, १०. वडवावक्त्र, ११. धर्म, १२. वागीश्वर, १३. एकाम्भोनिधिशायी, १४. कमठेश्व, १५. वराह, १६. नरसिंह, १७. पीयूषहरण, १८. श्रीपति, १९. कान्तात्मा, २०. अमृतधारक, २१. राहुजित, २२. कालनेमिघ्न, २३. पारिजातहर, २४. लोकनाथ, २५. शान्तात्मा, २६. दत्तात्रेय, २७. न्यग्रोधशायी, २८. एकशृङ्गतनु, २९. वामनदेह, ३० त्रिविक्रम, ३१. नर, ३२. नारायण, ३३. हरि, ३४. कृष्ण, ३५. परशुराम, ३६. बलराम, ३७. रामधनुर्धर, ३८. कल्की, तथा ३९. पातालशयन।[2] इन विभवदेवों में सामान्यतः पूर्वोक्त द्वादश मासाधिप तथा अवतारदेवों के रूप में निर्दिष्ट देव भी सन्निविष्ट हैं। प्रसंगानुसार यह कहा जा सकता है कि ये विभवदेव भी चतुर्व्यूह-मूर्त्तियों से ही उत्पन्न हैं। पर, इन विभवों का इस रूप में वर्णन न तो पाद्मसंहिता में देखते हैं, न नारदीय संहिता में ही।

ऊपर चतुर्व्यूह, द्वादश मासाधिपति, दशावतार तथा विभवदेवों के उद्भव का क्रम वर्णित हुआ है। इसके अनन्तर यहाँ इस चराचर की उत्पत्ति का वर्णन देखना भी आवश्यक है। नारदीय संहिता ने अनिरुद्ध से इस चराचर को उत्पन्न कहा है। भगवान् और अनिरुद्ध योगनिद्रा में लीन हुए, उनकी नाभि में कमल की सृष्टि हुई। वह कमल सहस्रदल था। वही नाभि का आदिपद्म विश्व का कारण हुआ। नाभि में पद्म होने के कारण ही देव का नाम पद्मनाभ कहा गया है। कहते हैं, सभी देवताओं का भी कारण पद्म ही हुआ। अतएव सबका आसन पद्म ही होता है। उस पूर्वोक्त पद्म के अन्तर्गत हिरण्मय अण्ड

१. पाद्मसंहिता, २.३३—३९
२. अहिर्बुध्न्य-संहिता ५.५०—५७

की स्थापना की गई और उससे हिरण्यगर्भ हुआ। वह सर्वपुरातन कहा गया है। वह सर्व-विद्यासम्पन्न महाशक्तिशाली था। उसने पञ्चभूतों और महान् भुवनों की भी सृष्टि की। उसने व्यस्त तथा समस्त जंगम और स्थिर सब वस्तुओं की सृष्टि की। चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि का यही क्रम है। इसके विपरीत क्रम से संहृति कही गई है। इस प्रकार सृष्टि तथा संहार के द्वारा क्रीडा करता हुआ भगवान् अपनी माया के द्वारा जगत् को मोहित करता है। इस माया के द्वारा मोहित जन्तु कुछ भी हित नहीं जान पाता।[1] नारदीय संहिता ने स्थूल रूप से चतुर्मुख-सृष्टि का यह क्रम बताया है, पर विस्तारपूर्वक सृष्टि-तत्त्वों का निर्देश तथा विकासक्रम यहाँ नहीं बतलाया है। नारदीय में इस सृष्टि-तत्त्व-विकास-क्रम का वर्णन प्रतिष्ठा-क्रम-प्रतिपादन के क्रम में पञ्चदश अध्याय में किया गया है, जिस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। चतुर्मुख ब्रह्मा-सृष्टिपूर्वक जगत्सृष्टि-विषय का वर्णन अनेक पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में देखते हैं। जयाख्य-संहिता ने इस सृष्टिक्रम को ब्रह्म-सृष्टि कहा है और अधोलिखित रूप से उसका वर्णन किया है। जैसा कि पहले लिखा गया है, यह ब्राह्म-सर्ग जयाख्य के अनुसार तृतीय सर्ग के रूप में स्वीकृत है। इसके अनुसार वासुदेव के नाभिकमल से ब्रह्मा (प्रजापति) की सृष्टि होती है। यह ब्रह्मा ज्ञान तथा विविध शक्तियों से सम्पन्न होता है। यह ब्रह्मा रजोगुण की सहायता से देव, मनुष्य तथा पशु आदि की सृष्टि में प्रवृत्त हुआ। परन्तु, रजोगुण की अधिकता के कारण ब्रह्मा सृष्टि-संचालन में असमर्थ था। अतः, भूम्यादि-संरक्षण के लिए वासुदेव को समुद्र में योगनिद्रा में लीन होना पड़ा। उनके स्वेद से अत्यन्त बलशाली दो महान् दानव उत्पन्न हुए और उन्होंने सारी पृथ्वी को जीत लिया। उन्होंने ब्रह्मा से वेद चुरा लिया। फलतः, चतुर्मुख अज्ञानी तथा अत्यन्त चिन्तनीय हो गये। तदनन्तर, ऋषियों से उद्बोधित चतुर्मुख ने भगवान् की स्तुति की। उसके बाद भगवान् ने बताया कि वेद के प्रणष्ट होने पर उन्होंने उन्हें अभय प्रदान कर जगत् को समाश्वस्त किया है। भगवान् ने बताया कि मैंने विद्या तथा माया के रूप में दो विभाग किये, शब्दमय विद्या-रूप से वेद पाताल गये और प्रणव के द्वारा धारण किये गये। विद्यामय रूप के प्रवेश करने पर ब्रह्मा पुनः प्रबुद्ध हुए और फिर से वेद का आवर्त्तन हुआ। सभी तमोमोह से मुक्त हो गये और ससुख स्व-स्व स्थान को चले गये। द्वितीय मायात्मक रूप दोनों दानवों के समक्ष उपस्थित हुआ और बहुत वर्षों तक दोनों को युद्ध में व्यस्त रखा। पर, अजेय जानकर शक्त्यात्मक मन्त्रमय रूप धारण कर उन दोनों को ऊरुओं से मर्दित किया। उनके मेद से वसुन्धरा पूर्ण हो गई, इसीलिए इस वसुन्धरा का नाम मेदिनी हुआ।[2] इस तरह प्रजापति की उत्पत्ति तथा उसके द्वारा सृष्टि का क्रम यहाँ कहा गया है। विष्णुतिलक-संहिता ने भी अत्यन्त संक्षिप्त रूप से इसी प्रकार चतुर्मुख सृष्टि का निर्देश किया है।[3] पाद्मसंहिता ने भी इस सृष्टि-क्रम को स्वीकार कर मधु-कैटभ नामक राक्षसों की कथा का निर्देश किया है। पर, यह कथा नारदीय तथा

---

१. नारदीय संहिता, १.६३—७३

२. जयाख्य-संहिता, पट० २.३४—७३

३. विष्णुतिलक-संहिता, २.४०—४३

जयाख्य-संहिता की अपेक्षा किञ्चित् भिन्न है। कथा-भेद के अतिरिक्त पाद्मसंहिता में उक्त अनिरुद्ध का रूप कुछ अंशों में वेद में कहे गये पुरुष की तरह है, और उससे हुई सृष्टि भी सामान्यतः उसके समान कही गई है। इसके अनुसार अनिरुद्ध के पाद से सपरिकर कुमुदादि भूतेशों का प्रादुर्भाव होना कहा गया है। यहाँ अनिरुद्ध सहस्र शीर्ष-चरण-हस्त-नेत्रों से युक्त बताया गया है। उस अनिरुद्ध के तत्तदङ्गों से तत्तत् देवादिकों की उत्पत्ति का निर्देश भी देखते हैं। जैसे—अनिरुद्ध के मुख से इन्द्र, वह्नि, छन्द (वेद) तथा षडङ्ग की उत्पत्ति, मूर्धा से स्वर्ग (आकाश), नयन से सूर्य, मन से चन्द्रमा, श्रोत्र से दिशाएँ, नाभि से नभ तथा पदों से भूमि की उत्पत्ति हुई। उसके प्राण से वायु, अपान से मृत्यु, केश से अम्बुध, धी से काल, रोमकूप से वनस्पति तथा ओषधि उत्पन्न हुए। रोम से ही बहुदक्षिणायुक्त बहुत-सारे यज्ञों का उद्भव हुआ। अनिरुद्ध के वक्त्र से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य तथा चरणों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।[१]

अनिरुद्ध के अंश से सुमोहिनी माया की उत्पत्ति होती है। अनिरुद्धांश से उत्पन्न पद्मनाभ को नागपर्यङ्कशायी बताया गया है। उनकी नाभि से पद्म तथा उस पद्म में हिरण्मय अण्ड एवं उससे चतुर्मुख की सृष्टि वर्णित है। चतुर्मुख को सृष्टि का कारण कहा गया है। चतुर्मुख ने सदानन्दादि की सृष्टि स्वयं की, पर वे सभी वीतराग विमत्सर होकर योगी हो गये। उनकी विरक्ति से स्रष्टा को बहुत क्रोध हुआ। उस क्रोधाग्नि से युगान्त-कारी रुद्र की उत्पत्ति हुई। वह रुद्र महाप्रतापी अर्द्धनारीश्वर रूप में था। उसने शरीर को विभक्त कर नर तथा नारी को उत्पन्न किया। उससे कोटि मिथुन रुद्रों की उत्पत्ति हुई। वे सभी चतुर्भुज, शूलधारी तथा त्रिनेत्र थे। उनमें एकादश रुद्र प्रधान थे। पर यह रुद्र-सृष्टि भी व्यर्थ ही सिद्ध हुई। यह देखकर ब्रह्मा ने मरीच्यादि छह ऋषियों की सृष्टि की। उन छह ऋषियों से सभी त्रैलोक्य चराचर जगत् की उत्पत्ति हुई।[२] इस तरह शुद्ध-सृष्टि के बाद चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि का रूप अनेक प्रकार से देखा गया। इस ब्रह्मा की सृष्टि का स्वरूप कुछ-कुछ पौराणिक कथाओं के समान जान पड़ता है।

आगे के विवेचन से सृष्टि के विकास में उपयुक्त तत्त्वों के स्वरूपादि स्पष्ट होंगे। अर्थात् प्रधानादि तत्त्वों से जगदुत्पत्ति के क्रम का विवेचन तथा प्रतिपादन देखा जा सकेगा। पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों में यह विषय प्रतिपादित है। पर, सबने सर्वथा समान रूप से ही इस विषय का प्रतिपादन किया है, यह नहीं कहा जा सकता। मूलतः, प्रायः साम्य होने पर भी कुछ स्थूल वैषम्य भी है। अनेकत्र वर्णित इस विषय के निर्देश तथा प्रतिपादन से वह साम्य तथा वैषम्य स्पष्ट होगा। जयाख्य-संहिता ने इस सृष्टि को प्राधानिक सर्ग कहा है। उसके अनुसार यह सर्ग मध्यम सर्ग के रूप में वर्णित है। प्रधान से इस दृश्यमान जगत् का विस्तार होता है। यह प्रधान अनादि, अज, अव्यक्त तथा त्रिगुणात्मक है। यह एकात्म लक्षण प्रदीप स्थानीय कहा गया है। पर, विभक्त रूप से वह क्रमशः उत्पन्न

१. पाद्मसंहिता. ज्ञा० पा० २.४०—४५

२. वही, ३.१—१५

होता है। जैसे सत्त्व से रजस्, रजस् से तमस् की उत्पत्ति होती है। अहंकार जब सत्त्व गुण से युक्त होता है तब वह प्रकाशात्मा कहा जाता है। वही अहंकार रजोगुणयुक्त होकर विकृत्यात्मा कहलाता है। पुनः, तमोगुण से युक्त होने पर अहंकार भूतात्मा कहा जाता है। जयाख्य के अनुसार राजस अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। तैजस (प्रकाशात्मा) से मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति कही गई है। विकृत्यात्मा अथवा रजोगुणयुक्त अहंकार से पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। भूतात्मा अर्थात् तमोगुण अहंकार से भूतयोनियों की सृष्टि होती है। भूतात्मा से शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्राओं से युक्त पाँच भूतपदार्थ (आकाश, वायु, अग्नि, उदक तथा पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं।[1] चूँकि यह सृष्टि प्रधान से आरम्भ होती है, इसलिए जयाख्य के अनुसार उक्त 'प्राधानिक सर्ग' नाम अनुचित नहीं कहा जा सकता। इस प्राधानिक सर्ग का संक्षिप्त रूप अधोलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

- प्रधान
  - बुद्धि
    - अहंकार (त्रिविध)
      - प्रकाशात्मा (सत्त्वगुणयुक्त)
        - श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण;
      - विकृत्यात्मा (रजोगुणयुक्त)
        - वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ;
      - भूतात्मा (तमोगुणयुक्त)
        - आकाश, वायु, तेज, आप, पृथ्वी (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध तन्मात्रायुक्त)

पाद्म के अनुसार भगवान् अपने मन से ही अनन्त शक्तियों की सृष्टि करता है। उनमें रजस्, सत्त्व तथा तमस् से तीन शक्तियाँ संसार-गोचर हैं तथा आनन्दाख्य चतुर्थी शक्ति भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी है। रजोगुण से चराचर भुवन की सृष्टि होती है। सत्त्व गुण से उसका पालन होता है। तमोगुण से उसका संहार होता है। आनन्दात्मक शक्ति को स्वीकार कर वासुदेव-रूप से भक्तों को विमुक्त किया जाता है। यह सृष्टि, पालन तथा संहार ब्रह्मा आदि तीन रूपों से किया जाता है। परवासुदेव-रूप से निष्काम आराधकों को विमुक्त किया जाता है। परमपुरुष वासुदेव सर्वापेक्षया मुख्य कहा गया है। अपवर्गकारक होने के कारण वह वासुदेव नाम से अभिहित है। ब्रह्मा आदि यहाँ सांसारिक सृष्टि के अन्तर्गत स्वीकृत हैं।[2] विष्णुतिलक-संहिता ने भी प्रायः इसी प्रकार चार गुण कहे हैं।[3]

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि होती है। पर, यहाँ प्रश्न है कि इन दोनों के संयोग में क्या हेतु है? भगवान् की अनादि तथा अविनाशिनी माया पुरुष तथा प्रकृति को परस्पर जोड़ती है। प्रकृति तथा पुरुष भी भगवान् के दुरत्यय रूप हैं। भगवान् पुरुष

---

१. जयाख्य-संहिता, ३.२—८

२. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा० ४.१-१०

३. विष्णुतिलक-संहिता, २.४७-४८

में प्रवेश कर इच्छानुसार उसमें क्षोभ उत्पन्न करता है। प्रकृति तीन गुणवाली है, और अनादि एवं अविनाशिनी है। वह प्रकृति पुरुषाधिष्ठित होकर चर तथा अचर जगत् को उत्पन्न करती है। तीन गुणों के साम्य रहने से पुरुषाधिष्ठित उस प्रकृति के तीन गुणों से तीन प्रकार के महत्त्व उत्पन्न हुए। उन तीन महत्त्वों से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हुए। वे तीन अहंकार तथा उनसे उत्पन्न तत्त्व अधोलिखित रूप में वर्णित हैं :

१. वैकारिक अहंकार (सात्त्विक)	२. तैजस अहंकार (राजस)	३. भूतादि (तामस)
पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ	पञ्चकर्मेन्द्रियाँ	भूतादि (तन्मात्रा)

पञ्चतन्मात्राओं के क्रम से पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है। प्रायः ये पञ्चतन्मात्राएँ भूतादि (तामस) से उत्पन्न हैं। इनकी उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है : शब्द-तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति हुई, उस आकाश से स्पर्श-तन्मात्रा उत्पन्न हुई, उससे वायु की उत्पत्ति हुई, वायु से रूप-तन्मात्रा का उद्भव हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि से रस-तन्मात्रा का उद्भव हुआ और रस-तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति कही गई है। जल से गन्ध-तन्मात्रा का उद्भव होता है और उससे पृथ्वी उत्पन्न होती है। आकाश केवल शब्द-गुणवाला है, वायु शब्द तथा स्पर्श गुणवाला, अग्नि शब्द, स्पर्श तथा रूप—इन तीन गुणों से युक्त कही गई है। जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस—ये चार गुण विद्यमान हैं। पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—ये पाँच गुण विद्यमान हैं। पुनः इनसे पार्थिव तत्त्वों की सृष्टि होती है।[१] इन्हें संक्षिप्त रूप में अधोलिखित ढंग से उपस्थापित किया जा सकता है :

पुरुषाधिष्ठित प्रकृति	आकाशीय गुण—शब्द;
महान् (त्रिमहत्तत्त्वयुक्त)	वायु के गुण—शब्द तथा स्पर्श;
अहंकार (त्रिविध)	
शब्दतन्मात्रा	अग्नि के गुण—शब्द, स्पर्श तथा रूप;
आकाश	जल के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस;
स्पर्शतन्मात्रा	
वायु	पृथ्वी के गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध।
रूपतन्मात्रा,	
अग्नि	
रसतन्मात्रा	
जल	
गन्धतन्मात्रा	
पृथ्वी	

१. पाद्मसंहिता, ज्ञा० पा० ५.१—१८

पाद्म-संहिता में महदादि विशेषान्त प्रधान पुरुष कहे गये हैं। पूर्वोक्त सभी संहतरूप से सृष्ट पृथग्भूत नाना वीर्यवान् प्रजा की सृष्टि में स्वयं समर्थ नहीं हुए। तब भगवान् वासुदेव के अंशभूत पद्मनाभ से चतुर्भुज ब्रह्मा की सृष्टि हुई। इस प्रकार सर्ग के आदि में प्रकृति से अखिल जगत् उद्भूत हुआ। अन्ततः, पुनः ये सब उसी प्रकृति में समाविष्ट हो जाते हैं।[१] यहाँ स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होनेवाले इस प्रश्न का कि महदादि से सृष्टि-प्रक्रिया का विकास होते हुए भी चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि यहाँ क्योंकर स्वीकृत तथा प्रतिपादित है ?—उत्तर आसानी से उपर्युक्त पाद्मसंहिता के कथन से जाना जा सकता है। अर्थात् महदादि सभी उत्पन्न होने के बाद भी प्रजा-सृष्टि में असमर्थ ही थे। इसमें कारण तो प्रायः उनका अचेतन होना हो सकता है। अतः, उन पदार्थों के द्वारा प्रजासृष्टि-सम्पादन के लिए प्रजापति चतुर्मुख की सृष्टि सर्वथा अपेक्षित थी। परमसंहिता ने भी पाद्म की तरह ही प्रकृति से प्रपञ्च की सृष्टि तथा पुनः उसीमें उसकी संहृति का क्रम स्वीकार किया है।[२]

नारदीय संहिता ने इस सृष्टि का क्रम-निर्देश अधोलिखित रूप में बताया है। कहते हैं कि महात्मा वासुदेव ने सृष्टि की इच्छा से अपनी अव्याकृत माया (व्यापिनी) के अधिष्ठान से स्पर्श संज्ञक पौरुषी मूर्त्ति को जन्म दिया। वही पौरुषी शक्ति संकर्षण है। उसे पुरुष भी कहा गया है। पुरुषाकृति माया में क्षोभ उत्पन्न कर जगत्पति ने विश्व-तेजोमयरूप प्रद्युम्न की सृष्टि की। पुनः तेजोमय प्रकृति का विश्वाह्लादकर शान्तरस मात्राओं से प्रविलोडन कर निवृत्ति संज्ञक अपर तामसी तनु की सृष्टि की। उसे सबने अनिरुद्ध नाम से जाना। वह अनिरुद्ध जलोदरशायी हुआ। पुनः जगदीश्वर ने अव्याकृत माया का विक्षोभ कर गन्धतन्मात्रात्मक सर्वात्मदेव प्रजापति का सर्जन किया।[३]

सर्वात्मक ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की इच्छा से अपूर्व सृष्ट्याधार का कल्पन किया। वहाँ तन्मात्र जल से अण्ड का सर्जन किया, पञ्चभूतों का भूत वह अण्ड शुद्ध हिरण्मय था। उसमें जीव संक्रमण करता है। उसकी आत्मा में शक्ति-संहता रहती है, वह तन्मात्र पञ्चक का आधार, संहता, अशेष वृत्तिका होती है। उसके पश्चात् जीव से अधिष्ठित प्राण लब्धसत्ताक होता है। वह व्याकृत संज्ञक प्राण आध्यात्मिक कहा गया है। वहाँ गुणत्रयमयी तोषवृत्ति की बुद्धि उत्पन्न होती है। उस बुद्धि से अंहकार (कर्त्तृ शक्ति) उत्पन्न होता है। उसके बाद मन (शब्दाद्यर्थमयी वृत्ति) उत्पन्न होता है। उसके बाद संकल्पादिमय आकाशादि का आरम्भ होता है। उनसे श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। पुनः वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—

---

१. पाद्म-संहिता, ५.१९—२१
२. परमसंहिता, २ १४
३. नारदीय संहिता, १५.८९—९५

ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ पुनः पञ्चभूत (पृथ्वी, आप, तेज, वायु, आकाश) उत्पन्न होते हैं, और फिर इनसे सर्वाधार स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है।[१]

परमसंहिता के अनुसार प्रधान सभी पदार्थों का मूल तथा प्रकृति इस प्रपञ्च का द्रव्य कहा गया है। अव्याकृत अविद्या ही व्यक्त होती है। परमसंहिता ने एक ही स्थान में पाञ्चरात्रिक तत्त्वों का परिगणन किया है। इसके अनुसार १. अव्यक्त, २. बुद्धि, ३. अहंकार, पञ्चभूत तन्मात्राएँ (८); मनविशिष्ट दश इन्द्रियाँ (१९) तथा पञ्चमहाभूत (२४)—ये चौबीस तत्त्व स्वीकारे गये हैं। इनके दो भेद स्थूल तथा सूक्ष्म रूप से कहे गये हैं। प्रकृतिस्थ वस्तुओं के साथ समन्वित सभी भाव-पदार्थ तीन गुणों के कारण श्रेष्ठ, मध्यम तथा अधम रूप में उत्पन्न होते हैं।[२] अर्थात् सत्त्वभूयिष्ठ श्रेष्ठ, रजोभूयिष्ठ मध्यम तथा तमोभूयिष्ठ अधम पदार्थ होते हैं। सत्त्वभाव से सम्पादित भगवदर्चा भगवत्प्रसादिनी होती है। राजस भाव को भोग-साधक तथा तामस भाव को मोहकारक कहा गया है। प्रकृति अचेतन पदार्थ, नित्य, सतत विक्रिया, त्रिगुणात्मिका, कर्मियों का क्षेत्ररूप कही गई है। पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध व्याप्तिरूप से कहा गया है। पुरुष अनादि, अनन्त तथा परमार्थ भाव से रहनेवाला है। जिस प्रकार शब्द सारे आकाश में व्याप्त होकर व्यवस्थित रहता है, जिस तरह पय में स्नेह रहता है तथा सलिल में रस स्थित रहता है, उसी तरह प्रकृति तथा पुरुष में व्याप्य-व्यापकता-सम्बन्ध है। इसमें जो व्यापकरूप है वही विषयी अर्थात् पुरुष है। अचित् अव्याकृत होता है, चित् उसकी अपेक्षा परम कहा गया है। ये दोनों अन्य होते हुए भी अभिन्न की तरह रहते हैं। प्रकृति परपुरुष के नियोग से लोक का उत्पादन तथा संहार करती है। अचेतन प्रकृति सृष्टि तथा संहार नहीं कर सकती, अत: परपुरुष ही सृष्टि तथा संहार करता है।[३]

सृष्टि-प्रसंग में परमात्मा की पाँच शक्तियाँ बताई गई हैं। इन्हीं शक्तियों से देव परमव्योम आकाश में स्थित रहता है। ये पञ्चोपनिषदाख्य शक्ति कही गईं हैं। ये शक्तियाँ इस प्रकार हैं: १. परमेष्ठी, २. पुमान्, ३. विश्व, ४. निवृत्ति तथा ५. सर्वात्म। ये शक्तियाँ निम्नलिखित रूप से शब्दादि में स्थित कही गई हैं। परमेष्ठी—शब्द में, पुरुष—स्पर्श में, विश्वात्म—तेजस् में, निवृत्ति—रस में तथा सर्वात्म—गन्ध में स्थित कहा गया है।[४] नारदीय संहिता ने भी इन पाँच शक्तियों का निर्देश किया है।[५] ये पञ्चात्मक शक्तियाँ सूक्ष्म रूप से व्यवस्थित कही गई हैं। ये सांसारिक विषयों से अतीत, सनातन तथा योगगम्य बताई गई हैं। यह सूक्ष्म शरीर मुक्ति का कारण कहा गया है। प्रकृति के योग से ये शक्तियाँ पञ्चदश हो जाती हैं। समास-रूप से गुणयोनि पाँच-पाँच शक्तियाँ कही गई हैं।

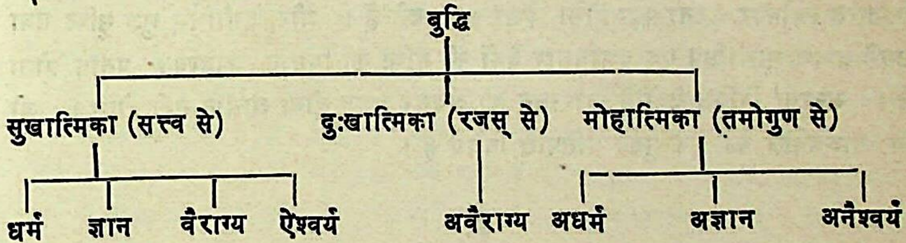
---

१. नारदीय संहिता, १५.९७—१०६
२. परमसंहिता, २.४—७
३. वही, २.१८—२७
४. वही, २.२९—३३
५. नारदीय संहिता, ५.८८-८९ तथा १५ १२०—१२५;

सत्त्वगुण के कारण—१. ज्येष्ठा, २. विद्या, ३. कान्ति, ४. शान्ति तथा ५. श्रद्धा—ये निर्मला कही गई हैं।

रजोगुण के कारण—१. वागीश्वरी, २. क्रिया, ३. कीर्त्ति, ४. लक्ष्मी तथा ५. सृष्टि—ये सामला कही गई हैं।

तमोगुण के कारण—१. मोहिनी, २. अविद्या, ३. तमोवती, ४. मृत्यु तथा ५. माया—ये मलिना कही गई हैं। तीन गुणों के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—सत्त्वगुण—प्रकाशक, रजोगुण—क्रियात्मक तथा तमोगुण आवरणात्मक है।[1] इन गुणों के संसर्ग तथा व्यतिरेक से ही यह स्थावर-जंगम जगत् विविध वैचित्र्य को प्राप्त करता है। गुणों के कारण त्रिगुणात्मिका बुद्धि आठ प्रकार की कही गई है :



त्रिगुणात्मक त्रिविध अहंकार, जो बुद्धि से उत्पन्न होता है, उससे जन्तु अनात्म को आत्म-पदार्थ की तरह देखने लगता है। यहाँ भी बुद्धि-इन्द्रियादि की उत्पत्ति पाद्म की ही तरह उक्त है।[2] तैजस अहंकार से काल की उत्पत्ति, काल से दिशाओं की और भूत से तन्मात्राओं की उत्पत्ति वर्णित है। प्रथम शब्दतन्मात्रा, द्वितीय स्पर्शतन्मात्रा, तृतीय रूप-तन्मात्रा, चतुर्थ रसतन्मात्रा तथा पञ्चम गन्धतन्मात्रा पूर्वोक्त क्रम से वर्णित है। पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चभूत क्रमशः उत्पन्न होते हैं। उन पञ्चभूतों से पूर्वोक्त क्रम से स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं।[3]

सामान्यतः यही पाञ्चरात्रागम की सृष्टि-प्रक्रिया तथा तत्त्व-विवेचन है। यह विषय स्थूलतः सांख्यदर्शन के सिद्धान्त की तरह प्रतीत होते हुए सर्वथा उसके समान ही नहीं है। सांख्य के अनुसार प्रधान स्वतन्त्र माना गया है। पर पाञ्चरात्रिक प्रधान को ब्रह्म के अधीन कहा गया है। गुणों का क्रमशः एक से दूसरे का विकास या उत्पत्तिवाला सिद्धान्त भी सांख्य-सिद्धान्त के समान नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त सात्त्विक अहंकार से ही सांख्यों ने मन-सहित दस इन्द्रियों की उत्पत्ति का सिद्धान्त माना है, जो यहाँ नहीं देखते। यहाँ जयाख्य-संहिता ने एक प्रश्न उठाया है कि प्रधान जडात्मक है, उससे उद्भूत भी जड ही है, फिर दोनों जड़ों में परस्पर उत्पाद्योत्पादक-भाव किस प्रकार

---

१. परमसंहिता, २.३४
२. वही, २.३४—४५
३. वही, २.४७—५६

सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् शक्ति (चैतन्य) के विना किस प्रकार पदार्थों की उत्पत्ति सम्भव है ? उसके उत्तर में यहाँ बताया गया है कि चिद्रूपात्म तत्त्व अभिन्न रूप से ब्रह्म में स्थित है। उससे क्षुरित अचित् (प्रधान) चिन्मयवत् होता है। अर्थात् प्रधान चिदात्म-रूप ब्रह्म की शक्ति की सहायता से जगत्-विस्तार करता है।[१] जबकि सांख्यमत के परिणामवाद के अनुसार जिस प्रकार दूध से दही परिणत होता है, उसी प्रकार प्रधान विना किसी शक्ति की सहायता से जगत्-रूप में परिणत होता है। यह भेद भी दोनों सिद्धान्तों में देखा जा सकता है।

वस्तुतः, भक्तिभाव-प्रधान आराधना तथा अर्चा आदि के अवसर सांख्योक्त सिद्धान्त में सुकर नहीं हो सकते। अतः पाञ्चरात्रिकों को सांख्यमत की अपेक्षा कुछ विलक्षण सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ा होगा, ऐसा कह सकते हैं। और, इसीलिए शुद्ध सृष्टि तथा उससे द्वादश मासाधिप एवं दशावतार देवों की सृष्टि का विधान आवश्यक प्रतीत होता है। अन्यथा विविध देवों के आराधन का अवसर प्राप्त होना आसान नहीं होता। जो कि पाञ्चरात्र का एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

१. जयाख्य-संहिता, पटल ३.१०—१४

तृतीय अध्याय

मन्त्र-विचार

मन्त्र शब्द का प्रयोग अत्यन्त ही प्राचीन है। भारतीय विद्या के प्रारम्भिक अध्येता भी इस शब्द से परिचित होते हैं। प्राचीनतम भारतीय साहित्य-ग्रन्थ ऋग्वेद में भी बहुशः इस शब्द का प्रयोग देखते हैं।[१] इस प्रकार मन्त्र शब्द भारतीय साहित्य में अत्यन्त प्राचीन तथा प्रचलित शब्दों में अन्यतम है। वेद में मन्त्र शब्द एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त है। सामान्यतः, यह शब्द पवित्र वाणी, प्रार्थना, स्तुतिगान, मन्त्रणा, योजना तथा यज्ञवाक्य आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[२] परन्तु, प्रमुख रूप से इस शब्द का प्रयोग ऋषियों के द्वारा विरचित स्तुति या प्रार्थना-विशेष के अर्थ में देखा जाता है।[३] यास्क के अनुसार 'मननात् मन्त्रः' इस तरह की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-निरूपण हुआ है। अर्थात् जिसका मनन किया जाता है, उसे मन्त्र कहते हैं।[४] वस्तुतः, मन्त्र शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ यही कहा जा सकता है। 'मन्त्रि' गुप्त परिभाषणे चौरादिक धातु[५] से 'इदितो नुम् धातोः'[६] सूत्र से नुम् विधान कर 'मन्त्र्यते इति मन्त्रः' इस भाव-अर्थ में 'पचादिभ्यो अच्'[७] इस सूत्र के द्वारा अच् प्रत्यय-विधान कर मन्त्र शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार मन्त्र शब्द का अर्थ होगा गुप्त मन्त्रणा अथवा गुप्त विचार। मन्त्र शब्द से शक्तिविशेष-सम्पन्न वाक्य भी अभिहित है। वहाँ शब्द-समूह-रूप वाक्य के अन्तर्गत कोई ऐसी विशिष्ट शक्ति अन्तर्भूत होती है, जिसके द्वारा बहुत-सारे असाधारण कार्य भी सुकरता से सिद्ध हो जाते हैं। अथर्ववेद के बहुत-सारे प्रयोग उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जा सकते हैं, जहाँ रोगों की शान्ति, मारण, मोहन, उच्चाटन आदि आभिचारिक कर्मों का साधन मन्त्रों के द्वारा किया जाता है। इस क्रम में सर्वप्रथम मन्त्रों का साधन आवश्यक होता है। साधित मन्त्र ही उन-उन प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ होते हैं।

मन्त्रों का प्रयोग अत्यन्त आधुनिक नहीं है। संसार में विद्यमान प्राचीन सुसंस्कृत समाजों के आचार-विषयक इतिहास के आधार पर हम जान सकते हैं कि उन-उन

---

१. ऋग्वेद, १.१४७.४; १.१५२.२; १०.५०.४
२. गुह्यमन्त्र एवं उनका विनियोग, पृ० १७
३. वही
४. निरुक्तम्, ७।१२
५. वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी, धातु १६८०
६. अष्टाध्यायी, ७।१।५८
७. वही, ३।१।१३४

संस्कृत समाज में आचार-प्रतिपादक विशिष्ट सामाजिक विविध संस्कारों के अवसर में तत्तद्विशिष्ट कर्म के साथ विशिष्ट प्रार्थनाएँ की जाती थीं। डॉ० कृष्णलालजी के मतानुसार अव्यस्ता (अवेस्ता) तथा वेद का देवशास्त्र-विषयक साम्य वैदिक तथा आव्यस्तिक समाज के कर्मकाण्डों का साम्य बताता है। इससे यह भी स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि ईरानियों तथा भारतीयों के पृथक्-पृथक् होने के काल से पूर्व ही बहुत-सारे मन्त्रोच्चारपूर्वक प्रतिपाद्य यागकर्मों का पूर्ण विकास हो चुका था।[१] इस प्रकार मन्त्र-प्रयोग की प्राचीनता सर्वथा निर्विवाद है।

वैदिक साहित्य, श्रौत तथा स्मार्त्त कर्मों में मन्त्रों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्तर्वर्त्ती साहित्य तथा भारतीय समाज के विविध संस्कारों में भी मन्त्रों का महत्त्व वैसा ही अक्षुण्ण बना रहा है। उनमें विविध आगम-साहित्य तथा उनके साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों में भी मन्त्रों का स्थान वैसा ही असाधारण महत्त्वपूर्ण रहा है। इसके महत्त्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि मन्त्र विषय के विना इन सम्प्रदायों की गति नहीं है। इन साम्प्रदायिक कर्मों के सारे क्रिया-कलाप सर्वथा मन्त्राश्रित हैं। अन्य सम्प्रदायों तथा आगमादि साहित्यों की तरह पाञ्चरात्र-आगम में भी मन्त्र का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सनत्कुमार-संहिता के अनुसार मन्त्र-ज्ञान ज्ञानों का परम ज्ञान है। सारी क्रियाएँ तथा सारा जगत् मन्त्रमूलक है। भगवान् विष्णु मन्त्रमय हैं। तीनों जगत् में मन्त्र के विना कोई क्रिया नहीं है। सर्वकर्म-प्रसाधक मन्त्र ही शब्दब्रह्म है।[२] प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रागमिक मन्त्रों के विवेचन का प्रयत्न होगा।

हम जानते हैं कि पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय एक जीवन्त व्यावहारिक सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के सारे व्यावहारिक क्रिया-कलाप में मन्त्रों का प्रयोग एक अनिवार्य विषय है। अतएव पाञ्चरात्रागम-संहिताओं के प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में मन्त्र-वर्णन से सम्बद्ध या तो पृथक् विस्तृत अध्याय स्वीकृत हैं या संक्षिप्त रूप में ही सही, मन्त्रों को एक प्रधान विषय के रूप में स्वीकार कर उनपर विस्तृत विचार किया गया है। पाञ्चरात्रागर्म-ग्रन्थों में प्रयुक्त मन्त्रों के ऊपर विचार करने पर सामान्यतः हम दो तरह के मन्त्र देखते हैं : १. वैदिक मन्त्र तथा २. आगमिक मन्त्र। तत्तत्पाञ्चरात्रिक कर्मों में प्रयुक्त विविध मन्त्रों में वैदिक ऋचाओं तथा आगमिक मन्त्रों का उल्लेख प्रायः हर पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थ में देखा जा सकता है। पाञ्चरात्रागम के कुछ समालोचनात्मक संस्करणवाले ग्रन्थों में परिशिष्ट के रूप में इन वैदिक मन्त्रों (ऋचाओं) का संकलन तत्तत् ग्रन्थ में देखा जा सकता है।[३] पाञ्चरात्रागम-प्रक्रिया में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग की अपेक्षा आगमिक मन्त्रों

---

१. गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग, पृ० १८
२. सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र, अ० ११, श्लो० १—३
३. (क) श्रीप्रश्न-संहिता LVIII—LXII.
(ख) विश्वामित्र-संहिता, परिशिष्ट, पृ० २९८—३०१
(ग) विष्वक्सेन-संहिता, परिशिष्ट, पृ० ४४१-४२
(घ) नारदीय संहिता, परिशिष्ट १, पृ० ५२१-५२२

का प्रयोग अधिक देखा जाता है। ये आगमिक मन्त्र कुछ तो वाक्य-रूप में तथा कुछ श्लोक-रूप में भी पाये जाते हैं। कुछ ग्रन्थों ने वाक्य-रूप मन्त्रों के उद्धार-क्रम भी अपने-अपने ढंग से बताये हैं। यथास्थान उसकी विस्तृत चर्चा होगी। सनत्कुमार-संहिता के अनुसार मन्त्रों का विभाग इस प्रकार किया गया है: १. वैदिक मन्त्र, २. तान्त्रिक मन्त्र तथा ३. वैदिक तान्त्रिक मन्त्र। इसके अनुसार पाञ्चरात्रागम में वैदिक, तान्त्रिक एवं वैदिक तान्त्रिक—ये तीन तरह के मन्त्र स्वीकृत हैं। पाञ्चरात्र-वैष्णवों के लिए वैष्णवी दीक्षा का बहुत ही अधिक महत्त्व है। वास्तविकता तो यह है कि दीक्षित व्यक्ति ही असल वैष्णव हो सकता है। अदीक्षितों का स्थान दीक्षितों की तरह नहीं हो सकता। उस दीक्षा-क्रम में ये तीन तरह के मन्त्र क्रम से उक्त हैं। यद्यपि वैष्णवों में कुछ लोग तान्त्रिक मन्त्रों से हरि की आराधना करते हैं, कुछ लोग वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों से तथा कुछ लोग केवल वैदिक मन्त्रों से ही हरि की उपासना करते हैं, तथापि दीक्षितों के लिए सर्वापेक्षया बलवत्तर मन्त्र तान्त्रिक मन्त्र ही कहा गया है।[१] यहाँ जो 'तान्त्रिक मन्त्र' शब्द से निर्दिष्ट मन्त्र हैं, वे वस्तुतः उपरिनिर्दिष्ट आगमिक मन्त्र ही हैं; क्योंकि पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों को तन्त्र के नाम से भी अभिहित किया गया है। जैसे—लक्ष्मीतन्त्र, भार्गव-तन्त्र तथा पाञ्चरात्रागम के अनेक अन्य संहिता-ग्रन्थ।

अन्य आगम-सम्प्रदायों की तरह पाञ्चरात्रागम में वर्णित मन्त्रविषय को मुख्य रूप से हम दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं: मातृका-विभाग तथा मन्त्र-विभाग। मातृका-विभाग में हम मन्त्रोत्पत्ति में आधारभूत वर्णों की उत्पत्ति, उनके स्वरूप, उनकी विविध संज्ञाएँ, उनकी शक्ति, वर्णों की राशि तथा नक्षत्र आदि विषय का विस्तृत वर्णन देखेंगे। द्वितीय भाग अर्थात् मन्त्र-विभाग में मन्त्रोद्धार के प्रकार, मन्त्र-स्वरूप, उनके विविध अंग, विविध भेद तथा प्रयोग आदि का विवेचन करने का प्रयत्न होगा।

जहाँतक 'मातृका' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, इस विषय में 'ललितासहस्रनाम' के अनुसार 'मातृका वर्णरूपिणी' कही गई है।[२] अर्थात् वर्णरूप को मातृका कहते हैं। वर्णमाला को समुदित रूप से मातृका कहा गया है। ये मातृकाएँ चार प्रकार की कही गई हैं: १. केवल, २. बिन्दुसंयुक्त, ३. विसर्गयुक्त तथा ४. उभयात्मक। इनमें सामान्यतः लोक में बिन्दु-विसर्ग-रहित केवल मातृका का प्रयोग होता है। केवल के अतिरिक्त अन्य तीनों का प्रयोग मन्त्रशास्त्र में होता है। स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार मातृका से पराविद्या नहीं है।[४] अहिर्बुध्न्यसंहिता ने मन्त्र-निरूपण-क्रम में वर्णों के उत्पत्ति-क्रम आदि का वर्णन करते हुए कहा है—विष्णु की स्वसंकल्परूप दिव्या क्रियाशक्ति

---

१. सनत्कुमारसंहिता, ऋषिरात्र, ५.३७—४०

२. ललितासहस्रनाम, श्लोक १६७

३. चतुर्धा मातृका प्रोक्ता केवला बिन्दुसंयुता। सविसर्गा सोभया च रहस्यं शृणु कथ्यते॥
—तन्त्रसार, मातृकाविलास, पृ० ६३

४. स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ११, श्लोक १९९

जो रक्षा-साधन है, वह दो प्रकार की हैं—१. शस्त्रास्त्ररूपा तथा २. नानामन्त्रमयी। मन्त्र-यन्त्र तथा कोश में चित्रित वेद तथा तन्त्र उभयोद्भूत हैं। मन्त्रमय क्रियाशक्ति में केवल धर्मनिष्ठ ब्राह्मणों का ही अधिकार है।[1] अधोलिखित रूप में विष्णु की शक्ति का विभाग किया गया है :

विष्णु-शक्ति
- भाव्य (भूतिः)
  - शुद्धि
  - अशुद्धि[2]
- भावक (विष्णुसंकल्प, सुदर्शन)

यह शक्ति-विभाग नारायण का भावानुगामी है। क्रियाशक्ति की स्थिति मन्त्रमयी कही गई है। वह शक्ति वृद्धि के क्रम में नादरूपता को प्राप्त करती है। नाद दीर्घ घण्टा-रव के समान होता है। उसका साक्षात्कार केवल योगी लोग ही कर पाते हैं। वही नाद समुद्र-जल-बुद्बुद की तरह उन्मेष को प्राप्त कर अनुद्रुत योगियों के द्वारा बिन्दु कहा गया है। बिन्दु दो तरह के कहे गये हैं—१. नाम तथा २. नामी। नामोदय प्राप्त कर शब्द-ब्रह्म की प्रवृत्ति होती है। बिन्दुमयी शक्ति स्वेच्छा से नामता को प्राप्त करती है। इस प्रकार शब्द-ब्रह्म की प्रवृत्ति में मूलतः बिन्दु ही कारण माना गया है।[3]

बिन्दु दो भागों में विभक्त है : १. स्वर तथा २. व्यञ्जन। बिन्दु-शक्ति से पराविसृष्टाख्य सर्गमय शब्द का उदय होता है। शब्द एकार्थक तथा अनेकार्थक होते हैं। वे विविध वर्ण विकारयुक्त होते हैं। शब्द साक्षात् सामस्वरूप तथा लक्ष्मी का शब्दमय शरीर कहा गया है। बिन्दु का स्वर तथा व्यञ्जन-रूप में विवर्त्त होता है। अनुत्तर काल में अकारादि समुन्मेष उत्पन्न होता है। अकार को सर्ववाग्रूप कहा गया है। बिन्दु से ही इकार तथा उकार का उन्मेष होता है। इन्हीं तीनों वर्णों से अन्य सभी स्वर वर्णों का विभावन होता है। अन्यान्य स्वरों की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित क्रम का निर्देश किया गया है। उपर्युक्त तीन मूलस्वरों के विभाव के बाद अनुत्तर ही ईशान 'इ' इच्छा-शक्ति से 'ई' भाव को प्राप्त करता है। ऊन रूप 'उ' उन्मेष करता हुआ 'ऊ'भाव को प्राप्त करता है। अनुत्तर इच्छा-सन्धान से 'एकार' उत्पन्न होता है। उसके बाद अनुत्तर भवन से 'ऐ' भाव को प्राप्त करता है। दिव्य उन्मेष से 'ओकार' की उत्पत्ति होती है। पुनः भवन से ही 'औ'भाव की उत्पत्ति होती है। ए, ऐ, ओ तथा औ—ये चार वर्ण सन्ध्यात्मक कूटस्थ कहे गये हैं। इन चार सन्ध्यात्मक कूटस्थ स्वरों की उत्पत्ति का एक दूसरा क्रम भी निर्दिष्ट है। इच्छा-योग से वर्द्धमान 'ए' कहा गया है। पुनः अनुत्तर

१. अहिर्बुध्न्य-संहिता, १६.७—१२
२. वही, १६.३१-३२, ३४
३. वही, १६.३५—४०

संयोग से ऐ ऐश्वर्यवान् कहा गया है। अनुत्तर सर्वत्र दिव्य उन्मेष से ओ की उत्पत्ति होती है। अनुत्तर औजित्य से सम्भूत औ की उत्पत्ति होती है। 'अ, र' इन दोनों के एक तथा तीन भाग की वृद्धि से 'ॠ' तथा उसी प्रकार 'अ, ल्' से 'ॡ' की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् उद्योग से पुनः आकार प्लवमान होता है। इस प्रकार चतुर्दश उद्योगों से नाना आकार-विभाविनी नटी की तरह विष्णु की आद्याशक्ति कुण्डली विजृम्भित होती है।[१]

आद्याशक्ति के दो सूक्ष्म रूप हैं और ये ही दोनों सृष्टि तथा संहार के कारण कहे गये हैं। यह क्रियाशक्ति-महासत्ता अनाख्येया है। यह शक्ति शब्दात्मरूप से विवृतरूप होकर सृष्टिरूपता को प्राप्त करती है। उसके स्वरूप सृष्टि-सर्ग तथा विसर्ग-विसर्जन कहे गये हैं। मूलाधार से समुद्यत वह शान्ता निरञ्जना शक्ति अनुत्तर ही साञ्जना होकर उन-उन संस्कारों से दृष्टि-दृश्यात्मकता को प्राप्त होती है, जो शब्दार्थ-तत्त्ववर्त्तिनी कही गई है। यह योग-दृश्या पश्यन्ती के नाम से अभिहित होती है। इसका उदय नाभि से कहा गया है। यही वैष्णवी शक्ति सत्तारूपा मन्त्र-माता कही गई है। इसे प्राप्त कर योगी लोग अधिकारक्षय को प्राप्त करते हैं।[२]

सनत्कुमार-संहिता ने मन्त्रों के वर्णनक्रम में मन्त्र-मातृकाओं, अर्थात् वर्णों की उत्पत्ति का क्रम-निरूपण किया है। मन्त्रोद्धार-वर्णन की प्रतिज्ञा करते हुए स्वर वर्णों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है। स्वरों का आदिवर्ण अकार अव्यय है। अकार से इकार की, इकार से उकार की, उकार से ऋकार की, ऋकार से लृकार की, लृकार से एकार की, एकार से ओकार की, ओकार से अंकार की क्रमशः उत्पत्ति हुई है। ये ही आठ स्वर वर्ण प्रथम उत्पन्न हुए। इन्हीं आठ वर्णों से इनके तत्तत् दीर्घवर्ण समुत्पन्न हुए। जैसे—अकार से आकार, इकार से ईकार, उकार से ऊकार, ऋकार से ॠकार, लृकार से ॡकार, एकार से ऐकार, ओकार से औकार तथा अंकार से अःकार क्रमशः आठ वर्ण समुत्पन्न होते हैं।[३] यहाँ सामान्यतः आठ ह्रस्व स्वर तथा आठ दीर्घ स्वर का निर्देश है। यहाँ लृकार का दीर्घ होना एवं एकार तथा ओकार का ह्रस्व स्वर की तरह निर्देश किया जाना सामान्यतः हिन्दी आदि की वर्णमाला की अपेक्षा कुछ विचित्र-सा दीखता है। पर यह क्रम केवल सनत्कुमार-संहिता का ही नहीं है, अपितु जयाख्यसंहिता ने भी प्रायः इसी प्रकार स्वर वर्णों का निर्देश किया है।[४] वस्तुतः तेलुगु आदि भारतीय भाषाओं में आज भी एकारादि का ह्रस्व तथा दीर्घ की तरह प्रयोग होता ही है, जोकि उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

स्वर वर्णों की उत्पत्ति के अतिरिक्त पाञ्चरात्र-संहिताओं में व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति का निर्देश भी उपलब्ध है। व्यञ्जन वर्णों में ककार की उत्पत्ति अकार-अव्यय से

---

१. अहिर्बुध्न्यसंहिता, १६·४१—५५
२. वही, १६·५५—६०
३. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र० अ० २, श्लो० १—६
४. जयाख्य-संहिता, प० ६, श्लो० १४—१७

तथा ककार से खकार की, खकार से गकार की, गकार से घकार की और घकार से ङकार की उत्पत्ति बताई गई है। पुनः कवर्ग के प्रथमादि वर्ण से चवर्ग के प्रथमादि वर्णों की उत्पत्ति होती है। जैसे—ककार से खकार की, खकार से छकार की, गकार से जकार की, घकार से झकार की तथा ङकार से ञकार की उत्पत्ति होती है। पुनः चवर्ग के प्रथमादि वर्ण से टवर्ग के प्रथमादि वर्ण उत्पन्न होते हैं। जैसे—चकार से टकार, छकार से ठकार, जकार से डकार, झकार से ढकार तथा ञकार से णकार की उत्पत्ति हुई है। पुनः टवर्ग के प्रथमादि पाँच वर्णों से तवर्ग के प्रथमादि पाँच वर्ण उत्पन्न हुए हैं। जैसे—टकार से तकार, ठकार से थकार, डकार सि दकार, ढकार से धकार तथा णकार से नकार की उत्पत्ति हुई। पुनः तवर्ग के प्रथमादि पाँच वर्णों से पकार के प्रथमादि पाँच वर्ण उत्पन्न कहे गये हैं। जैसे—तकार से पकार, थकार से फकार, दकार से बकार, धकार से भकार तथा नकार से मकार की उत्पत्ति हुई है। इसके बाद पकार से यकार, फकार से रेफ, बकार से लकार, भकार से वकार, मकार से शकार, यकार से षकार, रेफ से सकार, लकार से हकार, वकार से लकार तथा श् ष् स् ह्—इन चार वर्णों से क्षकार उत्पन्न हुआ है। क्षकार से पञ्चतन्मात्राओं तथा प्रणव की उत्पत्ति हुई है।[1] व्याकरणादि में भी सामान्यतः यहाँ पाञ्चरात्र में वर्णित वर्णों का ही उल्लेख है। इन्हीं वर्णों के अनुसार सारी प्रक्रिया चलती है, पर उनका स्थिति-क्रम भिन्न है। उदाहरण के लिए हम पाणिनीय व्याकरण के मूल चतुर्दश माहेश्वरसूत्र (वर्ण-समाम्नाय) को देख सकते हैं। माहेश्वरसूत्र में भी प्रायः मातृकान्तर्गत सारे वर्ण उपलब्ध हैं। पर, जैसाकि हम ऊपर कह आये हैं, उनका क्रम इससे भिन्न है। जहाँ तक इन माहेश्वरसूत्रों की उत्पत्ति का प्रश्न है, ये शिव के डमरू से उद्भूत कहे गये हैं :

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्च बारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥[2]

कहते हैं कि तपस्यारत सनकादि तथा महावैयाकरण ऋषि पाणिनि के तप तथा अनुष्ठान से प्रसन्न नटराजराज भगवान् आशुतोष शिव ने अपने नृत्त के अन्त में प्रसन्नता-पूर्वक अपना डमरू बजाया। उसीसे ये चौदह सूत्र आये। इन सूत्रों के आधार पर सनकादि सिद्धों को अपना लक्ष्य प्राप्त हुआ तथा भगवान् पाणिनि को अपने महान् व्याकरणशास्त्र का आधार मिला। मातृकागत वर्णों तथा चतुर्दश सूत्रगत वर्णों की तुलना करने पर दोनों स्थलों में सामान्यतः वर्णों का साम्य होने पर भी वर्णोत्पत्ति के विषय में कोई साम्य नहीं देखते। मातृकाओं में पाञ्चरात्र-संहिता ने केवल अकार को अक्षय मूल माना है।[3] उसीसे इकारादि की उत्पत्ति का निर्देश किया है। पुनः ह्रस्व स्वरों से तत्तद्दीर्घ स्वरों की उत्पत्ति

१, सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, २.७—१६

२. नन्दिकेश्वरकृत कारिका

३. (i) सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र २
 (ii) जयाख्य-संहिता, पट० ६.१४

का निर्देश किया गया है, जिसका वर्णन पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। पर, वर्ण-समाम्नाय में वर्णोत्पत्ति के विषय में कुछ भी निर्देश नहीं देखते। व्याकरण के सन्धि-नियमों को देखने पर सामान्य रूप से हम अ+इ=ए, अ+उ=ओ, इत्यादि गुण[१] तथा वृद्धि[२] वर्णों को तत्तद्वर्णों के संयोग से विकसित कह सकते हैं। व्यञ्जन वर्णों की उत्पत्ति का क्रम भी पाञ्चरात्र-संहिताओं में अपने ढंग का अलग ही है। पाणिनि के अनुसार सकार तथा तवर्ग क्रमशः शकार एवं चवर्ग रूप में परिणत हो जाते हैं, यदि शकार तथा तवर्ग से उनका योग होता है।[३] उसी प्रकार षकार तथा टवर्ग के योग में सकार तथा तवर्ग क्रमशः षकार तथा टवर्ग हो जाते हैं।[४] जैसे त ट रूप में और थ ठ रूप में परिवर्तित हो जाता है। पर, मातृकाओं के विकास या उत्पत्ति का क्रम इससे सर्वथा भिन्न ही है। जैसा कि हमने पहले देखा है, उसके अनुसार टवर्गस्थ पाँच वर्णों से तवर्गस्थ पाँच वर्ण विकसित हुए हैं, जो एक व्याकरण की दृष्टि से नई बात है। आगमिक प्रणाली के इस वर्ण-विकास-क्रम का भाषावैज्ञानिक तथा वर्णशास्त्रीय एवं ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से अध्ययन तथा विश्लेषण अपेक्षित है।

वर्णों को ६४ पुटों में विभक्त किया गया है। सबसे पहले आठ शून्य-पुटों को बिन्दु-मन्त्र-पुटों की संज्ञा दी गई है। उसके बाद वर्णों के आनुपूर्व्य क्रम से ५६ पुटों का निर्देश किया गया है। प्रथम आठ वर्ण-पुटों को सदाद्य स्वर कहा गया है। ये आठ स्वर हैं—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ तथा अं। ए सभी वर्णों के उद्भव-कारण हैं। अतएव, इन्हें सदाद्य स्वर कहा गया है। इसे सदादिवर्ग भी कहते हैं। इस वर्ग के पश्चात् असदादि वर्ग का निर्देश देखते हैं। उस असदादि वर्ग में सर्वप्रथम आ, उसके बाद क्रमशः ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐं, औ तथा अः—इन आठ असदादि स्वरों का समावेश है। स्वर वर्णों के बाद तिर्यक् पञ्चपुटों में प्रथम आदि कवर्ग कहा गया है। इस प्रथम कवर्ग-पञ्चक में क्रमशः क, ख, ग, घ तथा ङ—ये पाँच वर्ण हैं। द्वितीय पञ्चक में च, छ, ज, झ तथा ञ—ये पाँच चवर्ग वर्ण निर्दिष्ट हैं। तृतीय पञ्चक में ट, ठ, ड, ढ तथा ण—ये पाँच टवर्ग वर्ण गिनाये गये हैं। चतुर्थ पञ्चक में त, थ, द, ध तथा न—ये पाँच तवर्गस्थ पुट कहे गये हैं। पञ्चम पञ्चक में प, फ, ब, भ, तथा म—ये पाँच वर्ण सन्निविष्ट हैं। षष्ठ पञ्चक में य, र, ल, व तथा श—ये पाँच पुट आते हैं। सप्तम पञ्चक में ष, स, ह, ल तथा क्ष—ये पाँच पुट व्यवस्थित हैं।[५] अष्टम पञ्चक में किसी भी वर्णविशेष का निर्देश न होकर पञ्चमात्राओं की अवस्थिति का निर्देश किया गया है। इनमें पञ्चक का प्रथम प्रथम-मात्रा, द्वितीय द्वितीया-मात्रा, तृतीय तृतीया-मात्रा, चतुर्थ चतुर्थी-मात्रा तथा पञ्चम पञ्चमी-मात्रा कही

१. आद्गुण, ६।१।८७
२. वृद्धिरेचि, ६।१।८८
३. स्तोःश्चुनाश्चुः, ८।४।४०
४. ष्टुनाष्टुः, ८।४।४१
५. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, २.३०—४८

गई हैं। इन पाँच मात्राओं के पृथक्-पृथक् देवता कहे गये हैं :

प्रथमा—ब्रह्मा	चतुर्थी— महाविष्णु
द्वितीया—शिव	पञ्चमी (नादक)— "
तृतीया—विष्णु	षष्ठी (श्वास)—सदाविष्णु[1]

अष्टम पञ्चक में सामान्यतः पाँच मात्राएँ स्वीकृत हैं, पर इनके देवताओं के परिगणन के क्रम में षष्ठी मात्रा के देवता का भी निर्देश है। यह षष्ठी मात्रा कहाँ से और किस प्रकार आई, यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार आठ पञ्चकों में ५६ वर्णों की अवस्थिति का निर्देश देखते हैं।

अष्ट पञ्चकों के पश्चात् यमकोत्पत्ति का निर्देश आता है। इस प्रसंग में अकार में पाँच मात्राओं का संयोजन कहा गया है। अकार में स्वयं भी एक मात्रा की स्थिति होती है। इस प्रकार सब मिलाकर छह मात्राएँ होती हैं। साधक इन मात्राओं का निर्मथन करता है। उसके लिए प्रणव के साथ इनके निर्मथन का विधान है। उसके पश्चात् प्रणवद्वय के निर्मथन का निर्देश किया गया है। यहाँ प्रत्येक यमक को त्रिमातृक कहा गया है। इस प्रकार के दो प्रणवों से सारे मन्त्रों के उद्धार का नियम है।[2] यहाँ सामान्य रूप से यह विषय निर्दिष्ट है, पर यमक के विषय में निर्दिष्ट विषय को स्पष्ट नहीं कह सकते। सामान्यतः प्रणव की उत्पत्ति का क्रम प्रायः अधोलिखित है :

मन्त्रं मन्त्रपुटे चान्ये अकारं यमकेन च। आदाय योजयेदत्र उकारं च विचक्षणः॥
मकारं तत्र संयोज्य वेष्टयेद्यमकेन तु। व्यञ्जनानि स्वराण्येव योजयेत्तु पृथक् पृथक्॥

मन्त्रवर्णों की उत्पत्ति के निर्देश के बाद उनके विलय-क्रम का निर्देश भी देखते हैं।[3] वह क्रम अधोलिखित है—अकार में यमकों का न्यास होता है। उसका प्रणव के साथ आलोडन कर पाँच मात्राओं का उद्धार होता है। पाँच मात्राएँ क्षकार में नियोजित होती हैं। फिर उत्पत्तिक्रम से सब वर्णों का लय कहा गया है। तत्तद्वर्णों के लय की पृथक्-पृथक् संज्ञाएँ निर्दिष्ट हैं :

वर्ण		लय-संज्ञा
अं तथा अ	...	प्रलय
दीर्घ वर्ण	...	महाप्रलय
ऊ तथा उ	...	आभूत संप्लव
ई तथा इ	...	कल्प
आ तथा अ	...	कल्पान्त
अकारलय	...	विष्णु परमपद।[4]

इस क्रम में भी अकार को सभी वर्णों का मूलत्व सिद्ध होता ही है।

---

१. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, २.४९—५२
२. वही इन्द्ररात्र, २.५२—५५
३. वही, इन्द्ररात्र २.६०—६१
४. वही, इन्द्ररात्र, २.६४—६८

सनत्कुमार-संहिता के शिवरात्र में भी वर्णों के विभाग आदि का वर्णन किया गया है। इसके अनुसार स्वर वर्णों की संख्या १४ कही गई है। इनमें सात ह्रस्व तथा सात दीर्घ वर्ण कहे गये हैं। पूर्ण व्यञ्जन वर्णों की संख्या ३५ कही गई है। ये व्यञ्जन वर्ण ककारादि क्षकारान्त कहे गये हैं। विसर्जनीय तथा बिन्दु को स्वरान्तगोचर होना कहा है। व्यञ्जन प्रायः स्वर के आदि में उच्चरित होते हैं। विरल ही केवल व्यञ्जन का प्रयोग होता है। केवल व्यञ्जन के साथ बिन्दु अथवा विसर्ग का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। अस्वर व्यञ्जन एक होता है द्वितीय नहीं। व्यञ्जन वर्ण का प्रयोग मन्त्र के अन्त में किया जाना चाहिए न कि मन्त्र के आदि में।[1] उपरिनिर्दिष्ट वर्णों के देवताओं का वर्णन यहाँ भी किया गया है। यह निम्नलिखित है :

वर्ण		देवता	वर्ण		देवता
अकार	...	विष्णु	कवर्ग	...	पञ्चभूत
इकार	...	रुद्र (सदाशिव)	चवर्ग	...	पञ्चेन्द्रिय
उकार	...	ब्रह्मा (अज)	टवर्ग	...	इन्द्रिय-विषय (यथासंख्य से)
ऋकार	...	चन्द्रमा	तवर्ग	...	कर्मेन्द्रिय
लृकार	...	सूर्य	पवर्ग	...	कर्मेन्द्रिय के विषय
लॄकार	...	अग्नि	यादिशान्तवर्ग	...	धातु
ऐकार	...	सूर्य	षादिलान्तवर्ग	...	वेद
औकार	...	विष्णु	क्षकार	...	तदङ्ग[2]
विसर्ग	...	प्रजापति			

सनत्कुमार-संहिता के इन्द्ररात्र में भी तत्तद्वर्णों के तत्तद्देवताओं का निर्देश अधोलिखित रूप से किया गया है। यद्यपि यहाँ का वर्णन भी प्रायः शिवरात्र की तरह है, तथापि यहाँ यह विषय शिवरात्र की अपेक्षा विशेष विस्तृत है :

वर्ण		देवता	वर्ण		देवता
अ	...	सदाविष्णु	लॄ	...	अग्नि
आ	...	रुद्र	ए	...	हुताशन
इ	...	सदाशिव	ऐ	...	दिवाकर
ई	...	हरि	ओ	...	दक्ष
उ	...	परोब्रह्म	औ	...	हरीश
ऊ	...	शशाङ्क	अं	...	हरीश्वर
ऋ	...	चन्द्रमा	अः	...	प्रजापति
ॠ	...	चतुर्मुख	क	...	आकाश
लृ	...	सूर्य	ख	...	वायु

१. सनत्कुमार-संहिता, शिवरात्र, २.१४—२१
२. वही, २.२२—२८

वर्ण		देवता	वर्ण		देवता
ग	...	अग्नि	न	...	उपस्थ
घ	...	आप	प	...	वदन
ङ	...	पृथ्वी	फ	...	कर्ण
च	...	श्रोत	ब	...	गमन (गगन ?)
छ	...	त्वक्	भ	...	विसर्ग
ज	...	चक्षु	म	...	गति
झ	...	जिह्वा	य	...	मांस
ञ	...	घ्राण	र	...	मेद
ट	...	शब्द	ल	...	अस्थि
ठ	...	स्पर्श	व	...	मज्जा
ड	...	रूप	श	...	शुक्र
ढ	...	रस	ष	...	सामवेद
ण	...	गन्ध	स	...	यजुर्वेद
त	...	वाक्	ह	...	ऋग्वेद
थ	...	पाणि	ल	...	अथर्ववेद
द	...	पाद	क्ष	...	षडङ्ग[1]
ध	...	पायु			

इन उपर्युक्त वर्णों के देवताओं के निर्देश-क्रम में कुछ वर्णों के देवताओं का निर्देश तो उचित जँचता है, पर कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ वर्णों का तत्तद्रूप में निर्देश किया गया है। जैसे—

कवर्गः पञ्चभूतानि चवर्गश्चेन्द्रियाणि च।
टवर्गो विषयास्तस्य यथासङ्ख्यक्रमेण तु॥[2]

इस श्लोक में कवर्ग को पञ्चभूत होना कहा है। चवर्ग को इन्द्रिय तथा टवर्ग को उनका विषय होना कहा है। इसी प्रकार अन्य वर्णों को भी तत्तद्रूप में प्रदर्शित किया गया है। इन्द्ररात्र में हमने विस्तार से इसका वर्णन देखा है। वहाँ भी स्वर वर्णों के देवताओं का स्वरूप-निर्देश स्पष्ट दीखता है, पर व्यञ्जन वर्णों के वर्णन-क्रम में ककार को स्वयं आकाश तथा अन्य वर्णों को भी इसी क्रम से तत्तद्रूपों में दिखाया गया है। वर्णों को आकाशादि तत्त्वरूप में होना तो इस वर्णन से स्पष्ट होता है, पर उन-उन वर्णों के देवता-विशेष होना युक्तियुक्त नहीं लगता। सबसे प्रमुख बात यह है कि इन वर्णों को तत्तत् देवता-विशेष से तथा तत्तत् तत्त्वविशेष से सम्बद्ध करने में वास्तविकता क्या है, यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

---

१. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, २.१७—२९
२. वही, शिवरात्र, २.२६

पाञ्चरात्र के अनुसार मातृका का शरीर तथा तत्तदवयव वर्णरूप में वर्णित हैं। उस शरीर में विद्यमान तत्तदलंकार भी वर्णों के ही कहे गये हैं। यह वर्णमातृका देवी अनादिनिधिना 'शब्दब्रह्मरूपा' कही गई है। यह देवी पाश तथा अङ्कुशधारिणी कही गई है। यह प्रसन्ना, पद्मगर्भा तथा सर्वलोकैकजीवा है। इस देवी के शरीर के विविध अङ्ग अधोलिखित वर्णों के हैं :

वर्ण		अवयव	वर्ण		अवयव
प्रणव	...	शिर	प, फ	...	दोनों पार्श्वभाग
अ, आ	...	दोनों भ्रू	ब, भ	...	पृष्ठ तथा अग्रभाग
इ, ई	...	दोनों नेत्र	म	...	नाभि
उ, ऊ	...	दोनों श्रोत्र	य, र	...	प्राण तथा ऊष्मा
ऋ, ॠ	...	दोनों नासिका	ल	...	हार,
ऌ, ॡ	...	दोनों कपोल	व	...	कटिसूत्र
ए, ऐ	...	दोनों ओष्ठ	श, ष	...	कण्ठहार
ओ, औ	...	दोनों दन्त-पंक्ति	स	...	हृदय
अं	...	जिह्वा	ह	...	हृदयस्थ
अः	...	समुच्चार	क्ष	...	प्रभा
कवर्ग-चवर्ग	...	दोनों हाथ	≍ क	...	जिह्वा
टवर्ग-तवर्ग	...	दोनों पाद	≍ प	...	ओष्ठद्वय[1]

उपर्युक्त के अतिरिक्त वर्णों के नक्षत्र तथा राशि का भी निर्देश है।

वर्ण		नक्षत्रादि	वर्ण		नक्षत्रादि
अ, आ	...	अश्विनी	ड	...	निष्ठ्या (स्वाती)
इ	...	भरणी	ढ, ण	...	विशाखा
ई, उ, ऊ	...	कृत्तिका	त, थ, द	...	मैत्र (अनुराधा)
ऋ, ॠ, ऌ, ॡ	...	रोहिणी	ध	...	ऐन्द्र (ज्येष्ठा)
ए	...	मृगशिरा	न, प, फ	...	मूल
ऐ	...	आर्द्रा (रौद्र)	ब	...	पूर्वाषाढ
ओ, औ	...	पुनर्वसु (अथवा पुष्य)	भ	...	उत्तराषाढ
क	...	पुष्य	म	...	अभिजित (श्रवणा)
ख, ग	...	अश्लेषा	य, र	...	श्रविष्ठा
घ, ङ	...	मघा (मखा)	ल	...	शतभिष
च	...	अर्यमा (पूर्वा)	व	...	अज (प्रोष्ठपद)
छ, ज	...	भर्गदैवत (उत्तरा)	श, ष, स	...	एकपात (उत्तराभाद्रपद)
झ, ञ	...	सावित्र (हस्त)	अं, अः, ल, क्ष, त्र, ज्ञ	...	अहिर्बुध्न्य (रेवती)
ट, ठ	...	इन्द्राधिदैवत (चित्रा)			

१. श्रीप्रश्नसंहिता, ५१.३३—४५

इस क्रम में अकारादि वर्णों से मेषादि तत्तद्राशियों का सम्बन्ध भी बताया गया है। अर्थात् अकारादि वर्णों की अधोलिखित राशियाँ होती हैं :

१. अ, आ, इ, ई	...	मेष,	७. कवर्ग	...	तुला
२. उ, ऊ, ऋ, ॠ	...	वृष,	८. चवर्ग	...	वृश्चिक
३. लृ, लॄ	...	मिथुन	९. टवर्ग	...	धनुर्
४. ए, ऐ	...	कर्क	१०. तवर्ग	...	मकर
५. ओ, औ	...	सिंह	११. पवर्ग	...	कुम्भ
६. अं, अः, शवर्ग	...	कन्या	१२. यादि	...	मीन[१]

प्रपञ्चसार-तन्त्र में भी वर्णों के राशियों तथा नक्षत्रों से प्रायः इसी प्रकार सम्बन्ध प्रदर्शित किये गये हैं।[२] श्रीप्रश्नसंहिता में वर्णों के साथ नक्षत्रों का जो सम्बन्ध दिखाया गया है, वह सामान्यतः स्पष्ट है। केवल अन्तिम तीन वर्णों के विषय पूर्ण स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। ग्रन्थ के अनुसार 'अहिर्बुध्न्यस्त्रयोवर्णा' कहा गया है। परन्तु, ये तीन वर्ण अं, अः तथा ल हैं या क्ष, त्र तथा ज्ञ—यह स्पष्ट नहीं किया गया है।[३] प्रपञ्चसार में जो एक बात नई कही गई है, वह है उपर्युक्त वर्णों (नक्षत्रों) का तत्तद्राशिज होना।[४]

इस प्रकार पाञ्चरात्रागम के अनुसार मातृका के स्वरूप को एक मनुष्य की आकृति की तरह कल्पित देखते हैं। उसी तरह उनके वर्णों के नक्षत्र तथा राशि की भी कल्पना की गई है।

पाञ्चरात्रागम की कुछ संहिताओं में मन्त्रोद्धार के क्रम में मातृकाओं के तत्तद्वर्गस्थ वर्णों का निर्देश करते हुए मन्त्रों का स्वरूपोद्धार इस प्रकार प्रदर्शित है : नारदीय संहिता ने वासुदेव आदि मन्त्रों के उद्धार-क्रम में मातृकाओं को आठ वर्ग में विभक्त होना कहा है। मन्त्रोद्धार के प्रारम्भ में इन मातृका-वर्गों की पूजा की जानी चाहिए।[५] यद्यपि ये आठ वर्ग यहाँ स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट नहीं हैं, तथापि आगे मन्त्रोद्धार-क्रम के आलोडन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम वर्ग में स्वर वर्णों का समावेश है। स्वर-वर्ग (प्रथम वर्ग) में ओकार का क्रम त्रयोदश है। 'ओ' वर्ण के उद्धार के क्रम में नारदीय संहिता कहती है—'षष्ठान्तं प्रथमाद्वर्गात् त्रयोदश समन्वितम्'।[६] षष्ठ वर्ग अर्थात् पवर्ग का अन्त 'मकार'। प्रथम वर्ग के त्रयोदश वर्ण से समन्वित होना चाहिए। अकार से प्रारम्भ कर परिगणन करने पर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) ओकार ही तेरहवाँ वर्ण आता है। यहाँ मन्त्रस्थ अन्यान्य वर्णों के उद्धार के लिए जो क्रम स्वीकार किया गया है, उसके आधार पर प्रथम वर्ग स्वर वर्ण, द्वितीय वर्ग कवर्ग, तृतीय वर्ग चवर्ग, चतुर्थ वर्ग टवर्ग,

१. श्रीप्रश्नसंहिता, ५१.५१—६०
२. प्रपञ्चसार, पटल ४; श्लोक ३४-३५
३. श्रीप्रश्नसंहिता ५१. ५०
४. मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० १८२
५. नारदीय संहिता, ३.२
६ वही, ३.३

पञ्चम वर्ग तवर्ग, षष्ठ वर्ग पवर्ग, सप्तम वर्ग य र ल व तथा अष्टम अर्थात् अन्तिम वर्ग श ष स ह का है—ऐसा आसानी से जाना जा सकता है। नारदीय संहिता में इस क्रम में (मन्त्रोद्धार-क्रम में) वर्गों की संख्या तथा उनके अन्तर्गत आनेवाले वर्णों के परिगणन के अनुसार स्थान-क्रम का निर्देश करते हुए मन्त्र उद्धृत हुए हैं। इस विषय की स्पष्टता के हेतु एक पूर्ण मन्त्र के उद्धार-क्रम का वर्णन यहाँ अधिक समीचीन होगा। जैसे—कहा गया है, 'प्रणवं पूर्वमुद्धृत्य' अर्थात् सर्वप्रथम प्रणव का उद्धार अथवा उल्लेख किया जाय, जिसका स्वरूप होगा 'ओं'। उसके बाद 'पञ्चमात् ऊर्ध्वमुद्धरेत' अर्थात् पञ्चम वर्ग तवर्ग से अन्त का अर्थ हुआ 'नकार' का उद्धार किया जाय। स्वरूप होगा 'ओं न'। उसके पश्चात् षष्ठान्त का तात्पर्य होगा, पवर्ग का अन्तिम वर्ण मकार। 'प्रथमाद्वर्गात् त्रयोदश समन्वितम्' अर्थात् प्रथम वर्ग स्वर-वर्ग, उसका त्रयोदश 'ओकार'। अब प्रथम के त्रयोदश से समन्वित षष्ठ का अन्त होगा 'मो'। मन्त्र का अबतक उद्धृत रूप होगा 'ओं नमो'। पुनः कहते हैं 'षष्ठाच्चतुर्थं वर्णं तु', इससे षष्ठ वर्ग के चतुर्थ वर्ण के उद्धार से 'भकार' का उल्लेख इष्ट है। उसके बाद 'द्वितीयात्तु तृतीयकम्' अर्थात् द्वितीय वर्ग कवर्ग और उसका तृतीय वर्ण 'गकार'। फिर 'अन्त्यं च सप्तमाद्वर्गात्' में सप्तम वर्ग से तात्पर्य है 'यकारादि चार वर्ण', और उसका अन्त्य वर्ण होगा व'। उसके बाद ''पञ्चमात् प्रथमं ततः' से पञ्चम वर्ग होगा तवर्ग, उसका प्रथम वर्ण है 'तकार', वह 'प्रथमैकादश संयुतम्' अर्थात् स्वर-वर्ग के एकादश वर्ण से समन्वित अर्थात् एकार युक्त 'ते' होता है। पुनः सप्तमान्तमुद्धरेत्, कहकर 'व' के उद्धार का निर्देश किया गया है। वह 'वकार' को 'द्वितीयेन च संयुक्तं प्रथमाद्वै' कहकर स्वर-वर्ग के द्वितीय वर्ण अर्थात् 'आ' से संयुक्त होना कहा है। पूर्ण वर्ण होगा 'वा'। उसके बाद कहा गया है—'तृतीयमष्टमाद्वर्णमाद्यात्पञ्चम संयुतम्'। अष्टम वर्ग का तृतीय वर्ण 'स' होता है और वह आदि वर्ग अर्थात् स्वर-वर्ग के पञ्चम अर्थात् 'उकार' से युक्त होगा। अन्ततः रूप होता है 'सु'। पुनः 'तृतीयमष्ट-माद्वर्णमाद्यात्पञ्चम संयुतम्' कहकर 'दे' वर्ण का उल्लेख अभीष्ट है। 'सप्तमान्तयुतं पश्चात् द्वितीयेनादिवर्गतः' कथन के अनुसार पुनः 'वा' वर्ण के उल्लेख का निर्देश है। अन्त में 'सप्तमात् प्रथमं चैव' कहकर 'यकार' का उद्धार विहित है। इस प्रकार एक-एक वर्ण के उद्धार से बना हुआ पूर्ण मन्त्र इस रूप में उद्धृत होता है—'ओं नमो भगवते वासुदेवाय'।[1] इसी क्रम से नारदीय संहिता में अनेक मन्त्र उद्धृत हैं। कई अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी इस प्रकार मन्त्रों का उद्धार किया गया है।[2]

मन्त्रोद्धार-विधि के अतिरिक्त जयाख्य तथा विश्वामित्र-संहिताओं में मातृकाओं को वर्गों में विभक्त कर तत्तद्वर्गस्थ एक-एक वर्ण की विविध संज्ञाएँ दी गई हैं। मन्त्रोद्धार-क्रम में उन-उन वर्णों का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं कर उनको दी गई संज्ञाओं का ही उल्लेख

---

१. नारदीय संहिता, ३.३—८

२. (i) विष्वक्सेन-संहिता, १२.१२—४४
   (ii) जयाख्य-संहिता, पट० ६—७
   (iii) ईश्वर-संहिता, अ० २३, अनेक स्थल

किया गया है। जयाख्य-संहिता में निर्दिष्ट वर्णों की संज्ञाएँ अधोलिखित रूप में देखते हैं :

प्रथम वर्ग :

वर्ण	संज्ञाएँ	वर्ण	संज्ञाएँ
अ ...	१. अप्रमेय	ए ...	१. त्र्यस्र
	२. प्रथम		२. जगद्योनि
	३. व्यापक		३. अविग्रह
आ ...	१. आदिदेव	ऐ ...	१. ऐश्वर्य
	२. आनन्द		२. योगधाता
	३. गोपन		३. समैरावण
इ ...	१. राम	ओ ...	१. ओतदेह
	२. इष्ट		२. ओदन
	३. इद्ध		३. विक्रमी
ई ...	१. पञ्चबिन्दु	औ ...	१. और्व
	२. विष्णुमाया		२. भूधर
	३. द्विजाधिप		३. ओषध
उ ...	१. भुवन	अं ...	१. त्रैलोक्यैश्वर्यद
	२. उद्दाम		२. व्यापी
	३. उदय		३. व्योमेश
ऊ ...	१. ऊर्ज	अः ...	१. सृष्टिकृत
	२. लोकेश		२. अकार
	३. प्रज्ञाधार		३. परमेश्वर

द्वितीय वर्ग :

वर्ण	संज्ञाएँ	वर्ण	संज्ञाएँ
ऋ ...	१. सत्य	क ...	१. कमल
	२. ऋतधामा		२. कराल
	३. अंकुश		३. प्रकृतिपरा
ॠ ...	१. विष्टर,	ख ...	१. खर्वदेह
	२. ज्वाला		२. वेदात्मा
	३. प्रसारण (प्रधा)		३. विश्वभावन
ऌ ...	१. लिङ्गात्मा	ग ...	१. गदध्वंसी
	२. भगवान्		२. गोविन्द
	३. तारक		३. गदाधर
ॡ ...	१. दीर्घघोण	घ ...	१. घर्मांशु
	२. देवदत्त		२. तेजस्वी
	३. विराट्		३. दीप्तिमान्

वर्ग		संज्ञाएँ
ङ	...	१. एकदंष्ट्र
		२. भूतात्मा
		३. विश्वभावक

तृतीय वर्ग :

च	...	१. चञ्चल
		२. चक्री
		३. चन्द्रांशु
छ	...	१. छलविध्वंसी
		२. छन्द
		३. छन्दःपति
ज	...	१. अजित
		२. जन्महन्ता
		३. शाश्वत
झ	...	१. झस
		२. सामात्मा
		३. सामपाठक
ञ	...	१. उत्तम
		२. ईश्वर
		३. तत्त्वसाधक

चतुर्थं वर्ग :

ट	...	१. चान्द्री
		२. आह्लाद
		३. विश्वाप्यायन
ठ	...	१. कौस्तुभ
		२. नेमि
		३. धाराधर
ड	...	१. दण्डधार
		२. मौसल
		३. अखण्ड विग्रह
ढ	...	१. विश्वरूप
		२. वृषकर्मा
		३. प्रतर्दन
ण	...	१. अभयद
		२. सास्ता
		३. वैकुण्ठ

वर्ग		संज्ञाएँ

पञ्चम वर्ग :

त	...	१. तललक्षा
		२. वैराज
		३. स्रग्धर
थ	...	१. धन्वी
		२. भुवनपाल
		३. सर्वरोधक
द	...	१. दत्तावकाश
		२. दमन
		३. शान्तिद
ध	...	१. शाङ्गधृत
		२. हर्त्ता (हामा)
		३. माधव
न	...	१. नर
		२. नारायण
		३. पन्था

षष्ठ वर्ग :

प	...	१. पद्मनाभ
		२. पवित्र
		३. पश्चिमानन
फ	...	१. फुल्लनयन
		२. लाङ्गली
		३. श्वेत
ब	...	१. वामन
		२. ह्रस्व
		३. पूर्णाङ्ग
भ	...	१. भल्लायुध
		२. सिद्धिप्रद
		३. ध्रुव
म	...	१. मर्दन
		२. काल
		३. प्रधान

वर्ग	संज्ञाएँ	वर्ग	संज्ञाएँ
सप्तम वर्ग :			२. शान्त
य ...	१. चतुर्गति		३. पुण्डरीक
	२. सूक्ष्म	ष ...	१. नृसिंह
	३. शङ्ख		२. अग्निरूप
र ...	१. अशेषभुवनाधार		३. भास्कर
	२. अनल	स ...	१. अमृत
	३. कालपावक		२. तृप्ति
ल ...	१. विबुध		३. सोम
	२. धरेश	ह ...	१. सूर्य
	३. पुरुषेश्वर		२. प्राण
व ...	१. वराह		३. परमात्मा
	२. अमृतधारा	अन्तिम वर्ग :	
	३. वरुण	क्ष ...	१. अनन्तेश
अष्टम वर्ग :		त्र ...	?
श ...	१. शंकर	ज्ञ ...	१. गरुड़[1]

इस प्रकार जयाख्य-संहिता ने अकार से हकार तक सभी वर्णों में एक-एक वर्ण के तीन-तीन नाम-निर्देश किये हैं। उसके बाद कहा गया है—'अनन्तेशः क्षकारस्तु वर्गान्तो गरुडः स्मृतः'। अष्टम वर्ग के अनन्तर केवल क्षकार का नाम-निर्देश किया है। वर्गान्त शब्द से किस वर्ण की विवक्षा है, यह स्पष्ट नहीं है। ग्रन्थ में 'ञ' के स्थान में ज्ञ का निर्देश अवश्य देखते हैं। वर्गान्त कथन से कदाचित् 'त्र' वर्ण विवक्षित हो; क्योंकि 'त्र' वर्ण का नाम-निर्देश कहीं नहीं देखते। परन्तु स्पष्ट प्रमाण के अभाव में पूर्ण निश्चय के साथ यह भी कहना कठिन है।

विश्वामित्र-संहिता ने भी मातृका के अन्तर्गत आये वर्णों की प्रायः इसी प्रकार संज्ञाएँ दी हैं।[2] ये संज्ञाएँ भी सामान्य रूप से जयाख्य-संहिता में दी गई संज्ञाओं के समान हैं, परन्तु कुछ स्थलों में किंचित् भेद भी दृष्टिगोचर होता है। जयाख्य ने 'ओं' के लिए कोई पृथक् नाम-निर्देश नहीं किया है, जबकि विश्वामित्र-संहिता में 'ओं' के लिए ये छह नाम बताये गये हैं : १. प्रणव, २.ब्रह्मकोष, ३. ब्रह्म, ४. उद्गीथ, ५. तारक तथा ६. छन्दसामादि। जयाख्य की तरह विश्वामित्र-संहिता ने भी अकार की तीन संज्ञाओं का उल्लेख किया है, पर इन तीनों में दो समान हैं और एक भिन्न है। जयाख्य में

१. जयाख्य-संहिता, पटल ६.३२—५८
२. विश्वामित्र-संहिता, ८.१८—४५

जहाँ 'व्यापक' कहा गया है, वहाँ विश्वामित्र में 'विष्णु' कहा गया है। इसी प्रकार अन्य कई वर्णों की संज्ञाओं में भी थोड़ा-बहुत भेद देखते हैं।

प्रथम वर्गस्थ अकारादि विसर्गान्त वर्ण 'अग्निसोमात्मक' कहे गये हैं। कादिमान्त व्यञ्जन वर्ण क्रमशः क्ष्मादिपुरुषान्ततत्त्वात्मरूप से परमेश्वर के द्वारा अधिष्ठित कहे गये हैं। य, र, ल तथा व—ये चार वर्ण क्रमशः जाग्रदाद्यवस्थात्मना एवं शादिक्षान्त वर्ण तूर्यातीत रूप से अधिष्ठित कहे गये हैं।

इसका विस्तृत रूप अधोलिखित हो सकता है :

अग्निसोमात्मक वर्ण :

अ, आ, इ, ई,
उ, ऊ, ऋ, ॠ,
ऌ, ॡ, ए, ऐ,
ओ, औ, अं, अः।

क्ष्मादिपुरुषान्ततत्त्वात्मनाधिष्ठित वर्ण :

वर्ण	...	तत्त्व
क	...	क्ष्मा
ख	...	आप
ग	...	तेज
घ	...	वायु
ङ	...	आकाश
च	...	गन्धतन्मात्रा
छ	...	रसतन्मात्रा
ज	...	रूपतन्मात्रा
झ	...	स्पर्शतन्मात्रा
ञ	...	शब्दतन्मात्रा
ट	...	उपस्थ
ठ	...	पायु
ड	...	पाद
ढ	...	पाणि
ण	...	वाक्
त	...	घ्राण
थ	...	रसना
द	...	चक्षु
ध	...	त्वक्
न	...	श्रोत्र
प	...	मन
फ	...	अहंकार
ब	...	महान्
भ	...	प्रकृति
म	...	पुरुष

जाग्रदाद्यवस्थात्मनाधिष्ठित वर्ण :

य	...	जाग्रत्
र	...	स्वप्न
ल	...	सुषुप्ति
व	...	तूर्य
श	...	तूर्यातीत
ष	...	तूर्यातीत
स	...	तूर्यातीत
ह	...	तूर्यातीत
क्ष	...	तूर्यातीत[1]

---

१. (i) जयाख्य-संहिता, ६.१०—१८
(ii) वही, ६.२२४

नारदीय संहिता ने मूर्त्ति-प्रतिष्ठा के क्रम में मूर्त्तिमन्त्र-वर्णन करते हुए मकारादि कुछ वर्णों का व्युत्क्रम से तत्तत् तत्त्वरूपत्व होना कहा है। वे अधोलिखित हैं :

वर्ण		तत्त्व	वर्ण		तत्त्व
म	...	जीवभूत	ण	...	श्रोत्र
भ	...	प्राणभूत	ढ	...	पाणि
ब	...	बुद्धिभूत	ड	...	पाद
फ	...	अहंकार	ठ	...	पायु
प	...	संकल्प (मन)	ट	...	उपस्थ
न	...	शब्दतन्मात्र	ञ	...	श्रोत्र
ध	...	स्पर्शतन्मात्र	झ	...	त्वक्
द	...	रूपतन्मात्र	ज	...	नेत्र
थ	...	रसतन्मात्र	छ	...	जिह्वा
त	...	गन्धतन्मात्र	च	...	घ्राण
			क	...	पृथिवी
			ख	...	तेजस्

यहाँ व्युत्क्रम रूप से म से आरम्भ कर ख पर्यन्त वर्णों के तत्त्वरूप का सामान्य ज्ञान होता है। पर ग, घ, ङ आदि वर्णों के तत्त्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं दीखता।[१] यहाँ इस वर्णन के क्रम में तत्तद्वर्णों का तत्तद्देवाङ्गों में न्यास का निर्देश किया गया है। इन वर्णों (अक्षरों) के न्यास से वास्तविक रूप में क्या अभीप्सित है, यह स्पष्ट नहीं कहा गया है। परन्तु, ऐसा लगता है कि अक्षरों के अक्षरत्व-कारण से मूर्त्तियों को भी अक्षर करने के लिए इन अक्षरों का मूर्त्तियों के तत्तदङ्गों में विधिवत् न्यास किया जाता है।

मन्त्रोद्धार-क्रम में कुछ पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों ने मातृकापीठ के निर्माण का निर्देश किया है। उस पीठ में मातृका-चक्र के कल्पन का वर्णन देखते हैं।[२] शुद्ध भूमि भाग को गोमय से लीपकर, पञ्चगव्य से संसिक्त कर तथा चन्दनादि द्रव्यों का उपलेप कर मातृकापीठ का कल्पन होता है। निवात स्थल में सुसंच्छन्न स्थान को धूपादि से अधिवासित करते हैं तथा विविध पुष्पों से उसकी पूजा करते हैं। उसके ऊपर चतुरस्र या सुवृत्त दो हाथ अथवा एक हाथ का पीठ बनाते हैं। कल्पित पीठ सुसम होता है।[३] उसी मनोरम पीठ पर मन्त्रोद्धार के लिए मातृकाओं के उल्लेख का विधान है। मणियों को जैसे एक

---

१ नारदीय संहिता, १५.१०६—११३

२. (i) ईश्वर-संहिता, २३.६२—७१
(ii) वही, २३ २७४—२८०
(iii) श्रीप्रश्न-संहिता, ५१.३३-३४
(iv) जयाख्य-संहिता, पट० ६.२६—२९

३. (i) श्रीप्रश्न-संहिता, ५१.२७—३०
(ii) जयाख्य-संहिता, पट० ६.५—९

सूत्र में पिरोया जाता है उसी प्रकार अव्ययात्मक भगवान्-रूपी सूत्र में ये मातृकाएँ मणियों की तरह स्थित होती हैं।[1] मातृका-पीठ का स्वरूप चक्राकार अथवा पद्म के आकार का होता है। इन दोनों स्वरूपों में यह व्यावहारिक भेद होता है कि पुरुष-मन्त्रोद्धार के लिए चक्ररूप मातृका-पीठ तथा स्त्री-मन्त्रोद्धार के लिए पद्मरूप मातृका-पीठ का कल्पन किया जाता है।[2] उदाहरण के लिए कुछ संहिताओं में निर्दिष्ट चक्रादियों का उल्लेख यथेष्ट होगा। जयाख्य-संहिता ने अष्टार महाचक्र के कल्पन का निर्देश किया है। इस चक्र में प्रथम अकारादि क्षकारान्त अवर्गादि आठ वर्गों का उल्लेख किया जाता है। मध्य में वर्ण-चक्र प्रणव का उल्लेख किया जाता है। इस प्रकार मातृका-चक्र की स्थापना कर उसकी विधिवत् पूजा की जाती है। पूजाक्रम में एक-एक वर्ण का पाद्य अर्घ्य आदि के द्वारा पृथक्-पृथक् अर्चन करते हैं।[3] मातृका-चक्र का कल्पित रूप यथास्थान इसी निबन्ध में देखा जा सकता है। श्रीप्रश्न-संहिता ने इस प्रसंग में षोडशार मातृका-चक्र का निर्देश किया है। यह चक्र नाभि, नेमि तथा अरयुक्त होता है। नाभि, नेमि तथा अर की रेखाएँ चन्दन-क्षोद के द्वारा पीठ पर कल्पित होती हैं। मध्य में प्रणव (ओंकार) का उल्लेख होता है। नाभि-प्रदेश में स्पर्शवर्णों का निर्देश तथा नेमि-देश में 'य' आदि वर्णों का उल्लेख किया जाता है। इस क्रम से मातृका-वर्णों का उल्लेख कर उसकी पूजा का विधान किया गया है। वहाँ पीठ पर कर्णिका के बीच वर्ण-मातृका का ध्यान विहित है।[4] ईश्वर-संहिता में विहित मातृका-चक्रों का निर्देश अधोलिखित रूप में है। यहाँ एक चक्र द्वादशार चक्र के रूप में वर्णित है। इस चक्र के नाभि, अर तथा नेमि, तीनों में मातृकाओं का उल्लेख विहित है। मध्य में ओंकार (प्रणव) का उल्लेख कर नाभि-भाग में षोडश स्वर वर्णों के उल्लेख का विधान है। द्वादश अरों पर पूर्व से प्रारम्भ कर एक-एक अर पर कादि दो-दो व्यञ्जन वर्णों के उल्लेख का निर्देश किया गया है। इस प्रकार यहाँ बारह अरों पर चौबीस स्पर्श वर्णों की स्थिति होती है। उसके बाद स्पर्श का मकार तथा अन्तस्थ एवं ऊष्म वर्णों का उल्लेख नेमिक्षेत्र में किया जाता है। क्षकार का उल्लेख सर्वापेक्षया बहिर्भाग-पीठ की पूर्व दिशा में किया जाता है।[5] ईश्वर-संहिता ने एक दूसरे मातृका-पीठ का वर्णन भी किया है। इस वर्णन के अनुसार द्वादशार चक्र की जगह षोडशार चक्र की कल्पना विहित है। षोडशार चक्र में वर्णों के उल्लेख का क्रम द्वादशार चक्र की अपेक्षा ठीक विपरीत रीति से होता है। इसके मध्यभाग-अक्ष में ङ, ञ्, ण, न तथा म—इन पाँच अनुनासिक वर्णों का उल्लेख होता है। नाभि-भाग में य, र, ल, व, श, ष, स, ह तथा क्ष—इन नौ वर्णों का स्थान कहा गया है। सोलह अरों में पूर्व दिशा से

---

१. जयाख्य-संहिता, ६.२२-२३
२. श्रीप्रश्न-संहिता, ५१.३२
३. जयाख्य-संहिता, ६.२६—२९
४. श्रीप्रश्न-संहिता, ५१.३३-३४
५. ईश्वर-संहिता, २३.६२—७१

आरम्भ कर अकारादि षोडश स्वर वर्णों का स्थान बताया गया है। उसके बाद नेमि-भाग में पूर्व दिशा से आरम्भ कर कादि (नासिक स्थानिक, अनुनासिक वर्णों को छोड़कर) बीस वर्णों का स्थान होता है। उसके पश्चात् सबसे बहिर्भाग प्रधि (पीठ) स्थान में ओंकार प्रणव का स्थान पूर्व दिशा में विहित है।[१] इन दोनों मातृका-चक्रों का स्वरूप यथास्थान देखा जा सकता है।

ऊपर पाञ्चरात्रागम के मन्त्रों में अपेक्षित मातृका-वर्णों का सामान्य विवेचन किया गया है। मातृका-वर्णन के पश्चात् पाञ्चरात्रागम में प्रयुक्त मन्त्रों (वैदिक) के प्रयोग के विषय में अपेक्षित अन्य बातों की चर्चा भी आवश्यक है। सामान्यतः पाञ्च-रात्रागम-संहिताओं में वैदिक ऋचाओं, सूक्तों तथा साम का प्रयोग विविध क्रियाओं के अवसर पर दृष्टिगोचर होता है। विशेष रूप से इन मन्त्रों का प्रयोग प्रतिष्ठादि विविध प्रयोग के अवसर पर देखा जाता है। नारदीय संहिता ने प्रायः ३२ विविध वैदिक मन्त्रों, ५ सूक्तों तथा सामों का प्रयोग विविध अवसरों पर प्रदर्शित किया है।[२] विश्वामित्र-संहिता में ४२ वैदिक मन्त्रों तथा सात अनुवाक तथा सूक्तों एवं अन्य सामादि का प्रयोग हुआ है।[३] इसी तरह विष्वक्सेन-संहिता में १२ वैदिक मन्त्रों तथा ८ सूक्तों का प्रयोग विविध अवसरों पर किया गया है।[४] अन्य संहिताओं में भी सर्वत्र वैदिक मन्त्रादिकों का प्रयोग देखा जाता है। पाञ्चरात्रिक प्रयोगों में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के विषय में विचार करते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या इन वैदिक मन्त्रों का प्रयोग पाञ्चरात्र में श्रौतकर्मों की तरह कर्म के अनुरूप अर्थ-विचारपूर्वक किया गया है? श्रौत कर्मों में प्रयुक्त मन्त्र प्रायः सर्वत्र क्रिया के अनुरूप अर्थवाले होते हैं। अर्थात् क्रियाओं के अनुरूप अर्थ-वाले मन्त्रों का प्रयोग तत्तत् क्रिया-सम्पादन के अवसर पर किया जाता है। सामान्यतः गृह्यप्रयोगों में विनियुक्त वैदिक मन्त्र भी क्रियानुरूप अर्थ-साम्यवाले होते हैं। यदा-कदा इसका अपवाद भी देखा जाता है। पाञ्चरात्रागमिक प्रक्रिया में प्रयुक्त तीन प्रकार के वैदिक मन्त्रों का विनियोग देखते हैं। जैसे—१. मन्त्रार्थानुरूप क्रिया—अर्थात् कुछ मन्त्रों का विनियोग मन्त्रार्थ के अनुरूप सर्वथा तत्तत्क्रियाओं के अनुसार होता है। २. अंशतः मन्त्रार्थानुरूप क्रिया अर्थात् कुछ क्रियाओं में विनियुक्त वैदिक मन्त्र अंशतः क्रिया के अनुरूप अर्थवाले होते हैं। ३. मन्त्रार्थाननुरूप क्रिया—अर्थात् कुछ ऐसे वैदिक मन्त्र तत्तत् पाञ्चरात्रिक क्रियाओं में विनियुक्त हैं, जिनका क्रिया के साथ किसी तरह का अर्थानुरूप्य नहीं दीखता। क्रिया में आये केवल एक-दो शब्दों के मन्त्रगत शब्द-साम्य के आधार पर तत्तत्क्रियाओं में उस मन्त्र-विशेष का विनियोग किया गया है। इस विषय को स्पष्ट रूप से देखने के लिए कुछ विस्तार के साथ इसकी चर्चा अपेक्षित है।

---

१. ईश्वर-संहिता, २३.२७४—२८०
२. नारदीय संहिता, अनुबन्ध १, पृ० ५२१-५२२
३. विश्वामित्र-संहिता, अ० ४, पृ० २९८—३००
४. विष्वक्सेन-संहिता, Index 1, पृ० ४४१-४४२

मन्त्रार्थ एवं क्रिया की अनुरूपता के लिए अधोलिखित उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। जैसे—नारदीय संहिता[१] ने 'यादिव्या'[२] इत्यादि मन्त्र का प्रयोग प्रायः जल से प्रतिमा-प्रक्षालन के लिए बताया है। सम्पूर्ण मन्त्र का स्वरूप अधोलिखित है :

यादिव्या आपः पृथिवी सम्बभूर्या अन्तरिक्ष्या उत पार्थिवीर्या।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्तान आपः शंस्योना भवन्तु॥

इसका अर्थ है : "जो दिव्य (आकाशीय) जल पृथिवी पर उत्पन्न हुआ, जो अन्तरिक्ष से सम्बद्ध है और जो पार्थिव है, वह सुवर्ण वर्णवाला यज्ञ के योग्य जल हमारे लिए कल्याणास्पद तथा सुखोत्पादक हो।" तै० ब्राह्मण में इस मन्त्र का विनियोग राज्याभिषेक के अवसर पर राजा के ऊपर जलाभिषेक के लिए किया गया है।[३] इस मन्त्र में जल की विशेषता के वर्णन के साथ उसकी स्तुति की गई है। नारदीय संहिता में भी तै० ब्राह्मण की तरह अभिषेक के क्रम में ही जल की विशेषता तथा उसके गुण-कीर्त्तनपरक मन्त्र का विनियोग युक्तिसंगत कहा जा सकता है। तै० ब्राह्मण में राजा के अभिषेक का अवसर है, पर यहाँ पाञ्चरात्रागम में प्रतिमा के अभिषेक का। फिर भी दोनों में अवसर समान ही हैं।

नारदीय संहिता में गर्भाधान के क्रम में 'विष्णुर्योनि' इत्यादि मन्त्र का विनियोग कहा गया है।[४] मन्त्र का पूर्णरूप निम्नलिखित है :

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टारूपाणि पिंशतु। आसिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वती। गर्भं ते अश्विनौ देवा वाधत्तां पुष्कर अजा।
हिरण्मयी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥[५]

इसका अर्थ है—"विष्णु तुम्हारे गर्भ का निर्माण करे, त्वष्टा शिशु का रूप तैयार करे, प्रजापति (शुक्र) सिंचित करे, धाता तुम्हारा गर्भ धारण करे। हे सिनीवाली! गर्भ प्रदान करो, हे सरस्वती! गर्भ प्रदान करो, पद्ममालाधारी अश्विनीकुमार तुम्हें गर्भ प्रदान करे। जिस भ्रूण को दोनों अश्विन्देव अपनी सुवर्णमयी अरणियों से उत्पन्न करते हैं, उस भ्रूण का हम तुम्हारे उदर में आह्वान करते हैं, जिसे तुम दसवें मास में जन्म दो।" कौ० ब्राह्मण[६], श० ब्राह्मण[७] तथा बृ० उ०[८] में पुत्र-मन्थनकर्म के अन्तर्गत पति द्वारा पत्नी का स्पर्श करते हुए इन मन्त्रों के उच्चारण का निर्देश किया

---

१. नारदीय संहिता, १५.६४
२. तै० संहिता, १.४.२२.५
३. तै० ब्राह्मण, २।७।१५।४
४. नारदीय संहिता, २९.३
५. ऋ० वे०, १०.१८४.१
६. कौ० ब्रा०, ८.५
७. श० ब्रा०, १४.९.४.२०
८. बृ० उ०, ६.४.२१-२२

गया है। नारदीय संहिता ने समयी को ऋतुमती पत्नी की शुद्धि के बाद रात्रि में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ पत्नी के साथ समागम करना कहा है। पाञ्चरात्रागम में इस मन्त्र का विनियोग गृह्यसूत्रों की तरह देखते हैं। आ० गृ०[१], मं० पा०[२], वै० गृ०[३], हि० गृ०[४] में भी इस वैदिक मन्त्र का विनियोग गर्भाधान के अवसर पर किया गया है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस अवसर पर इस मन्त्र के अर्थानुरूप क्रिया में मन्त्र का प्रयोग किया गया है, जो युक्तियुक्त कहा जायगा।

नारदीय संहिता ने 'यो मे दण्ड' इत्यादि मन्त्रोच्चार के साथ उपनयन-अवसर पर ब्रह्मचारी के हाथ में पलाश-दण्ड देने का विधान किया है।[५] इस मन्त्र का स्वरूप इस प्रकार है : "यो मे दण्ड परापत द्वैहाय सोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद् आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ॥"

इस मन्त्र का अर्थ है—"मेरा आकाशीय दण्ड जो भूमि पर गिर गया है, उसे दीर्घ आयु, विद्या तथा ब्रह्मतेज के लिए पुनः ग्रहण करता हूँ।" यह मन्त्र पा० गृ० में भी इसी प्रकार दण्ड-ग्रहण के अवसर पर ब्रह्मचारी द्वारा उच्चरित होना कहा है।[६] हि० गृ० में समावर्त्तन के समय छात्र के लिए अपने गिरे हुए दण्ड को उठाते हुए इस मन्त्र का उच्चारण विहित है।[७] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस मन्त्र का विनियोग सामान्यतः नारदीय संहिता तथा गृह्यसूत्रों में समान रूप से देखा गया है। साथ-साथ क्रिया के साथ मन्त्रार्थ का आनुरूप्य भी स्पष्ट युक्तियुक्त है। इस प्रकार इन कुछ मन्त्रों के विनियोग के विवेचन से पाञ्चरात्र क्रियाओं में मन्त्रार्थानुरूप क्रियाओं में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों का उदाहरण देखा गया।

पाञ्चरात्र-क्रिया में अंशतः क्रिया के अनुरूप अर्थवाले मन्त्रों के प्रयोग के उदाहरण के रूप में अधोलिखित मन्त्र के विनियोग को देखा जा सकता है—**ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवा सः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्।**[८] नारदीय संहिता में मूर्त्ति-प्रतिष्ठा के क्रम में प्रतिमा को पीठ पर स्थिर करने के अवसर पर इस मन्त्र का विनियोग बताया गया है।[९] मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"आकाश अचल है, पृथिवी अचल है, यह सारा संसार स्थिर है। ये पर्वत स्थिर हैं। इसी प्रकार यह स्त्री भी अपने पतिकुल में स्थिर हो जाय।" गृह्यसूत्रों में विवाह के क्रम में वर अरुन्धती-दर्शन के

---

१. आ० गृ०, ३.८.१३
२. मं० पा०, १.१२.१—३
३. वै० गृ०, १.७.३७,३९,४०
४. हि० गृ०, १.२५.१
५. नारदीय संहिता, २९.१८
६. पा० गृ०, २.२.१२
७. हि० गृ०, १.११.११
८. ऋ० वे०, १०.१७३.४
९. नारदीय संहिता, १५.१८६

पश्चात् वधू को इस मन्त्र से सम्बोधित करता है।[1] इस ऋचा के द्वारा स्त्री को ध्रुव (स्थिर) होना कहा गया है। उसी क्रम में आकाशादि की स्थिरता की उपमा दी गई है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, नारदीय संहिता ने प्रतिमा को पीठ पर स्थिर करते हुए इस मन्त्र का विनियोग बताया है। जहाँ तक प्रतिमा के पीठ पर स्थिर होने की बात है, उस अंश में यहाँ मन्त्र का कुछ भाग स्थिरीकरण-क्रिया के अनुरूप अर्थ का प्रतिपादक है, पर मन्त्र में स्त्री की स्थिरतापरक जो भावार्थ है, उसके अनुरूप इस क्रिया में कुछ भी नहीं देखते। अर्थात् मन्त्र में स्त्री की स्थिरता के विधान का, प्रतिमा के पीठ में स्थिरता के प्रसंग या भाव के साथ न तो कोई आनुरूप्य ही दीखता, न औचित्य ही।

पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में तीसरे प्रकार के वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के रूप में अधोलिखित मन्त्रों को देखा जा सकता है। जैसे :

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्राद्या वा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च ॥[2]

ऋग्वेद का यह मन्त्र हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र[3] में सूर्य की उपासना के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस मन्त्र के अर्थ के अनुसार (देवताओं के पूज्य मुख, मित्र, वरुण एवं अग्नि का नेत्र उदय हो गया है। पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष को उसने माप लिया है। सूर्य स्थावर तथा जंगम सम्पूर्ण विश्व का आत्मा है।) वस्तुतः, यहाँ सूर्य-उदय-वर्णन के साथ सूर्य देवता की महानता का वर्णन देखते हैं। सूर्य की उपासना अथवा उपस्थान के अवसर पर इस मन्त्र का प्रयोग वास्तविक रूप से उपयुक्त तथा यथार्थ प्रतीत होता है। पर, पाञ्चरात्रागम में इस मन्त्र का विनियोग-मन्त्र के अर्थ के अननुरूप प्रतिमा की प्रतिष्ठा से पूर्व उसके अक्षिमोचन के अवसर पर किया गया है।[4] यहाँ प्रतिमा के अक्षिमोचन-क्रम में सूर्य देवता की स्तुतिपरक ऋचा का विनियोग गृह्यकर्म में प्रयुक्त इस मन्त्र की उपयुक्तता की तरह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आगम-ग्रन्थों ने मन्त्रस्थ कुछ शब्दों के साथ क्रियागत शब्दों की समानता के आधार पर ही तत्तत् क्रियाओं में तत्तन्मन्त्रों के विनियोग का निर्देश किया है। क्रिया तथा मन्त्रार्थ की अनुरूपता पर विचार ही नहीं किया गया है। जैसे : उपर्युक्त मन्त्र में 'चित्रं' शब्द की स्थिति के कारण चित्र अर्थात् प्रतिमा के नयनोन्मीलन के प्रसंग में 'चित्रं देवाना०' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग किया गया है। मन्त्र में 'चक्षु' शब्द का भी प्रयोग हुआ है और यहाँ इस क्रिया में चक्षु-उन्मीलन का

---

१. (i) गो० गृ०, २.३.१२
(ii) मं० ब्राह्म०, १.३.७
(iii) खा० गृ०, १.४.४

२. ऋ० वे०, १.११५.१

३. हि० गृ० सू०, १.६.६

४. (i) नारदीय संहिता, १५.६६
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, १६.११

प्रसंग है। अतः, उपर्युक्त मन्त्र का विनियोग कर अक्षिमोचन का विधान किया गया है। अन्यथा अक्षिमोचन-क्रिया तथा इस मन्त्र के अर्थ में कोई खास अर्थानुरूप्य या अन्य तरह का सारूप्य नहीं है। इसी प्रकार के कुछ अन्य मन्त्र भी विनियुक्त हुए हैं।

नारदीय संहिता ने प्रतिष्ठा तथा पवित्रोत्सव के अवसर पर 'अतो देवा' इत्यादि मन्त्र का विनियोग बताया है। ऋग्वेद तथा सामवेद में मन्त्र का पूर्ण स्वरूप निम्नांकित है :

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
पृथिव्याः सप्तधामभिः ।[१]

गृह्य तथा श्रौत उभय कर्मों में इस मन्त्र का प्रयोग हुआ है। श्रौत सूत्रों में इस मन्त्र का विनियोग विविध यागों में आहुति-समर्पणार्थ किया गया है।[२] इस मन्त्र का अर्थ है : "जहाँ पृथ्वी के सात स्थानों (द्वीपों) पर विष्णु ने संक्रमण किया वहाँ देवता हमारी रक्षा करें।" जहाँ तक गृह्यसूत्रों में इस मन्त्र के विनियोग का प्रश्न है, वहाँ आग्रा-यणी व्रताचरण के अवसर मे व्रती के कुशास्तरण से उठने के क्रम में उसके सभी कुटुम्बियों द्वारा इस मन्त्र के उच्चारण का विधान है।[३] नारदीय संहिता ने बिम्ब-प्रतिष्ठा के क्रम में आचार्य तथा यजमान के द्वारा देव-बिम्ब के साथ आलय-प्रवेश के अवसर पर इस मन्त्र का विनियोग बताया है।[४] इस मन्त्र का दूसरी जगह पवित्रारोपण के अवसर पर विनियोग किया गया हैं। इस मन्त्र के द्वारा देवों तथा मण्डलों को पवित्र समर्पण करते हैं।[५] इस प्रकार श्रौत, गृह्य तथा पाञ्चरात्र-प्रक्रियाओं में भिन्न-भिन्न अवसरों पर इस मन्त्र का विनियोग हुआ है। मन्त्रार्थ के अनुसार सामान्य रूप से देवताओं से रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। देव-प्रतिमा को प्रतिष्ठा के लिए ले जाते समय तथा देवताओं एवं मण्डलों को पवित्र-समर्पण के समय जो क्रियाएँ होती हैं, उनके साथ मन्त्रार्थ का आनुरूप्य नहीं देखते। अतः हम कह सकते हैं कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में 'अतो देवा' इत्यादि मन्त्र का विनियोग क्रिया के साथ मन्त्रार्थानुरूप्य की दृष्टि से युक्तियुक्त या तर्क-संगत नहीं है। यहाँ देवताओं को ले जाते समय मन्त्रस्थ देव शब्द का साम्य ही सामान्यतः इस अवसर पर मन्त्र के विनियोग में हेतु कहा जा सकता है।

नारदीय संहिता में बिम्ब के नेत्रोन्मीलन के अनन्तर पात्र में आज्य लाकर मधु के सम्मिश्रण के अवसर पर 'मधुवाता' इत्यादि मन्त्र का विनियोग निर्दिष्ट है।[६] मन्त्र का पूर्ण स्वरूप अधोलिखित है :

---

१. (i) ऋग्वेद, १।२२।१६
(ii) सामवेद, १६७४
२. (i) आ० श्रौ०, १ ११.१३; ६.७.२
(ii) शां० श्रौ०, १३.७.५
३. आ० गृ०, २.३.१०
४ नारदीय संहिता, १५.१८४
५. वही, २३.६३
६. नारदीय संहिता, १५.६५

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधुद्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।[१]

इस मन्त्र का अर्थ है—"ऋत पर आचरण करनेवाले व्यक्ति के लिए पवन माधुर्ययुक्त होता है। नदियाँ मधुमय बहती हैं। हमारे लिए ओषधियाँ मधुमय हों। रातें मधुर हों, उषाएँ मधुर हों और पिता आकाश मधुर हो। हमारे लिए वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो तथा गाएँ भी मधुर हों।" आ० गृ० अनुसार इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अतिथि को मधुपर्क-दर्शन कराने का विधान है।[२] श्रौत सूत्रों में वेदी-चयन के अवसर पर मधुमिश्रित दधि के द्वारा कूर्म के अभिलेप की क्रिया के साथ इस मन्त्र के उच्चारण का निर्देश है।[३] नारदीय संहिता के वर्णन के अनुसार नेत्रोन्मीलन के पश्चात् मधुपर्क-प्रदर्शन के लिए मधु तथा आज्य का सम्मिश्रण युक्तियुक्त है, पर इस मन्त्र के अर्थ के साथ इस क्रिया आनुरूप्य या सम्बन्ध कितना युक्तियुक्त है, यह चिन्तनीय है। इस मन्त्र में मधुपर्क-प्रदर्शन की चर्चा भी नहीं देखते। मधुपर्क में मधु की स्थिति के कारण इस क्रिया में मधु शब्दयुक्त मन्त्र का विनियोग किया गया है। जहाँ तक मधुपर्क-प्रदर्शन का प्रश्न है, इस दृष्टि से यह अवसर गृह्यसूत्र में निर्दिष्ट प्रयोग के कुछ समान है। गृह-प्रयोग में अतिथि के लिए इसके प्रदर्शन का निर्देश है, जबकि नारदीय संहिता में बिम्ब के समक्ष इसके प्रदर्शन का विधान है।

प्रतिष्ठा से पूर्व सुवर्ण-सलाका द्वारा प्रतिमा का अक्षिमोचन विहित है। इस अवसर पर नारदीय संहिता[४] के अनुसार अधोलिखित मन्त्र का विनियोग कहा गया है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दधार पृथ्वीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम।[५]

इसका अर्थ इस प्रकार है : "सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ हुआ, और उत्पत्ति के बाद ही वह उत्पन्न प्राणिमात्र का एक ही पालक था। उसने इस पृथ्वी तथा द्युलोक को धारण किया है। वह सुखस्वरूप है और हम उसके लिए आहुति द्वारा यज्ञ करें।" अर्थ के अनुसार

---

१. (i) ऋ० वे०, १.९.६—८
(ii) वा० सं०, १३.२७—२९
(iii) तै० सं०, ४.२.९.३
(iv) मै० सं०, २.७.१६
२. आ० गृ०, १.२४.१४
३. (i) आप० श्रौ०, १६.२५.१
(ii) का० श्रौ०, १७.४.२७
(iii) मा० श्रौ०, ६.१.७.२२
४. नारदीय संहिता १५.६५
५. ऋ० वे० १०.२१.१;

यह मन्त्र हिरण्यगर्भ की स्तुतिपरक है। पा० गृ०[1] तथा वा० गृ०[2] में पुंसवन के अवसर पर पति द्वारा पत्नी के दक्षिण-नासिका-रन्ध्र में न्यग्रोध की जड़ तथा अंकुर के रस से सेचन के अवसर पर इस मन्त्र का विनियोग कहा गया है। मन्त्रार्थ के अनुरूप इस सेचन-क्रिया की कोई खास संगति नहीं दीखती। मन्त्र में दृष्ट 'गर्भ' तथा 'जात' शब्दों के आधार पर ही प्रायः इस मन्त्र को पुंसवन से सम्बद्ध किया गया है। मा० गृ० में इस मन्त्र का प्रयोग वैवाहिक आहुतियों के साथ हुआ है।[3] नारदीय संहिता में भी बिम्बनेत्रोन्मीलन के अवसर पर प्रयुक्त इस मन्त्र का उन्मीलन-क्रिया के साथ किसी प्रकार का अर्थानुरूप्य नहीं कहा जा सकता। केवल सुवर्ण-सलाका के साथ 'हिरण्य' शब्द की समानता के कारण इस क्रिया में 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि मन्त्र का विनियोग हुआ है। अन्यथा इस अक्षिमोचन-रूप क्रिया में इस मन्त्र के विनियोग में कोई खास महत्त्वपूर्ण युक्तियुक्त संगति नहीं दीखती।

प्रतिमा के नेत्रोन्मीलन के पश्चात् कलशादि के द्वारा उसके स्नपन-क्रम में बिम्ब के शिर पर आमलक देते हैं और उस अवसर पर 'मानस्तोके' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग हुआ है।[4] मन्त्ररूप निम्नांकित है :

मानस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान् मा नो रुद्र भामितोवधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ॥[5]

इसका अर्थ है : "हे रुद्र ! हमारे पौत्रादिकों, पुत्रों, आयु, गायों तथा अश्वों के प्रति हिंसा मत करो, हमारे पराक्रमी तथा वर्चस्वी मनुष्यों का वध मत करो। हिंसा से रहित हम सदा यज्ञ करते हुए तुम्हारा आह्वान करें।" यह मन्त्र शतरुद्रीय स्तोत्र का अंश है। तै० ब्रा०[6]; तै० आ०[7] तथा मा० श्रौ[8] में इस मन्त्र का विनियोग सामान्य आहुति प्रदान के अवसर में देखते हैं। अर्थात् श्रौतप्रक्रिया में रुद्र की स्तुति के साथ उसके लिए आहुति प्रदान करते हुए इस मन्त्र का विनियोग हुआ है, जो सामान्यतः मन्त्रार्थ के अनुरूप प्रतीत होता है। परन्तु, नारदीय संहिता में प्रतिमा के शिर के ऊपर आमलक देते हुए प्रयुक्त इस मन्त्र का इस क्रिया के साथ आनुरूप्य कहाँ तक युक्तियुक्त कहा जा सकता है, यह चिन्त्य है।

ये कुछ उदाहरण यहाँ देखे गये। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि क्रिया के साथ जिन वैदिक मन्त्रार्थों का आनुरूप्य नहीं है, वैसे स्थलों में अर्थाननुरूप वैदिक मन्त्रों

---

१. पा० गृ०, १.४. ३
२. वा० गृ०, १६.१
३. मा० गृ०, १. १०. १०
४. नारदीय संहिता, १५.७०
५. ऋ० वे०, १.११४.८
६. तै० ब्रा०, २.८.६.६
७. तै० आ०, १०.५३
८. मा० श्रौ०, ११.२.६

का विनियोग शुभार्थक प्रार्थनामूलक रूप में स्वीकारा गया होगा। वस्तुतः पाञ्चरात्रागम के अवेदमूलकत्व-दोष-परिहार के लिए भी मन्त्रार्थ अनुकूलता तथा संगति के विना भी बहुत-सारी क्रियाओं में वैदिक मन्त्रों का विनियोग किया गया हो सकता है।

पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में प्रयुक्त वैदिक मन्त्रों की चर्चा के क्रम में विविध पाञ्चरात्र-संहिताओं में किये गये वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का संक्षेप तुलनात्मक विचार अपेक्षित है। इस क्रम में विचार करने पर देखते हैं कि पाञ्चरात्र के प्राचीनतम संहिता-ग्रन्थों में अर्वाचीन संहिताओं की अपेक्षा वैदिक मन्त्रों का प्रयोग नगण्य है। पौष्कर तथा जयाख्य-संहिताओं में कदाचित् ही किसी कर्म-सम्पादन के क्रम में किसी वैदिक ऋचा का विनियोग हुआ है। जयाख्य-संहिता ने सामान्य रूप से प्रतिष्ठा के अवसर पर ऋगादि वेदों के पारायण का निर्देश अवश्य किया है।[१] अर्वाचीन पाञ्चरात्र-संहिताओं में जहाँ वैदिक ऋचाओं के उच्चारण के साथ तत्तत् कर्म-सम्पादन का विधान है, वहाँ प्राचीन संहिता-ग्रन्थों में पाञ्चरात्रिक मन्त्रों का विनियोग हुआ है; जैसे—अक्षिमोचन के लिए नेत्र-मन्त्र के प्रयोग का विनियोग जयाख्या-संहिता में देखते हैं[२], पर नारदीय तथा विष्वक्सेन-संहिता[३] में इस कर्म के लिए वैदिक मन्त्र 'चित्रं देवानाम्'[४] इत्यादि का विनियोग कहा गया है। अर्वाचीन संहिताओं में भी सभी संहिताएं किसी एक विशेष कर्म के लिए किसी एक ही विशेष मन्त्र का उपयोग नहीं करतीं। भिन्न-भिन्न संहिता-ग्रन्थों ने एक ही कर्म-विशेष के लिए अलग-अलग वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए 'अतो देवा अवन्तु'[५] इत्यादि मन्त्र का प्रयोग देखा जा सकता है। नारदीय संहिता तथा विश्वामित्र-संहिता ने प्रतिष्ठा-क्रम में देवबिम्ब के साथ आलय-प्रवेश करते हुए इस मन्त्र के उच्चारण का विधान किया है[६], पर विष्वक्सेन-संहिता ने इसी मन्त्र का विनियोग स्नपन के लिए कहा है।[७] यहाँ यह मन्त्र नारायणोपनिषद्, द्वादशाक्षर मन्त्रादियों के विकल्प के रूप में स्वीकारा गया है। इस संहिता ने इस मन्त्र का विनियोग हवन के लिए भी बताया है।[८]

पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में मन्त्र-वर्णन-क्रम में विविध मन्त्रों की साधन-प्रक्रिया का निर्देश किया गया है। यद्यपि सभी संहिताओं में यह साधन-प्रक्रिया उस विस्तार से

---

१. जयाख्य-संहिता, पट० २०.२६२-२६३
२. वही, पट० २०.२६३
३. (i) नारदीय संहिता, १५,६६
   (ii) विष्वक्सेन-संहिता, १६.११
४. ऋ० वे०, १.११५.१
५. ऋ० वे०, १.२२.१६
६. (i) नारदीय संहिता, १५.१८४
   (ii) विश्वामित्र-संहिता, १४.१६५
७. विष्वक्सेन-संहिता, २०.१३२
८. वही, २९.७

वर्णित नहीं है, फिर भी नारदीय संहिता में विस्तारपूर्वक इस विषय का वर्णन किया गया है। प्रमुख रूप से नारदीय संहिता ने वासुदेवादि चतुर्मूर्त्ति मन्त्रों का निरूपण सृष्टि-प्रक्रिया-क्रम के अनुरूप किया है। यहाँ तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम—इन तीन अध्यायों में केवल मन्त्र-वर्णन ही देखते हैं। जैसा कि सृष्टिप्रक्रिया-वर्णन के क्रम में पाञ्चरात्रागम के अनुसार सर्वप्रथम निराकार निरञ्जन परवासुदेव से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की क्रमिक सृष्टि कही गई है।[1] उसी के आधार पर यहाँ मन्त्र-वर्णन के अवसर पर भी प्रथम वासुदेव-मन्त्र अर्थात् द्वादशाक्षर-मन्त्र, उसके बाद क्रमशः संकर्षणादि तीन देवताओं के मन्त्र का उद्धार-क्रम वर्णित है। उसके बाद चतुर्थ अध्याय में द्वादश मासाधिपों के द्वादश मन्त्र तथा पञ्चम अध्याय में प्रादुर्भाव तथा अवतार देवताओं के मन्त्र के साथ कुछ अन्य मन्त्र भी वर्णित हैं। इन मन्त्रों की सामान्य चर्चा यहाँ अपेक्षित है। अतः अब उसके विश्लेषण का प्रयास करेंगे। तृतीय अध्याय में कुल श्लोक-संख्या १२४ हैं। इन सभी में चतुर्मूर्त्ति-मन्त्रों का ही विस्तृत विवेचन है। इन चारों मन्त्रों का उद्धारक्रम, उनके अंगादि का वर्णन, उनकी साधना की विधि, विविध सिद्धियों के लिए प्रयोग-प्रक्रिया का वर्णन देखते हैं। द्वादशाक्षर-मन्त्र अर्थात् वासुदेव-मन्त्र के उद्धारक्रम-वर्णन के बाद उसके एक-एक वर्ण का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसमें वासुदेव-मन्त्र के हृदयादि द्वादश अंग, उन वर्णों का वर्ण (Colour), उनके आयुध तथा उन वर्णों में विद्यमान बुद्धि आदि तत्त्वों का विशद विवेचन किया गया है।[2] उसके बाद द्वादशाक्षर-मन्त्र की महिमा का वर्णन है। कहते हैं कि इस मन्त्र के साधन तथा प्रयोग से दुर्भिक्षादि अशुभ नहीं होते। सभी प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। साधक ऐहिलौकिक सुख का यथेष्ट अनुभव करने के बाद मन्त्राराधक परमपद को प्राप्त करता है। अन्य सभी साधक पुनर्भव को प्राप्त करते हैं, पर द्वादशाक्षराराधक कभी भी पुनर्भव को अर्थात् पुनर्जन्मादि को नहीं पाते। अतः इस मन्त्र की अपेक्षा उत्तम कोई मन्त्र नहीं है। काम्याधिकार से रहित होकर इस मन्त्र का जप करना विहित है।[3] पाञ्चरात्रस्थ मन्त्रों का प्रयोग क्षुद्र कार्य-सम्पादन के लिए निषिद्ध है। लौकिक स्वार्थ-साधन के लिए भी इन पाञ्चरात्रिक मन्त्रों की सिद्धि तथा प्रयोग का निषेध किया गया है। सामान्यतः लौकिक अर्थों के लिए किये जानेवाले प्रयोग को क्षुद्र कार्य की संज्ञा दी गई है। त्रैलोक्य-रक्षार्थ, राजा तथा राष्ट्र के कल्याणार्थ अर्थात् भावरूप उद्देश्य के लिए मन्त्र-प्रयोग किया जाना चाहिए। अभावरूप कृत्य के लिए इन मन्त्रों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए।[4] नारदीय संहिता ने वासुदेव-मन्त्र के

१. (i) नारदीय संहिता, १.३३—४२
(ii) जयाख्य-संहिता, ४.२—७
२. नारदीय संहिता, ३.३—२१
वही, पृ० ५२४
३. नारदीय संहिता, ३.२२—४१
४. (i) अहिर्बुध्न्य-संहिता, २०.४६—५१
(ii) नारदीय संहिता, ३.६८—७०

साधन की विधि बताते हुए कहा है कि साधक को नदी-संगम-तीर पर, पुण्य उद्यानादि शुभ स्थानों में मन्त्र-साधन के लिए चतुर्दिक् में क्षेत्रबन्धन कर मन्त्र-साधन करना चाहिए। मन्त्र-साधन से पूर्व साधक व्रतोपवासपूर्वक आत्मशोधन करता है। इस क्रम में मासपर्यन्त यावक्भुक् होकर नित्यस्नायी, जितेन्द्रिय, मौनी तथा शुचिरूप में कृच्छ्र तथा चान्द्रायण व्रताचरण करता है। उसके बाद हविष्यभोजी होकर मन्त्र का जप करता है। साधक एक लक्ष परिमित मन्त्रजप से शीलवान् होता है। द्वितीय लक्ष जप से सारे पातकों तथा उपपातकों का नाश होता है। तृतीय लक्ष जप से ब्रह्महत्यादिक महापातकों से भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। चतुर्थ लक्ष के जप से मन्त्र साधक के शरीर में निवास करता है। मन्त्र के प्रवेश करने पर साधक सूर्य की तरह प्रकाशित होता है। पंचम लक्ष मन्त्रजप के बाद देवलोक की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार जप-संख्या के अनुरूप फल-भेद निर्दिष्ट है। अन्ततः चौदह लक्ष मन्त्रजप के पश्चात् वासुदेव-पद की प्राप्ति उक्त है।[1]

वासुदेव-मन्त्र में शरीरस्थ विविध तत्त्वों को शुद्ध करने की शक्ति है। इस मन्त्र में विद्यमान एक-एक वर्ण के द्वारा शरीरस्थ एक-एक तत्त्व शुद्ध किया जाता है। मन्त्र का स्वरूप है : 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय'। अधोलिखित क्रम से मन्त्रस्थ वर्णों से देहस्थ तत्त्व शुद्ध होते हैं :

मन्त्रस्थ वर्ण ↓	तत्त्व ↓	
यकार	गन्धतन्मात्र	(पृथिवी के साथ)
वाकार	रसतन्मात्र	(अप् के साथ)
देकार	रूपतन्मात्र	(तेज के साथ)
सुकार	स्पर्शतन्मात्र	(वायु के साथ)
वाकार	शब्दतन्मात्र	(व्योम के साथ)
तेकार	घ्राण	मुख
वकार	रसन	पाणि
गकार	चक्षु	पाद
भकार	त्वक्	पायु
मोकार	श्रोत्र	उपस्थ
नकार	अहंकार	×
ओंकार	बुद्धि	⊠

यह शरीर-शुद्धि-दीक्षा के क्रम में बताया गया है। शिष्य के शरीर की शुद्धि के लिए शरीरस्थ भौतिक तत्त्वों का वासुदेव-मन्त्र से शोधन कहा गया है। जैसाकि ऊपर दिखाया गया है, एक-एक वर्ण के द्वारा एक-एक तत्त्व का पुनः एक-एक इन्द्रिय के शोधन का क्रम स्पष्ट है।[2]

---

१. नारदीय संहिता, ३.५०—६५

२. वही, ९.१५—२०

इस प्रकार पाञ्चरात्रागम में, विशेष रूप से नारदीय संहिता ने द्वादशाक्षर-मन्त्र का महत्त्व सर्वोपरि बताया है। यह मन्त्र सर्वसाधक तथा ऐहिक एवं आमुष्मिक स्वार्थ-सिद्धि में हेतु है। वैष्णवतन्त्र में यह मन्त्र सभी मन्त्रों की अपेक्षा दीर्घ तथा सामर्थ्य-शाली भी माना जाता है।

वासुदेव-मन्त्र-वर्णन के अनन्तर संकर्षण-मन्त्र के उद्धारादि का क्रम आता है। इस मन्त्र का साधन-प्रकार वासुदेव-मन्त्र की तरह है। इस मन्त्र के साधन-प्रसंग में जिस प्रकार देव का चिन्तन करते हैं, उसी प्रकार आत्मस्मरण करते हैं, और बीस लक्ष परिमित मन्त्र का जप करते हैं। जप के अनन्तर दो लक्ष परिमित होम का विधान है। यह होम तिलादि के द्वारा सम्पादित होता है। होम के लिए अन्य द्रव्य आज्य, रक्त कुसुम, लवण तथा चम्पक स्वीकृत हैं। इस होम से अतुल सौभाग्योदय होता है।

इस मन्त्र के साधन-क्रम में जैसे-जैसे जप होता जाता है और साधक के द्वारा ध्यान किया जाता है वैसे साधक के समीप सुरयोषित आती है और कामार्त्त होकर साधक का भय त्यागकर विवस्त्र तथा मुक्तपाश होकर साधक के पैरों पर गिरकर रति-याचना करते हुए अपने प्राणत्याग का भय दिखाती है। उस स्थिति में भी यदि साधक क्षुब्ध नहीं हो तो उसे उत्तम सिद्धि मिलती है। इस मन्त्र की विविध जपसंख्या के आधार पर तथा विविध वस्तुओं के होम-सम्पादन से तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह मन्त्र बहुत ही माहात्म्यवान् है। इसका महत्त्व-वर्णन आसान नहीं है। संकर्षण-मन्त्र के द्वारा सब वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं।[१]

संकर्षण-मन्त्र के बाद प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध मन्त्रोद्धार के साथ उनके अंगादि भी वर्णित हैं। इन चारों मन्त्रों में इनके प्रायः अंग समान रूप से वर्णित हैं। जैसे—एकादश अक्षरवाले मन्त्रों के एकादश अंग बताये गये हैं।

अधोलिखित रूप से इन मन्त्रों के अङ्ग वर्णित हैं :

मन्त्रस्थ वर्ण ↓	...	अंग ↓	मन्त्रस्थ वर्ण	...	अंग
प्रथम वर्ण (प्रणव)	...	हृदय	सप्तम वर्ण	...	उदर
द्वितीय वर्ण	...	शिर	अष्टम वर्ण	...	पृष्ठ
तृतीय वर्ण	...	शिखा	नवम वर्ण	...	बाहु
चतुर्थ वर्ण	...	कवच	दशम वर्ण	...	ऊरु
पञ्चम वर्ण	...	अस्त्र	एकादश वर्ण	...	जानु
षष्ठ वर्ण	...	दृक्	द्वादश वर्ण	...	पाद[२]

ये चार वासुदेवादि मन्त्र भुक्तिमुक्ति-प्रदायक हैं।[३]

---

१. नारदीय संहिता, ३.८५—१००
२. (i) वही, ३.८०—८२
(ii) वही, ३.१०३—१०६
(iii) वही, ३.११३—११५
३. वही, ३.१२४

नारदीय संहिता ने विष्णवादि द्वादश मासाधिप मूर्त्तियों के मन्त्र का उद्धारपूर्वक साधनादि बताये हैं। ये द्वादश मासाधिप हैं— १. विष्णु, २. मधुसूदन, ३. त्रिविक्रम, ४. वामन, ५. श्रीधर, ६. हृषीकेश, ७. पद्मनाभ, ८. दामोदर, ९. केशव, १०. नारायण, ११. माधव तथा १२. गोविन्द।[१] इन सभी मन्त्रों का साधन दो प्रकार से होता है : निष्काम तथा सकाम। निष्काम मन्त्र-साधन के क्रम में वीस लक्ष मन्त्रजप तथा उसका दशांश होम करनें से मन्त्र सिद्ध होता है। मन्त्र-साधन के बीच स्त्री आदि के रूप में अनेक तरह की बाधाएँ उपस्थित होती हैं। ये बाधाएँ साधक को विचलित करनें का पूर्ण प्रयत्न करती हैं। यदि साधक इन बाधाओं से विचलित नहीं होता है तो उसे मन्त्र की सिद्धि होती है। मन्त्र साधक के शरीर में प्रविष्ट होता है, साधक अणिमादि गुणयुक्त होता है। और, इस तरह वह अपर विष्णु ही हो जाता है। निष्काम मन्त्र-साधव के द्वारा साधक अनिरुद्ध पद से ऊपर विश्वात्मपद में लीन हो जाता है।[२]

सकाम मन्त्र-साधन के द्वारा वशीकरण आदि किया जाता है। यह वशीकरण यक्षिणी, किन्नरी, देवयोषित तथा मानुषी का भी हो सकता है। यहाँ वशीकरण की प्रक्रिया का विस्तृत निर्देश भी किया गया है। पर, यह वशीकरण-प्रक्रियावाला अंश नारदीय संहिता की सभी मातृकाओं में उपलब्ध नहीं है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ का यह अंश कदाचित् प्रक्षिप्त होगा। इस अंश में अशुद्धि-बाहुल्य भी है।[३] यह प्रथम मासाधिप मन्त्र के सकाम साधन का विवेचन है। द्वितीय, तृतीय तथा अन्य मासाधिपों के मन्त्रों की सिद्धि के द्वारा भी विविध कामनाओं की सिद्धि का निर्देश देखते हैं। द्वादश मासाधिप-मन्त्र की सिद्धि द्वारा सामान्यतः ये वशीकरण आदि ही सम्पादित होते हैं।[४]

द्वादश मासाधिप मन्त्रोद्धार तथा मन्त्र-साधनादि-वर्णन के बाद प्रादुर्भाव तथा अवतार-देवों के मन्त्रोद्धार तथा साधनादि के वर्णन का अवसर आता है। यह वर्णन भी विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रादुर्भावादि मन्त्र ये हैं— १. मत्स्यमन्त्र, २. कूर्ममन्त्र, ३. वराहमन्त्र, ४. नृसिंहमन्त्र, ५. वामनमन्त्र, ६. त्रिविक्रम-मन्त्र, ७. जामदग्न्य-मन्त्र, ८. दाशरथि राममन्त्र, ९. कृष्णमन्त्र, १०. बुद्धमन्त्र, ११. कल्किमन्त्र। इन मन्त्रों का उद्धृत रूप नारदीय संहिता के अनुबन्ध १ में देखा जा सकता है।[५] मन्त्रोद्धार-प्रक्रिया का संक्षिप्त परिचय पूर्वपृष्ठों में दिया गया है। इन मन्त्रों के साधन से तत्तत् कामनाओं की सिद्धि होती है। इससे मोक्षोपलब्धि तक होती है। जैसे राममन्त्र के उद्धार के साथ उसका साधन-प्रकार निर्दिष्ट है। साधन के बाद उस मन्त्र की कर्म में योजना

---

१ नारदीय संहिता, पृ० ५२३
२. वही, ४.५—१५
३. वही, ४. १९—२१
४. वही, ४. ३०—६७
५. वही, पृ० ५२५

विहित है। इस मन्त्र की सिद्धि से राज्यकामी को राज्य, स्त्रीकामी को स्त्री, स्वर्गकामी को स्वर्ग तथा मोक्षकामी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। अन्ततः साधक राम की कृपा से उसके लोक को प्राप्त करता है।[१] इसी प्रकार अन्य अवतार-देवों के मन्त्र का विवेचन भी किया गया है।

इन एकादश अवतार-देवों के मन्त्र के पश्चात् पाँचवें अध्याय के अन्त में पञ्चोपनिषद्-मन्त्र का उद्धारक्रम आता है। पञ्चोपनिषद्-मन्त्र संख्या में पाँच हैं। पाञ्चरात्रागम में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन पाँच मन्त्रों का उद्धृत रूप नारदीय संहिता के अनुबन्ध १ में निर्दिष्ट है।[२] यहाँ पञ्चोपनिषद्-मन्त्र का रूप प्रायः उसी प्रकार उद्धृत होता है, जिस प्रकार सनत्कुमार-संहिता ने मन्त्र के स्वरूप का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है।[३] इसके बाद सामान्य रूप से परिवार-देवताओं के मन्त्रोद्धार का निर्देश है। इस क्रम में प्रथम प्रणव का उल्लेख करते हैं, तदनन्तर देवता का नाम और अन्त में नमः शब्द का निर्देश करते हैं। इस प्रकार अभिलषित मन्त्र उद्धृत हो जाता है।

मन्त्रों के हृदयादि अंग होते हैं। ये अंग हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र तथा अस्त्र। इस सम्बन्ध में जाति का समन्वय अपेक्षित होता है। ये जातियाँ छह कही गई हैं: १. नमः, २. स्वाहा, ३. वषट्, ४. बौषट्, ५. हुं तथा ६. फट्।[४] पाञ्चरात्रागम-मन्त्रों के द्वारा सामान्य रूप से ऐहिक तथा पारलौकिक उभयविध सिद्धि का विधान कहा गया है। इनमें ऐहिलौकिक सिद्धि के लिए मन्त्रों में उपर्युक्त जातियों के योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विसर्जनीयान्त मन्त्र सर्वशत्रु-विनाशक होता है। मारण तथा उच्चाटन के लिए हुंकारान्त तथा फडन्त-मन्त्र का प्रयोग होता है। बौषडन्त-मन्त्र वध तथा बन्धकारक होता है। नमः तथा प्रणवान्तमन्त्र शान्ति, भोग तथा सुखप्रदायक कहे गये हैं। अनुस्वार तथा मकारान्तमन्त्र विष-सर्पनाशक कहा गया है। हुं फट् तारयुक्त मन्त्र यक्ष तथा राक्षस-नाशक होते हैं। हुंकारादि फडन्तमन्त्र वश्य कर्म में पूजित होते हैं। हुंकारान्त फडन्त मन्त्र राजमारण-साधक होते हैं। हुंकारादि हुंकारान्त मन्त्र पर-चक्र-निवारक होते हैं। फडादिफडन्त मन्त्र देववशीकरण में प्रयुक्त होता है। प्रणवादि प्रणवान्त मन्त्र सर्वकर्म-साधक होता है।[५]

पाञ्चरात्रागम में सामान्य रूप से तीन तरह के मन्त्रों का निर्देश किया गया है: १. सौम्य, २. आग्नेय तथा ३. सौम्याग्नेय। सौम्यमन्त्र के रूप में विष्णुगायत्री, मूलमन्त्रद्वय; आग्नेयमन्त्र के अन्तर्गत नारसिंहमन्त्र, चक्रमन्त्र, हेतिमन्त्र तथा सौरमन्त्र एवं सौम्याग्नेय मन्त्र के अन्तर्गत, मुद्रामन्त्र, अपराजित मन्त्र, पञ्चोपनिषद्-मन्त्र, मूर्ति-

---

१. नारदीय संहिता, ५.६१—६४
२. वही, पृ० ५२५
३. सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र, अ० ११; पृ० ९३
४. नारदीय संहिता, ५.९८—१००
५. सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र, ११.९—१४

मन्त्र तथा वराहमन्त्र देखे जा सकते हैं। मन्त्रों का सौम्यीकरण तथा उसी प्रकार आग्नेयीकरण भी होता है। आग्नेयमन्त्र यदि नमस्कारान्त हो तो वह सौम्यमन्त्र हो जाता है। सौम्यमन्त्र के अन्त में यदि फट्कार, हुंकार या स्वाहाकार का प्रयोग होता है तो वह सौम्यमन्त्र आग्नेयमन्त्र हो जाता है। मन्त्रों में बीजमन्त्र तथा अंग-मन्त्रों का भी विशिष्ट स्थान है। कहा गया है कि देवों ने वाङ्मय समुद्र का मन्थन कर मन्त्रों को उद्धृत किया। उसी से बीजमन्त्र भी पृथक्-पृथक् उद्धृत हुए। प्राणियों में जीव तथा इन्द्रियों में मन का जो स्थान है, वही स्थान मन्त्रों में बीजमन्त्र का है। बीज-हीन मन्त्र को निर्जीव कहा गया है। मन्त्रों के पञ्च अंग, ठीक देहियों के पञ्च अंग के समान होते हैं। जिस प्रकार अंगहीन प्राणी कर्म में असमर्थ होता है उसी प्रकार अंगहीन मन्त्र भी कर्म-साधन में असमर्थ होता है।[१]

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में मुख्य रूप से जिन मन्त्रों का उद्धार तथा साधनादि प्रकार वर्णित हैं, उनके अतिरिक्त भी बहुत-सारे आगमिक मन्त्रों का प्रयोग तत्तत्क्रियाओं के साथ देखते हैं। जैसे—१. एकाक्षर, २. द्व्यक्षर, ३. त्र्यक्षर, ४. पञ्चाक्षर, ५. षडक्षर, ६. सप्ताक्षर, ७. अष्टाक्षर तथा ८. बह्वक्षर-क्रम से आठ प्रकार के मन्त्र कहे गये हैं।[२] वैष्णवों के द्वारा प्रयुक्त आगमिक मन्त्रों में विष्णुगायत्रीमन्त्र[३], 'जितन्तमन्त्र'[४] आदि प्रमुख कहे जा सकते हैं। अनेक देवताओं से सम्बद्ध विविध मन्त्र भी इन संहिताओं में प्रयुक्त हैं। इन मन्त्रों की अकारादि क्रम से कल्पित सूची तत्तद् ग्रन्थों के अनुबन्धों में देखी जा सकती है। इसकी चर्चा इस अध्याय के प्रारम्भ में ही की गई है। वस्तुतः, पाञ्च-रात्रागम-ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं वर्णित मन्त्रों के विशद विवेचन तथा विश्लेषण के लिए स्वतन्त्र रूप से पृथक् एक ग्रन्थ की आवश्यकता है। प्रस्तुत अध्याय इस दिशा में मात्र एक संक्षिप्त एवं सामान्य प्रयास कहा जा सकता है।

इस तरह इस अध्याय में 'मन्त्र' शब्द का सामान्य परिचय तथा अर्थ, मन्त्रमूल-मातृकाओं का विवरण, पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में प्रयुक्त एवं विनियुक्त वैदिक मन्त्रों का सामान्य तथा संक्षिप्त विवेचन, पाञ्चरात्रागम के अनुसार मन्त्रोद्धार तथा मन्त्र-साधन आदि की प्रक्रिया के वर्णन के साथ मन्त्र-विषयक कुछ सामान्य बातें, जैसे 'जाति' आदि के संक्षिप्त विवेचन का प्रयत्न किया गया।

१. सनत्कुमार-संहिता, शिवरात्र २.१—१३
२. (क) विश्वामित्र-संहिता, ६.४
   (ख) नारदीय संहिता, ९.२१६
३. (क) वही, १२.४५
   (ख) विश्वामित्र-संहिता, ७.२९—३५
४. नारदीय संहिता, १९.२५

चतुर्थ अध्याय

मुद्रा-विचार

मुद्रा तान्त्रिक तथा आगमिक सिद्धान्तों एवं क्रियाओं का एक आवश्यक अंग है। पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में मुद्राओं का विशद विवेचन हुआ है। कुछ पाञ्चरात्र-संहिताओं के तो एक-एक सम्पूर्ण अध्याय में केवल मुद्राविषयक विवेचन का विस्तार देखने में आता है। प्रस्तुत अध्याय में मुद्रा के शाब्दिक तथा तात्त्विक अर्थ के विवेचन का प्रयत्न होगा। इसके ऐतिहासिक तथा व्यावहारिक पक्षों के उद्‌घाटन का प्रयास होगा। पाञ्च-रात्रेतर मान्यताओं तथा सिद्धान्तों के अनुसार मुद्रा के संक्षिप्त स्वरूप के दिग्दर्शन की पृष्ठभूमि में पाञ्चरात्र-साहित्य में वर्णित मुद्रा के विषय को कुछ विस्तृत परिवेश में देखने का प्रयत्न होगा।

जहाँ तक 'मुद्रा' शब्द के अर्थ का प्रश्न है, इसपर विचार करते समय मुख्य रूप से इसके दो तरह के अर्थ हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं: एक व्युत्पत्ति-सम्मत अर्थ तथा दूसरा सामान्य निर्वचन-सम्मत अर्थ। व्याकरण की दृष्टि से प्रकृति-प्रत्यय-विभागपूर्वक मुद्रा शब्द की व्युत्पत्ति कर जो अर्थ उपलब्ध होता है, वह व्युत्पत्ति-सम्मत अर्थ तथा आगम एवं तन्त्र-ग्रन्थों में मुद्रा शब्द का जो प्रतिपादित अर्थ है, वह निर्वचन-सम्मत अर्थ कहा जा सकता है। यद्यपि कुछ प्राचीन संस्कृत-शब्दकोशकारों[1] ने अपने कोशों में मुद्रा शब्द का निर्देश नहीं किया है, फिर भी कुछ शब्दकोशों में इस शब्द का अर्थविचार विस्तृत रूप से दृष्टिगोचर होता है। यहाँ हम शब्दकल्पद्रुम[2] एवं बोथलिंक तथा रॉथ के संस्कृत-जर्मन शब्दकोश[3] में दिये गये मुद्रा शब्द के अर्थ का उल्लेखपूर्वक विचार करेंगे। शब्दकल्पद्रुम में मुद्रा शब्द के निम्नलिखित अर्थों का निर्देश किया गया है।

१. अंगुलिमुद्रा—स्वर्ण रौप्यादि मुद्रिका (जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तलम् एवं मुद्रा-राक्षस आदि में);
२. चिह्न—श्रीमद्भागवत में निर्दिष्ट[4];
३. पाँच प्रकार की लिपियों में अन्यतम लिपि;
४. पञ्चमकार के अन्तर्गत भुना हुआ द्रव्यविशेष;
५. शरीर में धारणार्ह भगवदायुध चिह्न-विशेष;
६. देवता-विशेष की प्रीतिजनक अंगुलि-रचना;

---

१. अमरकोश आदि
२. शब्दकल्पद्रुम, पृ० ७४३—४७
३. वही, पृ० ८२९;
४. श्रीमद्भागवत, ५.३.२४.१७

बोथलिंग तथा रोथ ने 'मुद्रा' शब्द के निम्नलिखित अर्थ बताये हैं :

१. सील, २. मुद्रायन्त्र, ३. अंगूठी, ४. अंकन, ५. किसी वस्तु की मुहर, ६. प्रतिलिपि, प्रतिमा, चिह्न टोकन; ७. रहस्य, गूढ़; ८. ताल-सील, ९. अलंकार (साहित्यिक)।

उपरिनिर्दिष्ट मुद्रा शब्द के जो अर्थ देखे गये हैं, उनमें अधिकांश अर्थ मुद्रा शब्द के तान्त्रिक अर्थ के समीप मालूम होते हैं।

मुद्रा शब्द की व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति तथा अर्थ के ऊपर विचार करते हुए हम देखते हैं कि यह शब्द पाणिनीय व्याकरण-सम्प्रदाय के अनुसार उणादि-व्युत्पन्न है। 'मुद् हर्षे' इस धातु से 'स्फायितञ्चि' इत्यादि सूत्र[१] से रक् प्रत्यय करने से मुद्र शब्द व्युत्पन्न होता है। तदनन्तर 'स्त्रीत्वं लोकात्' के अनुसार टाप् प्रत्यय कर 'मुद्रा' शब्द निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे किसी को मुदित अर्थात् प्रसन्न किया जाय उसे मुद्रा कहते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' में 'मुद्रा प्रत्ययकारिणी'[२] ऐसा उल्लेख किया है।

हेमचन्द्र ने सिद्धहेम में मुद्रा शब्द को उणादिनिष्पन्न बताया है। 'ऋज्यति' (२-९३ उणादि सू० ३८८-३९९) इत्यादि सूत्र का विवरण देते हुए कहा गया है : 'एभ्यः कित् रः प्रत्ययो भवति'। आगे कहा गया है—'मुद् हर्षे मुद्रा चिह्नकरणम्'।[३]

शब्दकल्पद्रुम ने 'मोदते अनयेति मुद्रा इति रक्' अतः टाप्[४], इस तरह की व्युत्पत्ति बताई है, जैसा कि पा० व्या० के अनुसार मुद्रा शब्द व्युत्पन्न है। बोथलिंग तथा रोथ इस शब्द को मृद् अथवा मर्द् धातु से निष्पन्न होना युक्तियुक्त समझते हैं, पर इस प्रकार मुद्रा शब्द का व्युत्पादन आसान नहीं है।

मुद्रा शब्द का तान्त्रिक अर्थ व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति को आधार मानकर चलने की अपेक्षा एक स्वतन्त्र प्रक्रिया से प्रवाहित है। विभिन्न तान्त्रिक तथा आगमिक ग्रन्थों में 'मुद्रा' शब्द का निर्वचन एवं अर्थ स्वतन्त्र ढंग से भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाये गये हैं। गोधूम, चणक आदि के भुने हुए पृथुल या तण्डुल का नाम मुद्रा बताया गया है। वह मुक्तिदायिनी कही गई है।[५]

बौद्ध-सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ में अलंकारों को मुद्रा के रूप में अभिहित किया गया है, और इन्हें पारमिता कहा गया है। ये अलंकार या प्रतीक सामान्यतः मानवीय अस्थियों के हैं। ये षट्वांग पवित्र सूत्र के रूप में स्थित हैं। इनमें जब एक अनुपस्थित

---

१. उणादिसूत्र, २.१३

२. वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी, पृ० १०८३-८४

३. अभिधान-चिन्तामणि, ४.१६५ (पृ० ४५४)

४. शब्दकल्पद्रुम, पृ० ७४३—४७

५. पृथुकास्तण्डुला भृष्टा गोधूमचणकादयः। तस्य नाम भवेद्देवि मुद्रा मुक्तिप्रदायिनी।
(निर्वाणतन्त्र, अध्याय ११)

रहता है तब पञ्चमुद्रा, तथा दो की अनुपस्थिति में चतुर्मुद्रा कहा जाता है।[1] सरस्वती-कण्ठाभरण[2] एवं कुवलयानन्द[3] में मुद्रा शब्द का प्रयोग अलंकार के अर्थ में किया गया है। पर, तान्त्रिक मान्यताओं के अनुसार मुद्रा शब्द का मुख्य अर्थ अंगुलिरचना-विशेष है।

विविध आगम-संहिताओं में मुद्रा शब्द का निर्वचन किया गया है। साथ ही इस शब्द के अर्थ का प्रतिपादन भी हुआ है। जहाँतक पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों का प्रश्न है, प्राचीन रत्नत्रयी में मुद्रा शब्द के निर्वचन के ऊपर ध्यान नहीं देकर केवल सामान्य रूप में उनके फलादियों का ही वर्णन किया गया है। सात्वत संहिता ने अत्यन्त ही संक्षेप में मुद्रा की चर्चा की है।[4] यहाँ इस शब्द के निर्वचन आदि के विषय में हमें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। जिन पाञ्चरात्र-संहिताओं में मुद्रा शब्द के अर्थ-विवेचन के प्रयत्न हुए हैं, वे भी विशुद्ध रूप से तान्त्रिक निर्वचनपरक ही कहे जा सकते हैं। कदाचित् ही व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति के ऊपर ध्यान दिया गया है। इस प्रसंग में पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों तथा कुछ अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रदर्शित मुद्रा शब्द के निर्वचन को देखना अधिक उपयुक्त होगा।

ईश्वर-संहिता के अनुसार कर्मात्मितत्त्व अमलयाजियों को जो मुद देता है और बाहर तथा भीतर संचरण करनेवाले दोषों को द्रवित करता है, उसे मुद्रा कहते हैं।[5] यहाँ प्रदर्शित निर्वचन के अनुसार मुदं ददाति इति मुद्द्रा शब्द निष्पन्न हो सकता है, पर इस निर्वचन के द्वारा मुद्रा शब्द की निष्पत्ति नितान्त कठिन-सी प्रतीत होती है। जहाँ तक बाहर-भीतर संचरण करनेवाले अर्थ का प्रश्न है, उस स्थिति में अर्थानुरूप मुद्रा शब्द की निष्पत्ति किस तरह होगी, यह एक चिन्तनीय विषय है।

परमसंहिता के अनुसार 'जिसके प्रदर्शन से हिंसकों का हर्ष समाप्त होता है, उसे मुद्रा कहते हैं।'[6] यहाँ के निर्वचन में भी मुद् तथा द्रा इन दो पदों की सहायता से ही इस शब्द की निष्पत्ति सम्भव है, और इन दोनों शब्दों की सहायता से व्युत्पत्ति-प्रदर्शनक्रम में शब्द का रूप 'मुद्द्रा' होगा, न कि 'मुद्रा'।

पाद्मसंहिता ने भी इस शब्द का अर्थ परमसंहिता की तरह ही बताया है। निर्वचन भी उसी प्रकार दिखाया गया है। इसके अनुसार समस्त हिंसकों के मुद अर्थात् हर्ष को जो द्रवित करता है, उसे मुद्रा कहते हैं।[7] यहाँ भी मुद्रा यह रूप निष्पन्न होना आसान नहीं दीखता।

---

१. कण्ठिका रथिकारत्नमेखलाभस्मसूत्रकम्। षड्वै परिमिता एते मुद्रारूपेण योजिता॥

(साधनमाला ३)

२. सरस्वतीकण्ठाभरण, २-३

३. कुवलयानन्द, १.१३८

४. सात्वत-संहिता, परिच्छेद २२.६३—६५

५. ईश्वर-संहिता, अ० २, श्लो० १—३

६. परमसंहिता, अ० १४, श्लो० २

७. पाद्मसंहिता, चर्या पा० १२.२

विश्वामित्र-संहिता कहती है कि दर्शनमात्र से क्षणभर में जो दुष्टों को हर्ष से कुत्सा में प्रविष्ट कर देता है, उसे मुद्रा कहते हैं।[1] यहाँ भी मुद्रा शब्द की निष्पत्ति के लिए मुद् तथा द्रा इन दोनों शब्दों को स्वीकार करना होगा। यहाँ द्रा कुत्सायां—इस आदादिक धातु की सहायता से शब्द का रूप पूर्ववत् निर्वचनों की तरह ही मुद्द्रा निष्पन्न होगा, न कि मुद्रा।

विष्वक्सेन-संहिता तथा श्रीप्रश्नसंहिता ने भी कुछ इसीसे मिलता-जुलता निर्वचन दिया है। यहाँ कहा गया है कि दैव-वैरियों, पिशाचों, असुरों तथा राक्षसों का हर्ष जिससे द्रवित होता है, उसे मुद्रा कहते हैं।[2]

श्रीपुरुषोत्तम-संहिता का कहना है कि समस्त तत्त्वों को जो तत्क्षण मुद अर्थात् हर्ष देता है, उसे मुद्रा कहते हैं।[3] यहाँ 'रा दाने' (अदादि १०५०) धातु से यदि मुद का सम्बन्ध किया जाय तो इसका अर्थ कदाचित् कह सकते हैं—'जो मुद अर्थात् हर्ष देती है, उसे मुद्रा कहते हैं।' यहाँ मुदपूर्वक रा धातु से यह शब्द व्युत्पन्न हो सकता है।

मुद्रानिघण्टु में मुद्रा शब्द की जो व्याख्या दी गई है, वह मुद तथा द्रा या द्रु पर आधारित है। यहाँ कहा गया है कि सभी देवताओं के मोददायक तथा पापसन्ततियों के द्रावक होने के कारण मुद्रा नाम दिया गया है। यह सभी इच्छाओं का साधन करनेवाली है।[4]

मृगेन्द्रागम, जो शैवागम की संहिता है, मुद्रा शब्द को अन्वर्थक कहते हुए कहता है कि विघ्न-समूहों को मुद्राण करने के कारण हर की शक्तियाँ मुद्रा शब्द से अभिहित है।[5]

कामकला-विलास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—ग्रहादियों से जो मुक्त कराती है तथा पाप-समूहों को जो द्रवित करती है, वह मोचन तथा द्रावण कर्म-सम्पादन करने के कारण मुद्रा कही जाती है।[6]

शारदातिलक[7] तथा शिवसूत्रवार्त्तिक[8] के अनुसार 'मुदं राति इति मुद्रा'—ऐसी व्युत्पति कही गई है। यहाँ श्रीपुरुषोत्तम-संहिता में वर्णित निर्वचन के अनुसार मुद्रा शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ कह सकते हैं।

---

१. विश्वामित्र-संहिता, १३.२

२. (i) लब्धया तु यया यस्मात् साधको दैववैरिणाम्।
द्रावयीत मुदं तस्मात् मुद्रातल्लक्षणं शृणु॥ (विष्वक्सेन-संहिता, १९.९-१०)
(ii) श्रीप्रश्नसंहिता, अ० ५३, श्लो० ६४

३. श्रीपुरुषोत्तम-संहिता ३३.२ (भद्राचलम्-संस्करण, १९३२; तेलुगु-लिपि)

४. मुद्रानिघण्टु, पृ० ६८

५. मृगेन्द्रागम, पटल ५, श्लो० २

६. मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पाशौघान् द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मात् मुद्रास्ताः परिकीर्त्तिताः॥
(मुद्राविचार-प्रकरण ऐण्ड मुद्राविधि; पृ० ११, बड़ौदा, १९५६)

७. शारदातिलक, पृ० ५१०

८. शिवसूत्रवार्त्तिक २२

इन आगमिक निर्वचनों में मुद्रा शब्द का प्रधान रूप से हम दो तरह के अर्थ देखते हैं। एक मुद को द्रवित करनेवाला तथा दूसरा मुद को देनेवाला। जहाँतक प्रथम अर्थ को स्वीकार करते हुए मुद्रा शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, उस स्थिति में मुद् तथा द्रा—इन दो शब्दों के योग से ही मुद्रा शब्द का निर्वचन करना होगा और उस अवस्था में मुद्द्रा शब्द निष्पन्न होगा, न कि मुद्रा। दूसरे अर्थ को देखते हुए मुद्रा यह रूप निष्पन्न होना आसान है। यहाँ मुदं राति अर्थात् ददाति इति मुद्रा कहने पर शब्द के निष्पादन में कोई कठिनाई नहीं होगी। इस प्रकार यहाँ मुद्रा शब्द के दो अर्थों की अवस्थिति में प्रथम अर्थ में मुद्रा शब्द का व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति-प्रतिपादन सम्भव नहीं है, पर द्वितीय निर्वचनपरक अर्थ में व्याकरण-सम्मत व्युत्पत्ति-प्रतिपादन सर्वथा सुकर है।

इन निर्वचनों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इन व्याख्याताओं में से अधिकतर इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में पूर्णरूप से दृढ़ निश्चित अर्थ को समझकर लिखनेवाले नहीं थे। इसके अतिरिक्त मुद्रा शब्द की जो निश्चित व्युत्पत्ति हमें उणादि के द्वारा निष्पन्न दिखती है, वह भी मुद्रा के वर्त्तमान अर्थ के प्रतिपादन में पूर्णरूप से सर्वथा समर्थ ही है, ऐसा कहना आसान नहीं है। फिर भी, मुद्रा शब्द का यदि कोई एक निश्चित और युक्तियुक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ देने में कुछ हद तक समर्थ है तो यह उणादि-निष्पन्न शब्द ही। सामान्यतः मुद्रा शब्द का अर्थ हम इस प्रकार कर सकते हैं : जिससे देवताओं को मोद अर्थात् हर्ष हो उसे मुद्रा कहते हैं। इस तरह इस शब्द का अर्थ एक विस्तृत परिवेश रखता हुआ प्रतीत होता है, पर यहाँ इसका अर्थ-संकोच हो गया है, और केवल अंगुलि-रचनाविशेष के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा होगा और इससे देवताओं की तुष्टि होती है—इस भाव का उदय हुआ होगा। साधारणतः मुद्रा शब्द के सभी निर्दिष्ट अर्थों पर दृष्टिपात करने पर देखते हैं कि इस शब्द के द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है, वह है एक ऐसा स्वरूप-कल्पन या बनावट, जो किसी दूसरी वस्तु की अर्थाभिव्यक्ति के लिए की गई हो। एक शब्द में मुद्रा को हम प्रतीक कह सकते हैं। हमारी भिन्न-भिन्न भावनाएँ विभिन्न मुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती हैं। जैसा कि हमने देखा है, मुद्रा का अर्थ चिह्न भी है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि देवताओं के प्रति जो हमारी श्रद्धासिक्त भावना है, उसे हम मन्त्रों के द्वारा उनके समक्ष स्तुति आदि के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उससे भी जब हम आत्मतुष्ट नहीं होते, तब एक पग और आगे बढ़कर विभिन्न संकेतों के द्वारा अपनी भावाभिव्यक्ति का प्रयत्न करते हैं और उसी क्रम में जो विभिन्न वस्तुओं के समर्पण के पूर्व हम अंगुलियों की रचना-विशेष से अपनी भावना का प्रदर्शन करते हैं, वही अंगुलिरचनाविशेष मुद्रा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मुद्रा शब्द पाञ्चरात्रागम में देवार्चनादि के अवसर पर श्रद्धाभाव-बोधक अंगुलिरचना-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसके द्वारा भगवान् की तुष्टि तथा अनिष्टों का परिहार होता है।

योग-सम्प्रदाय में भी मुद्रा की चर्चा हुई है। घेरण्ड-संहिता[1] तथा कुछ अन्य ग्रन्थों में इस विषय का निर्देश देखते हैं। घेरण्ड-संहिता में २५ तथा हठयोगदीपिका में १०

१. घेरण्ड-संहिता, उपदेश ३

मुद्राओं का निर्देश किया गया है। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मुद्रा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है।

भारतीय प्राचीन साहित्य में मुद्रा शब्द के प्रयोग पर दृष्टिपात करने पर जो तथ्य हमारे सामने आते हैं, वे संक्षेपतः ये हैं—अथर्ववेद में मुद शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ इस शब्द का अर्थ मुद अर्थात् हर्ष है।[1] ऋग्वेद में मुद्रा शब्द का प्रयोग व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में निर्दिष्ट है।[2] वह नाम है—लोपामुद्रा। वहाँ मुद्र पुँल्लिग शब्द का मुद्रा स्त्रीलिंग-रूप है। मुद्रा का अर्थ हर्ष से युक्त कहा जा सकता है। कीथ महोदय ने लोपा चे यं मुद्रा च—ऐसा विग्रह करते हुए कहा है—जिस पर लुप्त होने का चिह्न विद्यमान हो उसे लोपामुद्रा कहेंगे।[3] इस तरह की व्याख्या करते हुए मुद् धातु से मुद्रा शब्द की निष्पत्ति नहीं की जा सकती। इसके लिए मुद्र् जैसी धातु का आश्रय लेना होगा।

मुद्रा के जितने रूप वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, मूलतः उतने रूप नहीं रहे होंगे। श्रौतकर्मों में यागादि-सम्पादन के अवसर पर मुद्रा की वर्त्तमान स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती। पर, श्रौतकर्म में देवताओं के प्रति अपनी श्रद्धाभावना-प्रदर्शन के लिए अंजलि या पुरांजलि के द्वारा प्रणाम का प्रयोग हम बहुधा देखते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि श्रौतकर्मों में आदर-सम्मान-प्रदर्शन के लिए हाथों से एक प्रतीकात्मक रूप-कल्पनविशेष व्यवहृत है और वही आगमिक एवं तान्त्रिक सम्प्रदायों में अंजलि-मुद्रा के नाम से प्रसिद्ध है। इस तरह कहा जा सकता है कि मुद्राओं का प्रारंभिक रूप केवल अंजलि-प्रदर्शन ही है। पर, पीछे समय के साथ शनैः-शनैः इसके विभिन्न रूप विभिन्न भावाभिव्यक्ति के प्रतीक बन गये। आज प्रायः हर सम्प्रदाय में किसी-न-किसी रूप में मुद्रा का प्रयोग होता है। कॉम्पवेल के अनुसार देवता के प्रति हम जो अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हैं, वह तीन तरह से अभि-व्यक्ति पाती है: प्रथम—शारीरिक (मुद्रा), द्वितीय—हार्दिक (मन्त्रोच्चारण) तथा तृतीय—भावनात्मक (स्मरण के द्वारा)।[4]

जहाँतक पाञ्चरात्रागमिक मुद्राओं का सम्बन्ध है, इस आगम ने मुद्राओं को मन्त्रों का मूर्त्तरूप कहा है। जयाख्य-संहिता ने मुद्रानिरूपणक्रम के आरम्भ में मन्त्रवृन्द का मुद्राकोश-वर्णन के प्रतिज्ञावाक्यों से मुद्रा-वर्णन आरम्भ किया है। इसके अनुसार मुद्राकोश-मन्त्र का ही विस्तार है। मानसिक या वाचिक रूप में भगवदाराधन के लिए मन्त्र प्रयुक्त हुए हैं, और मुद्रा उन्हीं का कायिक प्रतीक है।[5] ईश्वर-संहिता[6] तथा श्रीप्रश्न-संहिता[7] के अनुसार यद्यपि अंगुलियाँ भी चैतन्ययुक्त हैं, फिर भी यहाँ उनका

---

१. अथर्ववेद, १८.३.१६
२. ऋग्वेद, १.१७९.४
३. संस्कृत ड्रामा, पृ० १६
४. मुद्रा, पृ० ९-१०
५. जयाख्य-संहिता, पटल ८, श्लो० १-२
६. ईश्वर-संहिता, २४. २४—३०
७ श्रीप्रश्न-संहिता, ५३.५३; ६५-६६

(मुद्राओं का) अध्यक्ष मन्त्र ही है। अर्थात् मूल है मन्त्र और उसका व्याख्यात्मक प्रतीक मुद्रा।

पाञ्चरात्रागम में हमें मुद्रा के दो रूप देखने में आते हैं : पहला मानस तथा दूसरा प्रायोगिक। इन दोनों में से किसी भी मुद्राकल्पन के पूर्व स्व-स्व मन्त्र-स्मरण करने का विधान है।[१] मोक्षाभिलाषियों के लिए मानस-संकल्प-मुद्रा तथा अन्य नाना वस्तुओं की अभिलाषा करनेवालों के लिए प्रायोगिक मुद्रा का निर्देश किया गया है।[२]

जयाख्य-संहिता ने मन्त्रों के भेद के आधार पर मुद्राओं को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम विभाग में २६ मुद्राएँ निर्दिष्ट कर इन्हें गर्भमन्त्रों की मुद्राएँ, द्वितीय विभाग में प्रधान रूप से आठ तथा सामान्य रूप से प्रायः १३ मुद्राओं का निर्देश कर इन्हें आधारासनमन्त्र-मुद्राएँ तथा तृतीय विभाग में २१ मुद्राओं का निर्देश करते हुए इन्हें क्षेत्रेशादि बीज-मुद्राएँ कहकर निर्दिष्ट किया है।[३] पर, इस तरह का विभाग अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिता में दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ यह विभाग मन्त्रों के आधार पर किया गया है, यह निश्चित रहने के बावजूद वस्तुतः इसमें मौलिक विशेषता क्या है, यह विचारणीय है। लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार मुद्राओं से ही मन्त्र की सिद्धि होती है।[४] परमसंहिता ने सामान्यतः नामनी तथा प्रार्थनी—इन दो प्रकार की मुद्राओं का निर्देश किया है। इन दोनों में से ही अंगभूत देवताओं के लिए मुद्राओं का प्रयोग किये जाने का विधान है।[५]

जलान्तर में स्नान के समय आत्मन्यास के अवसर पर, पूजा के अन्त में, पृथ्वी पर मण्डल-रचना के क्रम में भगवदाराधन के समय, अर्घ्य तथा पानिपात्रों में मन्त्रविन्यास के समय, वह्न्यन्तर में पूर्णाहुति के अवसर पर मुद्रा का प्रयोग आवश्यक है। विष्णुतन्त्र-संहिता के अनुसार भगवदाराधन-क्रम में आवाहन से उद्वासनान्त जितने भी क्रम हैं, उन्हें मुद्रा के साथ ही सम्पादित होना चाहिए।[६] नारदीय संहिता ने प्रायः जयाख्य की तरह ही मुद्रा का उद्देश्य बताया है।[७] उसकी अपेक्षा इसने नैवेद्यदान के अन्त में, स्नपन के आदि तथा अवसान में, उत्सव के प्रारम्भ तथा अन्त में प्रदर्शन के अधिक अवसर बताये हैं। विभिन्न उपचारार्पण के अवसर पर मुद्रा-प्रदर्शन आवश्यक है। कुछ उपचारों के लिए तो तत्तन्मुद्राओं के स्वरूप आदि निर्दिष्ट हैं, पर कुछ उपचारों के अवसर पर प्रदर्शनार्ह मुद्राओं का निर्देश नहीं किया गया है। ऐसे अवसरों के लिए सामान्य रूप से अञ्जलि-मुद्रा-प्रदर्शन का विधान है।[८]

---

१. ईश्वर-संहिता २४.२
२. परमसंहिता, १४.३५
३. जयाख्य-संहिता, पट० ८.१७०
४. लक्ष्मीतन्त्र, ३४.१
५. परमसंहिता, १४.३३—३४
६. विष्णुतन्त्र-संहिता, ३६.५-६
७. नारदीय संहिता, ६.५०—५२
८ (क) अन्येषामुपचाराणां मुद्रा सा स्यात् कृताञ्जलिः। —पाद्मसंहिता, चर्यापाद २२ ६९
(ख) सर्वमञ्जलिना कुर्याद् या हि सर्वप्रिया च हि। —विष्णुतिलक-संहिता, ४.६८७

हिंसकों के विघात, सभी विघ्नों की शान्ति तथा सर्वकार्य-सिद्धि के लिए मुद्रा का प्रयोग आवश्यक है।[१] अर्चन के प्रसंग में मुद्राओं से देवताओं की प्रत्यभिज्ञा की जाती है। अतः; यह विशेष फलदायिनी है।[२] भगवदर्चन-प्रसंग में मुद्रा-प्रदर्शन के विना जो भी कुछ कार्य किये जाते हैं, वे सभी राक्षसों के द्वारा अपहृत हो जाते हैं। मुद्रा-प्रदर्शनपूर्वक ही सारी क्रियाएँ देवताओं को प्रमोद देनेवाली होती हैं। मुद्रा से रहित क्रिया सर्वथा सफल नहीं होती। मुद्रा-प्रयोगपूर्वक भगवदाराधन करनेवाले अन्त में भगवद्रूप को प्राप्त करते हैं।[३] ईश्वर, पाद्म, विश्वामित्र तथा अन्य कुछ पाञ्चरात्रागम-संहिताओं के इस विषय में प्रायः समान अभिप्राय निर्दिष्ट हैं। इनके अनुसार मुद्रा-प्रदर्शन से हिंसकों का निरसन तथा देवताओं का प्रीणन होता है। अतः इनके अनुसार हिंसकों का दूर किया जाना तथा देवताओं का प्रसादन ही मुद्रा-प्रदर्शन का उद्देश्य है।[४] कपिञ्जल, मार्कण्डेय तथा अगस्त्य-संहिताओं के अनुसार पूर्वोक्त उद्देश्यों के अतिरिक्त मुद्रा से अर्चक को देव का सामीप्य तथा ज्ञान एवं सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह सभी कामनाओं को भी सिद्ध करनेवाली है।[५]

पाञ्चरात्रागम की उपलब्ध संहिताओं में दो सौ से कुछ अधिक मुद्राएँ उपलब्ध हैं। पर, सामान्यतः देवताओं तथा मन्त्रों के बाहुल्य होने के कारण मुद्राएँ भी बहुत हो सकती हैं। वस्तुतः, इनकी निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती। ये अनन्त हैं। अतः, सबके लक्षण नहीं कहे जा सकते।[६]

समान नामवाली मुद्राएँ प्रायः हर संहिता में हैं। कुछ के स्वरूप भी समान हैं। पर, यह आवश्यक नहीं है कि सभी मुद्राओं के स्वरूप समान ही हों। इस प्रसंग में हम पाद्म तथा नारदीय संहिता की कुछ मुद्राओं का साम्य तथा वैषम्य देख सकते हैं। इन दोनों संहिताओं में हृदयमुद्रा का लक्षण भाषा तथा स्वरूप दोनों दृष्टियों से समान है।[७] शिरोमुद्रा भी दोनों संहिताओं में स्वरूप की दृष्टि से समान कही गई है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मुद्राएँ भी दोनों में समान हो सकती हैं।

नारदीय संहिता ने हृदयादि मुद्राओं के कल्पन के अवसर पर स्पष्ट रूप से दोनों हाथों के प्रयोग का निर्देश किया है।[८] पर, पाद्मसंहिता ने षडङ्गमुद्राओं के कल्पनक्रम में

---

१. (क) जयाख्य-संहिता, पट० ८, श्लो० ३—५
   (ख) लक्ष्मीतन्त्र, ३४.४
२. परमसंहिता, १४.२-३
३. विष्णुतन्त्र-संहिता, ३६.५—९
४. (क) ईश्वर-संहिता, २४.७१; (ख) पाद्मसंहिता, चर्यापाद २२.२-३; (ग) विश्वामित्र-संहिता, १३.३-४; (घ) श्रीप्रश्न-संहिता, ५३.६३; (ङ) विष्णुतिलक-संहिता, ४.६६०
५. (क) कपिञ्जल-संहिता, २७.२-३; (ख) मार्कण्डेय-संहिता, ३१.१; (ग) अगस्त्य-संहिता, १८.१८-१९
६. परमसंहिता, १४.३२
२. (क) नारदीय संहिता, ६.६-७
   (ख) पाद्मसंहिता, च० पा० २२.५-६
३. नारदीय संहिता, ६.६-७

केवल दायें हाथ के प्रयोग का निर्देश किया है।[1] नारदीय संहिता में द्वादशाङ्ग मुद्राएँ निर्दिष्ट हैं, जबकि अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में केवल षडङ्गमुद्राओं का ही उल्लेख देखते हैं। नारदीय संहिता में निर्दिष्ट द्वादश मुद्राएँ हैं—१. हृदय, २. शिरो, ३. शिखा, ४. कवच, ५. अस्त्र, ६. नेत्र, ७. उदर, ८. पृष्ठ, ९. बाहु, १०. ऊरु, ११. जंघा तथा १२. पाद।[2] यहाँ अन्यत्र की अपेक्षा उदर आदि छह मुद्राएँ अधिक हैं।

नारदीय संहिता के विषय-विवेचन का अपना एक अलग विशिष्ट क्रम है। यहाँ चतुर्मूर्त्ति की उत्पत्ति तथा उसके आश्रित अन्य अवतारों तथा प्रादुर्भावों के विशेष वर्णन में अधिक अवधान दिया है। मन्त्र-वर्णन के अध्याय ३-४ तथा ५ में भी इसी क्रम से मन्त्रों के उद्धार आदि बताये गये हैं। मुद्रा-निरूपण-क्रम में भी चतुर्मूर्त्ति-वर्णनक्रम को सर्वथा आधार की तरह स्वीकार किया गया है। यहाँ वासुदेवादि सभी देवताओं की मुद्राएँ लक्षण-निर्देश पुरस्सर वर्णित हैं। पाञ्चरात्रागम की अन्य किसी भी संहिता में वासुदेवादि मुद्राओं की चर्चा नहीं की गई है। इनके अतिरिक्त अवतार तथा प्रादुर्भावों में मत्स्य, कृष्ण, परशुराम, दाशरथि राम, बुद्ध तथा कल्कि मुद्राएँ भी केवल नारदीय संहिता में ही दृष्टि-गोचर होती हैं, अन्य संहिताओं में नहीं। नारदीय संहिता ने तत्तद्देवताओं की मुद्राओं के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् यहाँ निर्दिष्ट अन्य देवताओं की मुद्राएँ केवल एक पंक्ति में बताई हैं। कहा गया है—ऊर्ध्वाग्र हृदयस्थ हस्त करके जो मुद्रा होती है, वह अन्य देवों की मुद्रा होती है।[3]

इस प्रकार पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में मुद्रा एक विशिष्ट विषय के रूप में स्वीकृत एवं वर्णित है। इसका यहाँ जैसा विवरण है, उसके अनुसार मुद्राएँ भगवदाराधनादिक्रम में श्रद्धा की प्रतीक कही जा सकती है। मन्त्र की तरह इसका भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। इसके बिना इस आगमिक प्रक्रिया की आराधना पूर्ण नहीं हो सकती। ग्रन्थ के परिशिष्ट में पाञ्चरात्रागम ग्रन्थों में वर्णित मुद्राओं का सोद्धरण अकारादिक्रमयुक्त तालिका देखी जा सकती है।

---

१. पाद्मसंहिता, च० पा० २२.१२
२. नारदीय संहिता, ६.६—१२
३. नारदीय संहिता, ६.४६

द्वितीय भाग

प्रथम अध्याय

प्रतिमा-विचार (मूर्त्तिकला)

वैष्णवागमिक सम्प्रदाय के अनुसार भगवदाराधन के लिए सामान्यतः चार स्थल स्वीकृत हैं। पाञ्चरात्रागम की प्रायः सभी संहिताओं ने भी भगवदाराधन के आश्रयभूत चार स्थलों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। ये चार स्थल हैं : १. कुम्भ, २. मण्डल, ३. अग्नि तथा ४. देवालय के अन्दर प्रतिष्ठापित विग्रह या प्रतिमा। इन चारों में पूर्व-पूर्व तीन की अपेक्षा अन्तिम अर्थात् विग्रह या प्रतिमा-आराधन आगमिक प्रक्रिया का मुख्य विषय है। अतः अन्य तीनों की अपेक्षा इस प्रतिमा विषय का विस्तृत विवेचन देखने में आता है। सामान्यतः यदि यह कहा जाय कि वैष्णवागम के अनुसार चतुस्स्थानार्चन में तीन पूर्वोक्त गौण तथा चतुर्थ अर्थात् विग्रहाराधन प्रमुख है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक पाञ्चरात्र तथा वैखानसागम-संहिताओं ने एकाधिक अध्यायों में प्रतिमा-निर्माण आदि विषय का विवेचन किया है। पाद्म, ईश्वर, श्रीप्रश्न, हयशीर्ष आदि संहिताओं ने विस्तृत रूप से इस विषय का प्रतिपादन तथा वर्णन किया है। इस क्रम में अनेक अध्यायों में मुख्य रूप से प्रतिमा के सलक्षण उपादानद्रव्य, भेद, वासुदेवादि प्रधान आराध्य प्रतिमाओं से आरम्भ कर तत्तत्परिवार के देवताओं के प्रतिमा-कल्पन-प्रकार के विविध भागों पर प्रकाश डाला गया है। नारदीय संहिता ने १३वें अध्याय में विस्तृत रूप से इस विषय का निर्देश किया है। प्रतिमा-कल्पन-प्रक्रिया के वर्णन-क्रम में सामान्य विषयों के अतिरिक्त अनेक प्रतिमा-विशेष के कल्पन विषय का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। जैसे नारदीय संहिता के २८वें अध्याय में अग्न्यादि पञ्चदश देवताओं के आराधन-प्रकार-वर्णनक्रम में एक-एक के मूर्त्तिकल्पन-प्रकार का भी निर्देश देखते हैं। प्रकृत अध्याय में पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम की संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में वैष्णव-प्रतिमास्वरूप, भेद, लक्षण तथा कल्पन-विधि आदि के सामान्य विवेचन का प्रयत्न होगा।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठ सकता है कि चतुस्स्थानार्चन-क्रम में पूर्वोक्त तीन स्थलों के रहते हुए चतुर्थ स्थल मूर्त्याराधन को अधिक महत्त्व देने में क्या तथ्य-पूर्ण हेतु कहे जा सकते हैं? इस विषय पर विचार करते समय पाञ्चरात्र-आगम की कुछ संहिताओं के अनुसार साध्य-सिद्धि के निमित्त धार्यमान अग्नि में होम के द्वारा उसका आराधन किया जाता है। निःसन्देह इसके द्वारा हम आराध्य की ही आराधना करते हैं; पर वहाँ आराध्य का ध्यान आश्रयहीन कहा गया है। अतः, इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण कर्मस्थों के लिए उसमें अधिकार नहीं है। जिस प्रकार, गिरितटाग्रस्थ जन फल की इच्छा से अश्रान्त प्रयत्न करता है उसी प्रकार परगति प्राप्त करने की इच्छावालों

को भी काय, मन तथा वचन से प्रयत्न करना आवश्यक है। निराकार आराधनाश्रय में भक्ति, पूजा या ध्यान रमणीय नहीं होने के कारण अनर्थ का कारण हो सकता है। सूक्ष्मार्थ की प्राप्ति चिरकाल में भी असम्भव है, फिर अचिरकाल में क्या? रूपरहित देव का दर्शन कोई नहीं कर सकता। रूपों से सर्वथा निवृत्त बुद्धि कहाँ स्थिर हो सकती है? निवृत्त बुद्धि सर्वथा खिन्न होती है या निद्राभिभूत होती है। अतः, प्राज्ञजन बुद्धि से साकार की ही उपासना करें। मानवीय इष्टसिद्धि ही ईश्वर की प्रतिमा का रूप धारण करती है।[१]

भगवदाराधन द्विविध कहा गया है: साकार तथा निराकार। अग्न्याधान तो आहिताग्नि पुरुषविशेष की मृत्यु के उपरान्त समाप्त हो जाता है, पर बेरार्चन की अनुवृत्ति तो अनन्त काल तक होती है।[२] वैष्णवागम-ग्रन्थों के शास्त्रावतार प्रसंग के अनुशीलन से यह प्रतीत होता है कि निराधार तपश्चर्या अथवा यागादियों के अपरिमित अनुष्ठान के बाद भी निःश्रेयस-प्राप्ति का मार्ग सुलभ नहीं दीखने पर मूर्त्तिपूजाप्रधानमूलक आगम-सम्प्रदाय का विकास हुआ है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अव्यक्त परविभु 'आदिदेव', जो सार्वकालिक तथा सार्वत्रिक हैं, चातुर्व्यूह के रूप में व्यक्तलक्षण-सम्पन्न होता है। अर्थात् वासुदेवादि रूप में व्यक्त होता है। यद्यपि वह परविभु आदिदेव एक है, फिर भी जिस तरह अनेक जलाश्रयों के कारण एक ही सूर्य अनेक दीखता है, उसी प्रकार एक भी परम विभु तूर्यादि नाना मूर्त्तियों को आश्रय मानकर अनेक हो जाता है।[३]

उपर्युक्त प्रकार से सरल उपाय से भगवदाराधन तथा साध्यसिद्धि का मार्ग बिम्बाराधन अर्थात् चतुस्स्थानार्चन में चतुर्थ आराधनाश्रय-मूर्त्ति की विशेषता सिद्ध होती है। इसीलिए मूर्त्तिकल्पन-विषय यद्यपि मुख्य रूप से शिल्पशास्त्रीय विषय है तथापि प्रत्येक पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थ में असाधारण रूप से इस विषय की चर्चा की गई है। यहाँ प्रतिमा के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय शब्दों तथा उनके अर्थादि के विचार से पूर्व प्रतिमाराधन की प्राचीनता के विषय में चर्चा करना युक्तिसंगत होगा।

---

१. (i) विष्णुसंहिता, अध्याय २९.४९—५८
(ii) पाद्मसंहिता, क्रियापाद, अ० १.५–११
वही, अ० ३.५—१०
(iii) श्रीप्रश्न-संहिता, अ० १, श्लो० १-२
वही, अ० १, श्लो० १८-१९

२. साकारं च निराकारं भगवदाराधनं द्विधा।
प्रतिमाराधनं मुख्यं साकारमभिधीयते॥
(i) अर्च०-अधिकार, अ० २३.१
(ii) क्रिया-अधिकार, अ० ९.१
(iii) खिलाधिकार, अ० २०.१७

३. सात्वत संहिता, परिच्छेद ४.३१–३४; काञ्ची-संस्करण, १९०१ ई०

भारतीय समाज में मूर्त्तिपूजा बहुत प्राचीन विषय है। यद्यपि कुछ लोगों के अनुसार गौतम बुद्ध के अनन्तर मूर्त्ति-आराधन-परम्परा प्रारम्भ हुई,[1] पर अन्य कुछ विचारकों के मत में मूर्त्तिपूजा आचार्य पाणिनि के काल से पहले भी प्रचलित थी।[2] पाणिनि का काल ई० पू० ७वीं शताब्दी मानते हैं। इस तरह पूर्वोक्त गौतम बुद्ध-काल-वाला मत युक्तिसंगत नहीं दीखता। भगवान् पतञ्जलि ने जो पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या की है उसके अनुसार पाणिनि के काल में मूर्त्तिपूजा की परम्परा का होना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। यद्यपि कुछ पाश्चात्य मनीषियों के मत से वैदिककाल में मूर्त्तिपूजा का विधान सर्वथा अनुपलब्ध था, फिर भी कुछ लोग एसे भी हैं, जो कुछ वैदिक ऋचाओं के आधार पर वैदिककाल में भी प्रतिमाराधन का अस्तित्व स्वीकारते हैं।[3] वैदिक साहित्य में कम-से-कम देवताओं के स्वरूप तो अनेक स्थलों में वर्णित हैं, जो परवर्त्ती काल में देवाराधन के मूलभूत प्रतिमा-कल्पन के आधार माने जा सकते हैं। ब्राह्मण-साहित्य में तो निःसंशय ही प्रतिमाराधन का निर्देश देखा जा सकता है। यहाँ अद्भुत शान्ति-क्रम में देवता का हँसना, रोना आदि निर्दिष्ट हैं।[4]

जहाँ तक प्रतिमा शब्द के लिए समानार्थक विविध शब्दों तथा उनके अर्थों के प्रयोग का प्रश्न है, उसपर विचार करने पर हम देखते हैं कि पाञ्चरात्रागम में 'प्रतिमा' शब्द के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन संहिता-ग्रन्थ में इसके लिए 'मन्त्र-स्वरूप' शब्द व्यवहृत हुआ है।[5] 'मन्त्र-स्वरूप' से प्रायः मन्त्र का अर्थात् मनन करने योग्य आदिदेव का प्रत्यक्ष व्यक्त रूप विवक्षित है। प्रतिमा शब्द के लिए बहुत स्थलों में 'अर्चा' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है।[6] सामान्यतः अर्चा का अर्थ पूजा होता है, पर 'अर्च्यते भगवान् यत्र सा अर्चा' इस तरह की व्युत्पत्ति के द्वारा लब्ध अर्चा शब्दार्थ प्रतिमावाचक अपेक्षित अर्थ आसानी से प्राप्त होता है। यह शब्द एक प्राचीन शब्द है और इस अर्थ में पहले से भी इसका प्रयोग होता रहा है। आधुनिक शब्दकोशकारों के अतिरिक्त आचार्य

---

१. एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दु आइकोनोग्राफी, वॉल्यूम १, पार्ट १, जेनरल इण्ट्रोडक्शन, पृ० १

२. (i) इवे प्रतिकृतौ ५.३.९६

(ii) जीविकार्थे चापण्ये ५.३.९९

३. एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, वॉल्यूम १, पार्ट १; जेनरल इण्ट्रोडक्शन, पृ० ४

४. षड्विंश ब्राह्मणम्, दशम खण्ड, पृ० २१७; सं० डॉ० बी० आर० शर्मा
(तिरुपति-संस्करण, सन् १९६७ ई०)

५. (i) सात्वतसंहिता, ४ ३१

(ii) ईश्वर-संहिता, १७.२१५

६. (i) नारदीय संहिता, १३-३

(ii) ईश्वर-संहिता, १७.२३९

पतञ्जलि ने भी अर्चा शब्द का प्रयोग 'देव-प्रतिमा' के अर्थ में किया है : 'मौर्यैः हिरण्यार्थिभिरर्चा प्रकल्पिता' ।[१]

प्रतिमा के अर्थ में आगमशास्त्र में बहुप्रयुक्त शब्द बेर है। पाञ्चरात्रागम तथा वैखानसागम की प्रायः सभी संहिताओं में बेर शब्द का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है।[२] बेर शब्द का साधारण अर्थ 'रूप' शब्द के अर्थ के समान है। जैसे—कुबेर शब्द का अर्थ कुत्सित बेर अर्थात् कुत्सित रूप हो जिसका। पर, वैष्णवागम-ग्रन्थों में यह बेर शब्द भगवत्प्रतिमा के अर्थ में रूढ़ की तरह प्रयुक्त होता है और प्रायः सर्वत्र बेर से देवप्रतिमा का ही बोध होता है। प्रतिमा का अर्थाभिधायक जो चौथा शब्द हम आगम-संहिताओं में देखते हैं, वह है 'बिम्ब' शब्द। बिम्ब शब्द का भी सामान्य अर्थ रूप या स्वरूप है, पर आगम-ग्रन्थों में यह शब्द सामान्य रूप से देव-प्रतिमा का अभिधायक है।[३] इस प्रसंग में पाँचवाँ शब्द 'प्रतिमा' देखते हैं। यह शब्द सामान्य रूप से अन्यत्र विद्यमान व्यवहार की तरह आगमशास्त्र में भी देवविग्रह के अर्थ में प्रयुक्त है।[४] वैष्णवागम-ग्रन्थों में प्रतिमा के अर्थ में विग्रह तथा मूर्त्ति शब्द भी सामान्य रूप से प्रयुक्त होता है। इनका कुछ भी अर्थ-वैशिष्ट्य नहीं कहा जा सकता। इस क्रम में 'कौतुक' शब्द का प्रयोग भी यदा-कदा प्रतिमा के अर्थ में उपलब्ध है। अत्रि-संहिता तथा विमानार्चनकल्प में यह देखा जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों में प्रयुक्त कौतुक शब्द के प्रसंग-सामञ्जस्य को देखते हुए इस शब्द का प्रतिमा अर्थ ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। प्रतिमाकल्पन के लिए उपादान-द्रव्यों का निर्देश करते हुए प्रतिमा अर्थ में कौतुक शब्द व्यवहृत है। यहाँ निर्दिष्ट उपादान-द्रव्य व्यावहारिक दृष्टि से केवल कौतुक-बिम्ब के लिए ही उपयुक्त न होकर मूलादिबिम्ब-मात्र के लिए उपयुक्त है। यहाँ प्रयुक्त उपादान-द्रव्यों का सम्बन्ध केवल कौतुक-बिम्ब से स्वीकार करने पर व्यावहारिक दृष्टि से वह युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता; क्योंकि व्यवहार में दारु तथा शिलामय कौतुकबिम्ब-कल्पन प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः, यहाँ सामान्य प्रतिमा के अर्थ में कौतुक शब्द का अभिधेयत्व होना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[५] लिङ्ग शब्द भी कदाचित् प्रतिमा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रसंग में लोहरूप को बिम्ब, दारुरूप को लिङ्ग, स्थापित

---

१. (i) महाभाष्य
(ii) भविष्यपुराण, १३१.२
(iii) मत्स्यपुराण, २५८.२१

२. (i) श्रीप्रश्न-संहिता, १४.३
(ii) ईश्वर-संहिता, १७.२४१
(iii) विमानार्चनकल्प, प० १५, पृ० ६८

३. (i) नारदीय संहिता, १३.९४
(ii) सवन्-संहिता, १२.१

४. नारदीय संहिता, १३.५८; ९९

५. (i) अत्रि-संहिता, २४
(ii) विमानार्चनकल्पन, पट० २२, पृ० १४८

मूर्त्ति को वेर तथा आकृतिरूप को प्रतिमा कहते हैं।[1] कुछ पाञ्चरात्र-संहिताओं में आलयरूप शरीर में प्रतिमा को जीवस्थानी कहा गया है। आलयरूपी शरीर के विभिन्न अंगों को मानवीय अंगों की संज्ञा दी गई है।[2] यहाँ हम सामान्य रूप से प्रतिमा तथा विशिष्टस्थलों पर विशेष रूप से वेर शब्द के प्रयोग का प्रयत्न करेंगे।

प्रतिमा-भेद—विविध आधार पर प्रतिमा के अनेक भेद कहे गये हैं। आलय में आराधन के लिए प्रयुक्त प्रतिमाओं के आधार पर उसके भेद का विवेचन किया जायगा। आलय में आराध्य प्रतिमा की संख्या के विषय में वैखानस तथा पाञ्चरात्र-आगमों में सर्वथा साम्य रहीं दीखता। सामान्यतः सर्वत्र प्रतिमा चल तथा अचल भेद से दो तरह की कही गई है।[3] चलबिम्ब जंगम तथा अचलबिम्व स्थावर होता है। चलबिम्ब अर्थात् जंगम प्रतिमाओं से उसका बोध होता है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिए अनुमत होती है। अचल अर्थात् स्थावर बेर से ध्रुवबेर का सामान्यतः बोध होता है। यह वेर किसी भी स्थिति में एक स्थान से दूसरे स्थान में परिवर्त्तनार्ह नहीं होता। अजितागम के अनुसार चल, अचल तथा चलाचल-क्रम से प्रतिमा तीन प्रकार की कही गई है।[4] इसके अनन्तर प्रतिष्ठाप्यमान प्रतिमा की संख्या के आधार पर एक-बेरार्चन तथा बहुबेरार्चन की परम्परा का निर्देश देखते हैं। एकबेरार्चन-क्रम में आलय में प्रायः केवल एक ही बेर अर्थात् मूलबेर मात्र की प्रतिष्ठा तथा आराधना होती है। बहु-बेरार्चन-क्रम में पाञ्चरात्रागम के अनुसार आलय में एक से अधिक सात तक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तथा उनमें भगवदाराधन का विधान निर्दिष्ट है। ये सात प्रतिमाएँ अधोलिखित हैं: १. मूलवेर, २. कर्मार्चा, ३. उत्सवार्चा, ४. बल्यर्चा, ५. स्नपनार्चा, ६. तीर्थार्चा तथा ७. शयनार्चा। पुरुषोतम ने केवल छह का उल्लेख किया है।[5] मार्कण्डेय-संहिता ने

---

१. मार्कण्डेय-संहिता, ९.२१-२२
२. (i) विष्णु०, १३.६०—७०
   (ii) वाशिष्ठसंहिता ५.३५
   (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०; ३०.४८—५३
   (iv) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, ३५.५५
   (v) ईश्वर-संहिता, ३.११४—१२३
३. (i) समूर्त्तार्चनाधिकरणम्, ४३—५२
   (ii) अनिरुद्ध-संहिता, १३.१
   (iii) मानसारशिल्प, ५१.६
४. अजितागम (शैवागम), पट० ३६.१८२–१८३
५. (i) अनिरुद्ध-संहिता, १२.१९-२०
   (ii) विष्णुतिलक-संहिता ६.४३७-४३८
   वही, ३ ४२१—४२३
   (iii) ईश्वर-संहिता, १७.२३८-२३९
   (iv) श्रीप्रश्नसंहिता, १४.३
   (v) पुरुषोत्तम-संहिता, ८.३८—४०
   (vi) नारायण-संहिता, २२
   (vii) नारदीय संहिता, १३.३४९—३५३
   (viii) सनत्कुमार-संहिता, बृ० ६.२७-२८

शयन-बिम्ब को छोड़ अन्य छह बिम्बों का परिगणन बहुबेरार्चन के अन्तर्गत किया है।[1] एकबेरार्चन को ध्रुवार्चन के नाम से भी अभिहित किया गया है। एकबेरार्चन-क्रम में ध्रुवबेर अर्थात् स्थावर या मूलबेर गर्भगृह के ब्राह्मभाग में प्रतिष्ठापित होता है। ब्राह्म भाग का विवरण आलय-कल्पन-वर्णन के अवसर पर देखा जा सकता है। इस अर्चन-विधान में मूलबेर-स्थित या आसीन रूप में ही प्रतिष्ठापित होना विहित है। एकबेरार्चन-क्रम में शयानमूर्तिकल्पन निषिद्ध है। एकबेरार्चन-विधान में कुछ संहिताओं के अनुसार श्री तथा भूदेवियों का साहित्य भी निषिद्ध है। इस अर्चनक्रम में प्रतिमा का उपादान-द्रव्य लोह या पाषाण ही स्वीकृत है। यहाँ नैतिक तथा नैमित्तिक सारे कर्म मूलबेर में ही सम्पादित होते हैं। तत्तत्कर्मों के सम्पादनार्थं पृथक्-पृथक् तत्तत्प्रतिमाओं की स्थापना नहीं होती।[2] ईश्वर-संहिता के अनुसार केवल कर्मार्चा से रहित अन्य पाँच बिम्बों से युक्त मूलबेर का आराधन जहाँ किया जाता है, उसे एकबेरार्चन-क्रम कहते हैं।[3] पर एक-बेरार्चन का यह लक्षण अन्य पाञ्चरात्रिक संहिता-ग्रन्थों की अपेक्षा विलक्षण, अतः कौतूहल-जनक है। नारदीय संहिता ने एकबेर-विधि को 'स्थावरार्चन' तथा बहुबेरार्चन को 'अस्थावरार्चन' कहा है। यह बात नारदीय संहिता में वर्णित इस विषय के सम्पूर्ण प्रकरण के अनुशीलन से स्पष्ट ज्ञात होती है। अन्य किसी संहिता में एकबेरार्चन तथा बहुबेरार्चन को क्रमशः स्थावरार्चन तथा अस्थावरार्चन के नाम से निर्दिष्ट नहीं देखते। स्थावर या अस्थावर-भेद से स्थापनाक्रम केवल स्वतन्त्र स्थापन-विधि में ही होगा। परिवार-देवरूप से अस्वतन्त्र स्थापन-विधि में यह स्थापनक्रम-भेद स्वीकृत नहीं होता।[4]

बहुबेरार्चन अर्थात् अस्थावर-विधि में कर्मार्चा अर्थात् कौतुक-बेर गर्भालय के ब्राह्मभाग में स्थापित किया जाता है। मूलबेर की स्थापना उससे पीछे के भाग में की जाती है। एकबेरार्चन तथा बहुबेरार्चन-क्रम में मुख्य रूप से स्थान-विषयक यही भेद है। इसे सामान्यतः एकबेरार्चन तथा बहुबेरार्चन का लक्षण भी कहा जा सकता है। बहुबेरविधि में भगवदाराधन-सम्बन्धी सारे कृत्यों का सम्पादन कौतुक-बेर अर्थात् कर्मार्चा में विहित है। अन्यान्य स्नपनादि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान स्नपनादि तत्तद्बिम्बों में विहित है। बहुबेरविधि में नैतिकादि कर्मों का अनुष्ठान मूलबिम्ब में निषिद्ध है।[5]

जैसाकि ऊपर देखा गया है, बहुबेरार्चन-विधि में सामान्यतः मूलबेर के साथ सब मिलाकर कुल सात बेरों की स्थिति आलय में कही गई है। पर इस विधि में

---

१. मार्कण्डेय-संहिता, ६'१-२
२. (i) ईश्वर-संहिता, १७.२४६—२५१
   (ii) नारदीय संहिता, १३.३४०—३४३
३. ईश्वर-संहिता, १७.१४०
४. नारदीय संहिता, १३.३६१
५. नारदीय संहिता, १३.३४४—३४७

(बहुबेरार्चन-विधि में) प्रतिमाओं की न्यून संख्या का होना भी निर्दिष्ट है। प्रतिमाओं की संख्या के आधार पर बहुबेरार्चन-विधि के तीन भेद कहे गये हैं : उत्तम विधि, मध्यम विधि तथा अधम विधि। जहाँ मूलबेर के अतिरिक्त कर्मार्चादि छह अन्य बिम्बों की प्रतिष्ठा तथा आराधन-क्रम होता है उसे उत्तम विधि कहते हैं। मूलबेर के साथ कर्मार्चादि तीन बिम्बों का जहाँ आराधन में स्थान होता है उसे मध्यम विधि कहा गया है। केवल कर्मार्चा के साथ जहाँ ध्रुवबेर का आराधन-विधान होता है उस आराधन को अधम विधि कहा गया है।[1]

मूलादि बेरों के प्रयोजन सामान्यतः निम्नलिखित कहे गये हैं। मूलबेर की प्रतिष्ठा ग्राम की रक्षा के निमित्त होती है। आराधन-प्रयुक्त सारे कार्य-सम्पादन के लिए कर्मार्चा अथवा कौतुक-बिम्ब आवश्यक है। उत्सवार्चा से, जैसाकि यह अन्वर्थ नाम है, उस प्रतिमा-विशेष का बोध होता है, जिसमें तत्तदुत्सवों के अवसर पर सम्पादित विशेष अर्चन तथा आराधन किये जाते हैं। बलि-बेर का उपयोग नित्य तथा नैमित्तिक बलि-प्रदान के अवसर पर होता है। स्नपन-बेर से तात्पर्य उस प्रतिमा से है, जिसका उपयोग विविध स्नपन के अवसर पर देखते हैं। विशिष्ट उत्सवों के अवसर पर तीर्थ-यात्रा के क्रम में तीर्थ-बेर का उपयोग किया जाता है। उत्सव-निरूपण के अवसर पर इसकी चर्चा का अवकाश होगा। भगवदाराधन-क्रम में भगवच्छायन के लिए जिस प्रतिमा का उपयोग होता है उसे शयन-बेर कहा जाता है।

मूलबेर अर्थात् अचल बिम्ब में प्रतिष्ठाकाल में भगच्छक्ति का आवाहन किया जाता है, जो सर्वदा विद्यमान रहती है। उसका विसर्जन नहीं होता। पर, कर्मार्चादि जङ्गम बेरों में आवाहित भगच्छक्ति सर्वदा विद्यमान नहीं रहती। इन प्रतिमाओं में आराधन के अंगभूत तत्तत्कर्मों के अवसर पर मूल बेर से शक्ति का आवाहन किया जाता है। आराधन के सम्पन्न हो जाने के बाद पुनः उस शक्ति को मूल बेर में विसर्जित कर देते हैं।[2]

मूलबेर के विविध भेद तथा कल्पन-विधि आदि का वर्णन विस्तृत रूप से आगे के पृष्ठों में देखेंगे। उससे पूर्व कर्मार्चादि छह प्रतिमाओं की सामान्य विशेषताओं पर कुछ विचार आवश्यक है। कर्मार्चादि प्रतिमाओं का उच्छ्राय अर्थात् ऊँचाई मानांगुल से मापने का विधान है। इस क्रम में कहा गया है कि कर्मार्चा का उच्छ्राय ६ अंगुल-प्रमाण से अल्प नहीं होना चाहिए। इसके उच्छ्राय की उपरितम सीमा १२ अंगुल तक होना विधियुक्त है। पक्षान्तर में कर्मार्चा का प्रमाण मूलबेर का दशांश प्रमाणक

---

१. (i) श्रीप्रश्नसंहिता, १४.३
(ii) ईश्वर-संहिता, १७.२४१
(iii) अनिरुद्ध-संहिता, १२.२०-२१
(iv) विष्णुतिलक-संहिता, ६.४३७-४३८

२. श्रीमद्भागवत, ११.२७.१३

कहा गया है।[१] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार मूलबेर के उच्छ्राय को दस भागों में विभक्त कर उसके भागद्वय उच्छ्राय-परिमाणक कर्मार्चा तथा उत्सवार्चा का उच्छ्राय विहित है।[२] बलिवेर तथा तीर्थयात्रा-वेर की ऊँचाई कर्मार्चा के समान कही गई है। उत्सव-वेर का उच्छ्राय कर्मार्चा की अपेक्षा त्रिगुणित कहा गया है। स्नपन-वेर की ऊँचाई उत्सव-वेर के समान होना विहित है। ऊँचाई के अतिरिक्त इन प्रतिमाओं का स्वरूप सर्वथा मूलवेर के समान होगा। अर्थात् मूलवेर जिन आयुधों एवं आभूषणादियों से विभूषित होगा वे सारे चिह्न कर्मार्चादि बिम्बों में भी कल्पित होने चाहिए। यह नियम स्थानक, आसीन तथा यानग मूलवेर-विधि के लिए कहा गया है। मूलबेर जहाँ शयान होता है वहाँ कर्मार्चादि मूलवेर के समान नहीं किये जाते। शयान मूलवेर-विधि में कर्मादि प्रतिमाएँ आसीन अथवा स्थित होती हैं। ये सारी प्रतिमाएँ चतुर्भुज होनी चाहिए, ऐसा विधान है।[३] नित्योत्सव के लिए कल्पित प्रतिमा सर्वत्र स्थानक होनी चाहिए।[४]

विविध आधार पर मूलवेर के अनेक भेद कहे गये हैं। निर्माणमूलक भेद से मूलवेर तीन तरह के कहे गये हैं : १. चित्र, २. चित्रार्द्ध तथा ३. चित्राभास। ये भेद प्रायः सभी वैखानस तथा पाञ्चरात्र-संहिताओं में इसी तरह समान रूप से निर्दिष्ट हैं। जिस प्रतिमा में उसके सारे अवयव दृष्टिगोचर होते हैं, और प्रतिमा मान तथा उन्मान से युक्त होती है उस प्रतिमा को 'चित्र' कहा गया है। शिलादिगत प्रतिमाओं का पृष्ठ-भाग दृष्टि-विषयभूत नहीं होता, अतः उसके सारे अवयव दृष्टिगोचर नहीं होते। इस प्रकार की प्रतिमा को 'अर्द्धचित्र' प्रतिमा कहते हैं। इसके मान तथा उन्मान का ज्ञान दुष्कर होता है। पट या भित्ति पर आलेख्य रूप से कल्पित प्रतिमा को 'चित्राभास' की संज्ञा दी गई है।[५] चित्रबिम्ब का मान न्यूनतम एक हस्तोच्छ्रित तथा अधिकतम नव हस्तोच्छ्रित, इच्छा तथा विभव के अनुसार निर्दिष्ट है। यह अधिकतम उच्छ्राय-मानयुक्त प्रतिमा कालयोग-प्रमाण से कल्पित की जा सकती है।[६]

---

१. नारदीय संहिता, १३.३४८-३४९

२. श्रीप्रश्नसंहिता, १४.५-६

३. (i) विष्वक्सेन-संहिता, १७. ७—१०
   (ii) नारदीय संहिता, १३.३५०—३५४
   (iii) विश्वामित्र-संहिता, २२. ४०-४१; ४६

४. ईश्वर-संहिता, १७. २४८

५. (i) श्रीप्रश्नसंहिता, ११. ६-७
   (ii) विष्वक्सेन-संहिता, १०.३१—३४
   (iii) नारदीय संहिता, १३.६९—७२
   (iv) मार्कण्डेय-संहिता, ९.२३—२८

६. नारदीय संहिता, १३.६८

प्रतिमा की अवस्थिति के आधार पर मूलवेर चार प्रकार के कहे गये हैं : १. स्थानक, २. आसीन, ३. शयन तथा ४. यानग।[१] श्रीप्रश्नसंहिता ने स्थिति के आधार पर पूर्वोक्त चार की अपेक्षा १. लोकविक्रम तथा २. विश्वरूप—इन दो अधिक भेदों के साथ मूलवेर के छह भेद बताये हैं।[२] वस्तुतः लोकविक्रम तथा विश्वरूप अति विशाल होते हैं और ये दोनों प्रतिमाएँ प्रायः स्थित अवस्था में ही कल्पित होती हैं। अतएव, नारदीय तथा अन्य संहिताओं ने इन दोनों का पृथक् निर्देश नहीं किया है। वैखानस-आगम-ग्रन्थों में यानग ध्रुववेर का निर्देश नहीं देखते। इनके अनुसार स्थानक, आसीन तथा शयान—ये तीन ही भेद कहे गये हैं।[३] इनके अनुसार स्थानक को सात्त्विक, आसीन को राजस तथा शयान को तामस कहा गया है।[४] स्थानक के लिए स्थित शब्द का प्रयोग भी देखते हैं। यानग के लिए 'यानारूढ' शब्द का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है, पर इस तरह के शब्दभेद होने के बाद भी यहाँ अर्थ में कोई परिवर्त्तन नहीं है। स्थित, आसीन तथा यानग प्रतिमाएँ १. योग तथा २. भोग भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। अर्थात् १. योग-स्थानक, २. भोग-स्थानक; १. योग-आसीन, २. भोग-आसीन तथा १. योग-यानग तथा २. भोग-यानग। शयान वेर के चार भेद कहे गये हैं : १. योग-शयान, २. भोग-शयान, ३. सर्ग-शयान तथा ४. संहार-शयान। उपरिनिर्दिष्ट इन प्रतिमाओं के भी उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप से तीन-तीन भेद प्रदर्शित किये गयें हैं।[५] आसीन प्रतिमा के भेदों का निर्देश करते हुए कुछ संहिताओं ने निम्नलिखित तीन भेद बताये हैं : १. भोगासन, २. शेषासन तथा ३. योगासन।[६] ब्राह्मीय चित्रकल्पशास्त्र ने उपर्युक्त आसनों के अतिरिक्त कुछ आसीन बिम्बों की कल्पना का विधान कहा है।

---

१. (i ईश्वर-संहिता, १७.२५८-२५९
(ii) नारदीय संहिता, १३.२
(iii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.३०७-३०८
(iv) भार्गव-संहिता, ४.८८—९९

२. श्रीप्रश्नसंहिता, ११.१

३. (i) अर्चनाधिकार, ९.३
(ii) क्रियाधिकार, ५.७४-७५
(iii) विमानार्चनकल्प, पट० १९, पृ० ९१

४. अचनाधिकार, १२.१४

५ (i) पाद्म-संहिता, क्रि० पा० २.३१-३२
(ii) वही, १५.१—३
(iii) ब्राह्मीचित्रकर्मशास्त्र, १८.१

६. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १३.७०—८०
(ii) वही, १३.२४—४४
(iii) विमानार्चनकल्प, पट० १९, पृ० ९५-९६
(iv) ब्राह्मीय चित्रकल्पशास्त्र, १७.१०—२०
(v) समूर्त्तार्चनाधिकरणम्, २०.१८—२०

वे तीन हैं : १. सृष्ट्यासन, २. संहारासन तथा ३. पद्मासन।[1] योगशयन सृष्टिकर्त्ता तथा भोगशयन संहारकर्त्ता होता है।[2] योगबिम्ब की स्थापना श्री तथा भू देवियों के साथ या उनके बिना भी विहित है। भोगमूर्त्ति की स्थापना श्रीकर तथा योगमूर्त्ति की स्थापना वश्यकर कही गई है।[3] श्रीप्रश्नसंहिता ने शयनबिम्ब के पाँच भेद कहे हैं : १. उद्योग, २. योग, ३. भोग, ४. सृष्टि तथा ५. संहार।[4] मार्कण्डेय-संहिता के अनुसार वय के आधार पर प्रतिमा के तीन भेद कहे गये हैं : १. बाल, २. यौवन तथा ३. वृद्ध। ये तीनों बेर क्रमशः काम्यार्थी, मोक्षार्थी तथा रक्षार्थियों के लिए आराधनार्ह कहे गये हैं। यहाँ उत्थित बेर को राजस, आसीन बेर को तामस तथा शयन-बेर को सात्त्विक बेर कहा गया है।[5] एक स्थान में सामान्य रूप से आठ प्रकार के बेरों की गणना की गई है : १. एकबेर, २. बहुबेर, ३. स्वतन्त्र बेर, ४. परतन्त्र बेर, ५. आश्रित बेर, ६. यौगिक बेर, ७. भोगबेर तथा ८. योगबेर।[6]

मूलबेर के आन्तरिक भेद के विषय में पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम में सर्वथा समानता नहीं देखते। वैखानसागम के अनुसार स्थानकादि तीन तरह के मूलबेर के चार भेद कहे गये हैं : १. योग, २. भोग, ३. वीर तथा ४. आभिचारिक। योग-कामी के लिए योगबेर, भोगकामी के लिए भोगबेर, वीर्यार्थी के लिए वीरबेर तथा शत्रु-जयार्थी के लिए आभिचारिक बिम्ब के आराधन का विधान है।[7] कदाचित् वैखानस-आगम-ग्रन्थ में आभिचारिक बिम्ब को छोड़ दिया गया है और स्थानक, आसीन तथा शयनबेरों के योग, भोग तथा वीर, केवल तीन ही भेद कहे गये हैं।[8] कुछ संहिताओं ने आभिचारिक के स्थान में 'विरह' बेर का निर्देश किया है।[9] प्रायः आभिचारिक के लिए ही विरह का प्रयोग किया गया है। काश्यप ने ज्ञानकाण्ड में योग, सुख, भोग तथा वीर भेद से ध्रुवबेर को चार प्रकार का बताया है।[10] स्थापन-स्थान तथा परिवार-देवता के न्यूनाधिक्य के आधार पर इन विविध प्रतिमाओं के भेद निर्भर करते हैं।[11] विरह-

---

१. ब्राह्मीय चित्रकल्पशास्त्र, १७'२०—४४
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा० २
३. (i) अनिरुद्ध-संहिता, १२.१३
(ii) विष्णुतिलक संहिता, ६.४१२—४१४
४. श्रीप्रश्नसंहिता, १२.२९
५. मार्कण्डेय-संहिता, ९.११—१४
६. अनिरुद्ध-संहिता, १२.१०
७. विमानार्चनकल्प, पट० ९०
८. खिलाधिकार, १२.१
९. क्रियाधिकार, ५.७५
१०. ज्ञानकाण्ड, अ० ५३, पृ० ९३
११. यज्ञाधिकार, १५.३७-३८

वेर सायुध या निरायुध उभयविध होते हैं।[१] विरहस्थानक का स्वरूप द्विभुज, धूम्र-अम्बर से युक्त, श्यामवर्ण, शुक्लांग ऊर्ध्वदृष्टि, तमोगुणसम्पन्न, विमलनयन, ब्रह्मादि परिवार से रहित होता है। इसकी स्थापना आर्द्रादि अविहित नक्षत्र में पैशाच पद में की जाती है।[२] विरहस्थानक कदाचित् चतुर्भुज भी कहा गया है। पर इस मूर्ति के हाथों में शंख, चक्र आदि आयुध नहीं होते।[३] अर्चनाधिकार ने विरह-वेर को सर्वत्र स्थानक ही होना कहा है।[४] जैसाकि हम ने ऊपर देखा है, आभिचारिक तथा विरह एक ही हैं। अतः आभिचारिक वेर का लक्षण भी मरीचि ने विरह की तरह ही कहा है।[५]

इस प्रकार पाञ्चरात्र की अपेक्षा वैखानस-आगम में विरह अथवा आभिचारिक वेर की कल्पना अधिक है, और इस तरह सामान्य रूप से पाञ्चरात्र-आगम में वैखानस-आगम की अपेक्षा मूलवेर की संख्या किञ्चित् न्यून है।

नारदीय संहिता ने स्थानकादि भेदयुक्त प्रतिमाओं के पुनः दो भेद बताये हैं: साधारण तथा असाधारण।[६] साधारण प्रतिमा पुरुषाकृतिक कही गई है। असाधारण प्रतिमा अनेक करों से युक्त होती है। यह वराहादि के मुख या मत्स्यादि के शरीर के सदृश होती है। यह विविध प्रकार की होती है। अतः यह सर्वथा स्पष्ट है कि ये असाधारण प्रतिमाएँ सर्वदा पुरुषाकृतिक ही नहीं होतीं। ये मूर्त्तियाँ प्रायः प्रादुर्भावदेवों की होती हैं।[७] इन प्रतिमाओं का कल्पन यजमान की इच्छा के अनुसार द्विभुज या चतुर्भुज रूप में किया जा सकता है।[८] नारदीय संहिता ने जिसे 'साधारण प्रतिमा' शब्द से अभिहित किया है, उस मूर्त्ति की कल्पन-प्रक्रिया के क्रम में कुछ संहिता-ग्रन्थों ने इस मूर्त्ति के एक-एक अंग तथा उपांग-कल्पन की विधि तथा विशेष रूप से उनके मान तथा प्रमाणादि का निर्देश किया है।[९] यह विषय-विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म तथा विस्तृत है।

---

१. क्रियाधिकार, अ० ४.७७
   वही, अ० ५.७६-७७
२. यज्ञाधिकार, १५.२१-२३
३. निरुक्ताधिकार, १४.२—४
   —अर्चनाधिकार, ८.८०-८१
४. अर्चनाधिकार, ९.४
५. विमानार्चनकल्प, पट० १९, पृ० ९४
६. नारदीय संहिता, १३.१२५
७. वही, १३.१७५—१७७
८. श्रीप्रश्नसंहिता, १२.२८
९. (i) जयाख्य-संहिता, २०.९—६६
   (ii) नारदीय संहिता, १३.१२९—१७२
   (iii) भार्गवतन्त्र, ४.९—८४
   (iv) सात्वतसंहिता, २४.९१—१८०
   (v) ईश्वरसंहिता, १७.९२—१८०
   (vi) श्रीप्रश्नसंहिता, १३.१०—९५
   (vii) विष्णु०, १४.७६—१०५
   (viii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा० २१.१—९०
   (ix) विश्वामित्र-संहिता, २२.६१—६७

विषय-विस्तार-भय से यहाँ उसका सूक्ष्म-विस्तृत विवेचन नहीं कर सकते, पर सामान्य रूप से मानादि विषय का विवेचन यथास्थान देखा जा सकता है।

लक्षण के अनुसार असाधारण प्रतिमाओं के अन्तर्गत वासुदेवादि के वे रूप आते हैं, जिनमें चार भुजाएँ तथा अन्य लक्षण उपलब्ध हैं। जैसाकि हमने ऊपर देखा है, इस असाधारण के अन्तर्गत मत्स्यादि प्रादुर्भावों की प्रतिमा का भी अन्तर्भाव होता है। सामान्य रूप से असाधारण प्रतिमाओं का स्वरूप-वर्णन हम इस प्रसंग में देखने का प्रयास करेंगे। नारदीय संहिता ने असाधारण प्रतिमाओं के विवेचन-क्रम में वासुदेवादि चतुर्मूर्त्ति देवों की प्रतिमाओं के स्वरूप का विवरण दिया है। यह वर्णन क्रमशः वासुदेवादि मूर्त्तियों के स्थान-कादि स्वरूपों का है। नारदीय संहिता ने जिस प्रकार वासुदेवादि मूर्त्तियों तथा प्रादुर्भावादि देवों के मन्त्रादि का वर्णन अत्यन्त क्रमिक तथा व्यवस्थित रूप से पूर्ववर्त्ती अध्यायों में किया है, उसी तरह इस संहिता के तेरहवें अध्याय में एक-एक देव के स्वरूप-निर्देशपूर्वक प्रतिमा-कल्पन-क्रम का सम्यक् वर्णन किया गया है। वस्तुतः, नारदीय संहिता का यह क्रमिक तथा व्यवस्थित वर्णन इस संहिता की एक असाधारण विशेषता है। इस प्रसंग में सर्व-प्रथम स्थावर स्थानक वासुदेव के स्वरूप का वर्णन देखते हैं। इसका स्वरूप चतुर्भुज होगा। सुन्दर मुख, पद्म की तरह नेत्र, पीताम्बरधारी, शुक्ल वर्ण, सर्वाभरण-विभूषित, ऊपर तथा आगे की ओर दो दक्षिण हस्त, पुनः आगे-पीछे की ओर दो वाम हस्त कल्पित होंगे। पीछेवाले दक्षिण तथा बायें हाथों में क्रमशः चक्र तथा शंख, आगेवाले दक्षिण कर में सनाल उन्मुख कमल तथा आगेवाला बायाँ हाथ पीठाग्रस्थित गदा पर अवस्थित होगा। पक्षान्तर में आगेवाला दक्षिण कर यथारुचि स्वागत या वरद मुद्रा में भी हो सकता है। इस पक्ष में आगेवाला वाम हस्त गदा पर स्थित न होकर कटि पर अवलम्बित होता है या सीधे लम्बायमान रहता हैं।[१] नारदीय संहिता का पक्षान्तरवाला रूप लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित है। साधारणतः अल्प वर्णभेद के अतिरिक्त मुख्य रूप से यहाँ कोई विशेष भेद नहीं दीखता।[२] मूर्त्ति में चक्र का प्रयोजन स्थिति, सृष्टि के हेतु पद्म, मुक्ति के निमित्त पाञ्चजन्य तथा संहृति के लिए गदा का विधान होता है। वासुदेव की प्रतिमा का वर्ण श्याम भी कहा है। यह वासुदेव सृष्टि, स्थिति, मुक्ति तथा अन्त का कारण है।[३]

स्थावर स्थानक के बाद जंगमस्थानक वेर के रूप का वर्णन देखते हैं। यह वेर विशेषतः ऐहिक कामनाओं की पूर्त्ति के लिए कहा गया है। इस वेर का स्वरूप तथा इसके सारे लक्षण स्थावर वेर की तरह स्वीकृत हैं।

वासुदेव-प्रतिमा के बाद असाधारण संकर्षण की प्रतिमा का वर्ण रक्त कहा गया है। वासुदेव के हाथ में जहाँ पंकज होता है, उसके स्थान में यहाँ रेखामय सीर की

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.१७७—१८३
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.९—१४
(iii) लक्ष्मीतन्त्र, ३८.५४
२. लक्ष्मीतन्त्र, १०.२६—३१
३. बृहद्ब्रह्म-संहिता-२ : १२.१००—१०३

कल्पना की गई है।[१] कुछ संहिताओं के अनुसार संकर्षण की प्रतिमा सर्वथा वासुदेव की प्रतिमा की तरह शंख, चक्र, गदा तथा पद्महस्त होती है।[२] संकर्षण की मूर्त्ति हल तथा मूसल, गदा तथा पद्महस्त युक्त होगी। पक्षान्तर में नारदीय संहिता में वर्णित वरद-हस्त वासुदेव-मूर्त्ति की तरह ही इस मूर्त्ति का रूप भी कहा गया है।[३] पराशर के अनुसार संकर्षण की प्रतिमा चक्र-शंख-गदा के अतिरिक्त शूल धारण किये होती है। इसका आराधन सर्वफलप्रद कहा गया है।[४] एक अन्य वर्णन के अनुसार संकर्षण का वर्ण रक्त होना कहा गया है। चार हाथों में प्रधान दो हाथ वासुदेव की तरह तथा चक्र और गदा के स्थान में क्रमशः सीर तथा मूसल की कल्पना का निर्देश किया गया है।[५] विष्वक्सेन-संहिता तथा विष्णु-संहिता में संकर्षण के वर्णनक्रम में शंख, चक्र तथा गदा धारण का निर्देश स्पष्ट है, पर चतुर्थ हस्त के विषय में स्पष्ट निर्देश नहीं दीखता।[६] विष्वक्सेन के एक दूसरे वर्णन के अनुसार संकर्षण के ऊर्ध्व तथा अधः दोनों दक्षिण हस्तों में क्रमशः चक्र तथा मूसल-कल्पन का एवं ऊर्ध्व तथा अधः दोनों वाम करों में क्रमशः शंख तथा पुण्डरीक की कल्पना का विधान है। इस मूर्त्ति के वाम भाग में श्री तथा दक्षिण भाग में पुष्टि की स्थापना का निर्देश किया गया है।[७]

प्रद्युम्न की मूर्त्ति सुवर्णाभ तथा वासुदेव-मूर्त्ति के लक्षणों से लक्षित होती है। मुख्य दक्षिण हस्त में रेखामय शर की कल्पना-विशेष होती है।[८] विष्णु-संहिता ने वासुदेव के लक्षणों से लक्षित ही प्रद्युम्न-मूर्त्ति का होना कहा है। इसके अनुसार इस मूर्त्ति का वर्ण दूर्वा मरकत की तरह होना बताया गया है।[९] एक लक्षण के अनुसार प्रद्युम्न वरद तथा अभय हस्तयुक्त होता है। इसका वर्ण तथा वस्त्र रक्त होगा।[१०] विष्वक्सेन ने प्रद्युम्न-मूर्त्ति को शंखचक्र से उपेत चतुर्हस्त तथा शातकुम्भ की प्रभावाला होना कहा है।[११] कुछ स्थलों में प्रद्युम्न का शंख, चक्र, दण्ड तथा पद्मधारक रूप कहा गया है।[१२]

---

१. नारदीय संहिता, १३ १८४—१८६
२. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.९
 (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा , १६.३७
३. हयशीर्ष-संहिता, आदिका०, २१.४-५
४. पराशर-संहिता, १३.९३
५. (i) लक्ष्मीतन्त्र, १०.३१—३३
 (ii) ईश्वर-संहिता, २४ १२०—१२२
६. (i) विष्वक्सेन-संहिता, २०.१४२
 (ii) विष्णुसंहिता, ६.६६
७ विष्वक्सेन-संहिता, ११.१५—१६
८. नारदीय संहिता, १३.१८७
९. विष्णुसंहिता, ६.६७
१०. लक्ष्मीतन्त्र, ३८.५६
११. विष्वक्सेन-संहिता, २०.१४३
१२. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.११
 (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.३८

विष्वक्सेन-संहिता ने एक अन्य स्थल में प्रद्युम्न के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि ऊर्ध्व दक्षिण हस्त में पद्म, अधः दक्षिण हस्त में गदा-कौमोदकी तथा वाम हस्त में ऊपर-नीचे क्रमशः शंख तथा चक्र की कल्पना की जायगी।[१] पराशर के अनुसार प्रद्युम्न के चार हाथों में चक्र, शंख, असि तथा शूलादि धारण का निर्देश है।[२] लक्ष्मीतन्त्र में वर्णित एक अन्य प्रद्युम्न-मूर्त्तिरूप के अनुसार मकरध्वज के अतिरिक्त अपर वाम हस्त में शार्ङ्ग तथा अपर दक्षिण हस्त में पाँच बाणों का होना आवश्यक है।[३] हयशीर्ष-संहिता ने प्रद्युम्न के चार हाथों में से दक्षिण हस्त में चक्र, वाम हस्त में धनुष, दक्षिण हस्त में शंख तथा वाम हस्त में गदा होने का निर्देश किया है। पक्षान्तर में यह द्विभुज प्रद्युम्न-रूप का वर्णन भी करता है। द्विभुज प्रद्युम्न के हाथ में शर का होना वर्णित है।[४]

अनिरुद्ध-स्वरूप के सम्बन्ध में उसका वर्ण कृष्ण तथा स्वरूप संकर्षण के समान होना कहा है। इसमें विशेषता यह है कि इस मूर्त्ति के दक्षिण हस्त में नन्दक (शंख) की कल्पना का विधान है।[५] मार्कण्डेय-संहिता में वर्णित अनिरुद्ध के स्वरूप को चक्र, दण्ड, पद्म तथा शंखहस्त होना कहा है।[६] विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार अनिरुद्ध के ऊर्ध्व वाम कर में शंख तथा दूसरे में गदा, दक्षिण-ऊर्ध्व कर में चक्र तथा दूसरा हाथ अभय मुद्रायुक्त होगा। अनिरुद्ध-मूर्त्ति यदि शयान-रूप में कल्पित होगी तो उस स्थिति में मूलार्चा द्विभुज या चतुर्भुज, दोनों एक तरह से की जा सकती है। देव के वाम पार्श्व में श्री तथा पुष्टि के कल्पन का निर्देश है। अथवा मौलि के समीप देवी का कल्पन किया जाना चाहिए। देवी-चित्र, अर्धचित्र अथवा चित्राभास के रूप में यजमान की इच्छा के अनुसार किया जाना कहा है।[७] लक्ष्मीतन्त्र ने अनिरुद्ध के दो रूपों का निर्देश किया है। यहाँ अनिरुद्ध का वर्ण अंजनपर्वत की आभा की तरह कहा गया है। पीताम्बर-वेष्टित, चतुर्भुज, विशालवक्ष मृगलाञ्छन से विभूषित रूपवाली अनिरुद्ध-मूर्त्ति का निर्देश है। यह मूर्त्ति वनमाला-विभूषित होती है। इसके आदिपाणि-युगल आदिमूर्त्ति की तरह और अन्य दोनों हाथों में खड्ग तथा खेटक धारण किया होता है।[८] इसी ग्रन्थ में निर्दिष्ट एक और लक्षण के अनुसार अनिरुद्ध-मूर्त्ति का शार्ङ्ग, शरधारक दो हाथ तथा अन्य दो हाथों को वरद तथा अभय मुद्रायुक्त होना कहा है।[९] बृहद्ब्रह्मसंहिता ने

---

१. विष्वक्सेन-संहिता, ११.२०—२२
२. पराशर-संहिता, १३.१०५
३. लक्ष्मीतन्त्र, १०.३४—३६
४. हयशीर्ष-संहिता, आदि का० २१.६—९
५. नारदीय संहिता, १३.१८८
६. मार्कण्डेय-संहिता, ८.१०
७. विष्वक्सेन-संहिता, ११.२३—३०
वही, २०.१४४
८. लक्ष्मी तन्त्र, १०.३७—३९
९. वही, ३८.५७

अनिरुद्ध को क्षीरार्णव के मध्य श्वेतद्वीप में हेम-निर्मित प्रासाद में विविध योगियों, चण्डादि द्वारपालों, कुमुदादि अनुजीवियों, पक्षीन्द्र तथा विष्वक्सेन से सुसेवित, श्रीवत्स-लाञ्छित एवं श्रीभूमि देवियों के साथ विराजमान बताया है।[1]

चारों युग के अनुसार चतुर्व्यूह के वर्ण का निर्देश इस प्रकार है : कृतयुग में वासुदेव का शुक्ल, संकर्षण का रक्त, प्रद्युम्न का सुवर्णाभ तथा अनिरुद्ध का श्याम वर्ण। त्रेता युग में इन चारों का क्रमशः रक्त, पीत, रक्त तथा सित वर्ण होना कहा गया है। द्वापर युग में चारों का क्रमशः पीत, कृष्ण, सित तथा रक्त वर्ण होना निर्दिष्ट है। कलियुग के लिए चारों का क्रमशः कृष्ण, सित, रक्त तथा पीत वर्ण विहित है।[2]

ऊपर स्थानक वासुदेव तथा चतुर्व्यूह मूर्त्तियों के विविध रूपों का वर्णन किया गया है। स्थानक के बाद इन मूर्त्तियों के आसीन रूप के स्वरूपादि को संक्षेप में देखने का प्रयास होगा। इन सबकी आसीन मूर्त्तियाँ प्रायः समान रूप से कल्पित होना निर्दिष्ट है। आसीन मूर्त्ति में दक्षिण पाद आकुंचित तथा वाम पाद पीठस्थ होगा। अथवा वाम पाद संहृत तथा दक्षिण चरण-पाद पीठ पर प्रसारित होगा। ये दोनों तरह की आसीन मूर्त्तियाँ मनुष्य के लिए भोगदायक तथा मुक्तिदायक कही गई हैं। अन्य सभी सामान्य लक्षण प्रायः स्थानक बेर की तरह होते हैं।[3]

आसीन मूर्त्तियों के वर्णन के बाद शयान मूर्त्तियों के स्वरूप-निर्देश का अवसर आता है। शयान मूर्त्तियों से उस प्रतिमा के कथन का तात्पर्य है, जिसकी स्थिति शयन-रूप में होती है। शयन-बिम्ब सामान्यतः दो प्रकार के कल्पित होते हैं : शयन तथा अनन्त शयन। साधारणतः प्रतिमा का स्वरूप स्थानक तथा आसीन प्रतिमा की तरह होता है। यह स्वरूप लेटा हुआ कल्पित होता है। देह थोड़ी उत्तान, कृष्ण वर्ण तथा हेतियों से युक्त होती है। यह शयन-बिम्ब शेषनाग पर लेटा हुआ होता है। इसके दो हाथ होते हैं और यह प्रतिमा गूढ लाञ्छनों से लाञ्छित होती है। बायाँ हाथ कटि के समीप तक प्रसारित तथा दायाँ हाथ शिर के नीचे उन्नमित रूप से रखा रहता है। वाम पाद इषत्कुञ्चित होता है। पुरुषाकृतिक प्रतिमा को पद्मलोचन होना कहा गया है। इस प्रतिमा का आयाम सामान्य स्थानक प्रतिमा के समान, शिरोभाग-प्रदेश कुछ उन्नत से निम्न की तरफ, पुनः पाद के समीप थोड़ा उन्नत होना निर्दिष्ट है। यह उन्नति चार ताल से न्यून तथा आठ ताल से अधिक नहीं होनी चाहिए। जहाँ तक अनन्तशयन-प्रतिमा के विस्तार का प्रश्न है, उसे दो हाथ या पाँच ताल परिमित होना कहा है। अनन्त पाँच या नौ फणों से युक्त होता है। अनन्त के मस्तक (फण) चतुर्दिक् अग्निज्वाला तथा मणियों से मण्डित, महादंष्ट्राओं को झुकाते हुए देवमूर्त्ति के शिर के समीप तक आये होते हैं। अनन्त के मुख विवृत तथा भयंकर होते हैं। इनकी दृष्टि प्रत्यक्षतः देव के मुख पर नहीं होती। ये सामान्य विषय शयन तथा

---

१. बृहद्ब्रह्मसंहिता, १३.१८३—१८६
२. नारदीय संहिता, १३.१८६—१९१
३. वही, १३.२०१—२०४

अनन्तशयन उभय प्रतिमा के लिए समान होते हैं। अनन्तशयन-रूप में विशेषता अधोलिखित होती है : शयनरूप देव-प्रतिमा के नाभिमण्डल में सनाल कमल की कल्पना होती है। उस नाभिकमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा का आसीन रूप कल्पित होता है।[१] नारदीय संहिता ने अनन्तशयन-रूप का वर्णन जितनी स्पष्टता से प्रतिपादित किया है उतनी स्पष्टता से इसका वर्णन अन्यत्र पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्रायः नहीं देखते।

ऊपर हमने वासुदेव के सामान्य शयन तथा अनन्तशयन रूपों का वर्णन देखा है। नारदीय संहिता ने चतुर्मूर्त्तियों के शयन-रूपों का वर्णन भी किया है। इसके अनुसार वासुदेव-शयन-मूर्त्ति के समान ही संकर्षणादि शयन-बेर होते हैं। केवल थोड़ा-सा भेद होता है। चतुर्मूर्त्ति में द्वितीय मूर्त्ति के शयन-बेर के पादतलों में सीर का, तृतीय मूर्त्ति के पादतल में शर या धनुष के उल्लेख का निर्देश किया गया है। चतुर्थ मूर्त्ति का पाद-तल खड्ग-चिह्न से चिह्नित होना कहा है। इस क्रम में एक पञ्चम स्वरूप का वर्णन भी देखते हैं। इस रूप को हेतियुक्त चतुर्बाहु होना कहा है। परन्तु, यह रूप अच्छी तरह स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है। अनन्तशयन के अनेक रूप होते हैं। ये सपरिवार या परिवार-रहित दोनों तरह स्थापित हो सकते हैं। यह स्थापक की इच्छा पर निर्भर करता है। शयन-बेर की स्थापना के क्रम में एकबेरार्चन सर्वथा निषिद्ध है। शयन-बेर सर्वदा बहुबेर-विधान से ही किया जाना चाहिए।[२]

यानग वासुदेवादि मूर्त्ति-कल्पन के क्रम में प्रतिमा का रूप सामान्यतः स्थानक तथा आसीन मूर्त्तियों की तरह होना कहा है। सभी यानग मूर्त्तियाँ पक्षीशवाह होती हैं। मूर्त्ति का दक्षिण पाद वाहन के हाथ पर तथा वाम पाद वाहन के भुजान्त में मोड़कर रखा होता है। अथवा इसके विपरीत वाम पाद मोड़कर रखा होता है और दक्षिण पाद वाहन के हाथ पर। इस मूर्त्ति का अङ्गोपाङ्ग-मान पूर्व मूर्त्तियों की तरह होता है। मूर्त्ति के मेढ्रादि देश मौलिक पृष्ठ में तिरोभूत रहते हैं।[३]

यानभूत वैनतेय का रूप अर्धपुरुषाकृतिक कहा गया है। इसके विविध नाम निर्दिष्ट हैं। वे नाम हैं : सत्य, सुपर्ण, गरुड़, तार्क्ष्य तथा विहगेश।[४] नारदीय संहिता ने इन पाँच नामों के अतिरिक्त पक्षीश तथा वैनतेय—ये दो नाम और कहे हैं।[५] यह यान वैनतेय नाग तथा किरीटादि आभूषणों से विभूषित होता है। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का कल्पन नवताल-मान से किया जाना विहित है। इसके दोनों पार्श्व में दो पंख होते हैं।

---

१. नारदीय संहिता, १३ २०७—२१६

२. वही, १३.२१७—२२२

३. वही, १३.२२२—२२६

४. ईश्वर-संहिता, ८.४०
 वही, २४.३७०

५. नारदीय संहिता, १३.२२३—२२६

इसका वर्ण सुवर्णाभ होता है। ओष्ठ ताम्रवर्ण तथा नासिका नीलबन्धूक की तरह होती है। यह यानग मूर्त्ति बहुवेर या एकवेर, उभयविध कल्पित होना विहित है।[१] ईश्वरसंहिता ने भी यानभूत गरुड़ का स्वरूप-निर्देश किया है। यहाँ गरुड़ के एक-एक अंग का विस्तृत वर्णन किया गया है। जहाँ तक स्वरूप-वर्णन का प्रश्न है, वह नारदीय संहिता में वर्णित गरुड़-रूप की तरह ही है।[२] इस तरह नारदीय संहिता ने केवल यान-भूत वैनतेय मूर्त्ति का वर्णन किया है। कुछ अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिता-ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से स्थाप्यमान वैनतेय की मूर्त्ति के स्वरूप-कल्पन का वर्णन किया गया है। शेषसंहिता तथा श्रीप्रश्नसंहिता के अलावा अन्य संहिताओं में यह वर्णन विशद रूप में उपलब्ध है। यहाँ इसका स्वरूप स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। यह रूप सामान्यतः नारदीय संहिता में वर्णित स्वरूप के समान है। गरुड़ का शरीर मनुष्य की तरह तथा मुख एवं नासिका शुक की तरह होती है।[३] गरुड़ का रूप चतुर्बाहु होता है। आगे के दोनों हाथ बद्धाञ्जलि तथा पीछे के दोनों हाथों में चक्र तथा शंख-धारण का क्रमशः विधान है। इसका स्वरूप अष्टबाहु या षोडशबाहु होना भी कहा गया है[४], गरुड़ को ज्ञान-बलशाली सङ्कर्षण की ज्ञानबलाख्या-शक्ति कहा गया है। यह सर्वरोग तथा भय हन्ता है। इसकी प्रतिमा का उपादान-द्रव्य लोह अथवा शिला कहा गया है। स्थित मूल बिम्बवाले आलय में स्थित गरुड-मूर्त्ति के कल्पन का निर्देश है। शयन तथा आसीन मूलवेरवाले आलय में इसकी मूर्त्ति आसीन या स्थित होने का निर्देश है। यहाँ गरुड की स्थापना के लिए स्थान का निर्देश भी विधिवत् किया गया है। स्वतन्त्र गरुड का त्रिकालार्चन भी निर्दिष्ट है।[५] पाञ्चरात्र-संहिताओं में पटस्थ आलेख्य गरुड-स्वरूप का

---

१. नारदीय संहिता, १३.२२६—२३१

२. ईश्वर-संहिता, १७.२१५—२३५

३. (i) शेषसंहिता, २०.१८
वही, ४९.८
(ii) ईश्वर-संहिता, ९.२२—२८
(iii) पारमेश्वर संहिता, ११.२१—२८
(iv) श्रीप्रश्नसंहिता, १५.१३—१५
(v) विष्वक्सेन-संहिता, २०.१४९—१५३
(vi) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १८.१—५
(vii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २२.८—११

४. विहगेन्द्र-संहिता, ३.२४-२५

५. (i) ईश्वर-संहिता, ८.२—६
वही, ८.१५-१६
(ii) वाशिष्ठ-संहिता, १२ ५७—६४
(iii) विष्वक्सेन-संहिता, २६.३५—४४
(iv) अनिरुद्ध-संहिता, २० ३८—४५; ७१
(v) ईश्वर-संहिता, १०.२३६—२६१

भी वर्णन किया गया है। ये सारे स्वरूप सामान्यतः कुछ साधारण भेद के साथ समान की तरह हैं। ईश्वर-संहिता में निर्दिष्ट गरुड का स्वरूप-वर्णन अधिक विस्तृत है। इसके आभूषणों तथा आयुधों का भी यहाँ विशिष्ट वर्णन किया गया है। पटस्थ गरुड-रूप के कल्पन का अधिकार शिल्पी, शूद्र, दीक्षित, कुलाल अथवा मन्त्री को भी है।[१] सामान्यतः गरुड का वर्ण स्वर्णाभ कहा गया है।[२] ईश्वर-संहिता ने पञ्चात्मक प्राण के क्रमशः सत्य, सुपर्ण, गरुड, तार्क्ष्य तथा विहगेश्वर—ये पाँच विकार कहे हैं। आलय के ऊपर चार कोणों में सत्यादि चार का स्थान-निर्देश किया गया है। दक्षिण भारतीय आलयों में यह आज भी देखा जाता है। ईश्वर-संहिता ने एक-एक का विस्तार से स्वरूपादि निर्देश भी किया है।[३]

इस प्रकार सामान्यतः गरुड की तीन तरह की मूर्त्तियाँ देखते हैं: यानग बिम्ब के साथ यानभूत रूप में, स्वतन्त्र तथा पटस्थ। नारदीय संहिता ने केवल यानगवाले रूप का ही प्रसंगवश वर्णन किया है, जबकि ईश्वर-संहिता ने गरुड के तीनों रूपों का विशद विवेचन किया है। अन्य संहिताओं ने आंशिक रूप में गरुड का वर्णन किया है।

शुद्ध सृष्टि-प्रक्रिया में वासुदेवादि चतुर्मूर्त्तियों से क्रमशः द्वादश मासाधिपों का उद्भव पाञ्चरात्रशास्त्र के अनुसार वर्णित है। पाञ्चरात्रागम-संहिता-ग्रन्थों ने इन बारह मूर्त्तियों के स्वरूप का वर्णन किया है। इन मूर्त्तियों के रूप-वर्णन में सामान्यतः जो समान बातें हैं, वे इस प्रकार हैं: ये सभी मूर्त्तियाँ आसीन, स्थित या यानग रूप में कल्पित होती हैं। द्वादश मासाधिपों की शयानमूर्त्ति निषिद्ध है। ये सारी मूर्त्तियाँ चतुर्भुज, सुताम्रोष्ठ, ऊर्ध्व तथा अधःबाहुयुक्त होती हैं।[४] यद्यपि नारदीय संहिता ने इस प्रसंग में इन मूर्त्तियों को चतुर्भुज के स्थान में चतुर्मुख होना कहा है, फिर भी यह कथन युक्तियुक्त नहीं जँचता। अन्य संहिताओं में केवल सात्वतसंहिता ने मधुसूदन को चतुर्मुख होना कहा है।[५] पर इन मूर्तियों का चतुर्भुज होना प्रायः सभी संहिता-ग्रन्थों ने स्वीकार किया है। द्वादशाधिप मूर्त्तियों के पीठ कमलाकृतिक होते हैं। केवल आयुधादि के आधार पर ही ये द्वादश मूर्त्तियाँ परस्पर एक-दूसरी से भिन्न होती हैं।

प्रथम मासाधिप केशव के रूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह मूर्त्ति शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किये होती है।[६] कुछ संहिताओं ने केशव की प्रतिमा के

---

१. ईश्वर-संहिता. १० २५७—२६१
२. (i) पारमेश्वर संहिता. ११.२१
   (ii) ईश्वर-संहिता, ६.२२
३. (i) सात्वतसंहिता, १२.१७८—१८४
   (ii) ईश्वर-संहिता, ८. ४०—५७
   वही, २४. ३७०—३७६
४ नारदीय संहिता, १३.२३१—२३४
५. सात्वतसंहिता, १२—२२
६ पराशर-संहिता, १३.१८

हाथों में पद्म, शंख, चक्र तथा दण्ड धारण का विधान किया है।[१] हयशीर्ष तथा नारदीय संहिता के अनुसार दण्ड के स्थान में गदा का विधान पूर्वोक्त की अपेक्षा भिन्न है।[२] विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार इस मूर्त्ति के ऊर्ध्वदक्षिण कर में चक्र, वामोर्ध्व कर में शङ्ख, वामाधोहस्त में गदा होगी तथा दक्षिण अधोहस्त अभयमुद्रा में होगा।[३] पराशर-संहिता ने इस मूर्त्ति के साथ श्री तथा भूदेवियों का तथा नारदीय संहिता ने श्री तथा पुष्टि के कल्पन का विधान किया है।[४]

द्वितीय मासाधिप नारायण की प्रतिमा के विषय में सामान्यतः अन्य बातें समान होंगी। अस्त्रादि के विषय में निम्नलिखित विशेषता का निर्देश किया गया है।[५] इस मूर्त्ति के दक्षिणादि हाथों में क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म-कल्पन का निर्देश किया गया है। नारायण की मूर्त्ति की स्थापना भुक्ति तथा मुक्तिदायिनी होती है।[६] विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार नारायण की प्रतिमा के दक्षिण-ऊर्ध्व कर में पद्म-मुकुल, अधोहस्त में चक्र, वाम ऊर्ध्व कर में गदा, अधोहस्त में अम्बुज धारण करने का विधान है। इस मासाधिप का वर्ण कुन्द पुष्प की तरह श्याम अथवा रक्त होना कहा है।[७] वाशिष्ठ-संहिता ने नारायण को केवल शंख तथा चक्रधारक होना कहा है।[८] पराशर-संहिता में वर्णित नारायण के हाथों में चक्र, शंख, गदा तथा पद्म होने का निर्देश है।[९] इसी संहिता के एक अन्य वर्णन के अनुसार नारायण का रूप शंख, चक्र, गदा तथा पद्मधर होता है। वर्ण नीलोत्पल की तरह होता है, यह पुण्डरीकाक्ष पंकजासन पर संस्थित होता है।[१०] शेषसंहिता ने एक स्थान में नारायण के हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का होना कहा है।[११] विश्वामित्र ने नारायण को चक्र, शंख, गदा तथा अम्बुज धारक

---

१. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.३
   (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.३०
२. (i) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.४-५
   (ii) नारदीय संहिता, १३.२३९
३. विष्वक्सेन-संहिता, ११. १५२-१५३
४. (i) पराशर-संहिता, १३.१८
   (ii) नारदीय संहिता, १३.२४२
५. (i) माकण्डेय-संहिता, ८.४
   (ii) पाद्मसंहिता, क्रियापाद, १६.३१
६. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.६
   वही, २१.११
७. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१५४—१५९
८. वाशिष्ठ संहिता, १६.१०
९. पराशर-संहिता, १३.२६
१०. (i) पराशर-संहिता, १०.१४-१५
   वही, ११. ९-१०
   (ii) शेषसंहिता, ६१.१२-१४
११. शेषसंहिता, ५८.६-७

होने के साथ नीलाम्बुज वर्ण, पीताम्बर तथा वनमाला-विभूषित होने का निर्देश किया है। यह मूर्त्ति रत्न-सिंहासन पर आसीन होगी।[१] सात्वतसंहिता में वर्णित नारायण का रूप काञ्चन वर्ण, ब्रह्माञ्जलिबद्ध, शान्त, ध्यानस्थ, कमण्डलुधारक तथा सतत शास्त्राध्ययन-तत्पर होता है।[२] जहाँ तक नारायण-मूर्त्ति के साथ देवियों की स्थापना का प्रश्न है, उस क्रम में तीन तरह का निर्देश देखते हैं: प्रथम श्री तथा भूदेवियों की स्थापना[३], द्वितीय श्रीभू तथा नीला देवियों का कल्पन[४] और तृतीय लक्ष्मी तथा भूदेवियों की कल्पना का विधान।[५]

इसके बाद **तृतीय मासाधिप माधव** के रूप का निर्देश देखते हैं। माधव आराधक के दक्षिण-नेत्र से सम्बद्ध कहा गया है। पाद्म तथा मार्कण्डेय-संहिता के अनुसार माधव गदा, चक्र, शंख तथा अम्बुजहस्त कहा गया है।[६] पराशर-संहिता ने माधव को चक्र, शंख, गदा तथा पद्मधारी होना कहा है।[७] एक वर्णन के अनुसार माधव के अधोवाम हस्त में पङ्कज, ऊपर के हाथ में शङ्ख, दक्षिण-ऊर्ध्व हाथ में चक्र तथा अधःहस्त में गदा का कल्पन निर्दिष्ट है।[८] माधव मधु तथा कैटभ का नाशक कहा गया है। वाम-ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः शंख तथा द्वादशदल रक्त पद्म, दक्षिण-ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः चक्र तथा लगुड धारण का निर्देश किया गया है।[९]

गोविन्द द्वादश मासाधिपों में चतुर्थ मासाधिप को आराधक की वाम आँख से सम्बद्ध होना कहा गया है। इसकी मूर्त्ति के चारों हाथों में चक्र, दण्ड, अब्ज तथा शंख होना कहा है।[१०] पराशर के अनुसार गोविन्द-प्रतिमा चक्र, शंख, गदा तथा पद्मधारिणी होती है।[११] हयशीर्ष-संहिता में निर्दिष्ट गोविन्द की मूर्त्ति के दक्षिण हाथों में नीचे तथा ऊपर क्रमशः चक्र तथा गदा का होना निर्दिष्ट है। बायें ऊर्ध्व तथा अधः हाथों में क्रमशः

---

१. विश्वामित्र-संहिता, ६.४३—४७
२. सात्वतसंहिता, १२.४२—४४
३. पराशर-संहिता, १०.१४-१५
 वही, ११.९-१०
 वही, १३.१०
४. शेषसंहिता, ५८.७
५. विश्वामित्र-संहिता, ६.४७
६. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.३१
 (ii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.४
७. पराशर-संहिता, १३.३३
८. हयशीर्ष-संहिता आदि का०, १९.५-६
९. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१६१—१६३
१०. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.५
 (ii) पाद्मसंहिता, क्रिया पा०, १६.३२
११. पराशर-संहिता, १३.४०

पद्म तथा शंख का होना विहित है।[१] गोविन्द की प्रतिमा तरुण अर्क की अभा की तरह अथवा श्याम या अभ्रवर्ण की होती है। यह पीताम्बरधारिणी होती है।[२]

द्वादश मासाधिपों में अन्यतम **पञ्चम मासाधिप विष्णु-मूर्त्ति** को आराधक के दक्षिण-नासापुट से सम्बद्ध कहा गया है। विष्णु का वर्ण श्याम तथा रक्त होना कहा गया है।[३] विष्णुमूर्त्ति गदा, पद्म, शंख तथा असिधारिणी होती है।[४] हयशीर्ष-संहिता के अनुसार विष्णु के दक्षिण-ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः पद्म तथा गदा का कल्पन निर्दिष्ट है। वाम-ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः शंख तथा चक्र-धारण का विधान किया गया है।[५] पराशर के अनुसार चक्र, शंख, गदा तथा पद्म-धारण का विधान है।[६] एक स्थान में विष्णु को अष्टभुज सर्वाभरण-समन्वित होना कहा है। यह मूर्त्ति पक्षिराज पर आरूढ होती है। इसके हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म, शार्ङ्ग, असि, शर तथा खेटक होना कहा है।[७] यद्यपि विष्वक्सेन-संहिता ने भी चतुर्भुज रूप का पक्षिराज पर आरूढ होना कहा है, फिर भी हाथों के आयुध-वर्णन के अवसर पर शंख तथा चक्र-धारण का निर्देश किया है। अर्थात् दो हाथों में ही आयुध-धारण कहा है। अन्य दो हाथों के अस्त्र का निर्देश नहीं देखते। मासाधिपों में केवल विष्णु का स्थापन विविध अन्य द्वादश तथा दश देवताओं और लोकपालादियों की मूर्त्ति के साथ विहित है।[८] इसी संहिता ने एक दूसरी जगह विष्णु को शंख, चक्र, गदाधर होना कहा है। यहाँ भी केवल तीन आयुधों का ही निर्देश है। इस मूर्त्ति को यानग नहीं कहा है।[९] एक तीसरी जगह के वर्णन में भी विष्णु के चतुर्भुज रूप का निर्देश है। इन चारों भुजाओं में विहित चार आयुधों का भी स्पष्ट वर्णन है। दक्षिण-ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः पद्म तथा गदा और वाम भुजाओं में क्रमशः शंख तथा चक्र के कल्पन का विधान है। इसके अतिरिक्त एक अन्य रूप कटिहस्त-समन्वित, शंख-चक्र उभयोपेत होना कहा है। इस तरह यहाँ विष्णु के नौ रूपों का निर्देश दृष्टिगोचर होता है।

मधुसूदन (षष्ठ मासाधिप) को आराधक के वाम नासिका-छिद्र से सम्बद्ध कहा गया है। यह रूप भी चतुर्भुज होता है। चारों भुजाओं में विविध संहिता-ग्रन्थों के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रम से आयुध-धारण का निर्देश है। मार्कण्डेय-संहिता ने चक्र, शंख, पद्म तथा

---

१. (i) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.८
   (ii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.१६७-१६८
२. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१६४–१६७
३. वही, ११.१६६
४. मार्कण्डेय-संहिता ८.५
५. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.९–१०
६. पराशर-संहिता, १३.४६
७. विष्णु-संहिता, १.१८–२०
८. विष्वक्सेन-संहिता, ३८.५१–५५
९. वही, १५.२५–२८

दण्डधारी रूप का विधान किया है।[१] पाद्म ने इस मूर्त्ति को गदा, पद्म, शंख तथा असिधारक होना कहा है।[२] हयशीर्ष के अनुसार वर्णित रूप के दक्षिण हाथों में नीचे और ऊपर क्रमशः शंख तथा चक्र और वाम ऊर्ध्व तथा अधोहस्तों में क्रमशः पद्म तथा गदा-धारण का विधान है।[३] पराशर ने मधुसूदन को श्री तथा भूदेवियों से युक्त होना तथा सर्वाभरण-विभूषित होना कहा है। यहाँ आयुध-विन्यास का वर्णन नहीं[४] दीखता। विष्वक्सेन के अनुसार दायें हाथों में ऊपर तथा नीचे क्रमशः शंख तथा चक्र का विधान कहा गया है। वाम हस्त में ऊपर तथा नीचे क्रमशः पद्म तथा गदा का कल्पन निर्दिष्ट है। मधुसूदन का वर्ण रक्त होता है।[५] सात्वतसंहिता में मधुसूदन को अष्टभुज होना कहा है। इसका स्वरूप प्रलयानल सूर्य की अभा की तरह होता है। यह मूर्त्ति शंख, चक्र, वार्ण तथा कार्मुक-धारिणी होती है। इसके अतिरिक्त अन्य चार हाथों में अक्षसूत्र, दण्ड, कमण्डलु तथा श्वेत पद्म होना निर्दिष्ट है।[६] ईश्वर-संहिता ने भी मधुसूदन का यही रूप निर्दिष्ट किया है।

द्वादश मासाधिपों में अन्यतम तथा सप्तम अधिप त्रिविक्रम कहा गया है। यह त्रिविक्रम आराधक के दक्षिण-नेत्र का रक्षक कहा गया है। इस मूर्त्ति का स्वरूप आदि दशावतार-वर्णन के क्रम में निर्दिष्ट है।

अष्टम मासाधिप वामनमूर्त्ति आराधक के वाम नेत्र का रक्षक कहा गया है : इसका स्वरूप भी दशावतार-वर्णन-क्रम में वर्णित है।

नवम मासाधिप श्रीधर को वैष्णव-मान्यता के अनुसार आराधक के दक्षिण-स्कन्ध का रक्षक होना कहा है। यह रूप भी चतुर्भुज होता है और इसके हाथों में अस्त्रों का विधान पूर्व मूर्त्तियों की तरह ही होता है। सभी संहिताओं में एकरूपता नहीं दीखती।[७] इसका वर्ण तप्त स्वर्णाभ कहा गया है।[७]

द्वादशमासाधिपों में **दशम मासाधिप हयशीर्ष** को आराधकों के वाम स्कन्ध का रक्षक कहा गया है। सामान्यतः संहिताओं ने इसकी चार भुजाओं और उनमें चार अस्त्रों

---

१. मार्कण्डेय-संहिता, ८.६
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.३२
३. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.११-१२
४. पराशर-संहिता, १३.५२
५. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१७६–१७८
६. (i) सात्वतसंहिता, १२.२०–२४
(ii) ईश्वर-संहिता, २४.२११–२१३
७. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.७
(ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६ ३४
(iii) पराशर-संहिता, १३.६८
(iv) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.१५–१७
(v) विश्वक्सेन-संहिता, ११.१८७–१९०

के धारण का विधान किया है। ये चार अस्त्र हैं—शंख, चक्र, गदा तथा पद्म।[१] इसका वर्ण नीलोत्पल के समान कहा गया है।[२] आयुधों के विषय में अन्य संहिताओं की अपेक्षा पराशर-संहिता में कुछ भेद यह है कि इसने गदा तथा पद्म के स्थान में धनुष तथा बाण का होना कहा है।[३]

एकादश मासाधिप पद्मनाभ के चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म के सामान्यतः कल्पन का विधान है।[४] पराशर-संहिता ने पद्म की जगह खड्ग का विधान किया है। इसके अनुसार नाभिप्रदेश में पङ्कज-कल्पन का निर्देश है।[५] विष्वक्सेन-संहिता ने इसका वर्ण अम्बर की तरह नील कहा है। चारों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म-धारण का निर्देश है। इन आयुधों का हाथों में विधान ऐच्छिक है। इसी संहिता में पद्मनाभ का द्विभुज होना भी निर्दिष्ट है। यह मूर्त्ति शयन-मूर्त्ति होती है। इसकी कर्मार्चा योगमुद्रा समायुक्त शंख तथा चक्र-धारण की होती है। अथवा सामान्य कर्मार्चाओं के लक्षण से लक्षित कर्मार्चा का विधान निर्दिष्ट है। इस मूर्त्ति की नाभि के ऊपर भित्ति के समीप रक्त कमल पर पद्मासन में आसीन ब्रह्मा की मूर्त्ति का कल्पन विहित है। यह मूर्त्ति आराधक की नाभि का रक्षक कही गई है।

यहाँ वर्णित पद्मनाभ-मूर्त्ति की तुलना नारदीय संहिता की अनन्त-शयन की मूर्त्ति से की जा सकती है। प्रायः वहाँ अनन्त-शयन का रूप पद्मनाभ की तरह ही है। नाभ-भेद के अतिरिक्त दोनों में बहुत अधिक भेद नहीं है।

द्वादश मासाधिप दामोदर आराधक के ललाट-प्रदेश का रक्षक कहा गया है। इसके चार हाथों में शंख, चक्र, गदा तथा पद्म-धारण का विधान है।[६] यह पद्म पीठ पर स्थित होता है। गदा, शार्ङ्ग तथा खड्ग इसके आयुध कहे गये हैं।[७] पद्मनाभ का वर्ण नील कहा गया है। यह मूर्त्ति पीताम्बरधारिणी होती है।[८]

इस तरह यहाँ पाञ्चरात्रागम में वर्णित द्वादश मासाधिपों की मूर्त्ति का सामान्य निर्देश किया गया है। इन बारह मूर्त्तियों के उद्भव आदि का वर्णन सृष्टि-प्रक्रिया के क्रम

---

१. पराशर-संहिता, १३ ७४
२. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८.८
(ii) पाद्म सं०, क्रि० पा०, १६. ३५
(iii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.१८-१९
३. पराशर-संहिता १३.८०
४ विष्वक्सेन-संहिता, ११.१९४—१९९
५. वही, ११.१२०—१२६
६. (i) मार्कण्डेय-संहिता ८.९
(ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.३५
(iii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १९.२०-२१
७. पराशर-संहिता, १३.८६-८७
८. विष्वक्सेन-संहिता, ११.२२९—२३२

में वर्णित है। जहाँ तक इन मूर्त्तियों की देवियों के स्वरूप आदि के वर्णन का प्रश्न है, वह उन-उन देवमूर्त्तियों के रूप-वर्णन के साथ यथास्थान किया गया है। सामान्य रूप से देवियाँ पद्म तथा वीणाधारिणी होंगी।

द्वादश मासाधिपों की मूर्त्तियों के रूप-वर्णन के बाद पाञ्चरात्रागम में वर्णित दश अवतारों के स्वरूप-वर्णन का अवसर आता है। इनके उद्भव आदि का वर्णन-क्रम सृष्टि-प्रक्रिया के वर्णन-क्रम में उक्त है। नारदीय संहिता ने प्रथम मत्स्यादि चार प्रादुर्भावों के स्वरूप का और उसके बाद वामनादि अवतार-देवों की मूर्त्तियों का स्वरूप-वर्णन किया है। ये स्वरूप विभिन्न संहिताओं में अधोलिखित रूप में वर्णित हैं :

मत्स्यमूर्त्ति—स्वार्थ तथा परार्थ-अर्चनक्रम के आधार पर मत्स्यमूर्त्ति के उपादान-द्रव्य का निर्देश करते हुए स्वार्थ तथा परार्थ-मूर्त्तियों के लिए क्रमश: फलक तथा पट को उपादान-द्रव्य कहा गया है। इसका वर्ण शुक्ल होता है। इसका रूप पुच्छ तथा पाद-युक्त होता है।[1] हयशीर्ष-संहिता में वर्णित रूप के अनुसार नृमत्स्य या मत्स्य का निर्देश किया गया है। इस मूर्त्ति का गुल्फ भाग तक नारायण के अङ्ग तथा पुच्छ का ऊर्ध्वभाग किञ्चित् आकुंचित की तरह होना कहा गया है।[2] पाद्मसंहिता में मत्स्य की आकृति का स्थूल-कल्पन कर उसके आधार पर शिला, मृद् अथवा दारुमय उपादान-द्रव्यों से मत्स्यमूर्त्ति का कल्पन निर्दिष्ट है। इसके अनुसार मत्स्य की मूर्त्ति चित्र या चित्राभास-रूप में निर्मित हो सकती है। भित्ति पर समुद्र का चित्र अङ्कित कर पञ्चायुध-निर्देशपूर्वक मत्स्य की चित्राभास-कल्पना की जा सकती है। इस मूर्त्ति के साथ नारद मुनि के चित्र का कल्पन तथा अर्चन भी विहित है। मत्स्यावतार के कर्मार्चादि बेरों का स्वरूप सौम्यवक्त्र, चतुर्भुज, शंख, चक्र, गदाधारी, आसीन अथवा स्थित रूप में होना कहा गया है।[3] यह मत्स्यग्रीव, शंख, चक्र, श्रीवत्स तथा कौस्तुभादि धारण किये हुए श्री, भू तथा नीला देवियों से युक्त रूपवाला भी वर्णित है।[4] शेष-संहिता में मत्स्य का अत्युग्र दंष्ट्रा-युक्त शंख-चक्र धारण किये हुए श्वेतवर्ण रूप वर्णित है।[5] विष्वक्सेन-संहिता ने शतपत्रमय पुण्डरीक के मध्य पद्मासनस्थ-रूप में मत्स्य-रूप-कल्पन का निर्देश किया है। उसके चारों तरफ आठ दिशाओं में आठ वर्णों में मत्स्य के आठ रूप-कल्पन का निर्देश किया गया है।

---

१ विष्णु-संहिता, १४ १—५
२. हयशीर्ष-संहिता, २० १—५
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.२—६
४. पराशर-संहिता २८ ६
 वही, २० २१
 वही, २५ २७-२८
 वही, ३०-३२
 वही, ३६-३७
५. शेष-संहिता, २२ १४-१५

इस वर्णन में पूर्ण स्पष्टता के अभाव में इसका पूर्ण रूप स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। पर यह मत्स्य-रूप अपने ढंग की एक विचित्र मूर्त्ति मालूम पड़ता है। इस तरह यहाँ बीच की एक मूर्त्ति तथा आठों दिशाओं में कल्पित आठ मूर्त्तियों के साथ कुल मूर्त्तियों की संख्या नौ होती है। इस मत्स्य का रूप त्रिनेत्र, द्विभुज, पद्मधारी तथा कनक-प्रभायुक्त होना कहा गया है।[१] मत्स्य की मूर्त्ति का मान षोडशांगुल आयाम तथा तदर्ध उसका विस्तार कहा गया है।[२] मान का निर्देश हयशीर्ष-संहिता, मार्कण्डेय-संहिता तथा पाद्मसंहिता में भी किया गया है,[३] पर सबमें सर्वथा साम्य नहीं है। मत्स्यपुराण ने भी मत्स्य की मूर्त्ति के कल्पन का वर्णन किया है।[४]

कूर्ममूर्त्ति का रूप सामान्यतः कछुए की तरह होता है। इसके दो तरह के रूप निर्दिष्ट हैं। एक स्वरूप पूर्ण कछुए की तरह बनाने का विधान है।[५] दूसरे मत के अनुसार इसका शरीर मनुष्य की तरह तथा मस्तक कूर्म की तरह होता है।[६] कूर्म कृष्णवर्ण[७] तथा स्वर्णवर्ण[८] भी कहा गया है। इसकी प्रतिमा चारों ओर से चन्द्र या सूर्य की ज्योति से युक्त होती है[९] या इसको चन्द्रमण्डल के मध्य स्थित होना कहा है।[१०] इसके चार हाथ होते हैं। यह मूर्त्ति सर्वाभरण-विभूषित होती है। इसके हाथों में शंख, चक्र, शार्ङ्ग, बाण, असि, खेटक, अग्निशूल तथा पाश सुशोभित होते हैं।[११]

---

१. विष्वक्सेन-संहिता, ११.३१—३८
२. नारदीय संहिता, १३.२४५
३. (i) हयशीर्ष-संहिता, आदि० २०.१—३
   (ii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.१९
   (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.२
४. मत्स्यपुराण, २८८.३९
५. (i) नारदीय संहिता, १३.२४७
   (ii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.७
   (iii) ईश्वर-संहिता, २४.२६०
   (iv) मार्कण्डेय-संहिता, ८.२०
   (v) पराशर-संहिता, १५.१२३
६. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.७
७. विष्वक्सेन-संहिता, ११.३९
८. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.७
   (ii) ईश्वर-संहिता, २४.२६०
   (iii) पौष्कर-संहिता, २४.२२
९. हयशीर्ष-संहिता, २३.५
१०. पराशर-संहिता, २९.५
११. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ११.३९—४३
   (ii) पौष्कर-संहिता, २४.२३
   (iii) पराशर-संहिता, १२.१३
   (iv) शेष-संहिता, २२.२३

कूर्म का रूप स्वस्तिक-चिह्नयुक्त तथा कूर्म-मुद्रा मुद्रित भी हो सकता है।[१] कूर्म का मुख वेद-पारायण करते हुए व्यक्ति के मुख की तरह उद्घाटित होना कहा गया है।[२] इसके तीन नेत्र होते हैं। साथ में श्री तथा पुष्टि[३] या श्री तथा भूदेवियों की[४] कल्पना का निर्देश है। एक वर्णन के अनुसार कूर्म-मूर्त्ति को बारह अन्य कूर्ममूर्त्तियों से घिरा होना कहा गया है।[५] कच्छप की पीठ पर क्षीरोदमथन-रूप-लेखन का विधान है। यह रूप आभास या अर्द्धचित्र रूप में कल्पित हो सकता है। यहाँ कच्छप के पृष्ठभाग पर मन्दर पर्वत की कल्पना की जाती है। उसके दक्षिण भाग में स्थित वासुदेव उस पर्वत पर हाथ रखकर विद्यमान होते हैं। वाम भाग में ब्रह्मा के साथ शिव की मूर्त्ति कल्पित होती है। मन्दर में लगे वासुकि के पूर्व भाग को राक्षस-समुदाय तथा पुच्छ भाग को देवताओं का समूह खींचता है। जहाँ तक इसके कर्मार्चादि रूपों का प्रश्न है, वह सौम्यमुख चतुर्भुज[६] होते हैं। नारदीय संहिता ने इसकी प्रतिमा का मान द्वादशाङ्गुल-सम्मत कहा है। पाद्मसंहिता ने भी इस मूर्त्ति का मान इसी प्रकार होना कहा है।[७] हयशीर्ष तथा मार्कण्डेय-संहिताओं ने भी इसके मान का निर्देश किया है, पर यह मान नारदीय तथा पाद्म की अपेक्षा भिन्न तथा दोनों में दो तरह के मान कहे गये हैं।[८] कूर्म का रूप मत्स्य-पुराण में भी वर्णित है।[९]

वराह-मूर्त्ति—वराह की मूर्त्ति आकण्ठ पुरुषाकृति तथा उसके ऊपर शूकर के मुख का होना कहा है।[१०] इस मूर्त्ति का वर्ण शंख की तरह या श्याम, श्वेत तथा नीलोत्पल की

---

१. पौष्कर-संहिता, २४.२२
२. ईश्वर-संहिता, २४.६२
३. विष्वक्सेन-संहिता, ११.३९
   वही, ३९. ४४-४५
४. पराशर-संहिता, २४.५
५. विष्वक्सेन-संहिता, ३९.४२
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.९—१२
७. (i) नारदीय संहिता. १३.२४७
   (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.७
८. (i) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.५—६
   (ii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.२०—२२
९. मत्स्यपुराण, २५८ ३९
१०. (i) नारदीय संहिता, १३.२४८
   (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.१२
   (iii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.२२—२८
   (iv) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, १३.१८—२२

तरह हरा या काला होता है।[१] इसके हाथों की संख्या चार[२] से सोलह[३] तक होना निर्दिष्ट है। नारदीय संहिता ने पीछे के दक्षिण तथा वाम हाथों में क्रमशः चक्र तथा शंख धारण किये हुए, मुख पर आगे के दोनों हाथों से साकार भूमि को सादर वहन करते हुए, वाम गोद में स्थापित देवी को सूँघते हुए, दोनों चरणों को दक्षिण हस्त से पकड़े हुए, वाम हस्त से स्नेहालिङ्गन करते हुए, कल्पित होना कहा है। देवी का रूप सुस्मितानन, मकुटादि आभूषणों से विभूषित होता है। श्यामा स्फुटाञ्जलि-रूप होती है। वराह-मूर्त्ति पीठ के मध्य स्थित होती है। विविध मुकुटादि आभूषणों से युक्त वराह-मूर्त्ति का एक पाद ऊपर की ओर उठा होता है।[४] पराशर ने भी इसे किरीट धारण किये हुए कहा है।[५] हयशीर्ष-संहिता ने वराह के वाम हाथ में शंख या लक्ष्मी के कल्पन का निर्देश किया है।[६] कुछ संहिता-ग्रन्थों ने इस मूर्त्ति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के मान का भी निर्देश किया है।[७] वराह-मूर्त्ति की स्थापना आसीन या स्थानक रूप में ही अनुमत है। इसकी शयान या यानग मूर्त्ति का कल्पन निषिद्ध है। वराह की स्थापना बहुबेर-विधान से ही विहित है।[८] वराह के तीन रूप विष्वक्सेन संहिता में वर्णित हैं। यद्यपि तीनों का पृथक्-पृथक् नाम-निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी रूप निश्चित ही तीन तरह के हैं।[९] वैखानसागम के विमानार्चनकल्प ने वराह के तीन रूपों का निर्देश किया है: १. आदिवराह, २. प्रलय-वराह तथा ३. यज्ञ-वराह। इन तीनों के रूप भिन्न-भिन्न रूप से तीन तरह के कहे गये हैं।[१०]

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.२५९
 (ii) पराशर-संहिता, ३०.१८
 (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.१३
 (iv) सात्वत-संहिता, १२.४६

२. (i) नारदीय संहिता, १३.२४९
 (ii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.४५—५७
 (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.१३
 (iv) हयशीर्ष-संहिता, २३

३. पराशर-संहिता, ३०.१०; १३-१४; १७-१८; २१;२६;३२

४. नारदीय संहिता, १३.२४९—२५२

५. पराशर-संहिता, ३०.१४

६. हयशीर्ष-संहिता, ८

७. (i) नारदीय संहिता, १३.१५३—१५६
 (ii) हयशीर्ष-संहिता, २३.१८—२१

८. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.१४
 (ii) नारदीय संहिता, १३ २५७

९. नारदीय संहिता, १३.२५८

१०. विष्वक्सेन-संहिता, ११.४५—४७

नृसिंह—प्रादुर्भावों में अन्यतम नृसिंह के रूप का वर्णन प्रायः सभी पाञ्चरात्र तथा वैखानस आगम-ग्रन्थों में देखते हैं। मुख्य रूप से इसकी दो[1] तरह की मूर्त्तियाँ निर्दिष्ट हैं : एक स्थित तथा दूसरी आसीन[2]। नारदीय संहिता ने नृसिंह के तीन—स्थित, आसीन तथा यानग रूपों का वर्णन किया है। यह आसीन रूप योगासन का होता है और यह रूप विस्तार के साथ निर्दिष्ट है। इस रूप की कल्पन-विधि का वर्णन भी यहाँ देखते हैं।[3] स्थित और आसीन दोनों ही मूर्त्तियों के मुख सिंह की तरह तथा शरीर मनुष्य की तरह होते हैं।[4] इसके तीन नेत्र तथा दंष्ट्रायुक्त विवृत मुख का विधान है। नारदीय संहिता ने भी इसी तरह के रूप का निर्देश किया है। इसके अनुसार ये तीनों नेत्र सूर्य, चन्द्र तथा अग्निरूप हैं।[5] विष्वक्सेन-संहिता तथा विष्णुतन्त्र के अनुसार नृसिंह-मूर्त्ति द्विबाहु होती है। इसके वाम तथा दक्षिण हाथों को क्रमशः शंख तथा चक्र-विभूषित होना कहा है।[6] बहुत-सारे संहिता-ग्रन्थों में नृसिंह का चतुर्भुजरूप वर्णित है। इनके चार हाथों में धार्यमान आयुध शंख, चक्र, गदा तथा पद्म कहे गये हैं।[7] कुछ ग्रन्थों में आयुधों का क्रम विपरीत होना कहा है। हयशीर्ष-संहिता ने इस चतुर्भुज-रूप का भी दो तरह से वर्णन किया है। प्रथम पक्ष में इसके तीन हाथों में शंख, चक्र तथा गदा-धारण का निर्देश है। चतुर्थ हस्त के आयुध का वर्णन नहीं देखते। प्रायः यह हस्त अभय-हस्त होगा। द्वितीय पक्ष में पीछे के दो हाथों में शंख तथा चक्र का कल्पन होता है। आगे के दो हाथों से महासुर का विदारण करता हुआ रूप निर्दिष्ट है।[8] नारदीय संहिता ने चतुर्भुजों में पीछे के दो दक्षिण तथा वाम बाहुओं में क्रमशः चक्र तथा शंख एवं

---

१. विमानार्चनकल्प, पटल ५७, पृ० ३६९-३७०
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.२६
३. नारदीय संहिता, १३.२५९—२६२
४. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ११.५८
   (ii) विष्णुतन्त्र, १७.३
   (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.२२-२३
५. (i) नारदीय संहिता, १३.२६२; २६४
   (ii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.५८
   (iii) विष्णुतन्त्र, १७.५
   (iv) पराशर-संहिता, २५.१०
   (v) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.२२-२३
   (vi) शेषसंहिता, २३.१९
६. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ११ ५८—६०
   (ii) विष्णुतन्त्र, १७ ८
७. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १६.४०
   (ii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.२८—३०
८. (i) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३
   (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १९.३७

आगे के दोनों हाथों को जानु के ऊपर स्थापित होना कहा है।[1] इसके अलावा नृसिंह का अष्टभुज[2] या षोडशभुज होना भी वर्णित है। नृसिंह के परिवार-रूप में दक्षिण में ब्रह्म तथा वाम में शंकर की स्थापना का विधान है। पार्श्व में प्रह्लाद तथा गरुड की कल्पना विहित है।[3] स्वतन्त्र नृसिंहालय में कर्मार्चा का विधान है। नृसिंह के कर्मार्चादि बेर का स्वरूप सौम्य तथा चतुर्भुज होता है। यह मूर्त्ति श्री तथा भूमि-सहित या भूमि-रहित भी हो सकती है।[4] कुछ संहिताओं के अनुसार नृसिंह का रूप अष्टलोचन-युक्त कहा गया है। साथ ही इन संहिताओं ने नृसिंह-मूर्त्ति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की कल्पना का निर्देश भी किया है।[5] नारदीय संहिता के अनुसार इस मूर्त्ति का मुख षोडशांगुल, मुख के चतुर्दिक् चार अंगुल मानयुक्त सुन्दर तथा भयोत्पादक सटावृत कल्पित होना कहा है। श्रोत्रद्वय द्विशुक्ति-परिमाणक होते हैं। उसका विस्तार दो अंगुल तथा आयाम तीन या चार अंगुल परिमाणवाला कहा गया है। नृसिंह के स्थापन में शयन-बेर की स्थापना तथा एकबेर-विधि से इसका स्थापन तथा अर्चन निषिद्ध है। स्थानक नृसिंह-मूर्त्ति का लक्षण वासुदेव-मूर्त्ति की तरह कहा गया है। यानग नृसिंह-मूर्त्ति के भी सारे लक्षण वासुदेव-मूर्त्ति की तरह ही निर्दिष्ट हैं।[6] ईश्वर-संहिता ने पुच्छ-नृसिंह का उल्लेख किया है। यह मूर्त्ति पुच्छ से भूमि का ताडन करती दिखाई गई है। यहाँ यह नाम सर्वथा अन्वर्थ नाम की तरह है।[7] विहगेन्द्र-संहिता ने नृसिंह के प्रायः ७४ भेद नामोल्लेखपूर्वक बताये हैं, जिनके नाम अधोलिखित हैं : १. स्वयं नृसिंह, २. मोक्षनृसिंह, ३. विजय-नृसिंह, ४. छत्रनृसिंह, ५. दीर्घ नृसिंह, ६. विरूप नृसिंह, ७. पूर्ण नृसिंह, ८. अब्धि नृसिंह, ९. लक्ष्मी-नृसिंह, १०. विजयलक्ष्मी-नृसिंह, ११. योग- नृसिंह, १२. योगेश्वर नृसिंह, १३. दीप्ति-नृसिंह, १४. पुष्टि नृसिंह; १५. भूतप्रभाथि नृसिंह, १६. ज्वाला नृसिंह, १७. उग्र नृसिंह, १८. घोर नृसिंह, १९. विदारण नृसिंह, २०. अहोबल नृसिंह, २१. स्तम्भ नृसिंह, २२. महानृसिंह, २३. पाताल नृसिंह, २४. अनन्त नृसिंह, २५. ग्रहण नृसिंह, २६. प्रमन नृसिंह, २७. आवेश नृसिंह, २८. अट्टहास नृसिंह, २९. नवव्यूह नृसिंह, ३०. चक्रनृसिंह, ३१. दिक्नृसिंह, ३२. चण्डनृसिंह, ३३. अरनृसिंह, ३४. प्रसादनृसिंह, ३५. ब्रह्म नृसिंह, ३६. विष्णु नृसिंह, ३७. रौद्र नृसिंह, ३८. मार्त्तण्ड नृसिंह, ३९. चन्द्रनृसिंह,

---

१. नारदीय संहिता, १३.२६३
२. पराशर-संहिता, २५.१०
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.३१—३४; ३७—३९
४ पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.४०-४१
५. (i) सात्वत-संहिता, २४.१८०—२२७
(ii) ईश्वर-संहिता, १७.१८१—२२७
(iii) श्रीप्रश्न-संहिता, १३,९६—१४२
६. नारदीय संहिता, १३.२६५—२७१
७. ईश्वर-संहिता, ४ ७४—७५

४०. भैरव नृसिंह, ४१. पृथिवी नृसिंह, ४२. वायु नृसिंह, ४३. आकाश नृसिंह, ४४. ज्वलन नृसिंह, ४५. आधार नृसिंह, ४६. अमृत नृसिंह, ४७. हंस नृसिंह, ४८. आत्म-नृसिंह, ४९. सत्य नृसिंह, ५०. यज्ञ नृसिंह, ५१. अन्नदान नृसिंह, ५२. प्रभास नृसिंह, ५३. विश्वरूप नृसिंह तथा ५४. तितार नृसिंह। यहाँ ग्रन्थ के प्रतिज्ञा-वाक्य तथा उपसंहार-वाक्यों के अनुसार नृसिंह के ७४ रूपों का निर्देश है।[१] क्रमशः नामों के परिगणन से यह संख्या ५४ होती है। व्यूह, नव तथा दिक् नृसिंह की संख्याएँ यदि २० मानी जायँ तो इन सबके योग से कदाचित् उपर्युक्त ७४ नृसिंह-भेद की गणना पूर्ण हो जा सकती है। इस तरह पाञ्चरात्रागम में जितने भेद नृसिंह-मूर्त्ति के देखते हैं उतने भेद अन्य किसी देव के नहीं देखते।

वामन—नारदीय संहिता ने पञ्चम अवतार-मूर्त्ति वामन की प्रतिमा का कल्पन पञ्चताल मान से किया जाना कहा है। मुख, पाद, जानु तथा सभी अंग अल्प प्रमाणक पाँच ताल मान से ही कल्पित होंगे। वामन की मूर्त्ति लम्बोदर होगी। वपु कुमार की तरह होगी। नासिका चिपटी तथा वर्ण श्याम होता है। सामवेद के स्वाध्याय में तत्पर लोचन, पद्म की तरह होते हैं। वाम हस्त में नवीन पलाश-दण्ड तथा दूसरा हाथ स्वाध्याय-न्यस्त होना कहा गया है। स्मित मूर्त्ति प्रसन्न-वदन, जटावल्कल-विभूषित होती है।[२] वामन-अवतार-रूप के विषय में पाञ्चरात्रागम की कुछ अन्य संहिताओं ने भी इसी तरह के रूप-कल्पन का निर्देश किया है।[३] मार्कण्डेय-संहिता ने नारदीय संहिता की तरह ही वामन-मूर्त्ति को द्विबाहु होना कहा है। पर यहाँ वामन के आसीन, शयान, स्थित तथा यानग—ये चारों रूप कल्पन के योग्य कहे गये हैं। इसके अनुसार वामन को एकबेर-विधान से ब्रह्मस्थान में ही प्रतिष्ठापित किया जाना चाहिए। बहुबेर-विधि से स्थापना के क्रम में वामन का रूप त्रैलोक्याक्रमणद्योतक होना निर्दिष्ट है। बहुबेर-विधि में वामन की भार्या तथा पुरोहित का कल्पन भी विहित है। यद्यपि यहाँ इसका रूप चतुर्भुज होना निर्दिष्ट नहीं है, फिर भी शंख, चक्र, गदा तथा खड्गधारी रूप के निर्देश से इसका चतुर्भुज होना स्वतः सिद्ध होता है।[४] पाद्मसंहिता ने वामन के विविध रूपों का निर्देश किया है। यहाँ जो रूप वर्णित हैं, वे दो तरह के कहे गये हैं। एक तो विना किसी नाम-विशेष के ही वामनाकार कहकर वर्णित है। दूसरा रूप दिव्यरूप होना कहा गया है। सामान्य रूप वामनाकार, श्यामलाङ्ग मेखला-सुशोभित, कौपीन, मृगाजिन तथा यज्ञोपवीतधारी, सव्यचरण, ईषत्कुञ्चित तथा दक्षिण चरण ऋजु होना कहा है। इसका दक्षिण

---

१ विहगेन्द्र-संहिता, ४७—१७

२. नारदीय संहिता, १३.२७१-२७२

३. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ११.६५—७१
   (ii) सात्वत-संहिता, २४.२३५—२३७
   (iii) ईश्वर-संहिता, १७.२३६-२३७
   (iv) श्रीप्रश्नसंहिता, १३.१५१-१५२

४. मार्कण्डेय-संहिता, ८.३१—३८

हाथ वसुन्धरा की याचना करता हुआ होता है। पाद्म ने वामन के स्थित, शयान या यानग रूप की कल्पना का निर्देश किया है। मार्कण्डेय की तरह यहाँ भी वामन को एकबेर या या बहुबेर-रूप में स्थापित किये जाने का निर्देश है। वामन के दिव्य रूप की कल्पना के क्रम में इस मूर्त्ति के दक्षिण भाग में वामन-आकृतिक वामन तथा अपसव्य भाग में दैत्येन्द्र बलि की मूर्त्ति का कल्पन विहित है। यहाँ परिवार के रूप में पक्षीन्द्र, ब्रह्मा, गङ्गा आदि के कल्पन का विधान किया गया है। इस रूप को शंख, चक्र, गदा, खड्ग, धनुष तथा पाशादिधारी होना कहा गया है। आलय-भित्ति पर भेरी-ताडन-तत्पर जाम्बवान् तथा स्तुति-संलग्न ऋषि-मुनियों के चित्र की कल्पना का निर्देश किया गया है। वामन की कर्मार्चा चतुर्भुज होती है।[१] पराशर के अनुसार वामन का रूप चक्र, शंख, छत्र तथा वंशधारी होना विहित है। इस रूप के साथ लक्ष्मी का कल्पन भी निर्दिष्ट है।[२] हयशीर्ष-संहिता ने अत्यन्त साधारण तथा संक्षिप्त रूप में वामन के रूप का वर्णन किया है।[३] विष्णुतन्त्र के अनुसार वामन का रूप स्थानक या आसीन ही होता है। यहाँ वामन का शयान या यानग रूप-कल्पन निषिद्ध है।[४] शेषसंहिता में तेजःपुञ्ज यज्ञसूत्र, शिखाधारी, कमण्डलु तथा छत्र हाथ में लिये हुए रूप का वर्णन है।[५]

त्रिविक्रम—वामन का ही प्रादुर्भाव-रूप त्रिविक्रम है, यह कहना गलत नहीं होगा। मान्यताओं के अनुसार भगवान् विष्णु ने वामन के रूप में राजा बलि से तीन पग पृथिवी की याचना की थी, पर उसे मापने के समय सहसा उसे वंचित कर अति विशाल रूप धारण कर लिया था और उस रूप से तीन ही पग में सारी वसुन्धरा के साथ उसके शरीर को भी नाप डाला था। पाञ्चरात्र-संहिताओं के अनुसार त्रिविक्रम भगवान् विष्णु के अवतारों में अन्यतम है। जैसाकि ऊपर कहा गया है, त्रिविक्रम वामन का ही रूप-विशेष है, पर इसकी आकृति वामन की आकृति से सर्वथा विपरीत अति विशाल होना कहा गया है। त्रिविक्रम-रूप के साथ वामन-रूप के कल्पन का भी विधान है। त्रिविक्रम का एक पाद ऊपर की ओर उठा हुआ तथा दूसरा पाद राजा बलि के पास स्थित होता है। यह रूप चतुर्भुज होता है और गदा, पंकज, चक्र तथा शंख धारण किये हुए होता है।[६] विष्णुतिलक-संहिता ने त्रिविक्रम के वाम पाद को भूमि पर स्थित तथा सव्येतर पाद को बलि के मस्तक पर आकाश में स्थित होना कहा है।[७] त्रिविक्रम का वर्ण तप्त स्वर्ण की तरह अथवा कृष्ण होना कहा है।[८] कुछ ग्रन्थों में त्रिविक्रम को

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.४१—५४
२ पराशर-संहिता, १५.१८६
३. हयशीर्ष-संहिता, २३.२२—२४
४. विष्णुतन्त्र, १९.३
५. शेषसंहिता, ८.७
६. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.२१—२३
७. विष्णुतिलक-संहिता, ६.४२५-४२६
८. विष्वक्सेन-संहिता, ६.१७९

सभी अलङ्कारों से विभूषित तथा दो या चार हाथों से संयुक्त होना कहा है।[१] विष्णु-तिलक ने त्रिविक्रम के यानग रूप का वर्णन किया है। यहाँ त्रिविक्रम का गरुड के स्कन्ध पर कल्पित होने का विधान है।[२] नारदीय संहिता ने त्रिविक्रम के रूप का वर्णन सामान्यतः संक्षिप्त रूप में किया है। इसके अनुसार त्रिविक्रम का रूप विविध अस्त्रों से युक्त भुजाबलि-समन्वित होता है। इसके चरण में जाह्नवी तथा वैजयन्ती की आभा होती है। यह एक पाद पर स्थित, दूसरे पाद को ऊपर की ओर उठाये होता है। यह रूप समस्त आश्चर्यों से युक्त होता है।[३] यद्यपि त्रिविक्रम का त्रिविधायुध-युक्त रूप पाद्म-संहिता में प्रत्यक्षतः वर्णित नहीं है, फिर भी पाद्म के अनुसार वर्णित वामन के दो रूपों में से अन्यतम रूप दिव्यरूप विविध आयुधों से युक्त होना कहा है। प्रायः यह वामन का दिव्य रूप त्रिविक्रम-रूप है। इस प्रकार नारदीय के त्रिविक्रम तथा पाद्म के दिव्य वामन-रूप में हम सामान्यतः समानता देखते हैं।

परशुराम—परशुराम की मूर्ति सामान्यतः आसीन तथा स्थित, दोनों रूपों में वर्णित है। नारदीय संहिता के अनुसार परशुराम का वर्ण सुवर्ण की तरह होता है। तेज से जाज्वल्यमान दो भुजाएँ, चर्माम्बर धारण किये हुए, योगासन में आसीन, ध्यान-परायण, हाथ में कुठार धारण किये हुए रूप यहाँ वर्णित है।[४] इसका अन्य आसीन रूप द्विभुज, जटामुकुट-समन्वित, दक्षिण तथा वाम हाथों में क्रमशः परशु और सशर चाप धारण किये हुए, ब्राह्मी लक्ष्मी से सुशोभित, श्रीवत्स से समलंकृत वक्षःस्थल, उपवीत धारण किये हुए निर्दिष्ट है।[५] अन्य ग्रन्थों में परशुराम के वाम तथा दक्षिण हाथों में क्रमशः कमण्डलु तथा अक्षसूत्र-धारण का विधान है।[६] परशुराम की स्थित मूर्ति का स्वरूप त्रिभङ्गीयुक्त कहा गया है और एकबेर-विधि में ब्रह्मपद में उसकी स्थापना का विधान है।[७] परशुराम की चतुर्भुज मूर्ति का निर्देश भी देखते हैं। इनके चारों हाथों में आयुध-कल्पन के विषय में सभी संहिताओं में एकरूपता नहीं देखते। इस क्रम में पाद्म-संहिता ने जहाँ शंख, चक्र, शार्ङ्ग तथा शरहस्तरूप होना कहा है, वहाँ हयशीर्ष-संहिता ने धनुष, खड्ग, खेटक तथा कुठारधारी रूप की कल्पना का निर्देश किया है।[८] परशुराम की कर्मार्चा चतुर्भुज या जामदग्न्य की तरह रूप-सम्पन्न भी हो सकती है।[९]

---

१. (i) पराशर-संहिता, १५
   (ii) विष्णुतिलक-संहिता, ६.४२५
२. विष्णुतिलक-संहिता, ६.४२७-४२८
३. नारदीय संहिता, १३.२७१—२७५
४. वही, १३.२७८—२८०
५. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.५५—५७
६. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ११.७१—७५
   (ii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २४.२७
७. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.५७—५६
८. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.५६-६०
   (ii) हयशीर्षसंहिता, आदि का०, २४.२५—२७
९. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.५८

राम—राम की प्रतिमा दो तरह की कही गई है : स्थित तथा आसीन ।[1] स्थित मूर्त्ति का स्वरूप द्विबाहुयुक्त, शर तथा धनुषधारी त्रिभङ्गी-क्रम से कल्पित होता है । नारदीय संहिता ने केवल इसी रूप का निर्देश तथा कल्पन-प्रकार कहा है । राम का रूप श्यामवर्ण, विशालाक्ष, मकुटादि सर्वाभूषण-विभूषित, कटिसूत्र समस्थ, सशर करयुक्त, दक्षिणलोचन से सविलास अवलोकन करते हुए, वाम हाथ में सज्यधनुष धारण किये हुए होता है । धनुष पीठ पर स्थित होता है और उसका परिमाण राम की प्रतिमा के ललाट-पर्यन्त होता है । यह रूप लीलाओं से युक्त तथा राजचिह्नों से अङ्कित होता है । उत्तर तथा दक्षिण में सीता तथा लक्ष्मण की स्थिति होती है, अथवा दक्षिण भाग में हनुमान् का कल्पन होता है । लक्ष्मण का रूप तथा उसकी आकृति राम के समान निर्दिष्ट है । इसका उच्छ्राय राम के कन्धे तक होगा । सीता शुभलक्षणों से युक्त होती है और हनुमान् का रूप वानराकार होना कहा गया है । हनुमान् का हेम वर्ण होता है । दाशरथि राम की प्रतिष्ठा सर्वदा बहुवेर-विधान से ही की जानी चाहिए ।[2] पाद्मसंहिता तथा हयशीर्ष-संहिता में भी राम का वर्णन देखते हैं । पाद्म ने राम-मूर्त्ति के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की कल्पना का निर्देश तथा मानादि बताया है । पर, यहाँ राम का एकवेरार्चन भी अभिमत है । एकबेरार्चन-विधि में राम की स्थापना ब्रह्मभाग में की जाती है । पाद्मसंहिता ने अन्य प्रकार से भी राम के कल्पन का विधान किया है । इस क्रम में लक्ष्मण-भरतादि सारे राम-परिवार के कल्पन का सविस्तर वर्णन देखते हैं ।[3] त्रिभङ्गी का लक्षण पाद्मसंहिता तथा हयशीर्ष-संहिता में उभयत्र समान रूप से वर्णित है । त्रिभङ्गी स्वरूप का स्पष्ट निर्देश विष्वक्सेन-संहिता में इस प्रकार कहा गया है :

मुखे शरीरे कट्यां च त्रिष्वङ्गेषु नारद !
त्रिभङ्गित्वान्मुनिश्रेष्ठ त्रिभङ्गीति प्रपद्यते ।।[4]
मुखं दक्षिणतो भङ्गं तनुमध्यं तु वामतः ।
दक्षिणे कटिभङ्गस्तु भङ्गत्रयमुदाहृतम् ।।[5]

पाद्मसंहिता में वर्णित त्रिभङ्गी का लक्षण भी सर्वथा ऐसा ही है ।[6]

नारदीय संहिता ने भी त्रिभङ्गी-स्वरूप का वर्णन इसी प्रकार किया है, पर यह वर्णन राम के वर्णनक्रम में नहीं, अपितु श्रीकृष्ण-मूर्त्ति-कल्पन के अवसर पर निर्दिष्ट है :

वक्त्रं दक्षिणतः पद्मं कायमध्येन वामतः । कटिं दक्षिणतस्तद्वत्...।।[7]

---

१. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.६०
   (ii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २०.३०
२. नारदीय संहिता, १३.२८०—२८८
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.८२—१०५
४. विष्वक्सेन-संहिता, ११.९७-९८
५. वही, ११.१२१-१२२
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.६४-६५
७. नारदीय संहिता, १३.२९३-२९४

स्थित रूप में जब राम की कल्पना चतुर्भुज रूप में होती है तब उसके हाथों में धनुष-बाण के अतिरिक्त शंख तथा चक्र धारण का विधान है।[1] अगस्त्य-संहिता के अनुसार राम की मूर्ति पद्म के अन्तः वीरासन में आसीन रूप में कल्पित होती है। यहाँ राम का वाम हस्त सीता के स्तन को स्पर्श करता हुआ तथा दक्षिण हस्त ज्ञानमुद्रा के रूप में होना निर्दिष्ट है। पक्षान्तर में यहाँ राम के चतुर्बाहु रूप का भी निर्देश किया गया है। उस रूप के अवशिष्ट दो हाथों में धनुष तथा बाण की कल्पना का विधान देखते हैं। यहाँ भी राम का रूप श्यामवर्ण होना कहा है। राम, हनुमान् तथा वशिष्ठादि परिवार से युक्त होंगे।[2] राम के साथ लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के रूपों के विषय में भी वर्णन किया गया है। इन सबके वाम हस्त में चाप तथा दक्षिण हस्त में बाण होना कहा गया है। राम की स्थिति मध्य में होती है। वाम पार्श्व में लक्ष्मण तथा दक्षिण पार्श्व में सीता का स्थान निर्दिष्ट है। शत्रुघ्न तथा भरत का स्थान क्रमशः उत्तर तथा दक्षिण में कहा गया है। यहाँ उत्तर से कदाचित् वाम भाग विवक्षित हो सकता है। परिवार-विधि तथा स्वतन्त्र रूप से स्थापन-क्रम में उभयत्र शत्रुघ्न तथा भरत को चामरहस्त होना कहा है। इस क्रम में अस्वतन्त्र सपरिकर राम की स्थापना का भी निर्देश किया गया है।[3] स्वतन्त्र राम की कल्पना के अवसर में कर्मादि विम्बों के कल्पन का निर्देश है। राम का आसीन बेर-स्थापन प्रभा से परिष्कृत सिंहासन पर सपरिकर स्थापित करने का विधान है। अथवा कर्मार्चादि चतुर्भुज भी स्थापित किये जा सकते हैं। स्वतन्त्र राम की प्रतिष्ठा में द्वारपार्श्व में दौवारिकों की कल्पना का निर्देश देखते हैं। वहाँ शुक्लवर्ण नल दक्षिण-पार्श्व में तथा स्वर्णाभ जाम्बवन्त वाम-पार्श्व में होते हैं। ये दोनों क्षुरिका तथा वेत्रहस्त, बद्ध कल्याण-कञ्चुक कहे गये हैं। विष्वक्सेन के स्थान में सेनापति नील की स्थापना निर्दिष्ट है। पक्षान्तर में इस पद में गुह अथवा विष्वक्सेन की स्थापना की जानी चाहिए। राम के समक्ष आगे मुखमण्डप में मारुति की कल्पना की जानी चाहिए, अथवा उस जगह गरुड की कल्पना भी की जा सकती है।[4]

कृष्ण— विष्णु के विविध अवतारों में अन्यतम तथा अत्यन्त प्रसिद्ध कृष्णावतार के विविध रूपों का विस्तृत वर्णन हम कई पाञ्चरात्र-संहिताओं में देखते हैं। कृष्ण के मूर्त्ति-कल्पन का निर्देश करते हुए नारदीय संहिता ने इसका वर्ण वर्षाकालीन मेघ के वर्ण के समान श्याम होना कहा है। यह रूप द्विभुज होता है। कृष्ण का वाम कोर्पर सत्यभामा के स्कन्ध पर रखा होना कहा है। तलाग्र अवाङ्मुख कटिपर्यन्त होता है। इस मूर्त्ति का दक्षिण हस्त नाभिसूत्र-पर्यन्त कल्पित होता है और यह विलास-मुद्रा-सम्पन्न केलियष्टि-विभूषित होना निर्दिष्ट है। कृष्ण का स्थित रूप त्रिभङ्गी-युक्त होता है। त्रिभङ्गी का वर्णन हमने ऊपर राम की मूर्त्ति के वर्णन-क्रम में देखा है।

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.६५
२. अगस्त्य-संहिता, ३०
(M. G. O. M. L. Ms. R. 5059)
३. विष्वक्सेन-संहिता, ११.९९—१०९
४. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.१०७—११२

श्रीकृष्ण का वस्त्र पीत कौशेय वर्ण होता है। यह रूप क्रीडा के लिए उद्यत होता है। इस रूप के दक्षिण भाग में भगवान् के रूप को निहारती हुई रुक्मिणी की प्रतिमा का विधान निर्दिष्ट है। पक्षान्तर में सत्यभामा के स्थान में गरुड की कल्पना भी अनुमत है। गरुड अञ्जलिबद्ध, सौम्यरूप तथा स्थित रूप में कल्पित होना विहित है। रुक्मिणी तथा सत्यभामा की प्रतिमाएँ श्री तथा भूमिदेवियों की प्रतिमाओं के लक्षण से लक्षित होंगी।[१] कृष्ण का यह द्विभुज रूप सात्वत-संहिता, विष्वक्सेन-संहिता तथा पाद्मसंहिता में भी कुछ न्यूनाधिक्य के साथ प्रायः ऐसा ही वर्णित देखते हैं।[२] जैसाकि हमने पहले देखा है, कृष्ण के अनेक रूपों का वर्णन विविध संहिताओं में उपलब्ध है। इस प्रसंग में नारदीय संहिता में एक मूर्त्ति का सामान्य परिचय देकर आगे संक्षिप्त रूप में श्रीकृष्णावतार में भगवान् द्वारा की गई विविध लीलाओं के आधार पर अनेक मूर्त्तियों के कल्पन का विधान किया गया है। इस क्रम में कृष्ण के निम्नलिखित रूपों के नाम निर्दिष्ट हैं—नवनीत-नट, गोपी-समूहान्वित रूप, गोवर्द्धनधर रूप, कुमारस्वरूप, यौवन-स्वरूप आदि। इन विविध रूपों की कल्पना बुद्धि के अनुसार ऊहा कर निर्धारित करना कहा गया है।[३] इस तरह वस्तुतः नारदीय संहिता के अनुसार कृष्ण की मूर्त्तियों की संख्या निश्चित रूप से नहीं कह सकते। यह भक्त तथा आराधक के ऊपर निर्भर करता है कि कृष्ण का जो रूप आराधक को रुचिकर लगे, वह उस रूप की कल्पना कर उसकी आराधना कर सकता है।

पाञ्चरात्रागम की कुछ संहिताओं ने श्रीकृष्ण के कुछ अन्यान्य रूपों का भी निर्देश किया है। कुछ स्थलों में कृष्ण का चतुर्भुज रूप वर्णित है।[४] पराशर-संहिता ने अर्क-वर्ण के समान आठ हाथों में इक्षुचाप, पौष्प बाण, चक्र, अब्ज, पाश, सृणिका, अञ्जन तथा वंशनाल धारण किये हुए कृष्ण का मदनगोपाल-रूप होना कहा है।[५] यद्यपि शेषसंहिता ने भी मन्मथ कृष्ण का निर्देश किया है, फिर भी यहाँ आयुधविन्यास के क्रम में

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.२८८—२९८
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ११.११४—१२९
(iii) विष्णुतन्त्र, १९.२-३

२. (i) सात्वत-संहिता, १२.१५०
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ३.४
(iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १८.१६

३. नारदीय संहिता, १३.२९८—३००

४. (i) मार्कण्डेय-संहिता, ८ ६५—६७
(ii) पाद्मसंहिता, सं० क्रि० पा०, १६.४२
वही, १८.३
(iii) पराशर-संहिता, १३.१८७-१८८
(iv) विष्वक्सेन-संहिता ३०.४
(v) विष्णुतन्त्र, १८ ७

५. पराशर-संहिता १५.२५४

पक्ष, बाण तथा चक्रधारक रूप का वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्वोक्त की तरह अष्ट-बाहु का विधान नहीं है।[१] इसी संहिता ने कृष्ण के जगन्मोहन रूप[२] तथा पुत्र गोपाल-रूप का भी वर्णन किया है। पुत्र गोपाल-रूप श्वेत पद्म पर स्थित चक्र तथा पद्म धारण किये हुए निर्दिष्ट है।[३] विष्वक्सेन-संहिता ने कृष्ण के नवनीत-नट रूप का निर्देश किया है।[४] शाण्डिल्य-संहिता के वर्णन के अनुसार वृन्दावन में यमुना के तट पर दिव्यकुञ्ज में चिन्ता-मणि-पीठ पर स्थित रूप में विविधावरणों से सुशोभित, वेणुवादन में तत्पर, सुन्दर स्वरूप-वाले श्रीकृष्ण के ध्यान का विधान है।[५] सात्वत-संहिता ने कृष्ण के चार रूपों का वर्णन किया है। प्रथम रूप प्रायः तपस्वी का है। यह इन्दीवर की तरह श्याम-वर्ण, ऊर्ध्वबाहु, जटाधारी, एक पाद पर स्थित, वायु-आहरण करता हुआ, एक, तीन अथवा छह रात्रादि कृच्छ्रपरायणता अथवा अर्द्धमास या पूर्णमासोपवास का उपदेश करता हुआ रूप होता है।[६] दूसरा रूप पूर्वोक्त रूप में ही कृष्णाजिनवसनधारी, सत्कुठार-युक्त हाथवाला होना कहा है। यह रूप प्रायः कृष्ण का वीररूप है। तीसरा रूप घोररूप सतोय जलद के वर्ण के समान, रक्त सुन्दर नयनयुक्त, धनुष तथा बाणधारी रूप होता है।[७] कृष्ण का चौथा रूप, जो हम यहाँ देखते हैं, वह अतसीकुसुम की शोभा के समान वर्णवाला, सभी शास्त्रार्थ-ग्रन्थों को वाम हाथ में धारण करते हुए तथा दक्षिण हाथ से शास्त्रार्थ का उपदेश करते हुए होना कहा गया है। कृष्ण का यह रूप प्रायः शास्त्रोपदेशक-रूप है।[८] बृहद्ब्रह्म-संहिता ने कर्णिका आयामवाले बाल-इन्दुमण्डल में राधिका के साथ मयूर-पिच्छाभरणादि से विभूषित श्रीकृष्ण के रूप का निर्देश किया है। यहाँ राधा तथा श्रीकृष्ण के रूप का विस्तृत वर्णन देखने में आता है।[९] पाद्मसंहिता ने एक स्थान में श्रीकृष्ण के विविध १९ रूपों का वर्णन किया है। इन रूपों में रुक्मिणी तथा सत्यभामा के साथ सिंहासनारूढ़ चतुर्भुज रूप अथवा राजा की तरह पर्यङ्कशायी या भोगीन्द्रशायी अथवा तार्क्ष्यारूढ-रूप होना वर्णित है। पक्षीन्द्रस्थ रूप द्विबाहुयुक्त होना कहा गया है। 'पार्थसारथी'-रूप अर्जुन के सारथि के रूप में रथ पर अर्जुन के साथ कल्पित होता है। यह पार्थसारथी-रूप चतुर्भुज या द्विभुज दोनों में से एक तरह का हो सकता है। श्रीकृष्ण के विश्वरूप की कल्पना का भी निर्देश देखते हैं। एक रूप वृन्दावन में गवानुचर-रूप भी विहित है। कदम्बमूल में गायों से घिरे हुए रूप

---

१. शेषसंहिता, L. V. ७-८
२. वही, २६ १९
३. वही, २६.५२
४. विष्वक्सेन-संहिता, ३३.३-४
५. शाण्डिल्य-संहिता, भाग १, १६.७—९, ३१
६. सात्वत-संहिता, १२.१४५-१४६
७. वही, १२.१५२
८. सात्वत संहिता, १२.१५४-१५५
९. बृहद्ब्रह्म-संहिता, भाग २, ६.१३—२६

का वर्णन भी देखने को मिलता है। कालीय-मर्दन-रूप दो प्रकार के वर्णित हैं। कृष्ण के रासमण्डल-मध्यस्थ रूप तथा नवनीत-नर्त्तन रूप सामान्यतः प्रमुख कहे गये हैं। एकबेराराधन में ब्रह्मपद में रुक्मिणी तथा सत्यभामा के साथ कृष्ण के कल्पन का विधान है।[१] कृष्ण के विविध रूपों का वर्णन हम वैखानस आगम-संहिता-ग्रन्थों में भी देखते हैं, पर वे सभी प्रायः उसी प्रकार के कहे गये हैं जैसे पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में।

बुद्ध— बुद्ध की मूर्त्ति के स्वरूपादि का वर्णन पाञ्चरात्रागम के सभी संहिता-ग्रन्थों में नहीं देखते, पर नारदीय संहिता तथा हयशीर्ष-संहिता में बुद्ध की मूर्त्ति का स्वरूप वर्णित है। इन दोनों संहिताओं के वर्णन प्रायः समान हैं। कोई विशेष अन्तर नहीं है। बुद्ध को पद्मासन में आसीन, दशतालमान से कल्पित, लम्बे कानों तथा योग-दृष्टि से युक्त, पद्मलोचन, समाधिस्थ तथा उत्तानपाणि होना कहा है। नारदीय संहिता ने उत्तानपाणि की जगह अभय या वरदहस्त होना बताया है। इसका रूप शातकुम्भप्रभा की तरह होता है।[२]

कल्की—विष्णु का अन्तिम अवतार कल्की कई रूपों में वर्णित है। नारदीय तथा कुछ अन्य संहिताओं ने इसका अश्वारोही द्विभुज रूप होना कहा है। कल्की दिव्य अश्व पर आसीन, श्वेतोष्णीषधारी, उष्णीष में दो बाण धारण किये हुए, दक्षिणकराग्र में सायक तथा वाम हस्त में धनुष धारण किये होता है। इसका रूप मन्दायत जटायुक्त होता है।[३] यद्यपि हयशीर्ष-संहिता में भी कल्की का अश्वारूढ द्विभुज रूप वर्णित है, फिर भी आयुध के विषय में नारदीय संहिता ने जहाँ धनुष-बाण का विधान किया है वहाँ इसने कल्की का रूप खड्गपाणि होना कहा है। यहाँ कल्की का चतुर्भुज-रूप भी निर्दिष्ट है। एक हाथ में धनुष तथा बाण और अन्य तीन हाथों में शंख, चक्र तथा खड्ग-धारण का विधान है।[४] मार्कण्डेय-संहिता ने कल्की को पिङ्ग तुरंगारूढ रक्तवर्ण होना कहा है। यह रूप चर्मवसनधारी, खड्ग, खेटक तथा जटाजाल से विभूषित होता है। यह रूप लक्ष्मी तथा परिजनों से समाश्रित होता है।[५] पाद्मसंहिता में कल्की के जो रूप वर्णित हैं, वे पूर्वोक्त रूपों की अपेक्षा भिन्न हैं। यहाँ चतुर्भुज कल्की-मूर्त्ति के मुख्य हाथों में खड्ग, खेटक तथा ऊपर के दोनों हाथों में शंख तथा चक्र का विधान किया गया है। कल्की की आसीन मूर्त्ति के हाथों में खेटक तथा खड्ग की कल्पना निषिद्ध है। आसीन मूर्त्ति में खेटक तथा खड्ग के स्थान में उन हाथों को अभय तथा वरद होना निर्दिष्ट है। कल्की का शयन-रूप-कल्पन निषिद्ध है। एकबेर-विधि में अन्य अवतारों की तरह ही इसकी स्थापना के

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १८.१—३७

२. (i) नारदीय संहिता, १३.३०१—३०३

   (ii) हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.३४—३६

३. नारदीय संहिता, १३.३०३—३०५

४. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.३७-३८

५. मार्कण्डेय-संहिता, ८.६७—७०

लिए ब्रह्मस्थान का निर्देश किया गया है। उसके दक्षिण-पार्श्व में पुरोहितभूत याज्ञवल्क्य तथा नारद का स्थान विहित है। इसके जङ्गमबेर का कल्पन द्विभुज या चतुर्भुज के रूप में कहा गया है। द्विभुज में अभय तथा वरद हस्त एवं चतुर्भुज में अभय तथा वरद हस्त के साथ अवशिष्ट दो हाथों में शंख तथा चक्र के कल्पन का निर्देश है।[1] विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार चतुर्भुज रूप में ऊर्ध्व-दक्षिण तथा वाम हाथों में चक्र एवं शंख तथा नीचे के हाथों में पाश का कल्पन विहित है। कल्की के दक्षिण तथा वाम भाग में क्रमशः श्री तथा पुष्टि देवी के विधान के साथ द्वितीयावरण में अष्टपरिवार की स्थापना का निर्देश किया गया है।[2]

बलराम—अवतारों के वर्णन-क्रम में नारदीय संहिता ने बलराम के मूर्त्ति-कल्पन की चर्चा नहीं की है। बलराम को प्रायः यहाँ अवतारों के अन्तर्गत नहीं माना गया है। जैसा कि सृष्टि-प्रक्रिया, मूर्त्तिमन्त्रोद्धार तथा मुद्रा-वर्णन-प्रसंग में हमने देखा है, वहाँ भी नारदीय संहिता ने बलराम को अवतार की तरह नहीं स्वीकारा है। फिर भी कुछ अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं ने बलराम की मूर्त्ति के रूप का वर्णन किया है। बलराम का वर्ण गौर, मनुष्याकार शरीर, हल तथा लाङ्गलधारी द्विभुज रूप होता है। अथवा वाम हस्त कटितल पर तथा दक्षिण हस्त अभय रूप में प्रदर्शित होना कहा है। बलराम का रूप चतुर्भुज होना भी अभिहित है। इस रूप के दक्षिण हस्त में मूसल, वाम हस्त में हल तथा अन्य दोनों हाथों में क्रमशः शंख और चक्र के कल्पन का निर्देश है। मस्तक पर किरीट धारण करना अथवा बद्धकेश होना कहा गया है। इच्छानुरूप बलराम के दक्षिण अथवा वाम पार्श्व में रेवती का कल्पन किया जाता है। बलराम के वस्त्र का वर्ण नील होता है।[3] विष्वक्सेन-संहिता ने भी उपर्युक्त रूप की तरह ही बलराम को मूसल तथा हलधर होना बताया है। यहाँ उसके दक्षिण में श्रीदेवी तथा सौम्यभाग में गरुड की कल्पना का निर्देश देखते हैं।[4] चतुर्भुज बलराम को शेषसंहिता ने शंख, चक्र तथा वरद हस्तों के साथ हलधर होना बताया है।[5] हयशीर्ष-संहिता में वर्णित बलराम के वाम-ऊर्ध्व हस्त में लाङ्गल, अधःहस्त में शंख, दक्षिण-ऊर्ध्व हस्त में मूसल तथा अधःदक्षिण हस्त में चक्र-कल्पन का विधान है। पक्षान्तर में शंख-चक्र के स्थान में क्रमशः गदा तथा कृपाण धारण करने का विधान किया गया है।[6]

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १८.३८—४६
२. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१३४—१३९
३. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १७.११२—११७
(ii) मार्कण्डेय-संहिता, ८.५९—६२
(iii) पराशर-संहिता, १५.२३९-२४०
४. विष्वक्सेन-संहिता, ११.१००—११४
५. शेषसंहिता, २६.९
६. हयशीर्ष-संहिता, आदि का०, २३.३२-३३

द्वितीय अध्याय

प्रतिमोपादान-द्रव्य

प्रतिमा-विचार-अध्याय के पूर्व भाग में प्रतिमा के विविध भेद तथा उसके स्वरूपादि का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रस्तुत भाग में प्रतिमा-कल्पन के लिए उपयुक्त विविध उपादान-द्रव्यों के विवेचन का प्रयास होगा। इसका आधार नारदीय संहिता तथा पाञ्चरात्र-आगम के अन्य ग्रन्थों में वर्णित प्रतिमोपादान-द्रव्य होगा।

पाञ्चरात्रागम के जिन ग्रन्थों में प्रतिमा-कल्पन की चर्चा की गई है, प्रायः उन सभी ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप से इसके उपादान-द्रव्य का भी विवेचन किया गया है। सामान्यतः मूर्त्तिलक्षण-निरूपणाध्याय का प्रारम्भ प्रतिमा-उपादान-द्रव्य-निर्देश से ही शुरू होता है। नारदीय संहिता ने भी ऐसा ही किया है। सर्वप्रथम उपादान-द्रव्य के आधार पर ही प्रतिमा के पाँच भेद कहे गये हैं। ये पाँच उपादान-द्रव्य हैं: १. शिला, २. लोह, ३. मणि, ४. काष्ठ तथा ५. मृद्।[१] कुछ अन्य संहिताओं के अनुसार निम्नलिखित छह उपादान-द्रव्य स्वीकृत हैं: १. रत्न, २. स्फटिक, ३. लोह, ४, शिला, ५. दारु तथा ६. मृद्।[२] विश्वामित्र-संहिता में वर्णित उत्तम प्रतिमाओं में मणिज, लोहज तथा शैलज प्रतिमाओं का उल्लेख है।[३] उपर्युक्त पाँच द्रव्यों के भी विशिष्ट भेद तथा लक्षणादि कहे गये हैं। कुछ ग्रन्थों में प्रतिमा के सात उपादान-द्रव्य वर्णित हैं और उन्हीं के आधार पर प्रतिमा के भेद भी दिखलाये गये हैं। ये सात द्रव्य हैं: १. रत्न, २. लोह, ३. शिला, ४. धातु, ५. मृद्, ६. काष्ठ तथा ७. आलेख्य।[४] हयशीर्ष-संहिता तथा अग्निपुराण में भी सात प्रतिमोपादान-द्रव्यों का निर्देश है। ये सात द्रव्य हैं: १. मृद्, २. दारु, ३. लोह,

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३ ३-४
   (ii) श्रीप्रश्नसंहिता, १८ ३-४
   (iii) प्रकीर्णाधिकार, अ० ७
   (iv) सनत्कुमार-संहिता, ब्र०, रा० ७.१-२

२. (i) श्रीप्रश्नसंहिता, ११ ५
   (ii) श्रीविष्णुतिलक-संहिता, ६. (३४१)
   (iii) बराहपुराण, १८३.४-५
   (iv) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.२
   (v) भविष्यत्पुराण, १२.२
   (vi) पुरुषोत्तम-संहिता, ५.७

३. बिश्वामित्र-संहिता, २२.१

४. (i) अनिरुद्ध-संहिता, १२.६
   (ii) भार्गव-संहिता, ४.७
   (iii) मयवास्तु-शिल्परत्न, भाग २, अ० २, श्लो० २८

४. रत्न, ५. शैल, ६. गन्ध तथा ७. कुसुम। यहाँ निर्दिष्ट अन्तिम दो द्रव्य ऐसे हैं, जो अन्यत्र नहीं दीखते। ये दोनों तत्काल पूजा के लिए प्रतिमा-कल्पनार्थ स्वीकृत हैं। इन्हें सर्वकाम-प्रदायक कहा गया है।[१] श्रीमद्भागवत में उपादान-द्रव्य के आधार पर आठ प्रकार की प्रतिमाओं का निर्देश किया गया है।[२] ये आठ प्रतिमाएँ हैं : १. शैली, २. दारुमयी, ३. लौही, ४. लेप्या, ५. आलेख्य, ६. सैकती, ७. मनोमयी तथा ८. मणिमयी। एक जगह प्रतिमा के लिए दस उपादान-द्रव्य कहे गये हैं।[३] मत्स्यपुराण के अनुसार प्रतिमार्थ बारह उपादान-द्रव्य होते हैं।[४] परन्तु, ये बारह द्रव्य कौन-कौन-से हैं, यह नाम-निर्देशपूर्वक नहीं कहा गया है। विश्वामित्र के अनुसार मणि, लोह तथा शैल से कल्पित बिम्ब उत्तम होते हैं, पर इन तीनों के अतिरिक्त वज्र, पद्मराग, वालवाय, ताम्र तथा पित्तल—ये सभी बिम्बोपादान-द्रव्य कहे गये हैं।[५] विष्वक्सेन-संहिता ने स्वार्थ तथा परार्थ द्विविध अर्चन के निमित्त पृथक्-पृथक् बिम्बोपादान-द्रव्य का निर्देश किया है। गृहार्चा में ब्राह्मणों के लिए लोहा, मणि, रजत तथा ताम्र बिम्बोपादान-द्रव्य के रूप में प्रशस्त हैं। क्षत्रियों के लिए सुवर्ण या रजत, वैश्य के लिए रजत या ताम्र तथा शूद्र के लिए ताम्र-प्रतिमोपादान विहित हैं। पक्षान्तर में सबके लिए गृहार्चाक्रम में ताम्रज प्रतिमा ग्राह्य कही गई है।[६]

उपर्युक्त प्रतिमोपादान-द्रव्यों के भी पृथक्-पृथक् विशिष्ट भेद तथा लक्षणादि होते हैं। शिला के अनेक भेद होते हैं। गिरिजा, भूमिजा तथा वारिजा के रूप में शिलाएँ तीन तरह की होती हैं।[७] ब्राह्मणादि वर्णक्रम से चारों वर्णों के लिए सितादि चार वर्ण की शिलाओं की प्रतिमा का उपादान-द्रव्य होना विहित है। आलयकर्त्ता ब्राह्मण हो तो उसके लिए सित शिला ग्राह्य होती है। क्षत्रिय के लिए रक्तवर्ण शिला, वैश्य के लिए पीतवर्ण शिला तथा शूद्र के लिए कृष्णवर्ण शिला प्रतिमा-कल्पन के लिए ग्राह्य होती है।[८]

---

१. (i) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १-२
   (ii) अग्निपुराण, अ० ४३

२. श्रीमद्भागवत, ११.२७.१२९

३. दारु-इष्ट-शिला-लोह स्नेह मृद्घट शर्करा।
   दन्त यन्त्र क्रियाभास शिल्पिन दशधा क्रिया॥
   — प्रतिमाविचार; आ० श्रीनिवास अयंगार की मातृका

४. मत्स्यपुराण, २५८.२०-२१

५. विश्वामित्र-संहिता, २२.१-२

६. विष्वक्सेन-संहिता, १०.५४—५६

७. (i) विमानार्चनकल्प, पट० १५
   (ii) खिलाधिकार, ८.१७
   (iii) यज्ञाधिकार, ४.२१-२२

८. (i) वाशिष्ठ-संहिता, ४.२—६
   (ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.२-३
   (iii) नारदीय संहिता, १३.४-५
   (iv) पुरुषोत्तम-संहिता, ४.८-९
   (v) वही, ५.२८-३०
   (vi) कपिञ्जल-संहिता, ५.४

प्रतिमा के लिए कृष्ण शिला सर्वसिद्धि-प्रदायक होती है।[1] काश्यप शिल्पशास्त्र के अनुसार श्वेत शिला के सात, पीत शिला के सात तथा कृष्ण शिला के दस भेद होते हैं।[2] वैखानसागम के अनुसार कृतादि चार युगों में क्रम से श्वेतादि शिलाओं से प्रतिमा-निर्माण होता है।[3] क्षिति चार प्रकार की होती है : १. वारुणी, २. ऐन्द्री, ३. वायवी तथा ४. आग्नेयी। इन्हीं क्षितियों के आधार पर उपलब्धि-स्थान के अनुरूप शिलाएँ भी वारुणी, ऐन्द्री, वायवी तथा आग्नेयी के नाम से प्रसिद्ध होती हैं। इन चार क्षितियों तथा शिलाओं के लक्षण इस प्रकार हैं : वारुणी—जो भूमि स्निग्ध हो, पुष्पवनों से उपेत, तोयपूर्ण तथा तृण-सम्पन्न हो उसे वारुणी भूमि कहते हैं। वारुणी भूमि में उपलब्ध शुक्लवर्ण शिला को वारुणी शिला कहते हैं। ऐन्द्री क्षीरवृक्ष के पूर्व दिक् में, तोय के दक्षिण पार्श्व में, व्रीहिक्षेत्र के उत्तर में पीतवर्ण की क्षिति ऐन्द्री क्षिति कही गई है। ऐन्द्री क्षिति में उपलब्ध शिला ऐन्द्री शिला कही जाती है। आग्नेयी—जिस भूमि में गृध्र तथा कपोत निवास करते हैं, तोय का अभाव होता है, आग्नेय दिशा में पलाश, खदिर तथा विल्व के वृक्ष होते हैं, और भूमि का वर्ण रक्ताभ होता है, ऐसी भूमि को और उसमें उपलब्ध शिला को आग्नेयी कहते हैं। वायवी—आम्र, श्लेष्मातक तथा स्नुहिवृक्ष से युक्त, तोय-रहित, शर्करायुक्त, विरुत्तृणविवर्जित भूमि वायव्या भूमि कही गई है और उसमें उपलब्ध शिला वायवी शिला कही गई है।[4] आग्नेयी शिला गुर्जर-प्रदेश में, वायवी शिला मरुप्रदेश में, माहेन्द्री शिला मध्यप्रदेश में तथा वारुणी शिला अनूप देश में उपलब्ध होती हैं।[5]

वय के आधार पर भी शिला के भेद होते हैं। सामान्यतः वय के आधार पर शिलाएँ तीन तरह की होती हैं : बाला, वृद्धा तथा मध्या। बाला शिला—अर्धपक्व इष्टका के समान जो दो खण्डों में विभक्त हो जाती ,है और टंकाहति को सहन नहीं कर सकती, उसे बाला शिला कहते हैं। प्रतिमा-कल्पन के लिए ऐसी (बाला) शिला सर्वथा अग्राह्य है। मध्या शिला—से तात्पर्य यौवन शिला से है। यह सुदृढ अवयवयुक्त, स्निग्ध, गम्भीर निःस्वनयुक्त, अनुष्ण सुगन्धयुक्त, ईषद्मृद्वी तथा सुशोभन होती है। यौवन-शिला से कल्पित प्रतिमा सर्वार्थ-साधक होती है। वृद्धा शिला—रूक्ष तथा बृहद् शिखरयुक्त शिला को वृद्धा शिला कहते हैं। प्रतिमा के लिए इसका उपयोग सर्वकर्मनाशक होता है।

---

१. (i) प्रकीर्णाधिकार, ७.२०
   (ii) सुप्रभेदागम, ३०.६०
२. काश्यप-शिल्पशास्त्र, ४६
३. खिलाधिकार, ८.६०—६२
४. (i) नारदीय संहिता, १३.१६—२३
   (ii) विश्वामित्र-संहिता, २२.४-५
   (iii) विष्वक्सेन-संहिता, ४.७—१०
   (iv) पुरुषोत्तम-संहिता, ५.१२—१७
   (v) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.८-१०
५. हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.१३—१७

वृद्धा शिला का आकार मधूक के समान होता है। यह शिला सकल बिन्दुओं, रेखाओं तथा मण्डलों से युक्त होती है।

यौवन-शिला लिङ्ग के आधार पर तीन प्रकार की होती है : १. स्त्री-शिला, २. पुं-शिला तथा ३. नपुंसक शिला। पुं-शिला से स्निग्ध स्वर होता है और स्फुलिंग प्रकट होते हैं। स्त्री-शिला सर्वथा निस्तेज होती है। नपुंसक शिला विवर तथा आवर्त्त से रहित, शरावोदर, कर्कश तथा शब्दहीन होती है।[1] पुं-शिला से प्रतिमा-कल्पन तथा स्त्री-शिला से पादपीठ-कल्पन विहित है।[2] इस विषय में नारदीय संहिता, श्रीप्रश्न-संहिता तथा विमानार्चनकल्प में सर्वथा एकरूपता नहीं देखते। विमानार्चनकल्प के अनुसार पुं-शिला से पुं-बेर, स्त्री-शिला से स्त्री-बेर तथा नपुंसक शिला से प्रासाद-तलादि-कल्पन का निर्देश किया गया है। श्रीप्रश्नसंहिता ने भी विमानार्चनकल्प की तरह स्त्री-बेर के लिए उपादान-द्रव्य स्त्री-शिला होना कहा है। पुं-शिला से पादपीठ-कल्पन का विधान है, जो नारदीय से भिन्न है। पुरुषोत्तम-संहिता में भी श्रीप्रश्न की तरह स्त्री-शिला से स्त्री-बेर-कल्पन का निर्देश है। यहाँ पुं-शिला से पादपीठ-कल्पन का तथा नपुंसक शिला में रत्नन्यास का विधान है।[3] अस्त्री-शिला से स्त्री-बेर-कल्पन नाश का कारण होता है। विष्णु तथा हयशीर्ष-संहिता के अनुसार निविडावयवयुक्त, स्निग्ध, धीरशब्दयुक्त, सुशीतल, सुगन्ध तथा रस और रूप से आढ्य शिला युवती शिला कही गई है। शस्त्राघात को न सहनेवाली, पिच्छिला, अस्थिरा शिला को बाला शिला कहते हैं। अतिकठिना शिला वृद्धा शिला होती है।[4]

---

१. (i) सात्वत-संहिता, २४.७९—८१
(ii) नारदीय संहिता, १३.५०—५७
(iii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.२२—२६
(iv) पुरुषोत्तम-संहिता ५.५९—६२
(v) खिलाधिकार, ८.२४-२५
(vi) विमानार्चनकल्प, पट० १५
(vii) विश्वामित्र-संहिता, २२.१९-२०

२. (i) नारदीय संहिता, १३.५८-५९
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.२७
(iii) वाशिष्ठ-संहिता, ४.२५—२९
(iv) श्रीप्रश्न-संहिता, ११.२९
(v) विश्वामित्र-संहिता, २२.२१
(vi) कपिञ्जल-संहिता, ११.३७
(vii) विष्णु-संहिता, १३.७९

३. पुरुषोत्तम-संहिता, ५.७४

४. (i) विष्णुसंहिता, १४.२०-२१
(ii) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.३१-३४

शिला के विविध अंग भी होते हैं। नीचेवाला भाग शिला का मुख कहा गया है। ऊपर का भाग पृष्ठप्रदेश होता है। दक्षिण-ग्रीवा शिला शान्तिदायिनी, पूर्वग्रीवा जयप्रदा, पश्चिम-ग्रीवा श्रीप्रदा तथा उत्तरानना शिला धन प्रदान करनेवाली होती है। शिला से जायमान शब्दों के आधार पर उसके तत्तदङ्गों का निर्देश किया जा सकता है। आघात के बाद शिला के जिस भाग से घण्टा के समान ध्वनि होती है उसे शिला का शिर-भाग कहा गया है।[१] कांस्य की तरह ध्वनिवाले भाग को मध्य भाग तथा कांस्य-ताल की तरह ध्वनिवाले प्रदेश को शिला का मूल भाग कहते हैं।[२] पूर्वाभिमुख देवालय में प्राक्-शिरा शिला कल्पित बेर की स्थापना होनी चाहिए। दक्षिणाभिमुख आलय में दक्षिण-शिरा शिला से, पश्चिमाभिमुख आलय में पश्चिम-शिरा शिला तथा उत्तरदिक् द्वारवाले आलय में उत्तर-शिरा शिला से प्रतिमा-कल्पन विहित है।[३] दक्षिण-शिरा शिला शान्तिदा, प्राक्शिरा शिला जयदायिनी, पश्चिम-शिरा शिला श्रीकरी, उत्तर-शिरा शिला पुष्टिकरी तथा कोणशिरा शिला अग्राह्या कही गई है।[४]

सामान्य रूप से ग्राह्य तथा अग्राह्य शिला का विवेचन अधोलिखित रूप में देखते हैं: सूर्यकिरणों से तप्त, अग्निदग्ध, अन्य कर्मों में प्रयुक्त, अन्योपहित, क्षाराम्बु में स्थित, विवर्ण, स्फुटित तथा रूक्ष शिलाएँ प्रतिमा-निर्माण के लिए अग्राह्य कही गई हैं।[५] प्रतिमा-कर्म के लिए वायवी तथा आग्नेयी शिलाएँ भी त्याज्य हैं।[६] ग्राह्य शिलाओं का निर्देश करते हुए सुस्निग्ध, एकवर्ण, अभिसन्धियों में स्थित, सरित्-सलिल से क्षालित, पवित्र जल के अन्तःस्थित, तीर्थ तथा आश्रम के समीप स्थित, द्रुमछाया में विद्यमान टङ्कवात से हत, शुभ्र; विस्तार तथा आयाम से युक्त शिला को ग्राह्य कहा गया है।[७] अग्राह्य शिला से कल्पित प्रतिमा आभिचारिक होती है, अतः सर्वथा त्याज्य है।

पाञ्चरात्र-संहिता-ग्रन्थों में शिला के ग्राह्यत्वाग्राह्यत्वादि-विवेचन के साथ शिला-संग्रह के लिए ग्राह्य तथा अग्राह्य स्थलों का भी निर्देश किया गया है। मुख्य भूधरों से

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.५९—६१
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.२७-२८
(iii) विष्वक्सेन-संहिता, ४.२२
२. नारदीय संहिता, २३.६२
३. (i) वाशिष्ठ-संहिता, ४.३०—३३
(ii) नारदीय संहिता, १३.६३—६५
४. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.७३-७४
५. हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.१८—२२
६. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.३८—४१
(ii) पुरुषोत्तम-संहिता, ५.१८—२०
(iii) विश्वामित्र-संहिता, ४.११-१२
(iv) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५ ११—१३
७. नारदीय संहिता, १३.२३—२७

शिला-संग्रह विहित है। इन भूधरों में हिमवान्, हेमकूट, निषध, त्रिकूट, माल्यवान्, ऋक्ष, शृङ्गवान्, मलय, गन्धमादन तथा मेरुपर्वत उत्तम कहे गये हैं। सह्य, विन्ध्य, परियात्र, अर्बुद, शिलोच्चय, श्रीपर्वत, जयन्त तथा श्वेत पर्वत भी शिला-संग्रह के लिए ग्राह्य कहे गये हैं। इन गिरियों के अभाव में अन्य भूधरों से भी शिला-संग्रह किया जा सकता है।[1] विष्वक्सेन-संहिता के अनुसार धरा तथा पर्वत दोनों जगहों से शिला-संग्रह विहित है। पर्वतों में सामान्यतः यहाँ भी पूर्वोक्त पर्वत ही स्वीकार्य हैं।[2] उपर्युक्त स्थानों में भी शुभ तथा पुण्यक्षेत्र में सघन ब्रह्मवृक्ष, शुभ पादपसंयुक्त, पुण्योदक तथा तृण-समन्वित, पद्मोत्पल-समाकीर्ण, व्रीहिक्षेत्र-समन्वित, हिन्ताल, न्यग्रोध तथा नारिकेल से विभूषित, पलाश, वकुल, क्रमुक, अश्वत्थ, न्यग्रोध, उदुम्बर, कुश एवं दर्भ से समाकीर्ण, कृष्णमृग-सेवित प्रदेश शिला-संग्रह के लिए उपयुक्त होता है।[3] द्विज, सिद्ध तथा तपस्वीजन जहाँ तपस्या-रत हों और चाण्डाल, पतित तथा प्रतिलोमादि नरों का सर्वथा अभाव हो, ऐसे प्रदेश से भी शिला-संग्रह विहित है।[4] इस क्रम में अधोलिखित प्रदेश शिला-संग्रह के लिए त्याज्य कहे गये हैं : नदीतीर, ह्रदतट, ग्राममध्य, चतुष्पथ, भूतिभूमि, श्मशान, चाण्डाल तथा शवरावास; वात, आतप तथा अग्नितप्त स्थान; जलदूषित, शर्करा तथा ऊषर-संयुक्त स्थान; तृणरहित, जलवर्जित, मरुप्राय, कण्टक-द्रुमसंकुल प्रदेश, पक्वसत्त्व-समाकीर्ण, अतिभीषण म्लेच्छदेश, ग्रामान्त तथा वल्मीक-समाकीर्ण प्रदेश। इन सभी प्रदेशों से प्रतिमा-कल्पनार्थ शिला-संग्रह निषिद्ध है।[5]

नारदीय संहिता तथा अनेक अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में शिला-संग्रह के निमित्त गमनविधि, शुभाशुभ फलनिमित्तक वस्तु-दर्शन-विवरण तथा शिला-संग्रह प्रयोग का भी

---

१. (i) पुरुषोत्तम-संहिता, ५.८—१२
   (ii) नारदीय संहिता, १३.६—९
   (iii) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५ ३—७
२. विष्वक्सेन-संहिता, ४.१—४
३. (i) नारदीय संहिता, १३ १३—१५
   (ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.४—६
   (iii) वाशिष्ठसंहिता, ४ ८—११
   (iv) पुरुषोत्तम-संहिता, ५ २३—२६
   (v) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.४४—४६
४. विष्णुतिलक-संहिता, ६.३५०-३५१
५. (i) नारदीय संहिता, १३ १०—१३
   (ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७ ७—१०
   (iii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.४१—४४
   (iv) पुरुषोत्तम-संहिता, ५ २०—२२
   (v) विष्वक्सेन-संहिता, ४ १३—१५
   (vi) वाशिष्ठसंहिता, ४.४—८

विस्तृत विवेचन किया गया है।[१] शिला-संग्रह से पूर्व उसके परीक्षण का विधान है। यह एक वैज्ञानिक विषय है। कुछ शिलाएँ गर्भयुक्त होती हैं। इन शिलाओं के गर्भ में कुछ जन्तुविशेष निवास करते हैं। किस गर्भयुक्त शिला में किस जन्तुविशेष का आवास है, यह परीक्षण के द्वारा जाना जा सकता है। परीक्षण के उपाय निर्दिष्ट हैं। परीक्षण के द्वारा शिलागर्भ में उपलब्ध जन्तुविशेष के आधार पर पृथक्-पृथक् उसके फल भी होते हैं। इस विषय को अधोलिखित तालिका के द्वारा स्पष्ट देखा जा सकता है :

शिलास्थित मण्डल-वर्णादि ↓	शिलास्थ जन्तु ↓	फल ↓
पद्मवर्ण मण्डल	रक्तपांसु	अनावृष्टि
श्वेतपद्मवर्ण मण्डल	श्वेतपांसु	अनावृष्टि
स्निग्ध तथा कपिल वर्ण	कूर्म	× × ×
रूक्षशिला	फेन	× × ×
कपोत-सदृश शिला	गृहगोली	नैर्धन्य
माञ्जिष्ठ-सदृश शिला	रक्तदर्दुर	× × ×
शुक्लपिञ्जर वर्ण	रक्तपीतकच्छप	
कुसुम्भपीतवर्ण	पीतदर्दुर	अनारोग्य
शुक्लपीतवर्ण	पीतकृकलास	अनायुष्य
अयस-सदृश वर्ण	गोधा	दुर्भगत्व
गुडवर्ण शिला	पाषाण	
मधुवर्ण शिला	खद्योत	गोत्रहानि
सारङ्गवर्ण	वृश्चिक	कलह
निस्त्रिंशवर्ण	सलिल	गर्भहानि
नीलवर्ण	शलभ	
रूक्ष	मूषिका	पुत्रनाश
कृष्णवर्ण	कृष्ण सर्प	विषमरण
श्यामवर्ण	मत्स्य	
मधुप्रभ	इन्द्रगोप[२]	

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.२९—४९
(ii) ईश्वर-संहिता, १७.३१—५२
(iii) विष्णुसंहिता, १४.३०—४३
(vi) वाशिष्ठसंहिता, ४.११—२४
(v) विष्णुतिलक-संहिता, ६. ३६४—३७२

२. (i) पुरुषोत्तम-संहिता, ७.६५—७३
(ii) नारदीय संहिता, १३.७२ —८२

इस प्रकार वर्णादि के अनुसार मण्डलादियुक्त शिलाओं में स्थित गर्भ का निर्देश किया गया है, जिसमें विविध वस्तुएँ होती हैं। इनके अन्तःस्थित वस्तुओं का ज्ञान शिला की परीक्षा के द्वारा सम्पादित होता है। इसके लिए मण्डलयुक्त शिला के ऊपर निर्धारित वस्तुओं के प्रलेप का लेप किया जाता है। एक रात के बाद शिला के वर्ण का निरीक्षण करते हैं, और वर्णादि के अनुसार गर्भस्थ जन्तु आदि की जानकारी प्राप्त होती है, जिसका विस्तृत वर्णन पूर्व पृष्ठ पर तालिका-रूप में दिया गया है। प्रलेप-वस्तुएँ दो-तीन तरह से तैयार की जाती हैं; जैसे—१. करण्डक, २. अर्जुनरस, ३. तुलसीमूल तथा ४. किंशुकबीज—इन सबको समभाग में पीसकर भैंस के दूध में मिलाकर प्रलेप तैयार किया जाता है। प्रलेप तैयार करने की दूसरी विधि में १. विष्णुक्रान्ता, २. ब्रह्मदण्ड, ३. इन्द्री, ४. चित्रशूलिनि को अजाक्षीर में पीसकर प्रलेप तैयार करते हैं। इस प्रलेप को भी शिला के ऊपर लेपकर एक रात छोड़ देते हैं और फिर उसके वर्ण के अनुसार गर्भस्थ जन्तु आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रलेप तैयार करने की तीसरी विधि के अनुसार १. धातु, २. कांस्य तथा ३. सीस को गोक्षीर के साथ पीसकर प्रलेप तैयार किया जाता है। शिला के ऊपर इस प्रलेप का लेप करने के बाद यदि रक्त उपल दीख पड़े तब तीन रातों तक उसको उसी प्रकार रखकर गर्भ-निर्देश किया जा सकता है। शिला-परीक्षण के चतुर्थ उपाय में मसी तीन पल, कुष्ठ, मुस्त तथा कर्बीर समभाग लेकर स्त्री-दूध के साथ पीसकर शिला पर लेप करने के बाद यदि वह सिमसिमाता हो तब उसमें गर्भ का निर्देश किया जाना चाहिए।[१] शिला-गर्भ-परीक्षण के लिए महिषज नवनीत तथा मेष का चूर्णित शृङ्ग और कुविन्द का चूर्ण पीसकर तथा गोदुग्ध के साथ मिलाकर शिला के ऊपर सर्वतः लेप करने का विधान भी है। इस लेप के बाद गर्भ व्यक्त होता है।[२] शिलाओं के गर्भ-परीक्षण की जो विधि नारदीय संहिता में विहित है, प्रायः उससे मिलती-जुलती विधि का निर्देश कुछ अन्य पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में भी देखते हैं।[३] इस प्रकार गर्भ-परीक्षण के अनन्तर ज्ञात अशुभ की शान्ति के लिए होमादि आवश्यक है। गर्भयुक्त शिला से प्रतिमा-कल्पन सर्वथा निषिद्ध है। गर्भयुक्त शिला से प्रतिमा-कल्पन करनेवाले का सर्वनाश होता है।[४] अतः गर्भयुक्त शिला से प्रतिमा-निर्माण करनेवाले को

---

१. नारदीय संहिता, १३.८३—९०

२. पुरुषोत्तम-संहिता, ५.६२—६४

३. (i) पुरुषोत्तम-संहिता, ७.६५—७३
   (ii) विष्वक्सेन-संहिता, ४.२६—३४
   (iii) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.३९—४७
   (iv) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.६६—७५
   (v) वाशिष्ठसंहिता, ४.७५—८१

४. (i) पुरुषोत्तम-संहिता, ५.७३
   (ii) हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १५.४७-
   (iii) खिलाधिकार, ८.१०३-१०४
   (iv) नारदीय संहिता, १३.९१-९२

उस दोष-शान्ति के लिए अवश्य ही प्रायश्चित्त करना चाहिए। प्रायश्चित्त के साथ ही दोषयुक्त शिला से कल्पित प्रतिमा को हटाकर उसके स्थान पर निर्दोष शिला-कल्पित प्रतिमा की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए।[१]

सात्वत-संहिता तथा ईश्वर-संहिता ने सामान्यतः गुणवती कार्यक्षम शिला-संग्रह का निर्देश किया है। अतिवृद्ध तथा परिक्षीण त्वक शिला तथा वृक्ष का ग्रहण निषिद्ध है। यहाँ भी शिला के वे ही सब दोष कहे गये हैं, जो नारदीय संहिता में वर्णित हैं। पर, नारदीय संहिता में दोषस्वरूप, उसके ज्ञान के उपाय तथा फलादि विषय क्रमिक रूप से उल्लिखित हैं, जबकि इन संहिताओं में उस तरह से क्रमिक तथा विस्तृत वर्णन नहीं देखते। यहाँ सामान्यतः ग्राह्य शिला का निर्देश किया गया है। सात्वत तथा ईश्वर दोनों संहिताओं में विषय का वर्णन समान है।[२]

शिला-विशेष के संग्रह का काल-निर्देश भी देखते हैं। श्वेताब्जाभा सौम्या शिला विप्र के द्वारा मृगनक्षत्र में, कलुत्थ की आभावाली ऐन्द्री शिला क्षत्रिय द्वारा ज्येष्ठा नक्षत्र में, पीत या हरितवर्ण शिला विशों के द्वारा फाल्गुनी नक्षत्र में तथा मुद्गाभ कृष्णवर्ण शिला शूद्रों के द्वारा अश्विनी नक्षत्र में ग्राह्य कही गई है। हरितवर्ण शिला का देवता भग तथा कृष्णवर्ण शिला का देवता अश्वि कहे गये हैं।[३]

सनत्कुमार-संहिता में शिला तथा शिला-कल्पित प्रतिमा के पृथक्-पृथक् सात दोष तथा उसके अनुसार पृथक्-पृथक् सात फलों का निर्देश अधोलिखित रूप से किया गया है :

शिला-दोष ↓	फल ↓	शिला-प्रतिमा-दोष ↓	फल ↓
१. सिरा	सम्पदानाश	१. आधिक्य	व्याधि
२. विवरा	राष्ट्रविग्रह	२. हीनत्व	धनक्षय
३. अवर्ता	दुर्भिक्ष	३. स्फुट	प्राणनाश
४. ग्रन्थि	राष्ट्रविप्लव	४. वक्र	सर्वसन्ताप
५. मण्डल	सर्वदोष	५. स्थूल	व्याधि
६. गर्भा	सर्वधनक्षय	६. कृश	द्रव्यकृशता
७. रूक्षा	धनापाय	७. सुषिर	स्वामिनाश[४]

वाशिष्ठसंहिता में इन सात शिला-दोषों तथा प्रतिमा-दोषों के अतिरिक्त कुछ अन्य दोषों का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ निर्दिष्ट कुल दोष १० कहे गये हैं। इन दोषों के फल सनत्कुमार-संहिता में उक्त फल के समान हैं।[५] अतः शिला-प्रतिमा-कल्पन

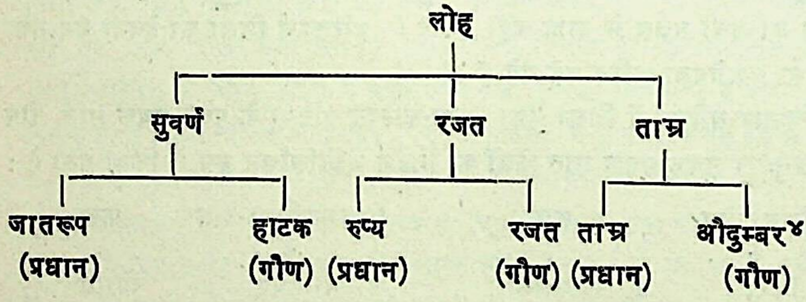
---

१. नारदीय संहिता, १३.९३
२. (i) सात्वत-संहिता, २४.५५—६४
(ii) ईश्वर-संहिता, १७.५३—६२
३. विष्णु-संहिता, १४.५—७
४. सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.५१—५९
५. वाशिष्ठसंहिता, ४.५८—६८

के अवसर में शिला तथा प्रतिमा-दोषों को दृष्टि में रखकर ही प्रतिमा का निर्माण किया जाना चाहिए।

प्रतिमोपादान-द्रव्यशिला के बाद प्रतिमोपादान द्रव्य के रूप में लौह का निर्देश आता है। आगम या शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिमोपादान लौह-द्रव्य कहने से केवल आयस का ही बोध नहीं होता, अपितु लौह-द्रव्य से सुवर्ण, रजत, ताम्र तथा आरकूट आदि धातुओं का बोध होता है।[१]

लौह-द्रव्य दो तरह के कहे गये हैं: शुद्ध तथा मिश्र। शुद्ध द्रव्य प्रशस्त तथा मिश्र द्रव्य वर्ज्य कहा गया है। सामान्यतः लौह-द्रव्य से अर्द्धचित्र प्रतिमा का कल्पन निषिद्ध है। प्रतिमोपादान-द्रव्यों में लोहज द्रव्य अन्य द्रव्यों की अपेक्षा निर्दुष्ट होता है।[२] वर्णों के अनुसार ब्राह्मणों के लिए सुवर्ण, रजत तथा ताम्र; क्षत्रियों के लिए सुवर्ण तथा रजत; वैश्यों के लिए रजत तथा ताम्र एवं शूद्रों के लिए ताम्र अथवा सभी वर्णों के लिए ताम्र विहित हैं।[३] वाशिष्ठसंहिता ने अधोलिखित रूप में प्रतिमोपादान लौह-द्रव्यों का विवरण दिया है:



इन धातुओं में सुवर्ण, रजत तथा ताम्र द्रव्यों से मधूच्छिष्ट-क्रिया के द्वारा बिम्ब-कल्प किया जाता है। कुछ संहिताओं में सामान्य रूप से मधूच्छिष्ट-क्रिया का वर्णन किया गया है।[५]

प्रतिमोपादान-द्रव्यों के निर्देश-क्रम में मणि को भी अन्यतम प्रतिमोपादान-द्रव्य कहा गया है। मणिजार्चा तीन प्रकार की होती है: १. चन्द्रकान्तमयी, २. सूर्यकान्तमयी तथा ३. स्फटिकमयी। इन तीनों में पूर्व-पूर्व गरीय होती है। मणिमय बेर-कल्पन में अर्द्धचित्र, चित्र या चित्राभास बेरशिला के आधार पर बनाये जाते हैं। अर्थात्, मणिमय बेर का आधार शिला होती है।[६]

---

१. नारदीय संहिता, १३.९३-९४
२. (i) वाशिष्ठसंहिता, ४.८७-८८
   (ii) नारदीय संहिता, १३.९४—९६
३. वाशिष्ठसंहिता, ४.८९-९०
४. वही, ४.८३—८७
५. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १९.३३—४६
६. नारदीय संहिता, १३.९३—९७

प्रतिमा के उपादान-द्रव्यों में शिला, लौह तथा रत्न के अतिरिक्त दारु का परिगणन देखा गया है। जिस प्रकार प्रतिमा-कल्पन के लिए कुछ शिलाएँ ग्राह्य तथा कुछ अग्राह्य कही गई हैं, उसी प्रकार कुछ दारु ग्राह्य तथा कुछ दारु अग्राह्य कहे गये हैं। पौष्कर-संहिता में ग्राह्य दारुओं का विस्तृत विवेचन है। इसके अनुसार लक्षणों से उपेत, अक्षत, सरल, दृढ, फल तथा पुष्पप्रद, स्थूल क्षीरी, विविधजातीय यज्ञोपयुक्त वृक्ष प्रतिमोपादान के रूप में ग्राह्य हैं। इस क्रम में चन्दन, स्यन्दन, सुरभिचन्दन, अगरु, कर्णिकार, काश्मर्य, रक्तचन्दन, बिल्व, आमलक, चूत, तालवर्णक, सिंहिका, श्रीपर्णी, नारिकेल, नागमातृक, पीनक, गव्य, कपित्थ, हिमताल, तमालक, बदर, खदिर, फल्गु, मधूक, किंशुकद्रुम, फालवेत, खर्जूर, नीप, नारंग, शिंशुप, पिप्पल, अश्वत्थ, पिप्पली, सुरदारु, हरितिक्य, वकुल, उदुम्बर, काला, पुष्पकुल, वेर तथा अन्य फलवृक्ष; फालस्य, भूर्जवृक्ष, पलाश, कृतमर्दक, तिन्दुक, बीजसार, मातुलुङ्गद्रुम, राजवृक्ष, कोहितक, सुनाभि, कुटक, अर्जुन, साल, कुटज, शाक, शमी, श्रीवेष्ट, केतक, असन, स्यन्दन तथा सारयुक्त यज्ञीय वृक्ष स्थापनादि कर्म में ग्राह्य कहे गये हैं। प्रतिमा-कल्पन के लिए दारु का परिमाण एक-एक ताल की वृद्धि से द्वादशतालान्त पुनः षोडश तालयुक्त होना कहा गया है।

ऊपर परिगणित वृक्ष दो भागों में विभक्त हैं। कुछ तो प्रतिमा-कल्पन के लिए ग्राह्य हैं और अन्य सभी स्थापनादि सामान्य कर्म में ग्राह्य कहे गये हैं। स्थापनादि कर्म में आवश्यक काष्ठकल्पित विविध पात्रादि तथा अग्नि-कार्य के लिए आवश्यक समिधादि काष्ठ का समावेश है। काष्ठकल्पित पात्र से यज्ञ में प्रयोग होनेवाले स्रुक् तथा स्रुवा आदि पात्रों का ग्रहण अपेक्षित है। स्थापना-क्रम में ग्राह्य दारु से पीठ, प्रासाद, प्राकार, शयन, आसनादि उपकरण तथा यात्रार्थ रथादि एवं वेतुदण्डादि के उपादान-द्रव्य का निर्देश है।[१] बिम्ब के लिए ग्राह्य दारु के रूप में स्वयं शुष्क, स्वयं भग्न, हतत्वक्, वक्र, कोटर तथा व्रणयुक्त, चतुष्पथ में विद्यमान, पुत्रक वृक्ष, देवायतन में विद्यमान, भूताक्रान्त, श्मशान-प्रदेश में विद्यमान, पक्षी-आवासयुक्त, शुष्काग्र, अनल, कुञ्जर तथा अशनि से आहत या दूषित, पशुओं से सेवित, महापथ पर छायादायक वृक्ष, एकशाखा, द्विशाखा तथा त्रिशाखा, चाण्डाल तथा अन्त्यजों से निसेवित, शीर्णपर्ण, मार्गस्थ, अन्यवृक्ष-समावृत, कूपस्थ, तडागस्थ तथा विक्रीत वृक्ष सर्वथा वर्जित कहे गये हैं। इन निषिद्ध दारुओं से प्रतिमा-निर्माण करनेवाला या करानेवाला दोनों सपरिकर नष्ट होते हैं।[२] पाद्मसंहिता, सनत्कुमार-संहिता, कपिञ्जल-संहिता, विष्वक्सेन-संहिता, पुरुषोत्तम-संहिता तथा

---

१. पौष्कर-संहिता, ४०.२३—३३

२. (i) पुरुषोत्तम-संहिता, ६.८—१५
(ii) विष्णुसंहिता, १४.५०-५१
(iii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.८७—८९
(iv) विष्वक्सेन संहिता, ३.१२-१३
(v) ईश्वर-संहिता, ११.९३—९७

विष्णु-संहिता में भी ग्राह्य वृक्षों का परिगणन किया गया है। ये वृक्ष सामान्यतः वे ही हैं, जो पौष्कर-संहिता में परिगणित हैं।[१] नारदीय संहिता में संक्षेप रूप में ही इनका वर्णन करते हुए दृढमूल, रोगवर्जित, नदी-संगम-तीर्थों में, पर्वतों पर, वनों में, पुण्योद्यानों में उगे हुए, कण्टकादिवर्जित, चन्दनादि के सार तथा दृढ़ भागवाले वृक्ष को प्रतिमा-कल्पन के लिए ग्राह्य कहा गया है।[२] ईश्वर-संहिता ने त्याज्य वृक्षों में उन्हीं वृक्षों का परिगणन किया है, जिनका निर्देश पौष्कर-संहिता में किया गया है।[३]

प्रतिमा-कल्पनार्थ ग्राह्य वृक्षों के संग्रह के लिए सामान्यतः वे ही स्थान बताये गये हैं, जो शिला-संग्रह के लिए निर्दिष्ट हैं।[४]

प्रतिमार्थ ग्राह्य वृक्ष के छेदन से पूर्व वृक्ष की प्रार्थना करते हैं। वृक्ष की पूजा के प्रसंग में होमादि के प्रयोग का विधान है। प्रातःकाल रथकार वृक्ष की पूजा कर गुरु की आज्ञा से वृक्ष का छेदन करता है। छिन्नवृक्ष यदि नैर्ऋत, आग्नेय, वायव्य, वारुण्य या याम्यादि दिशाओं में गिरता है तब वह अशुभ होता है। पूर्व तथा उत्तर दिशाओं में वृक्ष-पात कर्त्ता के लिए अभ्युदयकारक होता है। वृक्ष की शाखाओं के छेदन के बाद वृक्ष काटने का विधान है। शिला-गर्भ की तरह वृक्ष-गर्भ का परीक्षण होता है। फिर दारु का सिंचन कर गुरु को दक्षिणा-प्रदान किया जाता है और काटा हुआ वृक्ष आलय में लाते हैं। उसी दारु से रथकार प्रतिमा-कल्पन करता है।[५] कुछ स्थलों में दारु का अधिवासन तथा अर्चन कर उसके पश्चात् बिम्ब-कल्पन का विधान है।[६]

प्रतिमा-कल्पन के लिए चतुर्थ उपादान द्रव्य मृद् है। वह ब्राह्मणादि चार वर्णों के आधार पर चार प्रकार का कहा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन चार वर्णों के लिए प्रतिमोपादान-द्रव्य के रूप में क्रमशः शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्णवर्ण मृद्

---

१. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११.८७—९२
 (ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.९०—९५
 (iv) कपिञ्जल-संहिता, ५.७—१०
 (v) पुरुषोत्तमसंहिता, ६.५—८
 (vi) विष्णुसंहिता, १४.४७—५०

२. नारदीय संहिता, १३.१०१

३. ईश्वर-संहिता, १७.८२—८४

४. नारदीय संहिता, १३ ९

५. (i) विष्णुसंहिता, १४.५४—५६
 (ii) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ११ १०१—१०६
 (iii) पुरुषोत्तमसंहिता, ६.२२—३४
 (iv) कपिञ्जल-संहिता ११ १८—१९

६. विष्वक्सेन-संहिता, ३.५१—५४
 वही, ३.६६-६७

ग्राह्य होता है। प्रतिमोपादान-रूप में मिश्रित मृद् अग्राह्य है।[1] सनत्कुमार-संहिता में भी चार प्रकार की मृत्तिकाओं का निर्देश पूर्वोक्त क्रम से वर्ण के आधार पर ही किया गया है, पर इसका क्रम कुछ भिन्न है। इसके अनुसार शूद्र के लिए कृष्णवर्ण, विश के लिए कृष्ण तथा पीतवर्ण, क्षत्रियों के लिए कृष्ण, पीत रक्तवर्ण तथा ब्राह्मण के लिए कृष्ण, पीत, रक्त तथा शुक्ल—इन चार वर्णों की मृत्तिका स्वीकार्य है। यहाँ निर्दिष्ट मृत्तिकाएँ अनुलोम क्रम से ग्राह्य तथा प्रतिलोम क्रम से अग्राह्य कही गई हैं।[2] मृद्-ग्रहण के लिए ये स्थान निर्दिष्ट हैं: नदी-तीर, पर्वत, उद्यान, देवालय अथवा तीर्थ-क्षेत्र। नदी-संगम भी मृद्-संग्रह के लिए उपयुक्त स्थल कहा गया है।[3]

मृद्-संग्रह के बाद उसके संस्कार का प्रसंग आता है। संस्कार-क्रम में सम्यक् मर्दित मृद् में कुछ अन्य पदार्थों का सम्मिश्रण करते हैं। यह कार्य निर्वात स्थल में पट पर मृत्तिका रखकर किया जाता है। सर्वलोहमय तथा पाषाण-चूर्ण को शर्करा-चूर्ण के साथ मर्दन कर मृत्तिका में सम्मिलित करते हैं। उसके बाद कषायों से उसका सेचन करते हैं। श्रीवेष्ट, कुंकुम, कुष्ठ, कटुक-त्रय, यथालाभ चूर्ण कर मृत्तिका में मिलाते हैं। उसके बाद एक महीने या दो महीने तक उसका अधिवास (परिवास) करते हैं। पुनः उस अधिवासित मृत्तिका में दधि-सम्मिश्रण करते हैं। दधि-मिश्रित मृत्तिका का पुनः एक महीने तक अधिवास करने से मृद्बिम्ब का उपादान-द्रव्य तैयार हो जाता है।[4] कुछ अन्य स्थानों में भी प्रतिमा के लिए उपादान-द्रव्य मृत्तिका का संस्कार निर्दिष्ट है। सनत्कुमार-संहिता के अनुसार निर्दिष्ट स्थल से मृद्-संग्रह के बाद उसे गर्त्त में रखते हैं। उसमें मृत्तिका का चतुर्थांश लोह, पाषाण तथा शर्करा-चूर्ण मिश्रित करते हैं। तदनन्तर अर्जुन तथा खादिर के कषाय से उसका सेचन किया जाता है। कषाय के साथ आलोडित द्रव्य मास-पर्यन्त अधिवासित होता है। मृत्तिका में कुंकुम, कुष्ठ, श्रीवेर, कटुकत्रय अच्छी तरह पीसकर मिलाते हैं। इस प्रकार प्रतिमा-कल्पन के लिए मृद् तैयार हो जाता है।[5] विष्णुसंहिता' के अनुसार अधिवास-काल एक महीना या दो महीने हो सकता है।[6] विष्वक्सेन-संहिता में भी मृद्-संस्कार की प्रक्रिया सामान्यतः ऐसी ही कही गई है।[7]

---

१. (i) नारदीय संहिता, १३.१०९-११०
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ६.१—४
(iii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ९७—१००
२. सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.९७—९९
३. (i) नारदीय संहिता, १३.१११
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७ १००—१०१
४. नारदीय संहिता, १३ ११२—११६
५. सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.१००—१०४
६. विष्णुसंहिता, १४.६२—६४
७. विष्वक्सेन-संहिता, ६.७—१०

इस प्रकार प्रतिमोपादान-द्रव्य मृद् के संस्कार की प्रक्रिया सभी पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में नाम-मात्र भेद के साथ भी सामान्य रूप से समान है।

मृद्बिम्ब दो प्रकार के होते हैं : १. पक्व तथा २. अपक्व। अपक्व मृद्प्रतिमा प्रशस्त कही गई है। मृण्मय पक्व बिम्ब को सर्वथा गर्हित कहा गया है।[1]

मृद्-प्रतिमा-कल्पन के लिए आवश्यक उपादान-द्रव्यों में मृद् के अतिरिक्त कुछ अन्य द्रव्य भी अपेक्षित होते हैं। मृद्प्रतिमा-कल्पन के लिए आधार-रूप में शूल की आवश्यकता होती है। गर्भगृह में शूल-कल्पन के निमित्त पीठ का निर्माण करते हैं। शूल सर्वदा रत्नन्यास के अवसर में न्यस्त रत्नों को स्पर्श करता हुआ होता है। मृद्प्रतिमा यदि स्थानक होती है तो उसमें जानु-सन्धि नहीं होती। अन्यत्र जानु-सन्धि का विधान है। शूलदण्ड की संख्या न्यूनातिन्यून एकादश तथा अधिकतम १९ कही गई है। नारिकेल-त्वक्-कल्पित रज्जुओं के द्वारा शूलदण्ड को अच्छी तरह बाँधते हैं। जिस प्रकार मानव-शरीर में शिरा होती है, उसी प्रकार प्रतिमा-शूल में रज्जुबन्ध होता है। शूल पर रज्जुबन्ध के बाद उसके ऊपर धीरे-धीरे मृल्लेप तथा पुनः रज्जुबन्धन का निर्देश है। इस तरह तीन बार रज्जुबन्ध तथा तीन बार मृल्लेप का अवसर आता है। अनन्तर धीरे-धीरे प्रतिमा के ऊपर मृल्लेप कर प्रतिमा को पुष्ट बनाते हैं। इस कर्म के लिए कुशल कुलाल या शिल्पी अधिकृत व्यक्ति है। कुलाल तथा शिल्पी के अभाव में अन्य कोई प्रवीण व्यक्ति भी यह कार्य कर सकता है। प्रतिमा सुन्दर कपाल तथा अन्य सुन्दर अङ्गों से युक्त होनी चाहिए। इस प्रकार प्रतिमा समदृष्टि, प्रसन्नानन, हास्यमुख कल्पित होनी चाहिए। ऊर्ध्व या अधोदृष्टि प्रतिमा सर्वदा वित्तनाशक कही गई है। अतः प्रतिमा का निर्माण सर्वदा समदृष्टि-रूप में ही किया जाना चाहिए।[2]

मृद्प्रतिमा में मानव-शरीर की तरह अधोलिखित तत्त्वों की कल्पना की गई है :

शूल—अस्थि
रज्जु—शिरा
मृद्—मांस
पट—त्वक्

प्रतिमा में शरीर की तरह ६४ शिराएँ निर्दिष्ट हैं।[3] शूल के लिए चन्दनादि स्थिर दारु ग्राह्य कहे गये हैं। शूल-कल्पन एकजातीय वृक्ष से किया जाना उत्तम है। पर्वयुक्त दारु से

---

१. (i) विष्णुसंहिता, १४.६२
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ६.१-२
२. (i) नारदीय संहिता, १३
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.१२७—१३४
(iii) अगस्त्य-संहिता, ४.१०—४७
३. (i) विष्वक्सेन-संहिता, ५.७३—७८
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.१७८

मृद्प्रतिमों का शूल-कल्पन मध्यम तथा नाना जातीय वृक्षों से शूल-कल्पन अधम होता है। पाद्मसंहिता ने शूल के परिणामादि का अति विस्तृत वर्णन किया है।[1]

प्रतिमा की दृढस्थिति के लिए उपशूल का कल्पन करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की प्रतिमा दशतालमान से, अन्य देवताओं की प्रतिमा नवतालमान से तथा पुरुष एवं स्त्री-देवताओं की प्रतिमाएँ अष्टतालमान से कल्पित होती हैं। तालमान का स्वरूप इस प्रकार होता है—दशताल = १२० अंगुल, नवताल = १०८ अंगुल तथा अष्टताल = ९६ अंगुल। आसन तथा शयन-प्रतिमा-कल्पन के लिए पृथक्-पृथक् १५ शूलदण्ड निर्दिष्ट हैं। स्थानक प्रतिमा के लिए शूलदण्ड की संख्या १७ कही गई है। शयन-बिम्ब के लिए १९ शूलदण्डों का भी विधान है। शयन-बिम्ब में पाद-शिला-कल्पन निषिद्ध है।[2]

सनत्कुमार-संहिता ने मृण्मयी प्रतिमा के विविध वर्णों का निर्देश किया है। इसके अनुसार आसन-प्रतिमा का वर्ण रक्त या पीत, शयन-बिम्ब का श्याम या हरित तथा यानग प्रतिमा का वर्ण हरित ही होना चाहिए। यह वर्णक्रम कृतयुग के लिए कहा गया है। शूद्र, क्षत्रिय आदि वर्णों के आधार पर भी प्रतिमा के वर्ण का निर्देश किया गया है। कृतयुग में शूद्र के लिए प्रतिमा का वर्ण श्याम, विप्र तथा क्षत्रिय के लिए प्रतिमा का वर्ण पीत, हरित या श्याम कहा गया है। त्रेतायुग में वैश्य के लिए प्रतिमा का वर्ण हरित या श्याम तथा शूद्र के लिए प्रतिमा का वर्ण श्याम कहा है। द्वापर में द्विजातियों के लिए प्रतिमा का वर्ण पीत या श्याम कहा गया है। कलियुग में सबके लिए प्रतिमा का वर्ण श्याम कहा गया है।[3]

श्वेतादि तत्तत् वर्णों के देवता इस प्रकार निर्दिष्ट हैं : श्वेत वर्ण के देवता पृथ्वी, पीत वर्ण के अप्, रक्तवर्ण के देवता तेज, हरितवर्ण के देवता वायु तथा कृष्णवर्ण के देवता आकाश हैं। वर्णों का विभाग अधोलिखित कहा गया है। वर्ण तीन तरह के होते हैं : १. धावत (उत्तम), २. वृक्षसम्भव (मध्यम) तथा ३. संयोगज (अधम)। दूसरे प्रकार से भी वर्ण को तीन तरह का कहा गया है : १. वर्ण, २. अनुवर्ण तथा ३. संस्कार। वर्ण शुद्ध होता है। अनुवर्ण प्रायः शुद्धिवर्जित होता है। शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण—ये चार वर्ण भी संकर रूप से द्विविध होते हैं। श्वेत दो तरह का होता है : १. श्वेत, २. वलक्ष। शुक्ल के पर्यायवाची शब्द हैं—शंख, गोक्षीर तथा कुन्दाभ। वलक्ष के लिए मुक्ता, स्फटिक तथा चन्द्राभ—ये तीन पर्यायवाची शब्द कहे गये हैं। रक्तवर्ण दो तरह का होता है—१. अरुण तथा २. शोण। अरुण के लिए १. जपा तथा २. शोणित शब्द का प्रयोग होता है। शोण के लिए किंशुक तथा अशोक-संकाश—ये दो शब्द कहे गये हैं। पीतवर्ण दो तरह के होते हैं—हरित एवं पीत। मनःशिला तथा हरिताल—ये

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १३.१—२३

२. सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.१६५—१७३

३ सनत्कुमार-संहिता, शि० रा०, १.२७६—२८१

दो शब्द हरित वर्ण के लिए प्रयुक्त होते हैं। पीत वर्ण के लिए हरिद्रा तथा कुंकुमाभ—ये दो कहे गये हैं। कृष्ण श्याम तथा कृष्ण भेद से दो तरह का होता है। श्याम का बोध दूर्वा तथा मर्कताभ शब्द से होता है। कृष्णवर्ण के लिए इन्द्रनीलनिभ तथा कृष्ण—ये दोनों शब्द भी निर्दिष्ट हैं। शुक्ल वर्ण के साथ रक्तवर्ण के मिश्रण से बना हुआ वर्ण बभ्रु वर्ण कहा जाता है। पीत तथा कृष्ण के सम्मिश्रण से काल वर्ण का निर्माण होता है। पीत कृष्ण से युक्त शुक्लवर्ण को कर्बुर वर्ण कहते हैं। जहाँ तक वर्णों के अन्य भेदों का प्रश्न है, उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वर्ण होते हैं, जो परस्पर सम्मिश्रण से निर्मित होते हैं।[1]

प्रतिमा-कल्पनार्थ उपादान-द्रव्यों के वर्णन-प्रसंग में शिला, दारु तथा मृद् के विस्तृत विवेचन के पश्चात् प्रतिमा-कल्पन के लिए प्रयुक्त कुछ अन्य उपादान-द्रव्यों की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। जयाख्य-संहिता ने पट पर प्रतिमा-निर्माण का निर्देश करते हुए पट-परिमाण का भी निर्देश किया है। प्रतिमोपादान के रूप में दो या एक हाथ का चतुरस्र कार्पास या क्षौम का अनाहत शुक्लवर्ण नव वस्त्र ग्राह्य है।[2] ईश्वर-संहिता ने चित्रमय बिम्ब (चित्राभास) के लिए आश्रय के रूप में भित्ति, काष्ठ तथा अम्बर को स्वीकृत किया है। इस क्रम में अम्बर के चार भेद कहे गये हैं, जो उनके उपादान-द्रव्य के आधार पर स्वीकृत हैं। जैसे—१. कार्पास, २. कौशेय, ३. क्षौम तथा ४. शाण।[3] जयाख्य-संहिता के अनुसार चित्र की कल्पना के लिए सर्वप्रथम सकर्णिक अष्टदल-कमल का कल्पन वर्णित है। यहाँ कर्णिका के मध्य में द्वादश अंगुल से आरम्भ कर त्रिंशत् अंगुल उच्छ्रायान्त चित्र का निर्माण किया जाता है। इस विधि से लक्ष्मी तथा लोकेशादि परिवारदेव से समावृत चित्र का कल्पन होता है।[4]

पहले हमने उपादान-द्रव्य-भेद के आधार पर बिम्ब-भेद में मणिज बिम्बों का निर्देश देखा है। ये मणिज बिम्ब वस्तुतः चित्राभास की तरह ही कल्पित होते हैं। मणिजार्चा सौम्या, आग्नेयी तथा समा-भेद से तीन प्रकार की कही गई है। चन्द्रकान्तमयी सौम्या, चन्द्रकान्तमयी (सूर्यकान्तमयी ?) आग्नेयी तथा स्फटिकमयी बेर समा कही गई है। इन तीनों में पूर्व-पूर्व गरीयसी कही गई है। चित्राभास का कल्पन मणियों के द्वारा ही होना चाहिए। बहुबेर-विधान से इसका किया जाना विहित है। इसकी कर्मार्चा राजत होनी चाहिए और उसका निर्माण सर्वदा शुद्ध लोह से होना चाहिए।[5]

---

१. (i) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १४,४८—६२
(ii) विष्वक्सेन-संहिता, ६.११—२७

२. जयाख्य-संहिता, २०.२-३

३. ईश्वर-संहिता, १७.३-४

४. जयाख्य-संहिता, २०.५—७

५. (i) वाशिष्ठसंहिता, ६.९१—९६
(ii) सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रा०, ७.८४—८६

तृतीय अध्याय

प्रतिमा-मान

आलय में स्थापन तथा प्रतिष्ठा के लिए अपेक्षित प्रतिमा के कल्पन के लिए तत्तदुपादान-द्रव्यों के विवेचन के पश्चात् सामान्यत: प्रतिमा-कल्पन-प्रकार विषय के वर्णन का प्रसंग आता है। इस प्रसंग में प्रतिमा-मान अर्थात् प्रतिमा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की तथा सम्मपूर्ण प्रतिकृति की लम्बाई एवं चौड़ाई का एक निश्चित प्रमाण ज्ञातव्य होता है। उसके विना अपेक्षित और समीचीन प्रतिमा का निर्माण सम्भव नहीं है। अत: प्रकृत-अध्याय में प्रतिमा के मान तथा प्रमाण (Iconometry) विषयों का विवेचन अपेक्षित है। पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने विविध स्थलों में मूर्त्तिकल्पन-प्रसंग में पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप इस विषय का विवेचन किया है। इस विषय में सभी ग्रन्थों की दृष्टि सर्वथा समान नहीं कही जा सकती। विविध पाञ्चरात्रीय संहिताओं ने सामान्यत: अंगुल आदि मानों का निर्देश कर वासुदेवादि की मूर्त्ति के प्रत्येक अङ्ग का विस्तृत वर्णनपूर्वक विवरण दिया है। उसी परिप्रेक्ष्य में पाञ्चरात्रिक मूर्त्तिकल्पन-मापों के तकनीकी शब्दों तथा उनके प्रमाण के विषय की अन्य बातों का विचार यहाँ आगामी पृष्ठों में देखने का प्रयत्न होगा।

सामान्यत: इस प्रकरण में अधोलिखित विषयों की चर्चा होगी: मान के लिए प्रयुक्त 'अंगुल', 'ताल' आदि शब्दों की परिभाषा तथा उसकी मौलिक इकाई (unity); तत्तत्प्रमाणों के उपयोग-स्थल तथा अवसर; उन-उन प्रतिमानों का विषय, जहाँ आलयादि तत्तद्वस्तुओं के आधार पर उनके अनुरूप सापेक्ष रूप से प्रतिमा का प्रमाण आदि निर्धारित तथा प्रतिपादित किया गया है। ये ही विषय प्रमुख रूप से यहाँ विवेचनीय होंगे।

पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में प्रतिमा-माप के लिए छोटी अन्विति के रूप में 'अंगुल' का प्रयोग किया गया है। अंगुल का मान प्राय: एक इंच के समान होता है। अंगुल तीन प्रकार के कहे गये हैं: १. मानांगुल, २. मात्रांगुल तथा ३. देहलब्धांगुल। एक-एक का विवरण अधोलिखित है:

१. मानांगुल:

८ परमाणु = १ रेणु
८ रेणु = १ वालुका
८ वालुका = १ रक्ष
८ रक्ष = १ यूक
८ यूक = १ तिल (यव)
८ यव = १ मानांगुल

२. मात्रांगुल-प्रमाण—मध्यमा अंगुलि के मध्यम पर्व को पर्वमात्रांगुल कहते हैं।

३. देहलब्धांगुल-प्रमाण—तालगणन से विभक्त प्रतिमा के आधार पर जो अंगुल-मान होता है, उसे देहलब्धांगुल-प्रमाण कहते हैं।[१]

पाद्मसंहिता ने पाँच प्रकार के अंगुलमानों का निर्देश किया है: १. मानांगुल, २. मानान्तर अंगुल, ३. मात्नांगुल, ४. मुष्ट्यंगुल तथा ५. देहलब्धांगुल। इनके विवरण अधोलिखित हैं :

१. मानांगुल का प्रमाण :

८ परमाणु = १ केश
८ केश = १ लिक्ष
८ लिक्ष = १ यूक
८ यूक = १ यव
८ यव = १ अंगुलि (उत्तम)
७ यव = १ अंगुलि (मध्यम)
६. यव = १ अंगुलि (अधम)

यहाँ परमाणु का विवरण दिया गया है। कहते हैं कि गवाक्ष से सूर्य की रश्मियों में दिखनेवाले कणों की परमाणु या अणु संज्ञा है।

२. मानान्तरांगुल-प्रमाण : ८ तिर्यक् यव = १ मानान्तरांगुल
३ शालि (ऋजु) = १ मानान्तरांगुल

३. मात्नांगुल-प्रमाण—आचार्य के दक्षिणकरस्थ मध्यमांगुल के मध्यम पर्व के दीर्घ का परिमाण 'मात्नांगुल' कहा जाता है।

४. मुष्ट्यंगुल-प्रमाण—चार भागों में विभक्त वस्तु के एक भाग को मुष्ट्यंगुल कहते हैं। पाद्मसंहिता ने पाँचवें अर्थात् देहलब्धांगुल की परिभाषा या प्रमाण का निर्देश नहीं किया है।[२]

पुरुषोत्तम-संहिता के अनुसार अंगुलमान का क्रम अधोलिखित है :

१. मानांगुल-प्रमाण :

८ रेणु = १ अणु (सर्षप)
८ सर्षप = १ तिल
८ तिल = १ यव
८ यव = १ तिर्यंगंगुल

२ मात्नांगुल-प्रमाण—मध्यमांगुल का मध्य पर्व तथा ऊर्ध्व तिर्यक् को मात्नांगुल कहते हैं।

३. देहलब्धांगुल-प्रमाण—अंगुष्ठवलयार्द्ध तथा अष्टार्द्ध उन्नत इन दोनों तरहों से देहलब्धांगुलमान निर्दिष्ट है।[३]

---

१. कपिञ्जल-संहिता, १०.५३—५७
१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १२.२५—३२
३. पुरुषोत्तम-संहिता, ८.७—११

मानांगुल-प्रमाण से आलय आदि का कल्पन होता है। मात्रांगुल-प्रमाण से कुण्ड, कूर्च, स्रुक तथा स्रुव, इध्म आदि अनल-पात्रों की माप होती है। देवताओं के कल्पन में देहलब्धांगुल-मान का प्रयोग होता है। देव-प्रतिमा-कल्पन में देहलब्धांगुल-मान का प्रयोग होता है। देव-प्रतिमा-कल्पन के लिए तीन प्रकार से मानों का आधार स्वीकार किया गया है। देव-प्रतिमा का मान आलय के प्रमाणानुरूप होता है, पुनः यह द्वार के प्रमाणानुरूप होता है अथवा यजमान के अनुरूप प्रतिमा का मान होता है। उपर्युक्त मान के आधार पर कल्पित बिम्ब के सव्यहस्त के देहलब्धांगुलमान से पादादिकेशान्त अष्टोत्तरशत अंगुल, द्वादशांगुलमान से नवताल की गणना होती है। अर्थात् नवताल-मान में १०८ अंगुल होते हैं, जो द्वादश भागों में विभक्त होते हैं।[१]

पौष्कर-संहिता के अनुसार जालान्तर्गत सूर्य-रश्मि के कणों के रेण को परमाणु कहते हैं। पुनः उसी के आधार पर अधोलिखित मान होता है :

८ परमाणु = १ अणु
८ अणु = १ लिक्षा
८ लिक्षा = १ यूका
८ यूका = १ यव
८ यवोदर = १ अंगुल
२ अंगुल = १ गोलक या कला
६ कला = १ ताल
२४ अंगुल = १ हस्त

मण्डलादि-कल्पन के लिए सर्वत्र यही हस्तमान स्वीकृत है।[२] भार्गवतन्त्र ने इस विषय का विवेचन सामान्यतः पाद्मसंहिता की ही तरह किया है। पर किञ्चित् न्यूनाधिक्य यहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसके अनुसार ये प्रमाण अधोलिखित हैं :

१. मानांगुल :
८ परमाणु = १केश
८ केश = १ लिक्ष
८ लिक्ष = १ यूक
८ यूक = १ यव
८ यव = १ मानांगुल

२. मानान्तरांगुल
३ शालि = १ मानान्तरांगुल

३. मात्रांगुल—आचार्य के दक्षिण हस्त की मध्यमांगुल के मध्यम पर्व को मात्रांगुल कहते हैं।

४. मुष्ट्यंगुलमान—अंगुष्ठ के विना शेष चार अंगुलों की मुष्टि को चार भागों में विभक्त कर उसके एक भाग को मुष्ट्यंगुल कहते हैं।

---

१. पुरुषोत्तम-संहिता, ८·११—१५
२. पौष्कर-संहिता, ४·५—६

५. देहलब्धांगुलमान—जिस किसी प्रतिमा को दस भागों में विभक्त कर उसके एक भाग को पुनः द्वादश भागों में विभक्त करने के बाद उसके एक भाग को 'देहलब्धांगुल मान' कहते हैं।[1]

तुषहीन अनुत्तान अष्ट मध्यम यवों के बराबर मान को उत्तम अंगुल, सात यवों के बराबर मान को मध्यम अंगुल, तथा छह यवों के बराबर मान को अधम अंगुलमान कहते हैं।[2]

हयशीर्ष-संहिता ने अधोलिखित रूप से मान विषय को प्रतिपादित किया है :

८ परमाणुः	=	१ त्रसरेणुः
८ त्रसरेणुः	=	१ रथरेणुः
८ रथरेणुः	=	१ वालाग्र
८ वालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यव
८ यव	=	१ अंगुल
२४ अंगुल	=	१ कर

इस प्रसंग में चतुरंगुल-संयुक्त अपने हाथ का पद्महस्तकलश है। इन्हीं हाथों से प्रासाद, यागमण्डपादि-कल्पन निर्दिष्ट है। प्रतिमा, पिण्डिका, कुण्ड, मण्डल, तोरण, ध्वज तथा स्रुवादि पात्र का कल्पन इन मानों के आधार पर किया जाना चाहिए।[3]

अंगुलमान के सामान्य वर्णनादि के बाद अब यहाँ तालमान के विषय के वर्णन का प्रयत्न करेंगे। तालमान एकताल से प्रारम्भ कर दशताल-पर्यन्त कहा गया है। ये उत्तम, मध्यमादि भेद से भिन्न-भिन्न कहे गये हैं। किसी भी प्रतिमा-विशेष के मान को दस भागों में विभक्त कर, उसके एक भाग को पुनः बारह भागों में विभक्त करने से जो एक भाग होता है, उसे अंगुल कहते हैं। अंगुल का अष्टमांश यव कहा गया है। द्वादशांगुलक मान ताल के नाम से अभिहित होता है। यही ताल मुख्य ताल कहा गया है। इस क्रम में दशताल से वासुदेव-मूर्त्ति के मान का विधान है। सार्द्धनवताल-मान से ब्रह्मा तथा शिव की प्रतिमा का मान निर्धारित है। नवताल से देवताओं का प्रतिमा-कल्पन, सार्द्ध-अष्टताल-मान से द्वारस्थकुमुदादि गणदेवताओं की मूर्त्तियाँ, अष्टतालमान से मनुष्यमूर्त्ति, सप्तताल-मान से पिशाचादि की प्रतिमा, षट्तालमान से कुब्जकों की मूर्त्ति तथा पञ्चतालमान से वामनों की प्रतिमा के कल्पन का विधान है। भूतों की प्रतिमा चतुस्तालमान से, किन्नरों की प्रतिमा त्रितालमान से, मत्स्यमूर्त्ति द्वितालमान से तथा एकतालमान से

१. भार्गवतन्त्र, ४.१—६
२. विष्णुसंहिता, १३.७५
३. हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, ७.१—७

पन्नगों की प्रतिमा के कल्पन का निर्देश है। जहाँ तक दशतालमान के स्वरूप का प्रश्न है, यह १२४ अंगुल परिमित कहा गया है। प्रकरण-पर्यालोचन से यह उत्तम दशताल का स्वरूप या लक्षण प्रतीत होता है। मध्यम दशताल १२० अंगुल तथा अधम दशताल ११६ अंगुल होते हैं। ११२ अंगुल उत्तम नवताल, १०८ अंगुल मध्यम नवताल तथा १०४ अंगुल कनिष्ठ नवताल कहे गये हैं। उत्तम अष्टताल का परिमाण १०० अंगुल, मध्यम अष्टताल का मान ९६ अंगुल तथा अधम अष्टताल का परिमाण ९२ अंगुल कहा है। इसी प्रकार अधोलिखित क्रम से उत्तम सप्ततालादि का निर्देश किया गया है।

८६ अंगुल = उत्तम सप्तताल
८२ ,, = मध्यम सप्तताल
७८ ,, = अधम सप्तताल
७४ ,, = उत्तम षट्ताल
७० ,, = मध्यम षट्ताल
६६ ,, = अधम षट्ताल
६२ ,, = उत्तम पञ्चताल
५८ ,, = मध्यम पञ्चताल
५४ ,, = अधम पञ्चताल
५० ,, = उत्तम चतुस्ताल
४६ ,, = मध्यम चतुस्ताल
४२ ,, = अधम चतुस्ताल
३८ अंगुल = उत्तम त्रिताल
३४ ,, = मध्यम त्रिताल
३० ,, = अधम त्रिताल
२६ ,, = उत्तम द्विताल
२२ ,, = मध्यम द्विताल
१८ ,, = अधम द्विताल
१४ ,, = उत्तम एकताल
१० ,, = मध्यम एकताल
६ ,, = अधम एकताल[1]

गृहार्चा-बिम्ब-कल्पन के लिए मात्रांगुलमान ग्राह्य है। यह प्रतिमा हस्तमान से अधिक तथा द्वादशांगुलमान से न्यून नहीं होनी चाहिए। आलयार्चा-क्रम में ब्राह्मणादि-वर्णानुसार प्रतिमा का मान अधोलिखित कहा गया है :

ब्राह्मण की प्रतिमा—हस्तपरिमित
क्षत्रीय की प्रतिमा—एकविंशति अंगुलि-परिमित
वैश्य के लिए प्रतिमा—ऊनविंशति अंगुलि-परिमित
शूद्र के लिए प्रतिमा—सप्तदश अंगुलि-परिमित

लोहज प्रतिमा का परिमाण तत्तद्वर्णानुसार अधोलिखित कहा गया है :

ब्राह्मण-प्रतिमा—द्वादशांगुलमान-परिमित
क्षत्रिय-प्रतिमा—नवांगुलमान-परिमित
वैश्य-प्रतिमा—सप्तांगुलमान-परिमित
शूद्र-प्रतिमा—पञ्चांगुलमान-परिमित[2]

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १९.५१—६५
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३२.२८—३२

कपिञ्जल-संहिता के अनुसार प्रासाद तथा मण्डप का कल्पन मानांगुल-प्रमाण से, यागोपकरणों का कल्पन मात्रांगुल-प्रमाण से तथा प्रतिमाओं का कल्पन देहलब्धांगुल-प्रमाण से किया जाना चाहिए। मान का सामान्य निर्देश अधोलिखित है :

२४ अंगुल = १ निष्कु
२५ अंगुल = १ प्राजापत्य
२६ अंगुल = १ धनुर्मुष्टि
२७ अंगुल = १ धनु.........[१]

प्रतिमा का मान सामान्यतः १. विमान, २. द्वारमान या ३. गर्भगृह के मान पर आधारित होता है। मूल प्रासाद के विस्तार के अर्द्धप्रमाण से प्रमाणित उच्छ्रायवाली प्रतिमा उत्तम प्रतिमा कही गई है। उससे अर्द्धपरिमाण-परिमित प्रतिमा को मध्यम तथा मध्यम प्रतिमा के उच्छ्राय से अर्द्ध उच्छ्राय परिमाण-परिमित प्रतिमा को अधम कहा जाता है। द्वारमान से पादाधिकोच्छ्राय मानवाली प्रतिमा उत्तम प्रतिमा, द्वारमान के समान उच्छ्राययुक्त प्रतिमा मध्यम प्रतिमा तथा द्वारमान से पाद-अल्पोच्छ्राय मानयुक्त प्रतिमा को अधम प्रतिमा कहते हैं।[२]

सनत्कुमार-संहिता ने भी प्रायः इसी से मिलता-जुलता सापेक्ष प्रतिमा-प्रमाण का निर्देश किया है। इस संहिता के अनुसार प्रतिमा का आयाम पाँच प्रकार का होता है। प्रासाद या गर्भगृह भाग के अर्द्धसमायाम के समान, अथवा प्रासाद या गर्भ के मान को पाँच भागों में विभक्त कर तीन भागों के समान मानवाली प्रतिमा मध्यम होती है। गर्भगृह को तीन भागों में विभक्त कर उसके दो भागों के समान मानयुक्त प्रतिमा उत्तम कही गई है। प्रासाद या द्वार के आयाम के समान भी प्रतिमा का मान निर्दिष्ट है। प्रतिमा-प्रमाण सामान्यतः एक हाथ से आरम्भ कर नव हस्तान्त उच्छ्रित होना कहा है। इससे अधिक प्रतिमोच्छ्राय निषिद्ध है। एक हाथ से कम प्रमाणवाली प्रतिमा का कल्पन भी निषिद्ध है। अन्ततः अति सामान्य रूप से यहाँ कहा गया है कि कालयोग-प्रमाण से प्रतिमा-कल्पन होना चाहिए।[३]

श्रीप्रश्नसंहिता में अति विस्तार के साथ शयानासीनादि प्रतिमाओं के मान का निर्देश किया गया है। यहाँ भी मूलतः प्रमाण के आधार आलय तथा गर्भागारादि ही हैं। इनके उत्तमादिभेद का निर्देश भी है।[४] पाद्मसंहिता में भी प्रतिमा-मान विषय का विवेचन अति विस्तार के साथ हुआ है।[५] विश्वामित्र-संहिता ने प्रतिमा-प्रमाण आलय अथवा यजमान के अनुरूप होना कहा है। यह प्रमाण चार अंगुल से

---

१. कपिञ्जल-संहिता, १०.५८—६०
२. विष्वक्सेन-संहिता, १०.२३—२७
३. सनत्कुमार-संहिता, ७.३२—३६
४. श्रीप्रश्नसंहिता, १२.१—५८
५. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १२.१—२४; ३२—५२

प्रारम्भ कर चार-चार अंगुल की वृद्धि से अष्टोत्तरशत अंगुल-पर्यन्त होता है। स्वर्ण-बिम्ब का प्रमाण १०८ अंगुल से अधिक नहीं होना चाहिए। रुप्य, ताम्र तथा शिला-प्रतिमाओं का मान-निर्धारण गर्भगृहमान के अनुरूप किया जाना उत्तम होता है। उसके नवभाग में से एक भाग हीन मानवाली प्रतिमा मध्यम तथा पाँच भाग में से एक भाग हीन मानवाली प्रतिमा अधम प्रतिमा कही गई है। गर्भविस्तारमान को पाँच भागों में विभक्त कर पाँच भाग के मान के अनुरूप प्रतिमामान को मध्यमोत्तम, पाँच से तीन भाग प्रमाण प्रमाणित प्रतिमामान मध्यम-मध्यम तथा द्वितीय भाग के अनुरूपमान को मध्यम-अधम मान कहा गया है।[१] गृह के अनुरूप अर्चा तथा अर्चा के अनुरूप गृह तथा पीठादि का मान भी निर्दिष्ट है।[२] वाशिष्ठ-संहिता ने प्रासाद के साथ प्रतिमा या प्रतिमा के साथ प्रासाद के कल्पन का विधान किया है। यहाँ प्रासाद-गर्भ-आयाम के अनुरूप प्रतिमा-आयाम को अधम कहा है। प्रासाद-गर्भ को पाँच भागों में विभक्त कर चतुर्भाग प्रमाण-परिमित प्रतिमा को मध्यम कहते हैं। त्रिभागीकृत गर्भगृहमान के द्विभागानुरूप बिम्ब-मान को उत्तम कहते हैं। आलय के पादायाम अथवा द्वारायाम के अनुरूप भी प्रतिमा-मान निर्धारित होता है। प्रतिमा का न्यूनतम प्रमाण एकहस्त तथा अधिकतम नवहस्त-परिमित होना विहित है। इसके विरुद्ध विधान का सर्वथा निषेध किया गया है। प्रतिमा का उच्छ्राय तथा विस्तार उद्देश्यमान के समान या स्तम्भमान के समान भी होता है। अथवा यह शुद्धद्वार के समान या उससे पादाधिक हो सकता है। द्वादशार्द्ध मानयुक्त प्रतिमोत्सेध भी विहित है। इस प्रकार तीन प्रकार के प्रतिमोच्छ्राय का निर्देश देखते हैं। इनके अतिरिक्त द्वारमान को षोडश भागों में विभक्त कर एक भाग हीन, दो भाग हीन अथवा तीन भाग हीन उच्छ्राय भी स्थानक-प्रतिमा के लिए उक्त हैं। आसन-बिम्ब का प्रमाण द्वारपाद से अधिक या द्वार के अर्द्ध-प्रमाण के बराबर होना चाहिए। शयन-बिम्ब का प्रमाण द्वारार्द्धप्रमाण-परिमित होना निर्दिष्ट है। इनके साथ ही यह भी कहा गया है कि कालयोगप्रमाण से शुभ प्रतिना का कल्पन किया जाना चाहिए।[३] कपिञ्जल-संहिता ने प्रायः इसी प्रकार के प्रतिमा-प्रमाण का निर्देश किया है।[४]

ऊपर जो प्रतिमा-प्रमाण का निर्देश किया गया है, वह सामान्यतः प्रायः ध्रुव बिम्ब का विषय है। हमने पीछे ध्रुवबेर के अतिरिक्त आलयों में कुछ अन्य बेरों की चर्चा भी देखी है। अधिकतर आलयों में ध्रुवबेर के अतिरिक्त कुछ अन्यान्य बेर भी स्थापित होते हैं। इन बेरों में आराधनामूलक विविध कर्म सम्पादित होते हैं। ये बेर मूलबेर की अपेक्षा लघु होते हैं। इन कर्मार्चादि बेरों के प्रमाण का निर्देश भी अनेक

---

१. विश्वामित्र-संहिता, २२.२१—२८
२. विष्णु-संहिता, १२.८०
३. वाशिष्ठ-सहिता, ४ ३४—४५
४. कपिञ्जल-संहिता, ११.३८—६२

संहिता-ग्रन्थों में देखते हैं। ध्रुववेर के मान को दस भागों में विभक्त कर उसके दो भागों के समान कर्मार्चा तथा उत्सवार्चा का मान कहा गया है। मूलवेर के एकादशांश कर उसके दशांश के अनुरूप शयन-विम्ब का कल्पन निर्दिष्ट है। उसी के नवांशानुरूप बलिबिम्ब के अष्टांश के अनुरूप तीर्थबिम्ब का मान होता है। षष्ठांश के अनुरूप स्नपनबेर का मान होता है। इस मान-विचार के अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष भी इन छह प्रतिमाओं के मान के सम्बन्ध में कहा गया है। उस पक्ष में मूलवेर के अंगुल-मान के आधार पर २६ अंगुल परिमाणवाला मूलवेर, तथा २४ अंगुल, १८ अंगुल, १६ अंगुल, १२ अंगुल, ८ अंगुल, ६ अंगुल मान क्रमशः कर्मार्चादि छह वेर होते हैं।[१] भार्गवतन्त्र के अनुसार मूलवेर के तृतीयांश के अनुरूप उत्सव, स्नपन तथा कौतुक-वेरों का मान विहित है। बलिवेर, शयनवेर, तथा उत्थानवेर एवं कर्मवेर मूलवेर के अनुरूप कल्पित होने चाहिए।[२] वस्तुतः यहाँ यह स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। व्यवहार में सामान्यतः मूलवेर की अपेक्षा अन्य सभी वेर छोटे होते हैं। पर, यहाँ बलि आदि बेर का मान भी मूलवेर के अनुरूप होना कहा है। इसके अनुसार बलि आदि वेर भी मूलबेर के समान होंगे, जो व्यावहारिक दृष्टि से युक्ति युक्त नहीं दीखता।

मानोन्मानादि शब्द का विवेचन अधोलिखित रूप से किया गया है :

१. मान—उत्तुङ्गमान
२. उन्मान—विस्तृतमान
३. प्रमाण—नाभिमान
४. उपमान—अन्तर्मान
५. लम्बमान—सूत्रमान[३]

ये लक्षण अनिरुद्ध-संहिता में वर्णित हैं। पर, ग्रन्थ में ६ मानों के निरूपण की प्रतिज्ञा कर केवल पाँच मानों का ही लक्षण-निर्देश किया गया है।

ध्रुवबेर के मान को दस भागों में विभक्त कर, उसके दो भागों के अनुरूप कर्मार्चा तथा उत्सवार्चा का मान होता है। बिम्ब के एकादशांश से दशांश के अनुरूप शयनबिम्ब का मान बताया गया है। नवांश के अनुरूप बलिबिम्ब तथा अष्टमांश के अनुरूप तीर्थबिम्ब की कल्पना होनी चाहिए। षष्ठांश के अनुरूप स्नपनबेर का मान होता है। अथवा पक्षान्तर में अधोलिखित रूप से मूलबेर के अंगुलमान के अनुरूप अन्य वेरों का मान निर्दिष्ट है :

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २४.५—१०
२ भार्गवतन्त्र, ४.१०२-२०३
३. अनिरुद्ध-संहिता, १२.१—९

वेरनाम मान (उच्छ्राय)

१. मूलवेर—२६ अंगुल
२. कर्मार्चा—२४ ,,
३. उत्सवार्चा—१८ ,,
४. शयनबेर—१६ ,,
५. बलिबिम्ब—१२ ,,
६. तीर्थबिम्ब—८ ,,
७. स्नपनबेर—६ ,,[१]

यह विषय पूर्वोक्त कपिञ्जल-संहिता में निर्दिष्ट मान-विषय के साथ तोलनीय है। भार्गवतन्त्र ने मूलबिम्ब के तृतीयांश के अनुरूप उत्सव, स्नपन तथा कौतुक-बिम्बों का मान-निर्देश किया है। बलिबिम्ब, शयनबिम्ब तथा उत्थान और कर्म-बिम्ब मूलवेर के प्रमाण के अनुरूप कल्पित होने चाहिए।[२]

पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने इसी प्रकार विविध प्रतिमाओं के मान का निर्देश किया है। इसमें कुछ स्थानों में ग्रन्थ के भाव कुछ क्लिष्ट की तरह प्रतीत होते हैं, पर सामान्य रूप से निर्दिष्ट विषय को समुचित कहा जा सकता है। कुछ संहिताओं ने प्रतिमा के एक-एक अङ्गविशेष का मान अत्यन्त विस्तार के साथ बताया है। जैसे नारदीय संहिता तथा कुछ अन्य संहिताओं ने प्रतिमा के मुख, केशान्त, नासिका, चिबुक, ग्रीवाग्र, नाभिमेढ्र, जङ्घा, मूर्धा, ग्रीवा, जानु, गुल्फ आदि अङ्गों का स्पष्ट वर्णन किया है।[३] विस्तार के भय से उनका विशद वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता।

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २४.५-१०
२. भा० संहिता, ४.१०२-१०३
३. नारदीय संहिता, १३.१२९—१७२
विश्वामित्र-संहिता, २२.६१—६७
भार्गव-संहिता, ४.९—८४
पाद्मसंहिता, क्रि० पा० २०.१.१०१ (कुछ अन्य संहिताएँ भी द्रष्टव्य)

चतुर्थ अध्याय

प्रासाद-लक्षण : आलय-कल्पन तथा निर्माण

यद्यपि प्रतिमा-निर्माण विषय की तरह देवालय-निर्माण विषय भी साक्षात् रूप में शिल्पशास्त्रीय विषय है; अतः इसे पाञ्चरात्रागम का साक्षात् प्रमुख प्रतिपाद्य विषय नहीं कह सकते तथापि आलयार्चा विषय-प्रतिपादनपरक पाञ्चरात्रागम-साहित्य में देवालय-निर्माण आदि विषय को अङ्गभूत प्रतिपाद्य विषय के रूप में सामान्यतः सर्वत्र वैष्णवागम-ग्रन्थों में स्वीकारा गया है। पाञ्चरात्रागम-साहित्य तथा वैखानसागम-साहित्य के अनेक ग्रन्थों ने विस्तृत अथवा संक्षेप रूप में देवालय-कल्पन विषय का प्रतिपादन किया है।[1] अनेकत्र विविध संहिताओं में सम्पूर्ण एक या अनेक अध्यायों में इस विषय का विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में वैष्णव-देवालय से सम्बद्ध विषय प्रायः उसी प्रकार वर्णित हैं, जिस प्रकार वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में अथवा शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में उक्त हैं। जैसा कि सर्वविदित है, देवालय-निर्माण-विषय पाञ्चरात्रागम का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नहीं है, अतः नारदीय आदि कई संहिता-ग्रन्थों ने इस विषय को अनति विस्तार अर्थात् मध्यम या संक्षिप्त रूप से प्रतिपादित किया है। पाद्मसंहिता ने क्रियापाद के अन्तर्गत अनेक अध्यायों में कुछ विस्तार के साथ इस विषय का विवेचन किया है। पर, मौलिक रूप में ये विषय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों से ही गृहीत हैं। प्रस्तुत अध्याय में मुख्य रूप से पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित वास्तुशास्त्रीय विषय-वर्णन के परिप्रेक्ष्य में पाञ्चरात्रिक वैष्णव-देवालय-कल्पन विषय के विवेचन का प्रयत्न होगा। आवश्यकतानुसार विषय की स्पष्टता के लिए तुलनात्मक रूप से अन्य वास्तुशास्त्र-सम्बद्ध ग्रन्थों तथा समान प्रकृतिक कुछ अन्य ग्रन्थों की सहायता भी ली जा सकती है। प्रस्तुत प्रसंग में सामान्यतः अधोलिखित विषयों का विचार होगा; यथा—वास्तु-प्रदेश, उसके विविध भेद, भूपरीक्षण, भूपरिशोधन, वास्तुपद तथा वास्तुदेवता, ग्रामादि-विचार, तत्तद्देवालय-स्थान, बालालय-कल्पनादि, प्रथमेष्टकान्यास, गर्भन्यास, तत्तदालय सम्बद्ध सामान्य विचार, आलय के भेद, आलयस्वरूप, शिखाघट, विमानतलकल्पनीय देवतादि, वर्णलेप, विमानदेवता, विविध शालादि कल्पन-विचार, मण्डपादि कल्पन-स्थान, द्वारदेवतादि विषय-प्रतिपादन।

---

१. अगस्त्य-संहिता, अ० १; अनिरुद्ध-संहिता, अ० ११; भार्गवतन्त्र, अ० ३; हयशीर्ष-संहिता, आदिकाण्ड; अ० ५-६; ईश्वरसंहिता, अ० १६; कपिञ्जल-संहिता, अ० ७; पौष्कर-संहिता; सनन्द-संहिता. अ० १०; श्रीप्रश्नसंहिता; वाशिष्ठसंहिता, अ० ३; विष्णुसंहिता, अ० १२,२३; विष्णुतन्त्र-संहिता अ० २. ५; विष्णुतिलक-संहिता, अ० ५; विष्वक्सेन-संहिता, अ० ३४; समूर्त्तार्चनाधिकार, अ० २; विमानार्चनकल्प, प० २, ३

जैसा कि पहले कहा गया है, आलय-कल्पन विषय मुख्यत: शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। अत: जिस प्रकार साङ्गोपाङ्ग आलय-कल्पन विषय अति विस्तृत रूप से शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में वर्णित है, उस प्रकार विस्तारपूर्वक पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में नहीं। पर, शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थ न केवल देवालय-कल्पन-विषय-प्रतिपादन तक ही अपने को सीमित रखते हैं, अपितु इन ग्रन्थों में सामान्यत: सभी प्रकार के आलय-कल्पन-विषय तथा तत्सम्बद्ध अन्य विषय भी अतिविस्तृत रूप से वर्णित हैं। स्वाभाविक रूप से उनके अन्तर्गत देवालय-कल्पन-विषय भी अन्तर्भूत होता है। अत: अनेक शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में भी देवालय-कल्पन का विधिवत् विस्तृत वर्णन देखा जा सकता है।[1] सामान्यत: पाञ्चरात्रागमस्थ देवालय-कल्पन विषय शिल्पशास्त्रीय विषय से भिन्न नहीं है, अपितु वे परस्पर अत्यन्त सन्निकट हैं।

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने सामान्यत: प्रासाद-कल्पनार्थ वास्तुदेश-निर्देश के साथ इस विषय का प्रारम्भ किया है। वास्तुदेश से तात्पर्य उस स्थान-विशेष से है, जहाँ आलय-निर्माण किया जानेवाला होता है। वास्तु का किञ्चित् विस्तृत वर्णन हम आगे देखने का प्रयत्न करेंगे। पाद्मसंहिता ने वास्तुदेश-निर्देश से पूर्व सर्वप्रथम सामान्य रूप से स्थानभेद का निर्देश किया है। इसके अनुसार स्थान दो प्रकार के कहे गये हैं[२] : १. सिद्ध स्थान तथा २. असिद्ध स्थान। शैलों के मूल या मूर्धप्रदेश में, नदी के तीर या संगमक्षेत्र में, समुद्र-तीर में, अथवा पुलिन-प्रदेश में, ह्रदतीर्थ या कानन में विश्वकर्मा के द्वारा निर्मित स्थान सिद्धस्थान कहा गया है। मनुष्यों से निर्मित ग्राम-नगरादि को असिद्ध स्थान कहा गया है।[२] जहाँ तक वास्तुदेश के लक्षण का प्रश्न है, वे भी सामान्यत: वही हैं, जो सिद्धादि स्थान के रूप में निर्दिष्ट हैं। जैसे—पर्वत, वन, तीर्थ, आयतनादि, नदी-तीर, ह्रदतट, ग्राम, पत्तन, नगर, वीथि अथवा जनावासयुक्त प्रदेश-विशेष।[३]

वास्तुदेश-लक्षण-लक्षित देश-विशेष में भूग्रहण तथा भूपरीक्षण किया जाता है। उसके लिए यजमान तथा आचार्य दोनों ही तत्तल्लक्षणों से युक्त होने चाहिए। यजमान श्रद्धावान्, आस्तिक, भक्त, धनधान्य-समेधित, महान् उत्साही, शुचि, दक्ष, कृतज्ञ तथा लोभ-वर्जित होना चाहिए। वह वर्ण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अनुलोमज हो सकता है। यजमान को सर्वगुण-समुदित होना आवश्यक है। आचार्य पाञ्चरात्र-विशेषज्ञ, शान्त, शास्त्रों में कृतभूरि परिश्रम, भगवद्वंशोद्भूत, पवित्र, लोभ तथा दम्भ से सर्वथा रहित, निष्पाप, ऋजु, व्याधि विनिर्मुक्त तथा परम आस्तिक होना चाहिए।[४] यजमान लक्षणयुक्त आचार्य का वरण कर आलय-कल्पनार्ह भूमि का ग्रहण करता है। भूमि चार प्रकार की कही गई है : १. सुवर्णा, २. सुभद्रा, ३. पूर्णा तथा ४. धूम्रा। इन चार भूमियों के लक्षण

---

१. अपराजितपृच्छा; काश्यप शिल्पशास्त्र; तन्त्रसमुच्चय; मानसार शिल्पशास्त्र आदि।

२ पाद्मसंहिता, क्रिया पा०, १.१२—१५

३. नारदीय संहिता, १४.२—४

४. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.१५—१९

अधोलिखित हैं। कदम्ब तथा अर्जुन से संच्छन्न, पद्मोत्पल-विभूषित, नारिकेल-वन, चम्पक तथा चन्दन से युक्त, लता-गुल्मों से आच्छादित, सागर-समीपस्थ प्रागुदक्, स्निग्ध, शान्ति तथा पुष्टि प्रदान करनेवाली भूमि को सुवर्णा भूमि कहते हैं। जिस भूमि के पश्चिम भाग में याज्ञिक वृक्ष व्यवस्थित हों, भूमि भूधर के समीप आश्रित हो, प्लक्षवृक्ष-समायुक्त हो, निष्पाव, कोद्र, कूलत्थ-क्षेत्र-संयुक्त हो, दक्षिण में व्रीहि तथा धान्य-क्षेत्र व्यवस्थित हो, पालित वृक्षों से युक्त हो, नदी तथा तीर्थों से समन्वित क्षीरवृक्षसमोपेत, उद्यान तथा उपवनों से सुशोभित, लता तथा गुर्वी से युक्त, हृद्य, सागर के समीप स्थित, सुगन्ध-कुसुमों से उपेत भूमि सुखप्रदा होती है और उसी भूमि को सुभद्रा भूमि की संज्ञा दी गई है। विभीतक एवं आक से पूर्ण, अप्रभूतोदक, ईषत् स्निग्धा भूमि को पूर्णा भूमि कहते हैं। पूर्णा भूमि को पुष्टिदा कहा गया है। वेणुवन-संकीर्ण, स्नुहि एवं पीलुवन से आवृत, श्लेष्मातक, अर्कबहुला विभीतक से समावृत, गृध्र. वायस, गोमायु. श्येनादिगण-संयुक्ता, निस्तोया, सोषरा भूमि को धूम्रा भूमि कहते हैं। पाद्मसंहिता ने धूम्रा भूमि को क्षयदा कहा है। क्षयदा भूमि विविध रोगोत्पादिका होती है। अतः, आलय-कल्पन के लिए उसका त्याग कहा गया है।[१] वास्तुभूपरीक्षण के क्रम में पाद्मसंहिता ने तथा पाञ्चरात्रागम की अनेक संहिताओं ने भी सामान्य रूप से इसी प्रकार भूमि के चार भेद तथा उनके लक्षण बताये हैं।[२]

भूमि-परीक्षण-क्रम में भूमि-परीक्षण-फलानुसार उत्तमा, मध्यमा. तथा अधमा रूप से भूमि तीन प्रकार की कही गई है। परीक्षण-क्रम अधोलिखित है : दण्डमात्रायत तथा विस्तारवाली भूमि को जानु-पर्यन्त खोदते हैं, पुनः खोदी हुई मिट्टी से ही उसे पूर्ण करते हैं। यदि खात-पूर्त्ति के बाद भी मिट्टी अधिक हो जाती है, तो उस भूमि को उत्तम भूमि कहते हैं। यदि मिट्टी न्यूनाधिक न होकर सम हो जाती है, तो उस भूमि को मध्यम तथा खात पूर्ण करने के क्रम में यदि मिट्टी अल्प होती है तो उस भूमि को अधम भूमि कहते हैं। आलय-कल्पन-क्रम में अधम भूमि त्याज्य कही गई है। भूपरीक्षण का दूसरा मार्ग बीजावपन कहा गया है। परीक्षणार्ह भूमि में शालि, मुद्ग तथा यवादि बीजावपन कर उसका परीक्षण करते हैं। आवाप के बाद यदि तीन रात्रि के अन्दर अंकुर आ जाय तो उस भूमि को उत्तम भूमि कहते हैं। जिस भूमि में आवाप के पश्चात् पाँच रात में अंकुर

---

१ नारदीय संहिता, १४.१४—२५

२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.२२—३१
अगस्त्य-संहिता, १.१—१३
आनिरुद्ध-संहिता, ११.२५
भार्गव-संहिता, ३
हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, ५ १९—२८; ६ १—१४
ईश्वर-संहिता, १६.१४
कपिञ्जल-संहिता, ७.१—११

आता है उसे मध्यम भूमि तथा जिस भूमि में सातवीं रात में अंकुर उत्पन्न होता है, उसे अधम भूमि कहते हैं। यह अधम भूमि आलय-कल्पन के लिए अग्राह्य है। पूर्वोक्त उत्तम तथा मध्यम भूमि को आलय-कल्पन के लिए ग्राह्य कहा गया है। अंकुरोत्पत्ति-काल के आधार पर परीक्षित अधोभूमि में भी यदि कुश, पलाश, तथा हरिणों की उपलब्धि स्वयं ही हो तो उस भूमि को भी आलय-कल्पन के लिए प्रशस्त, अतः ग्राह्य कहा है। रस के आधार पर भी भूपरीक्षण विहित है। उस परीक्षण-क्रम में मधुररस-युक्त भूमि को उत्तम, कटुरसयुक्त भूमि को मध्यम तथा अन्यरसयुक्त भूमि को अधम कहा गया है। इस अधम को अल्प भी कहते हैं। पुनः, भूमि के वर्ण के अनुसार भी भूमिभेद निर्दिष्ट है। इस प्रसंग में श्वेतवर्ण भूमि उत्तम, पीत एवं लोहितवर्ण भूमि मध्यम तथा कृष्णवर्ण भूमि अधम भूमि कही गई है।[1]

नारदीय संहिता ने ब्राह्मणादि वर्णों के लिए आलय-कल्पनार्थ भूमि-परीक्षण की अधोलिखित विधि का निर्देश किया है। क्षीर वृक्ष के समीप शुभ मनोरम स्थान में वास्तु-विद्या-विशारद को भूमि की परीक्षा करनी चाहिए। उपर्युक्त स्थल में भूमि को गोमय से लीपकर, भूमि के मध्य में वर्द्धमान से युक्त घट स्थापित करते हैं। उस अवसर पर 'अवत्वन्त' इत्यादि मन्त्र का प्रयोग निर्दिष्ट है। पूर्वादि चार दिशाओं में घृतपूर्ण वर्द्धमान (मिट्टी-कल्पित पात्र-विशेष) रखकर उसमें वर्तिका प्रज्वलित करते हैं। उन वर्द्धमानस्थ प्रज्वलित वर्तिकाओं को अन्य वर्द्धमान से ढँक देते हैं, पुनः कुछ क्षणों के बाद ऊपर से रखे वर्द्धमान को हटाकर देखते हैं। उस समय भी यदि वर्तिका निर्मल ऊर्ध्व-शिखा होकर जलती है, तब उस यजमान-विशेष के लिए वह भूमि-विशेष आलय-कल्पन के लिए ग्राह्य कही गई है। इस क्रम में सभी दिशाओं में स्थापित दीप ज्वलित हो तो वह भूमि सर्वकामदा कही गई है। इस परीक्षण-क्रम में यदि सभी दिशाओं में स्थित वर्तिकाएँ बुझ जायें तब उस स्थिति में उस भूमि को दुष्टा भूमि कहते हैं। इस दुष्टा भूमि का वास्तुभूमि के रूप में ग्रहण निषिद्ध है। यद्यपि नारदीय संहिता ने भी वर्ण, रस तथा गन्ध के अनुसार भूमि-परीक्षण का सामान्य निर्देश किया है, फिर भी इनका विस्तृत वर्णन नहीं देखते। विस्तृत भूपरीक्षण की केवल उपर्युक्त एक ही विधि वर्णित है।[2]

भूपरीक्षण के अनन्तर भूमिशोधन का अवसर आता है। उस क्रम में प्रथम वास्तु-भूमि-प्रवेश की विधि का निर्देश देखते हैं। वास्तुभूमि में प्रवेश करने से पूर्व बलि प्रदान करते हैं। यह बलि-प्रदान यजमान के साथ आचार्य वास्तुभूमि की सीमा पर करता है। इस अवसर पर नृत्त, गेय, मंगलपाठ, मंगलकुम्भ, दीप, ध्वज-छत्रयुक्त ब्राह्मणों के साथ भूमि की प्रदक्षिणा कर दिक्-विदिक् स्थानों में बलि प्रदान कर, भूत, पिशाच, राक्षस, ग्रह तथा नागादि के लिए बलि-प्रक्षेप करते हैं। बलि-प्रक्षेप के बाद मन्त्रोच्चारणपूर्वक भूत-पिशाचादि को उस स्थान से अन्यत्र जाने का आग्रह करते हैं।[3] भूत-पिशाचादि

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.३२—३६
२. नारदीय संहिता, १४.५—१२
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.४१—४७

की मन्त्र द्वारा प्रार्थना करते हुए अन्यत्र जाने का आग्रह कुछ इसी प्रकार अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[१] नारदीय संहिता ने भी भूतानुज्ञापन-रूप में उपर्युक्त भूतादि को वास्तुभूमि से जाने का आग्रहपूर्वक निर्देश किया है।[२] इस प्रसंग में प्रयुक्त मन्त्र पाद्म-संहिता तथा नारदीय संहिता में उभयत्र समान है।[३]

भूतानुज्ञापन के अनन्तर भूमिशोधन का अवसर आता है। भूमिशोधन-क्रम में कर्षण आवश्यक है। पाद्मसंहिता में भूकर्षणादि विधि का वर्णन विस्तारपूर्वक बताया गया है। पूर्वोक्त क्रम से जहाँ वास्तुभूमि-प्रवेश से पूर्व बलि-विधान किया गया है, वहाँ कर्षण से पूर्व भी बलि-प्रदान का निर्देश है। भूकर्षण के अवसर में यदि ब्राह्मण यजमान हो, वृष श्वेत-वर्ण का होना कहा गया है। क्षत्रिय के लिए लोहितवर्ण, वैश्य के लिए पीतवर्ण तथा शूद्र यजमान के लिए मेचकवर्ण वृष के उपयोग का विधान है। निर्दिष्ट वर्णों के वृषभों के अभाव में कपिलवर्ण, गौरवर्ण अथवा रक्तवर्ण वृषभ कर्षण के लिए ग्राह्य कहे गये हैं। भागव-आचार्य वृषभों के खुर तथा शृङ्ग धोकर स्वर्णादि से विभूषित कर भूमि का कर्षण-कार्य सम्पादित करता है। यहाँ ब्राह्मणादि वर्णों के लिए हल तथा युग काष्ठ अधोलिखित कहे गये हैं:

ब्राह्मण के लिए—पलाश; क्षत्रिय के लिए—न्यग्रोध, तथा विट एवं शूद्र के लिए—प्लक्ष। इसके विकल्प के रूप में सभी वर्णों के लिए न्यग्रोध तथा पिप्पल का युग तथा लाङ्गल कल्पित होना कहा है।[४] नारदीय संहिता ने प्रथमतः वास्तुभूमि के कर्षण का निर्देश किया है। यहाँ कर्षण के लिए दो श्वेत वृषभों का पूर्वाभिमुख उपयोग निर्दिष्ट है।[५] अनेक पाञ्चरात्र तथा वैखानस-आगम-ग्रन्थ में कर्षण विषय वर्णित है।[६] सामान्यतः सर्वत्र

---

१. अगस्त्य-संहिता, १.१५-१६
हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, ६.१६-१७
कपिञ्जलसंहिता, ८.६
वाशिष्ठसंहिता, ३.१३-१४
विष्णुसंहिता, १२.४१-४२
विष्णुतिलक-संहिता, ६.२४

२. नारदीय संहिता, १४.२७—३१

३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३.२-३

४. पाद्मसंहिता, क्रियापाद, ३.४—८

५. नारदीय संहिता, १४.३१

६. श्रीप्रश्नसंहिता, ५
अगस्त्य-संहिता, १ १४—२२
अनिरुद्ध-संहिता, १.१४—२२
हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, ६.२०
मार्कण्डेय संहिता, २
विष्णुसंहिता, १२.३६; १३.५—७
विष्णुतिलक संहिता, ६.६७—८५
विमानार्चनकल्प, पट० ३
समूर्त्तार्चनाधिकार—५

पाद्मसंहिता की तरह ही कर्षण विषय का वर्णन किया गया है। मौलिक रूप मेंकोई खास विशेषता नहीं कह सकते। कर्षण के क्रम में सामान्यतः सप्तकर्षण का विधान किया गया है। पाद्मसंहिता ने सप्तकर्षण के अवसर में अधोलिखित रूप में सात मन्त्रों का निर्देश किया है :

प्रथम कर्षण—मूलविद्या (ओं नमो नारायणाय)
द्वितीय कर्षण—पुरुषसूक्त
तृतीय कर्षणमन्त्र—विष्णुसूक्त
चतुर्थ कर्षणमन्त्र—विष्णुगायत्री
पञ्चम कर्षणमन्त्र—नारायणानुवाक्
षष्ठ कर्षणमन्त्र—पञ्चोपनिषन्मन्त्र
सप्तम कर्षणमन्त्र—भूमिसूक्त[1]

कर्षण के समय निमित्त परीक्षण आवश्यक है। कर्षण-काल में वृषभ का निद्रित होना आदि अशुभ निमित्त कहे गये हैं। दुर्निमित्त दर्शन होने पर, पञ्चोपनिषद्-मन्त्र से शत बार घृताहुति विहित है।[2] श्रीप्रश्नसंहिता ने कर्षण के अनन्तर यजमान तथा आचार्य के द्वारा तत्काल उपस्थित ब्राह्मणों को धन देने का निर्देश किया है।[3]

भूमिकर्षण के पश्चात् उस भूमि को खोदते हैं तथा उसे सम करके उसमें वैष्णव-बीजों का आवपन करते हैं। जब उसमें फल आता है, तब पशुओं के द्वारा उसे चराते हैं। इस क्रिया को गोचारण कहते हैं।[4] यह क्रिया प्रायः भूमि के संशोधन के साथ उसकी पवित्रता के लिए की जाती है। उस गोचारण के अनन्तर हल से पुनः उस भूमि का कर्षण विहित है। कर्षण के बाद पुनः उसका शोधन करते हैं। फिर उस भूमि के समत्व तथा मृदुत्व का परीक्षण किया जाता है। परीक्षित भूमि को सब तरफ से ताल मात्र खोदते हैं। पुनः उसी खोदी हुई मिट्टी से खात को पूर्ण कर पत्थर तथा यष्टि आदि के द्वारा उसको पीटकर दृढ़ बनाते हैं।[5] पाद्मसंहिता के अनुसार जलपर्यन्त भूमि-खात का निर्देश है। खात का विस्तार आलय के प्रथमावरण-पर्यन्त कहा गया है। भूमि-खनन के समय यदि भस्म, अङ्गार, तुष या कोई दुष्ट सत्वादि उपलब्ध हों तो उस दोष-शान्ति के लिए आचार्य सर्पिष आदि के द्वारा शान्ति-होम करता है। ब्राह्मणों को यथाशक्ति धनादि दान देता है।

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३.१८—२१
२. वही, क्रि० पा०, ३.२२—३०
३. श्रीप्रश्नसंहिता, ५.३०—३२
४. नारदीय संहिता, १४
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३.२७—३०
समूर्त्तार्चनाधिकार, ५
श्रीप्रश्नसंहिता, ५.२६—२६
५. नारदीय संहिता, १४

भूमि-खनन के समय यदि रत्नादि दिखे तो आलय के लिए उसे शुभ समृद्धिप्रद होना कहा है। खात से बाहर चतुरस्र स्थण्डिल पर खात-होम का विधान है। अर्थात् खात से बाहर स्थण्डिल पर अग्नि प्रज्वलित कर उसपर खात-होम करते हैं। यह होम मूलमन्त्र तथा पुरुषसूक्त से गुग्गुल, तिल, निवार के द्वारा सम्पादित होता है। अन्ततः पुण्याह-वाचन के साथ खात में शालि-निक्षेप करते हैं। तदनन्तर खात पूर्ण करने का अवसर आता है। खात में निक्षिप्त शालि के ऊपर सूत्रवेष्टित कुम्भों की स्थापना करते हैं। ये कुम्भ लोहमय या उसके अभाव में मृण्मय हो सकते हैं। यहाँ के ग्रन्थ-पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि खात के आठ दिक् तथा विदिक् भागों में आठ कुम्भों की स्थापना की जाती है। इन कुम्भों में सौवर्णमयी आधारशक्त्यादि तत्तद्वस्तुओं का निक्षेप किया जाता है। यह द्रव्य-निक्षेप-क्रम अधोलिखित है :

खातस्थ कुम्भस्थान निक्षेपवस्तु

१. पूर्वदिशास्थित कुम्भ—आधारशक्ति, बीज,
२. आग्नेयकोणस्थ कुम्भ—सर्वलोह;
३. दक्षिणदिशास्थ कुम्भ—सर्वधातु;
४. नैर्ऋतकोणस्थ कुम्भ—पुण्यतीर्थमृद;
५. वरुण (पश्चिम) दिशास्थ कुम्भ—मधु;
६. वायव्यकोणस्थ कुम्भ—सर्पिष;
७. उत्तरदिशास्थ कुम्भ—रत्न;
८. ऐशान्यकोणस्थ कुम्भ—शैलमृद्;
९. मध्यस्थ कुम्भ—१. शालि क्षेत्रस्थमृद्,
२. अशोष्य ह्रदसम्भूत वल्मीक भवमृद्;
३. उत्पलादि कन्द;
४. लोहरत्नादि, दर्भचूर्ण;[१]

शराब के द्वारा मध्यस्थ घट को पिहित कर उसके ऊपर पुनः दूसरा घट स्थापित करते हैं। उस कुम्भ में सुवर्ण कूर्म तथा कालाग्नि-निक्षेप करते हैं। उसके ऊपर तृतीय कुम्भ स्थापित कर उसमें अनन्ताकृति का निक्षेप करते हैं। उस तृतीय कुम्भ के ऊपर एक चतुर्थ वसुधाधार रखकर उसे गन्धोदक से पूरित कर उसका समर्चन होता है। पीछे खात को मिट्टी से पूरित कर गज के द्वारा दृढ़ किया जाता है।[२]

इस तरह उपर्युक्त क्रम से संस्कृत तथा समीकृत भूमि के मध्य भाग में वास्तु-पूजा का विधान है।[३] वास्तुपूजा प्रायः वास्तुपुरुष की आराधना के लिए की जाती

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, ५.४२—५१
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३.३२—४५
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३.४६—५०
३. नारदीय संहिता, १४

है। वास्तुपुरुष के परिचय के लिए विष्णुसंहिता में वर्णित एक कथानक का पर्यालोचन अपेक्षित है। इस कथानक के अनुसार वास्तुपुरुष भार्गव (असुरों के आचार्य शुक्र) के स्वेद से उत्पन्न हुआ था। उसके अजेय पराक्रम को अनेक देवताओं ने सम्मिलित रूप से समाप्त किया था और उसे पराजित किया था। उन देवताओं ने उस असुर को पराजित कर स्वर्ग से नीचे गिरा दिया था। वह पराजित तथा स्वर्ग से पतित असुर अब पृथ्वी पर अधोमुख होकर पड़ा हुआ है।[1] यह विषय इससे किञ्चित् भिन्न रूप में सामान्यतः इसी प्रकार सनन्द-संहिता में भी वर्णित है।[2] एक अन्य वर्णन के अनुसार वास्तु एक अत्यन्त भयंकर राक्षस है। वह ५३ देवताओं के द्वारा मारा गया था। वास्तु-याग के अवसर पर उन्हीं देवताओं की पूजा की जाती है, और उन्हें बलि प्रदान की जाती है।[3] पाद्मसंहिता ने संस्कृत तथा शोधित भूमि में बलि-प्रदान तथा सूत्रपात के बाद सूत्र-सन्धियों पर शिला संस्थापित कर, अधोमुख, प्राक्शिर तथा कोण भागों में पाणि तथा पाद प्रसारित वास्तुपुरुष के ध्यान का निर्देश किया है। साथ-साथ उसी वास्तुपुरुष के आराधन का भी विधान किया गया है।[4] सामान्यतः वास्तुपुरुष का यह रूप नारदीय संहिता में भी वर्णित है। वास्तुपद-कल्पन-क्रम में वास्तुपुरुष के अधोमुख लेटे हुए रूप का वर्णन हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे।[5] इस प्रकार के वास्तुपुरुष के दक्षिण-पार्श्व में वास्तुहोम किया जाता है। यह वास्तुहोम स्थण्डिल पर अग्नि प्रज्वलित कर पञ्चोपनिषद्-मन्त्र से घृत के द्वारा शत या सहस्र आहुति के रूप में सम्पादित होता है। इसका प्रयोजन वास्तु-शान्ति कहा गया है। इस अवसर पर यक्ष, राक्षस तथा पिशाचों के लिए क्रमशः अपामार्ग, शमी तथा खदिर के द्वारा होम का विधान है। इस प्रसंग में वास्तुनाथ के मन्त्र से भी हवन विहित है।[6]

यद्यपि आलय-कल्पन-वर्णन-क्रम में नगर-योजना (Town planning) विषयक अत्यन्त प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं देखते तथापि आलय-कल्पन से पूर्व नगर-योजना एक आवश्यक विषय के रूप में स्वीकार की जा सकती है। अतएव वैष्णव-आगम के कुछ ग्रन्थों ने शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों की तरह इस विषय का प्रतिपादन किया है। पाद्मसंहिता ने ग्रामादि को चतुर्वर्ग-फलदायक बताया है। उसके अनुसार ग्रामादि के अधोनिर्दिष्ट लक्षण हैं :

१. ग्राम—ब्राह्मणों का आवास; २. अग्रहार—ब्राह्मणों का आवास; ३. पुर—क्षत्रियों का आवास; ४. नगर—क्षत्रियों का आवास; ५. नगर—क्षत्रियों का आवास;

---

१. विष्णुसंहिता, ५.३६
२. सनन्द-संहिता, १०.३९—४१
३. अनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, वॉल्यूम २ ३५: १९५४ ई० (तान्त्रिक दीक्षा)
४. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.४९—५१
५. नारदीय संहिता, १४.५४
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १.५१—५४

६. पत्तन—वैश्यों का आवास; ७. मलिकाकुल—वैश्यों का आवास। ग्रामादि के अधोलिखित भेद निर्दिष्ट हैं : १. दण्डक, २. स्वस्तिक, ३. प्रस्त, ४. प्रकीर्ण, ५. नन्द्यावर्त्त, ६. पताका, ७. पद्मक तथा ८. श्रीप्रतिष्ठित। वीथि आदि की संख्याओं के भेद के आधार पर इन दण्डकादि ग्रामों के लक्षण बताये गये हैं।[1] वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ मयमत ने १. दुर्ग, २. पुर, ३. पत्तन, ४. कोत्म, ५. कोल, ६. द्रोणमुख, ७. निगम, ८. खेटक, ९. ग्राम तथा १०. खर्वट रूप में दस भेदों का उल्लेख किया है। विस्तृत रूप में इनके लक्षणों का निर्देश भी किया गया है।[2]

ग्रामादि के लिए कल्पित भूमि को पाँच भागों में विभक्त कर बाहर की ओर से एक भाग का त्याग कर अवशिष्ट चार भागों को क्रमशः १. ब्राह्म, २. दैव, ३. मानुष तथा ४. पैशाच भाग के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। इन चारों में से दैविक तथा मानुष भाग में द्विजातियों का गृह-निर्माण किया जाना चाहिए।[3] वाशिष्ठसंहिता के अनुसार मानुष भाग के बाहर अन्य जातियों के निवास का भी विधान है।[4] हयशीर्ष-संहिता ने विष्णु-आलय-कल्पन के लिए केवल ब्राह्मभाग का निर्देश किया है।[5] पाद्मसंहिता ने ग्राम के मध्यभाग (ब्राह्मभाग) में पञ्चमूर्त्तिमय हरि की स्थापना का विधान किया है। इसे विप्रों का पञ्चयाग कहा गया है। चातुरात्म्य-सिद्धि के लिए चतुर्मूर्त्ति की भी स्थापना की जा सकती है। अथवा सर्वार्थ-साधक एक मूर्त्ति की स्थापना ग्राम-मध्य में कर सकते हैं।[6]

ग्रामादि में पूर्वाभिमुख आलय सुखद, पश्चिमाभिमुखालय पुष्टिवर्द्धक, उत्तराभिमुख धनद तथा दक्षिणाभिमुख देवालय मोक्षप्रद कहा गया है। तत्तद्देवताओं के आलय-कल्पन के लिए अधोलिखित रूप से तत्तद्दिशा आदि का निर्देश किया गया है :

देवता ↓	स्थान	आलयाभिमुख्य	आराधन-फल
भास्कर	ऐन्द्रदिशा में	प्रत्यक् द्वार	रोग-नाश
मदन	अग्निकोण में	प्रत्यक् द्वार	सौभाग्य-सौन्दर्यादि-लाभ
सुब्रह्मण्य	दक्षिण में	पूर्वाभिमुख	भूतादि-हानि
विघ्नराज	नैर्ऋत कोण में	पूर्वाभिमुख	सर्वविघ्न-नाश
विष्णु	पश्चिम में	प्राङ्मुख	भुक्ति-मुक्ति-लाभ
श्री	पश्चिम दिशा में	....	....
दुर्गा	वायव्य कोण में	प्राङ्मुख	आयुवृद्धि

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २.४—१६
२. मयमतम्, अ० २
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २.१७—१९
४. वाशिष्ठसंहिता, २.२३
५. हयशीर्ष-संहिता, आ० का० ५
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २.२९-३०

देवता	स्थान	आलयाभिमुख्य	आराधन-फल
धनद	उत्तर दिशा में	....	धनादि समृद्धि
ईश्वर	ऐशान्य कोण, सोमेशान के मध्य, अथवा इन्द्र तथा ऐशान्य के मध्य में। (अन्यत्र कल्पन निषिद्ध है।)		ज्ञान-लाभ
महामोटी	आग्नेय कोण में	उत्तराभिमुख (ग्राम से दूर)	बालविपद्-नाश
शास्ता	नैर्ऋतकोण में	उत्तराभिमुख	ग्रामवासियों की रक्षा
मातृ	उत्तर दिशा में या ईशान कोण में	उत्तरानन (ग्राम से किञ्चिद्दूर)[१]	पिशाचपीडा-नाश

नारदीय संहिता ने ग्राम के मध्य में आलय को प्राङ्मुख या प्रत्यङ्मुख होना कहा है। ग्राम की पूर्व दिशा में प्रत्यङ्मुख देवालय-कल्पन विहित है। कोणों में देवालय-कल्पन निषिद्ध है। पश्चिम दिशा में पूर्वमुख, तथा ग्राम के दक्षिण तथा वाम भाग में प्राक् तथा प्रत्यङ्मुख देवालय-कल्पन निर्दिष्ट है।[२]

देवालय-कल्पन के लिए कृष्ट तथा शोधित भूमि में आलय-कल्पन से पूर्व वास्तुपद देवताओं का अर्चन आवश्यक होता है। वास्तुपद-कल्पन-क्रम के साथ-साथ उन पदों में विद्यमान देवताओं का निर्देश नारदीय संहिता ने किया है। ग्रन्थ के पर्यालोचन से यहाँ कुछ अंश लुप्त-सा प्रतीत होता है। कदाचित् ग्रन्थपात के कारण ऐसा हो सकता है। निर्दिष्ट पदों में मध्यस्थ नौ पद ब्रह्मपद कहे गये हैं। उस ब्रह्मपद तथा उससे पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं में स्थित पददेवों का विवरण प्रायः स्पष्ट है। ब्रह्मपद तथा उत्तर-दिशास्थ पदों के मध्य विद्यमान देवता का निर्देश भी ठीक ही प्रतीत होता है। पर उत्तर दिशा में स्थित पददेवों का नाम-निर्देश नहीं दीखता। पद-कल्पनादि प्रकार अधोलिखित है। चतुरस्र सर को परस्पर नौ रेखाओं से विभक्त करते हैं। स्वभावतः ९×९=८१ पद कल्पित होते हैं। इन पदों में से मध्य में स्थित नौ पदों को ब्रह्मपद कहा गया है। उससे अर्थात् ब्रह्म के स्थान से पूर्वोत्तर दिशास्थ पद में १. ईशान का स्थान कहा गया है। उसके अनन्तवर्त्ती पूर्व दिशा में विद्यमान पदों में क्रमशः २. पर्जन्य, ३. जय, ४. माहेन्द्र, ५. आदित्य, ६. सत्य, ७. भृगु तथा ८. अन्तरिक्ष के स्थान कहे गये हैं। दक्षिण दिशा के पदों में क्रमशः १. वह्नि, २. पूषा, ३. गृहक्षतृ, ४. भृगु, ५. भृंगु, ६. राजा—ये छह देव निर्दिष्ट हैं। पर वस्तुतः यहाँ आठ पदों में आठ देवताओं का निर्देश होना चाहिए। पाद्मसंहिता ने पूर्व के पदों में सामान्यतः उन्हीं देवताओं का निर्देश किया है, जिनका नारदीय संहिता ने। दक्षिण दिशा के पदों में पाद्म ने आठ देवताओं का

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २.३३—५२

२. नारदीय संहिता, १४.१५१-१५२

अधोलिखित रूप से स्थान-विधान किया है : १. अग्नि, २. पुषा, ३. कृशोभानु, ४. बृहत्क्षत्र, ५. यम, ६. गन्धर्व, ७. भृङ्गराज तथा ८. मृग । नारदीय संहिता की अपेक्षा पाद्म का पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है; क्योंकि दक्षिण दिशा में यम का स्थान-निर्देश अत्यावश्यक है । नारदीय संहिता ने दक्षिण में यम का निर्देश नहीं किया है, अथवा ग्रन्थ-पात या लेखन-परम्परा से यहाँ यह शब्द लुप्त हो गया होगा; क्योंकि संख्या की दृष्टि से भी यहाँ एक देवता कम निर्दिष्ट है । दक्षिण के बाद पश्चिम दिशा में स्थित पदों में अवस्थित देवताओं का वर्णन किया गया है : १. पितृ, २. दौवारिक, ३. सुग्रीव, ४. पुष्पदन्त, ५. वरुण, ६. असुर, ७. शोषण तथा ८. पापयक्ष्मा । पाद्मसंहिता ने भी प्रायः इन्हीं देवताओं का पश्चिम दिशा में निर्देश किया है । पर विषय पूर्ण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता । पश्चिम दिशा के पदों में स्थित देवताओं के निर्देश के अनन्तर नारदीय संहिता ने उत्तर दिशा के पदों में स्थित देवताओं का निर्देश किये बिना ही उपर्युक्त तत्तद्दिशाओं के पदों तथा ब्रह्म-पद के मध्य स्थित पदों में विद्यमान देवताओं का स्थान-निर्देश किया है । पाद्मसंहिता में उत्तर दिशा में स्थित पद-देवताओं का स्पष्ट वर्णन तो नहीं किया है, पर देवताओं के सामान्य निर्देश के अनुसार अधोलिखित देवता उत्तर दिशा में स्थित होते हैं : १. यक्ष्मा, २. मनोजव, ३. रोगनाथ, ४. मृत्यन्त, ५. भल्लाट, ६. सोम, ७. अदिति तथा ८. वास्तुनाथ । जहाँ तक ब्रह्मपद के बाह्य तथा अन्तिम पदों के मध्यस्थ पदों के देवताओं का प्रश्न है, वे निम्नलिखित हैं । ईशान कोणस्थ पद तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में आप तथा आपवत्स का स्थान कहा है । अग्निकोणस्थ पदों तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में सविता तथा सावित्र का स्थान निर्दिष्ट है । पितृकोण तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान पदों में इन्द्र तथा इन्द्रजय का स्थान कहा गया है । ब्रह्म तथा रोग (पापयक्ष्मा) के मध्य विद्यमान पदों में रुद्र तथा यक्ष्मा की स्थिति कही गई है । इस तरह वायव्य कोण में विद्यमान पापयक्ष्मा को रोग भी कहा गया है । इन उपर्युक्त कोणस्थ पदों में स्थित देवताओं के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मपद के बाहर तथा पूर्वादि दिशाओं के अन्त्य पद के मध्य विद्यमान छह (चतुर्दिक् स्थित) पदों में स्थित देवताओं का वर्णन अधोलिखित रूप में दिखाया गया है । आदित्य (जो पूर्व दिशा में स्थित पदों के मध्यस्थ पद में विद्यमान होता है) तथा ब्रह्म के मध्य विद्यमान छह पदों में मरीचि का स्थान होता है । दक्षिण दिशा में स्थित पदों के मध्य पद में यम का स्थान कहा गया है । उस यम तथा ब्रह्मपद के मध्य स्थित छह पदों में विपश्चित का स्थान होता है । पश्चिम दिशा में स्थित पदों के मध्य में वरुण का स्थान हमने ऊपर देखा है । उस वरुण तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान छह पदों में मित्र का स्थान निर्दिष्ट है । जैसा कि हमने ऊपर देखा है, नारदीय संहिता के उपलब्ध पाठ में वास्तु पददेवों में उत्तर दिशास्थित पददेवों का निर्देश नहीं है । पर ब्रह्मपद तथा उत्तर दिशास्थित पदों के मध्यस्थ छह पदों में विद्यमान देवता का निर्देश पूर्वादि दिशाओं के पदों तथा ब्रह्मपद के मध्य स्थित छह पदों में निर्दिष्ट पद की तरह ही किया गया है । इस क्रम में उत्तर दिशा में स्थित पदों के मध्यस्थ पद में सोम की स्थिति का निर्देश किया गया है । उस सोम तथा ब्रह्मपद के मध्य विद्यमान छह पदों में भृगु का स्थान बताया

गया है। इससे भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नारदीय संहिता में भी उत्तर के पदों में देवताओं की स्थिति प्रायः उसी तरह वर्णित थी जिस तरह पाद्मसंहिता में। परन्तु ग्रन्थ-पातादि के कारण प्रायः वह भाग उपलब्ध नहीं है। ब्रह्मपद के चतुर्दिक् स्थित देवताओं के पद-निर्देश के पश्चात् ब्रह्मपद की अपेक्षा बाह्य भागों के कोणों में स्थित देवताओं का अधोलिखित रूप से स्थान-निर्देश देखते हैं। ईशानादि कोणों में क्रमशः चरकी, विदारी, पूतना तथा पापा अवस्थित होते हैं।[1] शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर इस विषय का विवेचन सामान्यतः इसी तरह कुछ अन्य स्थलों में भी देखा जा सकता है।[2]

उपर्युक्त वास्तुपद-कल्पन तथा तत्तत् पदों में स्थित देवताओं के वर्णन के पश्चात् नारदीय संहिता ने वास्तुपुरुष की स्थिति का कुछ विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि वास्तु-पुरुष का सामान्य परिचय हमने पहले देखा है, फिर भी वास्तुपद-स्थित देवताओं के स्थान में वास्तुपुरुष के तत्तदङ्गों की स्थिति के वर्णन के कारण हम यहाँ पुनः वास्तुपुरुष की स्थिति की चर्चा कर रहे हैं। उपर्युक्त वास्तुपद में वास्तुपुरुष की स्थिति अधोलिखित रूप में कही गई है। वास्तुपुरुष का शिर ईशान कोण में तथा दोनों पैर नैर्ऋत कोण में होते हैं। स्वभावतः वाम तथा दक्षिण हस्त क्रमशः वायव्य तथा अग्नि कोण में होते हैं। इस तरह अधोमुख स्थित वास्तुपुरुष के विविध अंग तत्तत् वास्तुपददेव के स्थान पर स्थित हैं। जैसे—वास्तुपुरुष के वक्त्र में आप, हृदय में आपवत्स, कानों में दिति और स्कन्ध में पर्जन्य कहा गया है। ग्रन्थ की अस्पष्टता के कारण वास्तुपुरुष के ऊरुभागस्थ देव का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता है। सुग्रीव तथा भृङ्गराज दोनों वास्तुपुरुष के दोनों जानु में समाश्रित कहे गये हैं। शक्र तथा विष्णु का स्थान वास्तुपुरुष के पादों में कहा गया है। वास्तुपुरुष के लिङ्ग-स्थान में जय का स्थान कहा है। वास्तुपुरुष के नाभि-स्थान में ब्रह्म-पद होना निर्दिष्ट है। सामान्यतः वास्तुपदस्थ देवताओं का वास्तुपुरुष के तत्तदङ्गों में निर्दिष्ट स्थिति ठीक है, पर वास्तुपुरुष के पादस्थ शक्र तथा विष्णु का कथन चिन्त्य है। क्योंकि वास्तुपद में निर्दिष्ट देवताओं में शक्र का स्थान ऐसी जगह कहा गया है, जहाँ वास्तुपुरुष का पाद होना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। जहाँ तक विष्णु का प्रश्न है, वह तो वास्तुपद में देखते भी नहीं हैं।

उपर्युक्त वास्तुपुरुष के देहगत देवताओं की पूजा कर दिग्बलि प्रदान करते हैं। उसके बाद इष्टका होम का अवसर आता है। पुनः वास्तुदैवत होम का विधान है, फिर इन्द्रादि देवों के लिए होम करते हैं।[3] इस प्रकार वास्तुदेवों तथा वास्तुपुरुष की आराधना कर आलय-कल्पन के लिए अन्य प्रक्रिया प्रारम्भ करते हैं।

---

१. नारदीय संहिता, १४.३९—५३
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १०.१३६—१४१

२. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर (मानसार सीरीज), वॉल्यूम ७, पृ० ६५

३. नारदीय संहिता, १४.५४—६७

वास्तुदेवादि-आराधन के अनन्तर आलय-कल्पन से पूर्व बालालय-कल्पन का निर्देश देखते हैं। बालालय से वह देव-मन्दिर विवक्षित है, जिसमें देवालय-कल्पन अवधि में बालबिम्ब की स्थापना कर उसका अर्चन आदि करते हैं। पाद्मसंहिता के अनुसार बालालय-कल्पन का उद्देश्य देवालय-निर्माण-काल में दैत्य, दानव तथा राक्षसों के उपद्रव की शान्ति है।[१] यद्यपि नारदीय संहिता ने बालालय की चर्चा आलय-कल्पनाध्याय में नहीं की है, फिर भी जीर्णोद्धार के क्रम में बालालय विषय की चर्चा की है। नारदीय संहिता का सप्तदश अध्याय जीर्णोद्धार अध्याय है, और उसी में बालालय-विधान का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार स्थावर बिम्ब अथवा देवालय के जीर्ण होने पर बालालय-कल्पन का अवसर आता है। कल्पित बालालय में बाल-बिम्ब की स्थापना कर आलय के जीर्णोद्धार-पर्यन्त उसी बाल-बिम्ब में भगवदाराधन करते हैं। जब मुख्य देवालय का संस्कार किया जाता है उस समय उस आलय में स्थित बिम्ब की शक्ति बालालयस्थ बालबिम्ब में संक्रमित कर दी जाती है। पुनः संस्कार के पश्चात् बालबिम्ब में प्रक्षिप्त शक्ति को प्रधान बिम्ब में स्थानान्तरित कर पूर्ववत् देवाराधन करते हैं। इसी प्रकार जीर्ण बिम्ब-संस्कार के अवसर पर भी शक्ति का स्थानान्तरण बालालय के बालबिम्ब में करते हैं। स्थावर बिम्ब के जीर्ण होने पर ऐन्द्र तथा ऐशान्य विभाग में अथवा सोम तथा ऐशान्य के मध्य भाग में मृद् या काष्ठादि के द्वारा प्रत्यक् द्वारवाला नव बालालय कल्पित होना चाहिए। अस्थावर बिम्ब के संस्कार के अवसर में विमान के आगे, उसके सम्मुख, विमान यदि दक्षिण-द्वार हो तो उदग्द्वार रूप में बालालय-विधान होगा। यहाँ इसके विकल्प में स्थावर बिम्ब जीर्णोद्धार-क्रम की तरह भी बालालय-कल्पन अनुमत है।[२] पाद्मसंहिता ने इन्द्र तथा ईशान के मध्य, सोम तथा ईशान के मध्य, इन्द्र तथा अग्नि के मध्य, पावक तथा यम के मध्य, यम तथा नैर्ऋत के के मध्य, नैर्ऋत तथा वरुण के मध्य, वरुण तथा वायु के मध्य, वायु तथा सोम के मध्य दिशाओं में से किसी भी स्थान में इच्छानुसार बालालय का कल्पन होना बताया है।[३] नारदीय संहिता ने बालालय-कल्पन के कुछ निमित्त बताये हैं। प्रतिमा का अङ्गोपाङ्ग भङ्ग होना, कृमि अथवा वह्न्यादि से दूषित होना, बिम्ब में सुषिर, भग्नतादि होना, चोर के द्वारा बिम्ब का अपहृत होना, पूय, विट, मूत्र अथवा रुधिरादि से बिम्ब का दूषित होना, बिम्ब का स्फुटित होना, बिम्ब का चलना, बेर का जीर्ण होना या अन्य दोषों से दूषित होना, नदी-वेगादि के द्वारा पीठादि का भिन्न होना, वज्रपातादि से आलय का भग्न होना अथवा कालवश आलय का जीर्ण होना।[४] जहाँ तक बालालय के स्वरूप-विधान का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में कहा गया है कि बालालय का स्वरूप वृत्त या चतुरस्र होना चाहिए। पक्षान्तर में बालालय को उभयायत भी

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ४.१—३
२. नारदीय संहिता, १७.४—८
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ४.४—६
४. नारदीय संहिता, १७.१०—१३

कहा गया है। बालालय कम-से-कम एक हाथ तथा अधिक-से-अधिक दस हाथ उच्छ्राय वाला होता है। उसी के अनुपात में उसका आयाम होता है। बालालय के लिए इससे अधिक या न्यून प्रमाण निषिद्ध हैं।[1] यद्यपि नारदीय संहिता ने कम-से-कम एक हाथ तथा अधिक-से-अधिक दस हाथ के बालालय का निर्देश किया है, फिर भी पाद्मसंहिता ने सात हाथ, पाँच हाथ अथवा तीन हाथ के बालालय-कल्पन का विधान किया है।[2]

बालालय के लिए अधोलिखित उपादान-द्रव्य तारतम्य भाव से विहित हैं: मुख्य—शिला, मध्यम—इष्टका, जघन्य—दारु तथा हीन—मिट्टी। शिला आदि द्रव्यों के मिश्रण से (एक अथवा अनेक द्रव्यों के मिश्रण से) बालालय तीन तरह के कहे गये हैं: १. संचित, २. असंचित तथा ३. उपसंचित। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि एक ही द्रव्य से जो आलय स्तूप्यन्त परिकल्पित होता है; उसे संचित कहा जाता है, और वह आलय श्रेष्ठ आलय कहा गया है। दो द्रव्यों के मिश्रण से जो आलय कल्पित होता है, उसे असंचित तथा मध्यम आलय कहते हैं। मिट्टी तथा दारु आदि के द्वारा निर्मित बालालय को उपसंचित आलय कहा गया है। यह उपसंचित आलय अधम आलय कहा गया है।[3] श्रीप्रश्नसंहिता में भी इसी प्रकार तीन तरह के आलयों का निर्देश किया गया है। यहाँ शिला तथा इष्टका से निर्मित आलय को संचित, दारुमय आलय को असंचित तथा मृण्मय आलय को उपसंचित कहा गया है।[4] इस विषय का सामान्यतः इसी प्रकार का वर्णन कुछ अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में भी देखते हैं।[5] बालालय-कल्पन के लिए गर्भयुक्त, देवतान्तर के आलय में प्रयुक्त, मठ, कूप तथा तडागादि में लगी हुई शिला सर्वथा अग्राह्य कही गई है। इन उपर्युक्त शिलाओं के प्रयोग से विविध प्रकार के रोगादि होते हैं। उसी प्रकार वासुदेवालय में लगे दारु आदि अन्य वस्तुओं के बालालय में प्रयोग करने से भी हानि का निर्देश किया गया है। अतः निर्दिष्ट स्थलों से लक्षण-सम्पन्न दारु तथा शिला का न्यायपूर्वक संग्रह करके निर्मित बालालय ही समुचित फलदायक होता है। अन्योपार्जित उपादान-द्रव्यों से कल्पित आलय का फल असुरों को प्राप्त हो जाता है।[6]

तलों के आधार पर बालालय के अधोलिखित भाग कहे गये हैं: एकतल प्रासाद में—१. पाद, २. प्रस्तर, ३. ग्रीवा, ४. शिखर तथा ५. स्तूपि। द्वितल आलय में—१. अधिष्ठान, २. चरण, ३. प्रस्तर, ४. कूट, ५. शाला, ६. संस्थान, ७. पञ्जर, ८. प्रस्तर, ९. वेदी, १०. ग्रीवा, ११. शिखर तथा १२. स्तूपि। त्रितल आलय से द्वादश तलावधिक

---

१. नारदीय संहिता, १७.८—१०
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ४.६
३. वही, ४.२५—२८
४. श्रीप्रश्नसंहिता, ६.३—६
५. विष्णुसंहिता. १३ ७७—८७
विष्णुतिलक-संहिता, ६.१७६—१८०
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ४.२९—३५

आलय में : १. उपान, २. जगती, ३. कुमुद,; ४. पट्टिका, ५. वाजन, ६. वेदिका, ७. चरण, ८. हंसमाला, ९. कपोत, १०. प्रति, ११. प्रतिवेदिका, १२. कर्ण तथा १३. शिखर।[१] यहाँ 'क्रमेणाष्टादशाङ्गकम्' कहते हुए आलय के अष्टादश अंगों का निर्देश किया गया है, पर यह विषय स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। विष्णुतिलकसंहिता ने आलय-निर्माण-क्रम में त्रितल आलय में कुछ या सभी अठारह अंगों का होना कहा है। ये अंग अधोलिखित होते हैं : १. उपान, २. जगती, ३. कुमुद, ४. पट्टिका, ५. कर्ण, ६. पट्टिका, ७. महती, ८. पट्टिका, ९. वाजन, १०. वेदिका, ११. ऊर्ध्व, १२. चरण, १३. हंसमाला, १४. कपोत, १५. प्रति, १६. प्रतिवेदिका, १७. कर्ण तथा १८. शिखर।[२] अगस्त्यसंहिता के अनुसार आलय के १४ अंग कहे गये हैं।[३] सनत्कुमार-संहिता ने प्रासाद में १२ तत्त्वों अर्थात् विभाग का निर्देश किया है।[४]

मुख्यतः तल तथा अधिष्ठान-भेद के कारण देवालय की संख्या अनन्त कही गई है। नारदीय संहिता ने अत्यन्त संक्षिप्त तथा सामान्य रूप में देवालय के ६४ भेद कहे हैं। यहाँ केवल संख्या का निर्देश देखते हैं। आलय के विविध नामों तथा लक्षणों का निर्देश यहाँ नहीं देखते।[५] पर पाद्मसंहिता ने संक्षिप्त लक्षण-निर्देशपूर्वक आलयों के नाम गिनाये हैं। वहाँ कहा गया है—"आनन्त्यात् तत् प्रभेद-नाम् किञ्चिदेव प्रदर्श्यते" अर्थात् विमानों के (देवालय के) भेद अनन्त हैं। उनमें कुछ का प्रदर्शन यहां किया जा रहा है। पाद्मसंहिता में निर्दिष्ट प्रासाद अधोलिखित हैं :

१. वैजयन्तक, २. श्रीविशाल, ३. पुष्पक, ४. केसर, ५. सुदर्शन, ६. स्वस्तिक, ७. विपुल सुन्दर, ८. पर्वत, ९. मन्दर, १०. स्वस्तिवन्धन, ११, कल्याण, १२. पाञ्चाल, १३. विष्णुकान्त, १४. सुमङ्गल, १५. कान्तार, १६. पुष्कर, १७. मनोहर, १८. कौवेर, १९. भद्रकोष्ठ, २०. वृत्तकूट, २१. कोष्ठभद्र, २२. श्रीभोग, २३. पुष्कर, २४. लम्बपंजर, २५. जयावह, २६. वेदिक, २७. सौभद्रक, २८. कमलमण्डल, २९. इन्दुभद्र, ३०. धवलिकान्त, ३१. सौम्य, ३२. ललितभद्र, ३३. व्यास, ३४. शैलच्छन्द, ३५. मध्यभद्र; ३६. श्रीयश्छन्द, ३७. योगानन्द, ३८. हंसतारक, ३९. महेन्द्रक, ४०. सूर्यकान्त, ४१. मङ्गलास्पद, ४२. उदारसार, ४३. विजय, ४४. अमलाङ्ग, ४५. विमल (तीन प्रकार), ४६. श्रीधर, ४७. चन्द्रकान्त, ४८. श्रीप्रतिष्ठित और ४९. शुद्ध स्वस्तिक।

इस प्रकार ये आलय संख्या में ५१ कहे गये हैं।[६] भार्गव-संहिता ने भी कुछ आलयों का अधोलिखित रूप में वर्णन किया है : १. मेरु, २. मन्दर, ३. कैलास,

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ४.३९—४४
२. विष्णुतिलकसंहिता, ६ १८८—१९१
३. अगस्त्यसंहिता, १.९४-९५
४. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, ८.१५-१६
५. नारदीय संहिता, १४.१३६
६. पाद्मसंहिता, क्रि० पा० ८.१—९७

४. विमानच्छन्द, ५. नन्दना, ६. समुद्र, ७. पद्म, ८. वृष, ९. गरुड, १०. नन्दिवर्धन, ११. कुञ्जर, १२. गुहराज, १३. सिम्ह, १४. सर्वतोभद्र, १५. घट, १६. हंस, १७. वृत्त, १८. चतुष्कोण, १९. षोडशास्र तथा २०. अष्टास्र।[१] इस प्रकार यहाँ २० प्रकार के आलयों का केवल नाम-निर्देश देखते हैं। मार्कण्डय-संहिता ने अधोलिखित विमान-भेद का निर्देश किया है : १. सौमुख्य, २. पार्वत, ३. मन्दिर, ४. सौष्ठव, ५. कल्याण, ६. सुदर्शन, ७. समङ्गल, ८. नानामन्दिर, ९. इन्दुभद्र, १०. भद्रक, ११. सौभद्रिक, १२. त्रैलोक्य, १३. सूर्यकान्त, १४. महेन्द्रक, १५. विमल, १६. चन्द्रकान्त तथा १७. स्वस्तिक ![२] इन सत्रह विमानों का मार्कण्डेय-संहिता ने नामतः निर्देश किया है।

श्रीप्रश्नसंहिता में प्रायः १७ तरह के विमानों का निर्देश किया गया है। इन विमानों के नाम सामान्यतः वही हैं, जो पाद्मसंहिता में निर्दिष्ट विमानों के।[३] श्रीप्रश्न-संहिता ने इन उपर्युक्त विमानों के लक्षण का निर्देश भी किया है। इसके अतिरिक्त ईश्वर-संहिता ने भी विमानों के भेद का निर्देश किया है।[४] सनन्द-संहिता में विमानों के बारह भेद कहे गये हैं, पर यहाँ भी नारदीय संहिता की तरह केवल संख्या-निर्देश देखते हैं। आलयों के विविध नामों का निर्देश या और कुछ अधिक वर्णन नहीं देखते। श्रीकरादि कहकर केवल एक का नाम-निर्देश किया है :[५] विष्वक्सेन-संहिता ने मन्दर, निषध, नागर, द्राविड़ तथा वेसर के रूप में पाँच तरह के आलय बताये हैं।[६] यहाँ इनके लक्षण भी कहे गये हैं। वैखानसागम-ग्रन्थों ने भी आलय के विविध भेदों का वर्णन बताया है, जिनमें विमानार्चनकल्प[७], समूर्त्तार्चनाधिकार[८] तथा काश्यप-ज्ञानकाण्ड[९] का उल्लेख किया जा सकता है।

देवालय-कल्पन-क्रम में प्रथमेष्टका-न्यास एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अतः पाञ्च-रात्रागम के अनेक ग्रन्थों ने इस विषय का विवेचन किया है।[१०] श्रीप्रश्नसंहिता ने प्रथमेष्टका की जगह 'मूलेष्टकान्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः मूल इष्टका

---

१. भार्गव-संहिता, ३.१९-२०
२. मार्कण्डेय-संहिता, ४.४५—८७
३. श्रीप्रश्नसंहिता, ९.४—३८
४. ईश्वर-संहिता, १६.२१९—२४७
५. सनन्द-संहिता, ११.७१
६. विष्वक्सेन-संहिता, ३४.२३—३९
७. विमानार्चनकल्प, पट० ७, पृ० २८
८. समूर्त्तार्चनाधिकरणम्, ७.१४—४०
९. काश्यप-ज्ञानकाण्ड, १०
१०. अगस्त्य-संहिता, १
अनिरुद्ध-संहिता, ११
हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, ८. १० तथा ११ (तीन अध्याय)
कपिञ्जल-संहिता, १०.३५—५२ तथा एकादश अध्याय; (अन्य कई संहिताएँ)

या प्रथमेष्टका के आधार पर ही तो सम्पूर्ण देवालय की स्थिति निर्भर करती है। अतः बहुत ही सावधानी के साथ वैष्णव-आगम-ग्रन्थों ने प्रथमेष्टकान्यास-विधि का वर्णन किया है। प्रथमेष्टकान्यास-क्रम में ही गर्भन्यास का भी अवसर आता है। आगामी पृष्ठों पर हम उसका विवेचन देखेंगे।

इष्टकान्यास से पूर्व शंकु के द्वारा आठ रेखा-कल्पन का विधान है। शंकु हस्तमानायत अथवा द्वादशांगुलायत होता है। नारदीय संहिता को अश्वत्थ का शंकु अभीष्ट है, जबकि पाद्मसंहिता ने सामान्यतः क्षीरवृक्ष का शंकु-कल्पन बताया है। पूर्वोक्त रेखा को उत्तराग्र होना कहा है। पाद्मसंहिता ने रेखा-कल्पन-विषय को किञ्चित् विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है। इसके अनुसार प्रासाद के मध्य स्थान में शंकु-स्थापन कर शंकु के द्विगुण मान से चतुर्दिक् मण्डल-कल्पन किया जाना चाहिए। मण्डल के अन्त में पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण समय छाया के अनुसार बिन्दु-उल्लेख करते हैं। उस बिन्दु के अनुसार प्राक् तथा प्रत्यक् रूप में संस्थित सूत्र का स्थापन करते हैं। इस प्रकार एक विधि-विशेष के द्वारा सीमासूत्र का भ्रमण कराकर आठों दिशाओं में सीमारेखा का विधान करते हैं। शंकु-स्थापन आठों दिशाओं में किया जाता है।[१] इस क्रम में अष्टाक्षर मन्त्र या द्वादशाक्षर-मन्त्र के प्रयोग का निर्देश किया गया है। अनन्तर अपराह्ण में चार इष्टकाएँ उन रेखाओं पर स्थापित करते हैं। पुनः बारह, आठ या चार इष्टकाओं का न्यास विहित है। इष्टकान्यास आग्नेय कोण से आरम्भ कर इन्द्र दिशा-पर्यन्त किया जाता है। जहाँ तक प्रथमेष्टकान्यास के स्थान का सम्बन्ध है, वह द्वार के दक्षिण भाग में होना कहा है। इष्टकान्यास के क्रम में उन्नत या निम्न रूप में इष्टकान्यास सर्वथा वर्जित है। निम्न इष्टकान्यास से दुःख होता है, उन्नत होने से राजभय। अतः इष्टकान्यास सर्वदा सम ही होना चाहिए। यही क्रम शिला, काष्ठ अथवा मृद् के प्रथम न्यास में भी कहा गया है। इष्टकान्यास के अवसर में कुछ शुभाशुभ-परीक्षण का भी निर्देश देखते हैं। इस परीक्षण के लिए शुक्ल पुष्प या लाजा का निर्वपन करते हैं, और उसके आवर्त्त का परीक्षण करते हैं। दक्षिणावर्त्त निर्वपन शुभ तथा वामावर्त्त निर्वपन अशुभ कहा गया है। अशुभ सूचन होने पर शान्ति के निमित्त प्रणव जप का निर्देश किया गया है।[२] इस प्रसंग में पाद्मसंहिता ने केवल इतना कहा है कि शुभ निमित्त होने पर सिद्धि प्राप्त होती है तथा अशुभ निमित्त होने से शान्ति का आचरण किया जाना चाहिए।[३] इष्टकान्यास के पश्चात् पुष्प तथा अक्षत-प्रक्षेप करते हैं, पुनः गर्त्त को पूर्ण करते हैं। गर्त्तपूर्ति के लिए नारदीय संहिता ने क्षेत्रज मृद् तथा पाद्मसंहिता ने पुण्यतीर्थ, शालेय अथवा केदार की मृत्तिका से गर्त्तपूर्ति का विधान कहा है।[४] जहाँ तक इष्टकान्यास से सम्बद्ध इष्टका का प्रश्न है, उस विषय में

---

१. नारदीय संहिता, १४.६८
   पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ५ २–९
२. नारदीय संहिता, १४.६९—७६
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ५.९
४. नारदीय संहिता, १४.७६ ७७

पाद्मसंहिता ने कुछ विस्तार के साथ इस विषय का वर्णन किया है। इसके अनुसार इष्टका तीन तरह की होती है : १. शिला, २. काष्ठ तथा ३. मृण्मयी। शैलज विमान में शिला-प्रथमेष्टका होती है, काष्ठ से यदि आलय-कल्पन किया जाता हो तो वहाँ प्रथमेष्टका दारुमयी होती है। इष्टकामय आलय-कल्पन-क्रम में सुपक्व इष्टका प्रथमेष्टका होती है। शिला तथा इष्टकामय आलय में शिला प्रथमेष्टका-रूप में स्वीकृत है। शिला तथा काष्ठमय आलय में भी शिला ही प्रथमेष्टका-रूप में स्वीकृत है। इष्टका तथा काष्ठ से कल्पित होनेवाले आलय में इष्टका को प्रथमेष्टका-रूप में ग्राह्य कहा गया है।[१]

प्रथमेष्टका-न्यास के बाद आलय-गर्भन्यास का अवसर आता है। यह गर्भ-न्यास सभी कल्याणेच्छु लोगों को करना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्यादि प्राणियों के जीवन के लिए गर्भाधान-संस्कार सर्वथा आवश्यक तथा अपेक्षित होता है, उसी प्रकार आलय की सफलता के लिए भी गर्भाधान अत्यन्त आवश्यक होता है। इस विषय का विशद विवेचन पाद्मसंहिता, क्रि० पा० के छट्ठे अध्याय में देख सकते हैं। इस गर्भन्यास-प्रसंग में होम-विधि भी आवश्यक कही गई है। गर्भहोम को सर्वकामद कहा गया है। द्वादशाक्षर-मन्त्र तथा अष्टाक्षर-मन्त्र से अट्ठाईस बार या आठ बार तिल, घृत तथा मधु से होम करते हैं। उसके बाद 'ओं बीजेभ्यः स्वाहा' आदि मन्त्रों से बारह बार आहुति प्रदान करते हैं। अन्ततः गर्भभाजन के मध्य आज्य-प्रक्षेप कर इस हवन को समाप्त करते हैं।[२] इस प्रकार गर्भाधानाङ्ग-होम के अनन्तर गर्भन्यास का अवसर आता है। इसके लिए कुछ द्रव्यों का निर्देश किया गया है। गर्भन्यासार्थ आवश्यक वस्तुओं में दस स्थलों से लाई गई मृत्तिका के लिए अधोलिखित स्थान निर्दिष्ट हैं : १. शैल, २. ह्रद; ३. पुण्यतीर्थ, ४. वल्मीक, ५. कर्कटाशय, ६. नदी, ७. वृषविषाण, ८. दन्ति-दन्त, ९. पयोनिधि तथा १०. हल। अधोलिखित पाँच वस्तुओं के कन्द भी ग्राह्य हैं : १. कुमुद-कन्द, २. अरविन्द-कन्द, ३. कशेरु, ४. उत्पलकन्द तथा ५. नीलोत्पल-कन्द। गर्भन्यासार्थ द्रव्यों में अधोनिर्दिष्ट धातुओं का परिगणन भी किया गया है : १. मनः-शिला, २. हरीताल, ३. अञ्जन, ४. श्यामसीसक, ५. सौराष्ट्र, ६. रोचन, ७. गैरिक तथा ८. पारद। यहाँ अधोलिखित रत्नों के प्रक्षेप का भी विधान देखते हैं : १. वज्र, २. वैडूर्य, ३. मौक्तिक, ४. स्फटिक, ५. पुष्यक, ६. शंख, ७. पद्मराग, ८. चन्द्रकान्त तथा ९. महानील। गर्भन्यास के लिए अधोलिखित धान्य संग्राह्य हैं : १. शालि, २. नीवार, ३. कंगु, ४. प्रियंगु, ५. तिल, ६. माषक, ७. मुद्ग, ८. यव तथा ९. वेणु। इन नौ धान्यों के नाम यहाँ अभिहित हैं। इन सबके अतिरिक्त अधोनिर्दिष्ट वस्तुएँ गर्भभाजन में प्रक्षेपार्थ विहित हैं : १. हिरण्य, २. रजत, ३. ताम्र, ४, आयस, ५. त्रपु, ६. सीसक, ७. सौवर्णकूर्म, ८. सौवर्ण शंख तथा ९. चक्र।[३] इन गर्भ-

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ५.१६—२०
२. नारदीय संहिता, १४.७७—८०
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.१—६

प्रक्षेपार्ह वस्तुओं का परिगणन प्रायः इसी तरह कुछ भिन्न रूप में पाञ्चरात्रागम के अन्य ग्रन्थों में भी देखते हैं।[१] गर्भन्यास का समय रात्रिकाल बताया गया है।[२] गर्भन्यासाङ्ग-होम-सम्पादन के अन्तर देशिक अधिवासित गर्भपात्र लेकर अष्टाक्षर मन्त्र को जपता हुआ, हरि का स्मरण करता हुआ 'सपर्वत वनादेवी' इत्यादि मन्त्रपाठ करता है। पुनः

"सर्वभूतालये देवि पर्वतस्तनमण्डिते।
समुद्रवसने मातरिमं गर्भं समाश्रय॥"

इस मन्त्र के उच्चारण के साथ पूर्वोक्त द्रव्यों से युक्त गर्भभाजन को गर्त्त में रखकर गर्त्त को गोमूत्र से परिप्लुत करता है।[३] यहाँ साद्रिद्वीप समुद्र-भूमण्डल-पृथ्वी देवी को ऋतु-स्नाता स्त्री मानकर तथा अपने को सर्वाभरणभूषित केशव समझकर आलयादि के साफल्य के लिए पृथ्वी में गर्भाधान का विधान किया गया है।[४] नारदीय संहिता ने गर्भपात्र के अधिवास की चर्चा नहीं की है, पर पाद्मसंहिता ने गर्भपात्र के अधिवासन का तथा तत्प्रयुक्त होम का स्पष्ट वर्णन किया है।[५] इस प्रकार विहित यह गर्भन्यास-क्रिया वैष्णव-सम्प्रदाय के आलय-निर्माण-क्रम में एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा जा सकती है। पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों के साथ-साथ वैखानसागम के भी अनेक ग्रन्थों ने इस विषय का विवेचन किया है।[६]

गर्भन्यास के पश्चात् प्रासाद-कल्पन का अवसर आता है। नारदीय संहिता ने एकहस्त परिमाण से आरम्भ कर सौ हाथ परिमाणोच्छ्रित, एकभूमि (एकतल) से सप्तभूमि (सप्ततल)-पर्यन्त आलय-कल्पन का निर्देश किया है।[७] पाद्मसंहिता में एक भूमि से द्वादश भूमि-पर्यन्त आलय-कल्पन का विधान कहा है।[८] अगस्त्य-संहिता ने दो आधारों पर

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, ७.१—९
वाशिष्ठसंहिता, ३.३८
हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १२.२३—३४
कपिञ्जल-संहिता, १०.९३
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.१७
३. नारदीय संहिता, १४.८१—८५
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.४१—४३
४. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.२५—२७
५. वही, ६.९—१६
६. अगस्त्य-संहिता, १
कपिञ्जल-संहिता, १०
विष्णुसंहिता, १३
विश्वामित्र-संहिता, २१
समूर्त्तार्चनाधिकरण, १०; (कुछ अन्य ग्रन्थ भी)
७. नारदीय संहिता, १४.८६-८७
८. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.४६-४७

आलय के भेद का निर्देश किया है। एक तत्तद्धस्तोच्छ्राय के आधार पर, तथा दूसरा आलय-भूमि (आलयतल) के आधार पर। यहाँ एक हस्त से त्रिशत् हस्तपर्यन्त का आलय कहा गया है। उसी प्रकार एकभूमि आलय से प्रारम्भ कर सप्तभूमि-पर्यन्त आलय का निर्देश देखते हैं। भूमि के आधार पर निर्दिष्ट आलयों के भेद अधोलिखित नाम से अभिहित हैं : 1. वायव्य=एकतल, 2. महेन्द्र=द्वितल-आलय, 3. वेश्म=त्रितल-आलय; 4. (चतुर्थ का नाम स्पष्ट नहीं है), 5. वशोराम=पञ्चतल-आलय, 6. सौम्य=षट्तल-आलय, 7. यज्ञयम ?=सप्ततल आलय।[1] हयशीर्ष तथा वाशिष्ठसंहिता ने भी आलय का उच्छ्राय तथा तलानुगुण-विभाग उपर्युक्त रूप से ही कहा है।[2] प्राकारों तथा द्वारों की संख्या के अनुरूप भी प्रासाद के भेद होते हैं। इस भेद के आधार पर विष्णुतिलक-संहिता ने 11 प्रकार के प्रासादों का निर्देश किया है।[3] वैखानसागम में एकभूमि-आलय को अधम, द्विभूमि-आलय को मध्यम तथा त्रिभूमि-आलय को उत्तम आलय होना कहा है। आराधक के सामर्थ्यानुसार उत्तमोत्तम आलय द्वादशतल तक कल्पित हो सकता है।[4] पाद्मसंहिता ने विस्तार की अपेक्षा द्विगुण उत्सेध एवं उत्सेध के अनुगुणतल का होना बताया है। साथ ही इसने आराधक के वित्तानुसार आलय का उच्छ्राय होना कहा है। द्वादशतल-आलय में अधोलिखित रूप से देवों की स्थापना का विधान है :

तल ↓	मूर्त्तिस्वरूप ↓	तल ↓	मूर्त्तिस्वरूप ↓
१. आदितल	—शयनमूर्त्ति	७. सप्तम तल	—योगस्थित मूर्त्ति
२. द्वितीयतल	—आसीनमूर्त्ति (श्री तथा भू के साथ)	८. अष्टम तल	—तार्क्ष्यवाहन-मूर्त्ति
३. तृतीय तल	—स्थानकमूर्त्ति	९. नवम तल	—भोगशयन-मूर्त्ति
४. चतुर्थ भूमि	—यानगमूर्त्ति	१०. दशम तल	—भोगमूर्त्ति
५. पञ्चम तल	—योगशयन-मूर्त्ति	११. एकादश तल	— स्थित मूर्त्ति
६. षष्ठ तल	—योगासनमूर्त्ति	१२. द्वादश तल	—विश्वरूप मूर्त्ति[5]

नारदीय संहिता ने वृत्तादि स्वरूप के आधार पर चार प्रकार के आलयों का निर्देश किया है। ये चार अधोनिर्दिष्ट हैं : 1. वृत्त, 2. चतुरस्र, 3. आयतवृत्त तथा 4. आयत चतुरस्र। वृत्त-आलय-कल्पन से सर्वलाभ, चतुरस्र आलय-कल्पन से वाञ्छितार्थ-लाभ, वृत्तायत-आलय-निर्माण से मोक्ष तथा चतुरस्रायत आलय-कल्पन से शान्ति तथा पुष्टि की प्राप्ति होती है।[6] पाद्मसंहिता ने भी चार आलयों का प्रायः इसी प्रकार निर्देश किया है। ये आलय अधोलिखित हैं : 1. चतुरस्र, 2. सुवृत्त, 3. चतुरस्रायत तथा

---

१. अगस्त्य-संहिता, १.७५—७६
२. हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १३.२७-२८
   वाशिष्ठसंहिता, ३ ६२-६३
३. विष्णुतिलक-संहिता, ६.१८
४. समूर्त्तार्चनाधिकरण, ७.११—१३
५. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ६.४७—५१
६. नारदीय संहिता, १४.८८—६०

४. वृत्तायत।[१] आयत चतुरस्र तथा आयतवृत्त-आलय में शयनमूर्त्ति की स्थापना की जानी चाहिए। यह धर्म, काम, अर्थ तथा मोक्ष प्रदान करती है। यान तथा शयनबेर की स्थापना सभी प्रासादों में अनुमत है। चतुरस्र तथा वृत्त-आलय में स्थानक अथवा आसीन मूर्त्ति की स्थापना होती है। ग्राम के मध्य स्थित आलय में स्थानाद्य बेर-चतुष्टय की स्थापना का निर्देश देखते हैं। पश्चिम दिशा के आलय में आसनबेर, उत्तर दिशा के आलय में स्थानक तथा शयनबेर, एवं पूर्वदिशा में विद्यमान आलय में स्थानकबेर की स्थापना विहित है। दक्षिण दिशा में कल्पित आलय में यानग बेर, कोणों में विद्यमान देवालयों में स्थानक बेर अथवा उपर्युक्त सभी दिशाओं में विद्यमान आलय में स्थानक बेर की स्थापना का विधान है। आलयों में सर्वत्र शयन-बेर के दोनों पाद वाम भागस्थ कहे गये हैं। यद्यपि यहाँ तत्तदालयों में बिम्बों के स्वरूप का निर्देश कदाचित् अप्रासंगिक कहा जा सकता है, फिर भी बिम्ब की स्थिति के आधार पर आलय के स्थान तथा द्वारादि-निर्देश-क्रम में इस उपर्युक्त विषय-विवेचन की उपादेयता स्पष्ट है। बेर की स्थिति के अनुसार अधोलिखित रूप से आलय के द्वार-कल्पन का निर्देश किया गया है। स्थानक, यानग तथा आसन-बेरों में आलय प्राक् या प्रत्यक् द्वार होना चाहिए। धर्मार्थी यजमान के लिए पूर्वद्वार-आलय विहित है। मोक्षार्थी के लिए दक्षिण द्वार, धर्मार्थी के लिए पुनः पश्चिम द्वार-आलय-कल्पन निर्दिष्ट है। कामार्थी के लिए उद्‌गद्वार-आलय-कल्पन विहित है। कोणद्वार विमान-कल्पन निषिद्ध है। इस तरह इन उपर्युक्त आलय-द्वारों की अभिमुखता यजमान के कामनानुरूप विहित है। इसके विकल्प के रूप में सर्वत्र-आलय द्वार किये जाने का भी निर्देश देखते हैं।[२] सामान्यतः इसी प्रकार कुछ और पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने भी बिम्ब की स्थिति के अनुसार आलय-कल्पन का विधान किया है।[३]

आलय द्वारादि दिग्‌निर्देश के अनन्तर गर्भगृह का स्थान-कथन आवश्यक समझकर आलय-क्षेत्र के आयाम तथा विस्तार को परस्पर सात भागों में विभक्त करना कहा गया है। ७×७=४९ पदों में सम्पूर्ण आलय-क्षेत्र को विभक्त करते हैं। उन पदों में से मध्यस्थ २५ पदों में गर्भगृह-परिकल्पन का विधान देखते हैं। उससे बाहर के भाग भित्ति-कल्पन के लिए स्वीकृत हैं। भित्तिका-उच्छ्राय सप्तभाग के समान कहा गया है। पर, यह सप्तभाग किसका कहा गया है, यह ठीक से स्पष्ट नहीं दीखता। भित्ति के प्रमाणानुरूप पालिकाकार पादों का कल्पन होगा। भित्ति के उच्छ्राय की अपेक्षा द्विगुण अथवा उसके समान ही शिखर का उच्छ्राय होता है। तत्तद्दिशाओं में चार नासिकाओं का कल्पन होता है। आलय पर अष्ट या द्वादश कपोत-नासिकाओं का कल्पन करते हैं।[४]

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ५.१०
२. नारदीय संहिता, १४.१११—११७
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ५.११—१३
पौष्कर-संहिता, ४२.७७
श्रीप्रश्नसंहिता, १२.२—४
४. नारदीय संहिता, १४.९४—९९

आलय में अन्ततः शिखाघट-स्थापन तथा उसके लिए स्तूपि-विन्यास का अवसर आता है। पर उससे भी पहले मूर्धेष्टकान्यास का क्रम आता है। अंतः पहले यहाँ मूर्धेष्टकान्यास के विषय का सामान्य विचार कर उसके पश्चात् स्तूपिन्यासपूर्वक शिखाघट की चर्चा होगी। मूर्धेष्टकान्यास-विधि पाञ्चरात्रागम तथा वैखानसागम के अनेक ग्रन्थों में वर्णित हैं। विमानार्चनकल्प ने मूर्धेष्टका के लिए 'समाप्तेष्टका' शब्द का प्रयोग किया है।[१] वस्तुतः यह अन्वर्थ कहा जा सकता है। इस इष्टकान्यास के अनन्तर प्रायः आलय के के ऊपर इष्टका का कोई भी कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। श्रीप्रश्नसंहिता तथा विष्वक्सेनसंहिता ने मूर्धेष्टकान्यास-क्रिया को आलय-कल्पन-क्रम में उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण माना है, जिस प्रकार प्रथमेष्टकान्यास को।[२] पाद्मसंहिता ने मूर्धेष्टकान्यास-विधि का विशद वर्णन किया है। इसके अनुसार आलय के आगे प्रपा और उसके मध्य सर्वालंकारालंकृत वेदिका-कल्पन करते हैं। उसके बाद इष्टकाओं का स्नपन तथा पूजन, तदङ्गभूत होमादिसम्पादनपूर्वक आचार्य गुरु के साथ अत्यन्त समारोहपूर्वक विमान के उपरिस्थल में पूर्वादि दिशा के क्रम से उन इष्टकाओं का आरोपण करता है। उस अवसर पर विविध ऋत्विजों के साथ गुरु पुण्याह-वाचन करता है।[३]

मूर्धेष्टकान्यास के अनन्तर स्तूपि-कील का स्थापन करते हैं। स्तूपि के आधारभूत कीलविशेष को स्तूपि-कील कहते हैं। इसका उपादान-द्रव्य लोह अथवा दारु कहा गया है। स्तूपि-कील-वृत्त, चतुरस्र तथा पञ्चास्र-रूप में बनाये जा सकते हैं। वृत्तायत तथा चतुरस्रायत विमान में युग्मसंख्यक कील विहित हैं। इसे अपुनर्भवदायक कहा गया है। अन्य विमानों के लिए अयुग्म-संख्यक कील का विधान है। युग्म-कील की अधिकाधिक संख्या २० तथा अयुग्म-कील की संख्या १९ कही गई है। पाञ्चरात्रागम के अनेक ग्रन्थों में संक्षेप अथवा विस्तार के साथ इस विषय का वर्णन देखते हैं।[४] काश्यपशिल्पशास्त्र तथा शिल्परत्न[५] ने इसके लिए स्तूपि-दण्ड संज्ञा दी है। स्तूपि-कीलों का अधिवासन किया जाता है। उसके अनन्तर पूर्वादिमध्यान्त सलोह धातु बीजगर्त्त में रखकर मूलविद्या के उच्चारण के साथ विविध आभूषणों से आभूषित आचार्य पूर्वाभिमुख होकर स्तूपि की स्थापना करता है। उसके पश्चात् सुधा के द्वारा स्तूपि को दृढ़ करते

---

१. विमानार्चनकल्प, पट०, १३
२. श्रीप्रश्नसंहिता, ९.४०
   विष्वक्सेन-संहिता, ३४
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.४—१९
४. वही, क्रि० पा०, ९.२४—२९
   कपिञ्जल-संहिता, १०.१२६—१३२
   मार्कण्डेय-संहिता, ४.३४
   श्रीप्रश्नसंहिता, ९.४९
५. काश्यपशिल्पशास्त्र, अ० ४२
   शिल्परत्न, अ०, ३४

हैं। स्तूपि का स्थापन सर्वदा ऋजु रूप में किया जाना चाहिए। वक्र स्तूपि से बहुविध दोष हो सकते हैं। पूर्वोक्त स्तूपि-उपादान-द्रव्यों के अतिरिक्त कुछ और उपादान-द्रव्य भी कहे गये हैं। वे हैं—सुवर्ण, रजत, ताम्र। यहाँ भी दारु का निर्देश स्तूपि-उपादान-द्रव्य में है। इनमें पूर्व-पूर्व उपादान-द्रव्य अधिक फलदायी तथा उत्तर-उत्तर अल्प फलदायक कहे गये हैं। इस स्तूपि-विन्यास-क्रम में भी अन्त में गुरुदक्षिणादि का निर्देश किया गया है।[१]

स्तूपिन्यास के बाद शिखाघट-स्थापन का अवसर आता है। विमान के ऊपर शिखाघट का स्वरूप अधोलिखित रूप से विहित है। वृत्त तथा चतुरस्र आलय पर सम-वृत्त शिखाघट, वृत्तायत-आलय पर चतुरस्र शिखाघट, चतुरस्रायत प्रासाद पर यथाशोभ शिखाघट निर्मित होते हैं। चतुरस्र आलय को गरुड-चिह्नों से लांछित करते हैं। वृत्त तथा वृत्तायत-आलय के अङ्गों को शुभ वाहनों में चिह्नित करते हैं।[२] पाद्मसंहिता से तथा कुछ अन्य पाञ्चरात्र-ग्रन्थों ने 'शिखाघट' की जगह 'शिखाकुम्भ' शब्द का प्रयोग किया है।[३] जहाँ तक शिखाघट के उपादान-द्रव्य का प्रश्न है, वह स्वर्ण, रजत, ताम्र, पित्तल अथवा मृत्तिका कहा गया है। स्तूपिन्यास के पश्चात् तुरत ही शिखाघट की स्थापना होनी चाहिए। पाद्मसंहिता में वर्णित शिखाघट-स्वरूप सर्वथा नारदीय संहिता की तरह नहीं है। यहाँ शिखाघट का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है: वृत्त-आलय में शिखाघट-स्वरूप वृत्त, अस्र-आलय में अस्र-स्वरूपवाला शिखाघट होना चाहिए। शिखाघट नाना रत्नों तथा लोहों से परिपूरित होते हैं। घट का अग्र मुकुलाकार या दीपाकार होना चाहिए। उसके नीचे सुमनोहर पङ्कज का कल्पन विहित है।[४] कपिञ्जल-संहिता के अनुसार शिखाघट-न्यास के पश्चात् तदङ्गभूत होम होना आवश्यक है।[५]

आलय-कल्पन-प्रकार-वर्णन-प्रसंग में कुछ ग्रन्थों ने विमान-तलों में कल्पनीय देवताओं का स्थान-निर्देशपूर्वक वर्णन किया है। ये देवता विमान के तत्तत्तलों एवं तत्तद्दिशाओं में कल्पित होते हैं। इन देवताओं का स्थानक्रम अधोलिखित है, जो कई विकल्प-रूपों में बताया गया है:

देवता	दिशा
१. इन्द्र अथवा कुमार	पूर्व दिशा
२. उमापति अथवा दक्षिणामूर्त्ति	दक्षिण दिशा
३. नृहरि अथवा श्रीधर	पश्चिम दिशा
४. ब्रह्मा अथवा कुबेर	उत्तर दिशा

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.३०—३७
२. नारदीय संहिता, १४.९८—१००
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.३९
४. वही, ९.३८—४०
५. कपिञ्जल-संहिता, १०.१२६—१३२

अथवा

१. आदिवराह-नरहरि	पूर्व दिशा में;
२. नरहरि	पश्चिम दिशा में,
३. श्रीधर	दक्षिण दिशा में,
४. हयग्रीव	उत्तर दिशा में,

अथवा

१. पुरुष	पूर्व दिशा में,
२. सत्य	दक्षिण दिशा में,
३. अच्युत	पश्चिम दिशा में,
४. अनन्त	उत्तर दिशा में,

अथवा

१. वासुदेव	पूर्व दिशा में,
२. संकर्षण	दक्षिण दिशा में,
३. अच्युत	पश्चिम दिशा में,
४. अनिरुद्ध	उत्तर दिशा में,

अथवा

१. श्रीधर	पूर्व दिशा में,
२. वराह	दक्षिण दिशा में,
३. नृसिंह	पश्चिम दिशा में,
४. अनन्त	उत्तर दिशा में।

आलय में ध्रुवबेर यदि स्थित अवस्था में होगा तो तत्तद्दिशाओं में विद्यमान विमान-देवताओं की मूर्त्तियाँ भी स्थित अवस्था में कल्पित होंगी। मूलबेर यदि आसीन होता हैं तो विमान-देवता की मूर्त्तियाँ आसीन होती हैं। मूलबेर यदि शयान होगा तो विमान-मूर्त्तियाँ स्थित या आसीन रूप में से किसी एक रूप में कल्पित हो सकती हैं। मूलबेर के यानारूढ होने पर विमान-देवता की मूर्त्तियाँ यानारूढ अथवा स्थित रूप में कल्पित होंगी। मूलमूर्त्ति यदि विश्वरूप में होगी तो आलय में विमान-देवता-की-मूर्त्तियाँ विश्वमूर्त्ति-रूप अथवा स्थितरूप में या चतुर्भुज-रूप में कल्पित होंगी। इन्द्रादि दिग्देवताओं का रूप सदा आसीन ही कहा गया है। शैलज विमान में इन देवताओं की मूर्त्तियाँ भी शैलज ही होती हैं।[1] विश्वामित्र-संहिता ने भी विमान-देवताओं का वर्णन प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही किया है। पाद्म के वर्णन में तल-विभाग-निर्देश नहीं देखते, जबकि विश्वामित्र-संहिता ने तल-विभागपूर्वक विमान-देवताओं का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण भेद भी विश्वामित्र तथा पाद्मसंहिता में देखते हैं।[2] हयशीर्ष-संहिता में सामान्यतः प्रायः पाद्म-

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.४२—५०

२ विश्वामित्र-संहिता, २१.६८—८८

संहिता की तरह विमानादि देव-विषय-वर्णन देख सकते हैं। इसके अनुसार दक्षिण-पूर्व में परशुराम, दक्षिण-पश्चिम में राम, उत्तर-पश्चिम में वामन तथा उत्तर-पूर्व में वासुदेव का स्थान निर्दिष्ट है।[१] श्रीप्रश्नसंहिता ने भी सामान्य रूप से उपर्युक्त देवताओं का ही विमान-देवता के रूप में निर्देश किया है।[२] कपिञ्जल ने पाद्मसंहिता में प्रदर्शित प्रथम विकल्प का उल्लेख किया है।[३] विष्वक्सेन-संहिता में अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इन विमान-देवताओं का उल्लेख देखते हैं: १. वाराह, २. नारसिंह, ३. श्रीधर, तथा ४. हयग्रीव; अथवा १. नर, २. नारायण, ३. हरि तथा ४. कृष्ण।[४] नारदीय संहिता में तलानुसार विमान-देवताओं का अधोलिखित निर्देश देखते हैं :

प्रथम तल : १. प्राच्य दिशा में—आदिवराह;
२. दक्षिण दिशा में—श्रीहरि;
३. पश्चिम दिशा में—श्रीधर;
४. उत्तर दिशा में—हयशीर्ष;

द्वितीय तल : १. पूर्व दिशा में—वाराह;
२. दक्षिण दिशा में—नृकेसरी;
३. पश्चिम दिशा में—जनार्दन;
४. उत्तर दिशा में—अनन्त;

निम्न-अधिष्ठान में : १. अग्निकोण में—हस्तिवदन;
२. दक्षिण में—ईश अथवा ऋषियों से सेवित दक्षिणामूर्ति;
३. पश्चिम में—विश्वमूर्ति;
४. उत्तर में—कमलासन;
५. ईशान कोण में—अम्बिका (महिष-शिर पर स्थित या केवल)[५]।

नारदीय संहिता का प्रथम तल-वर्णन सामान्यतः पाद्मसंहिता के द्वितीय विकल्प के समान प्रतीत होता है। उसके बाद का जो रूप है, वह पाद्म में वर्णित रूप से भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है। आलय के द्वारों पर अवतार-रूपों का कल्पन विहित है। वित्त के अनुसार ये अवतार-रूप चित्र या अर्द्धचित्र रूप में कल्पित हो सकते हैं।

देवालय में द्वारादि का स्थान अधोलिखित रूप में कहा गया है। विमान-युक्त गर्भागार के आगे एक द्वार विहित है। उसके आगे अर्द्धमण्डप में भी एक द्वार का

---

१. हयशीर्ष-संहिता, आ० का०, १३
२. श्रीप्रश्नसंहिता, ९.५३
३. कपिञ्जल-संहिता, १०.७६
४. विष्वक्सेन-संहिता, ३४.१२-१३
५. नारदीय संहिता, १४.२०५—२१०

विधान है। अर्द्धमण्डप से आगे बाहर गल तथा गल के आगे मुखमण्डप का कल्पन होता है। नारदीय संहिता के अनुसार मुखमण्डप के आगे बाहर पूर्व दिशा में स्नान-कुट्टिमसंयुक्त, पूर्वाभिमुख गरुड का आवास कल्पित होना चाहिए। अर्थात् यह गरुडावास विमान के सम्मुख होता है।[१]

विमानदेवता-वर्णन के अनन्तर उसके वर्णलेप का विधान किया गया है। यह विषय भी अनेकत्र चर्चित है। पाद्मसंहिता के अनुसार त्रिवस्तुमय वर्ण-निर्माण कर वर्ण-लेप करना चाहिए। शास्त्र में जिसके लिए जो वर्ण विहित है, वही वर्ण उसे दिया जाना चाहिए। ब्राह्मणादि वर्णों के व्यत्यास होने से वर्ण-साङ्कर्य होता है।[२] आलय में सुधालेपन तथा लेपन के भेद का निर्देश देखते हैं। पाषाण, शर्करा तथा तक्र—इन तीन प्रकार की पिष्ट सुधाओं को त्रिफला-जल से एक बार, दो बार या तीन बार सम्मिश्रित कर उसमें खदिर, अर्जुन तथा शाल्मली-तोय सम्मिश्रित करते हैं। उसके बाद घट में सभी वस्तुओं का परिक्वाथ कर, पुनः गुड़-पाक-रस से उसका क्वाथ किया जाता है। उस क्वथित पदार्थ से धाम का आलेपन किया जाना विहित है। ऐसा आलेपन चिरस्थायी होता है। अधोलिखित रूप से लेपन का त्रैविध्य कहा गया है: पाषाण, शर्करा तथा तक्र-सुगन्ध में प्रथम उससे द्विगुणित परिमाणात्मक बालुका-सम्मिश्रित करते हैं। पुनः उसका पिष्ट करते हैं। प्रथम बार में यदि वह अच्छी तरह पिष्ट नहीं होता तो द्वितीय बार या तृतीय बार भी उसको पिष्ट किया जाता है। इस तरह पिष्ट करने के बाद आलेप तैयार हो जाता है। उससे आलय को आलिप्त करते हैं।[३] उसके पश्चात् आलय के बहिर्भाग को वर्ण से विभूषित करने का निर्देश भी पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में बताया गया है।[४] श्रीप्रश्नसंहिता ने आलय-वर्ण के लिए श्वेत, हरित, नील वर्णों का निर्देश किया है।[५] विष्वक्सेन-संहिता ने विविध वर्णोपवर्ण-कल्पन की विधि का विवरण दिया है।[६] नारदीय संहिता ने वर्णलेपादि विषय की चर्चा नहीं की है। सुवर्णादि से सुशोभित देवालय को उपानहादिस्तूप्यन्त कनक, मुक्तामणि आदि से वित्तानुसार विभूषित करने का विधान है।[७]

प्रासाद के बहिर्भाग में सालत्रय-कल्पन कहा गया है। इन सबका अग्रभाग पश्चिम में गोपुर-विभूषित तथा यथाभिमत उपद्वारयुक्त होता है। प्रथमावरण के अन्दर ईशान कोण में सेनेश का स्थान कहा गया है। द्वितीयावरण के अग्रभागस्थ

---

१. नारदीय संहिता, १४.११८—१२१
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.५३-५४
३. वही, ९.७०—७६
४. मार्कण्डेय-संहिता, ५.२०—२७
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १४.४७—११९
५. श्रीप्रश्नसंहिता, ९.६५
६. विष्वक्सेन-संहिता, ६.१३—२७
७. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ९.७७-७८

महापीठ में भूतावास कहा गया है। उस पीठ के बाहर वेदिकायुक्त मण्डप का स्थान विहित है। तृतीयावरण के आगे आस्थान-मण्डप का स्थान कहा गया है।[१] पाद्म-संहिता ने सभी प्राकारों में मण्डप-कल्पन का निर्देश किया है। २६ धनुर्मानवाला मण्डप उत्तम मण्डप कहा गया है। अष्टादश धनुर्मानवाला मण्डप मध्यम तथा द्वादश धनुर्मानवाला मण्डप अधम कहा गया है। आस्थान-मण्डप का वैकल्पिक मान उपर्युक्त ही कहा गया है। इसका उत्तम स्वरूप दस हाथ का, मध्यम आठ हाथ का, अधम छह हाथ का तथा हस्तत्रयायत-स्वरूप क्षुद्र कहा गया है। उस दक्षिण तथा उत्तर पृष्ठ में भित्ति कल्पित होनी चाहिए। आठ स्तम्भों से युक्त सोपान का विधान कहा गया है। सभी आवरणों में स्थित सभी मण्डप प्राङ्मुख होने चाहिए। आस्थान-मण्डप सर्वमुख होना कहा गया है।[२] आस्थान-मण्डप के आगे गोपुर के अन्दर ही ध्वजपीठ का स्थान निर्दिष्ट है। तृतीयावरण के बाहर महापीठ-कल्पन कहा गया है। भूत, दैत्य, राक्षसादि तथा सभी देवताओं के भवन मण्डपादि से अलंकृत होनें चाहिए। ये भी तृतीया-वरण में कहे गये हैं। चतुर्थावरण में पीठ तथा पञ्चम आवरण में महापीठ का कल्पन होना चाहिए। दक्षिणाभिमुख विमान होने पर मण्डप पूर्वाभिमुख होता है, पश्चि-मास्य विमान होने पर मण्डप पश्चिमाभिमुख, उत्तराभिमुख विमान होने पर देवमण्डप पूर्वाभिमुख होना कहा गया है।[३]

प्रासाद-गर्भगृह के द्वार-पार्श्व में चण्ड-प्रचण्ड का स्थान कहा है। अर्द्धमण्डप के द्वार पर जय तथा विजय का स्थान निर्दिष्ट है। प्रथमावरण के द्वार पर आनन्द तथा नन्द को द्वारपाल होना कहा है। द्वितीयावरण के द्वार पर वीरसेन तथा सुषेण का द्वारपाल होना विहित है। तृतीयावरण के द्वार पर सम्भव तथा प्रभव द्वारपाल होते हैं। उपद्वारों पर क्रमशः कुमुदादि का द्वारपाल होना कहा है। ये सभी महापीठ बलि-प्रक्षेप से तृप्त होते हैं।[४] पाद्मसंहिता ने भी द्वारपालों का स्थान-निर्देश सामान्यतः इसी प्रकार किया है। पर पाद्म में यह विषय कुछ विस्तृत तथा पल्लवित रूप में कहा गया है। मूलतः दोनों में कोई खास अन्तर नहीं कहा जा सकता। नारदीय संहिता की अपेक्षा यहाँ चण्ड तथा प्रचण्ड का स्थान स्पष्ट रूप में द्वार पर क्रमशः दक्षिण तथा उत्तर भाग में होना कहा है। यहाँ उन-उन मूर्त्तियों के स्वरूपादि भी वर्णित हैं।[५] आलय के चारों तरफ सर्वत्र चतुरस्रायत लक्षणोपेत प्राकार-कल्पन आवश्यक है।[६]

---

१. नारदीय संहिता, १४.१२२—१२५
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १०.३८—४४
   मार्कण्डेय-संहिता, ३.६०—६४
३. नारदीय संहिता, १४.१२६—१३०
४. नारदीय संहिता, १४.१४५ – १४८ तथा १५.२१४
५. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १० ६३—७६
६. नारदीय संहिता, १४.९०-९१

नारदीय संहिता ने प्राकार के विषय में अधिक विस्तृत वर्णन नहीं किया है। पर कुछ अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिता तथा वैखानसागम-ग्रन्थों ने प्राकार का कुछ विस्तार के साथ वर्णन किया है। परिवार-निवेश के लिए, मन्दिर की शोभा के लिए तथा चारों ओर से संरक्षण के हेतु प्राकार-कल्पन आवश्यक है।[1] श्रीप्रश्नसंहिता ने सात प्राकारों का उल्लेख किया है। ये सात प्राकार अधोलिखित कहे गये हैं: १. अन्तर्मण्डल, २. अन्तर्हार, ३. मध्यहार, ४. पारिभद्र, ५. पर्वत, ६. वैद्याधर, तथा ७. सर्ववेष्टन[2]। भार्गव-संहिता के अनुसार अधोलिखित तीन प्राकार कहे गये हैं: १. अन्तर्मण्डल, २. अन्तर्हार तथा ३. मर्यादा।[3] विष्वक्सेन-संहिता ने दो या तीन प्राकारों का विधान किया है। सामान्य रूप से प्राकारों को गोपुरयुक्त होना कहा है।[4] व्यावहारिक रूप से भी दक्षिण भारत के आलयों में यह देखा जा सकता है। प्रायः सभी अच्छे मन्दिरों के प्राकार गोपुरयुक्त होते हैं। विमानार्चनकल्प ने भी सात प्राकारों का निर्देश किया है। यहाँ प्राकार-गोपुरों पर देवताओं की मूर्त्तियों का कल्पन भी निर्दिष्ट है।[5] वाशिष्ठ संहिता के अनुसार गोपुर मण्डपों के आगे कल्पित होना चाहिए।[6] कपिञ्जल-संहिता ने गोपुर को प्रासाद से द्विगुणित उच्छ्रित होना कहा है।[7]

आलय के पूर्व दिक् में पुष्पावास, आग्नेय कोण में महानस, तथा महानस में भी अग्निकोण में चुल्ली का स्थान निर्दिष्ट है। चुल्ली के पश्चिम में नित्याग्नि-आयतन का स्थान कहा गया है। आलय के दक्षिण में हर का स्थान तथा नैर्ऋत कोण में धान्यागार का स्थान होना चाहिए। पश्चिम भाग में हेतिभवन तथा वायव्य कोण में कुसूल के लिए स्थान विहित हैं। आलय के उत्तर में नर्त्तन-स्थान तथा ईशान कोण में जल के लिए स्थल का निर्देश किया गया है। ये सब प्रथमावरण या द्वितीयावरण अथवा तृतीयावरण में इच्छानुसार किये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त अधोलिखित रूप से तत्तत् स्थानों का निर्देश किया गया है:

स्थान तत्तदावास

तृतीयावरण—पूर्वदिशा—व्रजस्थान (गोशाला)
आग्नेय कोण—गायक-स्थान
दक्षिण दिशा—अश्वशाला
नैर्ऋत कोण—सत्रशाला

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, १०.१
२. श्रीप्रश्नसंहिता, १०.५—७
३. भार्गव-संहिता, ३.२५—२७
४. विष्वक्सेन-संहिता, ३४.१९
५. विमानार्चनकल्प, पट० १९
६. वाशिष्ठसंहिता, ३.१८५
७. कपिञ्जल-संहिता, १०.८१

स्थान तत्तदावास

वारुणदिक्—कूपस्थान

वायव्य कोण—प्रपान्वित मण्डप (उत्सवार्थ)

उत्तरदिशा में—गजस्थान

ईशान कोण में—मठस्थान[1]

इस तरह इस अध्याय में वैष्णवों के देवालय से सम्बद्ध जिन विषयों का विवेचन किया गया है वे पाञ्चरात्रागम के विविध ग्रन्थों में प्रायः समान रूप से ही प्रतिपादित हैं। इनका कहीं कुछ विस्तार, तो कहीं कुछ संक्षेप अवश्य देखते हैं। यहाँ वर्णित विषयों का मूल स्रोत शिल्पशास्त्र ही कहा जा सकता है; क्योंकि शिल्पशास्त्र में जिस प्रकार नगरविन्यासादि की योजना तथा सामान्य भवन-निर्माण के क्रम में देवालय-कल्पन का विवेचन हुआ है, सामान्यतः यहाँ आगमिक ग्रन्थों में भी उसी के समान वर्णन दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ आगम-ग्रन्थों में देवालय विषय प्रमुख होने के कारण कुछ सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित हुए हों, ऐसा कहा जा सकता है, पर मौलिक रूप से ये सारे विषय शिल्पशास्त्रीय ही हैं।

---

१. नारदीय संहिता, १४.१३१—१३६

तृतीय भाग

प्रथम अध्याय

वैष्णव-प्रतिष्ठा

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने प्रतिमा-निर्माण, आलय-कल्पन आदि विषयों के विवेचन के अनन्तर विधिवत् कल्पित देवालय में सलक्षण प्रतिमा की स्थापना तथा उसकी प्रतिष्ठा का सङ्गोपाङ्ग वर्णन भी अनेकत्र किया है। विविध संहिताओं के अनेक अध्यायों में प्रतिमा तथा आलयादि-प्रतिष्ठा विषय का विवेचन देखते हैं। इस क्रम में जीर्णोद्धारादि विषय की चर्चा भी अनेक ग्रन्थों में एकाधिक अध्यायों में देख सकते हैं। इस प्रसंग में प्रतिमा-स्थापनादि से सम्बद्ध कुछ अन्यान्य विषय भी वर्णित हैं। इस तरह प्रतिमा-प्रतिष्ठा एवं स्थापना विषय पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में स्वीकृत कहा जा सकता है। इस प्रतिष्ठा-प्रसंग में प्रतिमा-प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवालय से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं की प्रतिष्ठा का भी विधान किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में आलय में प्रतिमा की स्थापना एवं उसमें भगवत्-प्रतिष्ठा विषय के विवेचन का प्रयत्न होगा।

प्रति उपसर्गपूर्वक 'स्थागति निवृत्तौ' धातु से 'अङ्', पुनः 'टाप्' प्रत्यय का विधान कर प्रतिष्ठा शब्द निष्पन्न होता है। इस शब्द के अधोलिखित अर्थ निर्दिष्ट हैं: १. स्थिति, २. अवस्था, ३. ठहरना, ४. रहना, ५. घर, ६. निवास-स्थान तथा ७. प्रतिमा-विशेष की स्थापना।[१] वस्तुतः विविध उपादान-द्रव्यों से कल्पित प्रतिमा की प्रतिष्ठा के विना कोई महत्त्व नहीं है। प्रतिमा में देवत्वापादन के लिए प्रतिष्ठा-कर्म निश्चित रूप से अत्यन्त अपेक्षित है। विना प्रतिष्ठा के प्रतिमा देवत्व को नहीं प्राप्त कर सकती। अतः इस प्रतिष्ठाक्रम में यहाँ प्रतिष्ठा के अङ्गभूत विषयों, जैसे—प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल, यागशालादि विषय, बिम्ब-संस्कार, नेत्रोन्मीलन, भगवत्स्नपन तथा आराधन, अर्चाभिमानी जीव का मूर्त्ति में संयोजन, शक्ति-संयोजन, भगवदाराधन तथा विविध अग्नि-कार्य, पिण्डिकाधिवास, गर्भागार में ब्रह्मादि पदकल्पन, पिण्डिका का स्थापन, अवसर रत्नादिन्यास, पादशिला-स्थापन, २५ तत्त्वों का चिन्तन, बिम्ब-प्रतिष्ठापनक्रम, सजीवीकरण, प्रतिष्ठा के पाँच भेद तथा उनका विवरण, विविध न्यासक्रम, होम-बलिदान, आलयवृत्ति-कल्पन, दक्षिणा-प्रदान, पुराणप्रतिमा-प्रतिष्ठा—ये सभी विषय यहाँ प्रतिष्ठा के अन्तर्गत आते हैं। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में शाला, मण्डप, गोपुर, महानस एवं प्रपादियों की प्रतिष्ठा का भी वर्णन है।

यहाँ एक सामान्य प्रश्न होता है कि पूर्व से ही सर्वत्र विद्यमान सर्वव्यापी देवदेव की प्रतिमा में प्रतिष्ठा कैसी? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि सभी प्राणिमात्र

---

१. संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश, पृ० ६५६

प्रथम अध्याय

वैष्णव-प्रतिष्ठा

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने प्रतिमा-निर्माण, आलय-कल्पन आदि विषयों के विवेचन के अनन्तर विधिवत् कल्पित देवालय में सलक्षण प्रतिमा की स्थापना तथा उसकी प्रतिष्ठा का सङ्गोपाङ्ग वर्णन भी अनेकत्र किया है। विविध संहिताओं के अनेक अध्यायों में प्रतिमा तथा आलयादि-प्रतिष्ठा विषय का विवेचन देखते हैं। इस क्रम में जीर्णोद्धारादि विषय की चर्चा भी अनेक ग्रन्थों में एकाधिक अध्यायों में देख सकते हैं। इस प्रसंग में प्रतिमा-स्थापनादि से सम्बद्ध कुछ अन्यान्य विषय भी वर्णित हैं। इस तरह प्रतिमा-प्रतिष्ठा एवं स्थापना विषय पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में स्वीकृत कहा जा सकता है। इस प्रतिष्ठा-प्रसंग में प्रतिमा-प्रतिष्ठा के साथ-साथ देवालय से सम्बद्ध अनेक वस्तुओं की प्रतिष्ठा का भी विधान किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में आलय में प्रतिमा की स्थापना एवं उसमें भगवत्-प्रतिष्ठा विषय के विवेचन का प्रयत्न होगा।

प्रति उपसर्गपूर्वक 'स्थागति निवृत्तौ' धातु से 'अङ्', पुनः 'टाप्' प्रत्यय का विधान कर प्रतिष्ठा शब्द निष्पन्न होता है। इस शब्द के अधोलिखित अर्थ निर्दिष्ट हैं: १. स्थिति, २. अवस्था, ३. ठहरना, ४. रहना, ५. घर, ६. निवास-स्थान तथा ७. प्रतिमा-विशेष की स्थापना।[1] वस्तुतः विविध उपादान-द्रव्यों से कल्पित प्रतिमा की प्रतिष्ठा के विना कोई महत्त्व नहीं है। प्रतिमा में देवत्वापादन के लिए प्रतिष्ठा-कर्म निश्चित रूप से अत्यन्त अपेक्षित है। विना प्रतिष्ठा के प्रतिमा देवत्व को नहीं प्राप्त कर सकती। अतः इस प्रतिष्ठाक्रम में यहाँ प्रतिष्ठा के अङ्गभूत विषयों, जैसे—प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल, यागशालादि विषय, बिम्ब-संस्कार, नेत्रोन्मीलन, भगवत्स्नपन तथा आराधन, अर्चाभिमानी जीव का मूर्त्ति में संयोजन, शक्ति-संयोजन, भगवदाराधन तथा विविध अग्नि-कार्य, पिण्डिकाधिवास, गर्भागार में ब्रह्मादि पदकल्पन, पिण्डिका का स्थापन, अवसर रत्नादिन्यास, पादशिला-स्थापन, २५ तत्त्वों का चिन्तन, बिम्ब-प्रतिष्ठापनक्रम, सजीवीकरण, प्रतिष्ठा के पाँच भेद तथा उनका विवरण, विविध न्यासक्रम, होम-बलिदान, आलयवृत्ति-कल्पन, दक्षिणा-प्रदान, पुराणप्रतिमा-प्रतिष्ठा—ये सभी विषय यहाँ प्रतिष्ठा के अन्तर्गत आते हैं। पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में शाला, मण्डप, गोपुर, महानस एवं प्रपादियों की प्रतिष्ठा का भी वर्णन है।

यहाँ एक सामान्य प्रश्न होता है कि पूर्व से ही सर्वत्र विद्यमान सर्वव्यापी देवदेव की प्रतिमा में प्रतिष्ठा कैसी? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि सभी प्राणिमात्र

१. संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश, पृ० ६५६

की आत्मा हरि सर्वत्र स्थित रहते हुए भी स्थापक तथा गुरु के मन्त्रवीर्य तथा माहात्म्य से प्रतिमा में प्रकृष्ट रूप से सन्निहित होता है, और उसी प्रतिमा में लोग अशेष कामनाओं की याचना करते हैं। इससे प्रतिष्ठा की अव्यर्थता सिद्ध होती है। जैसे दाहक वह्नि सर्वदा दहन करते हुए भी व्यापक रूप से नहीं रहता, पर अरणी के मथन से पुनः उत्पन्न हुआ दिखता है और दहनादि कर्म-सम्पादन करता है, उसी तरह सर्वगत विष्णु प्राकृत लोगों से अदृश्य भी मन्त्रियों के मन्त्र-गौरव से प्रतिकृति में दिखता है। इसीलिए सर्वात्मरूप से विष्णु की प्रतिष्ठा कर उसका अर्चन होना चाहिए।[1] सामान्यतः इसी भावना से अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थों ने प्रतिष्ठा के जो लक्षण बताये हैं, उनकी संक्षिप्त चर्चा यहाँ संगत होगी। पौष्कर-संहिता कहती है—द्रव्यों से निर्मित आकृति-विशेष में मन्त्रियों के द्वारा मन्त्रों के निवेश को आप्तलक्षण-प्रतिष्ठा कहते हैं।[2] पारमेश्वर संहिता के अनुसार परात्पर चातुरात्म्य व्यूहों-विभवों तथा जगद्बीज वासुदेव के मूर्त्ति में किये जानेवाले सन्धान को प्रतिष्ठा कहते हैं।[3] विश्वामित्र-संहिता के अनुसार भी प्रतिष्ठा के विषय में सामान्यतः पाद्मसंहिता की तरह प्रश्न उपस्थापित कर कहा गया है कि यद्यपि भगवान् सर्वव्यापक है, फिर भी मन्दबुद्धि लोगों के विश्वास के लिए प्रतिष्ठा का विधान करते हैं।[4] श्रीप्रश्नसंहिता में प्रतिष्ठा का विवरण देते हुए भगवान् ने कहा है कि मनुष्यों की इष्टसिद्धि के लिए पुनः सान्निध्य कारण से, मन्त्र के गौरव से तथा देसिकों की तपस्या से देसिकों के द्वारा अर्चा (प्रतिमा) में प्रार्थित मैं सिद्धि प्रदान करता हूँ।[5] इस तरह प्रतिष्ठा का अर्थ प्रतिमा-विशेष में मन्त्र के द्वारा भगवच्छक्ति की स्थापना कह सकते हैं।

प्रतिमा-कल्पन तथा आलय-सन्नाह के पश्चात् प्रतिष्ठा का अवसर आता है। अर्थात् प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल का निर्देश तत्तत्संहिताओं में देखते हैं। इस क्रम में शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, द्वितीया, पञ्चमी, त्रयोदशी, दशमी तथा पौर्णमासी तिथियों को प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्तकाल कहा गया है। [सोम, बृहस्पति, भार्गव तथा बुध वासर सौम्य वासर कहे गये हैं। नक्षत्रों में तीन उत्तरा, रेवती, अश्विनी, रोहिणी, हस्त, पुनर्वसु, पुष्य, श्रवणा तथा भरणी नक्षत्रों को वैष्णवी प्रतिष्ठा के लिए ग्राह्य कहा गया है।[6] जयाख्य संहिता ने शुक्लपक्ष की शुभ तिथियों, स्वानुकूल नक्षत्र, शुद्ध तथा स्थिर

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २६.१—७

२. निवेशनं च मन्त्राणां द्रव्यजास्वाकृतिषु यत्।
विहिता सा प्रतिष्ठा वै मन्त्रिणामाप्तलक्षणा॥ —पौ० संहिता, ३८.४

३. पारमेश्वर संहिता, १५.२१—२४

४. प्रतिष्ठां शृणु विप्रर्षे देव देवस्य शार्ङ्गिण। सर्वलोकेषु यद्वस्तु स्थावरं जङ्गमं तथा॥
द्रष्टुं यच्छक्यते सर्वैः श्रोतुं वा द्विजसत्तम। तेषामन्तर्बहिरपि व्यापकत्वेन संस्थितः॥
तस्य विष्णोर्भगवतः प्रतिष्ठा कीदृशी भवेत्। तथा हि मन्दबुद्धीनां विश्वासायाभिधीयते॥ १४.१—३

५. श्रीप्रश्नसंहिता, १८.१—२

६. नारदीय संहिता, २५.२—६

लग्न एवं आषाढ़, कार्त्तिक तथा चैत्र में सूर्य के स्थिर रहते हुए प्रतिष्ठा के लिए प्रशस्त काल बताया है।[1] पाद्मसंहिता ने प्रतिष्ठा-कर्म के लिए उत्तरायण को मुख्य तथा दक्षिणायण को जघन्य बताया है। इसके साथ-साथ पाद्म ने प्रतिष्ठा के लिए ग्राह्यकाल का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।[2] वैखानसागम में विष्ण्वादि देवों की प्रतिष्ठा का काल उत्तरायण में फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, तैष तथा ज्येष्ठ में उत्तम कहा गया है। दक्षिणायन में श्रावण, आश्वयुज तथा कार्त्तिक को मध्यम, प्रोष्ठपद तथा आषाढ़ को प्रतिष्ठा के लिए अधम स्वीकारा गया है। माघ तथा मार्गशीर्ष प्रतिष्ठा के लिए त्याज्य कहे गये हैं।[3]

प्रतिष्ठा के लिए अङ्गभूत होमादि सम्पादनार्थ यागशाला की आवश्यकता होती है। उसके लिए आलय के आगे के भाग में स्थान का निर्देश किया गया है। उस यागशाला में वेदिका तथा अग्निकुण्डों का कल्पन करते हैं। प्रतिष्ठा के समय यागशाला का सम्यक् अलंकार किया जाता है। नारदीय संहिता ने किञ्चित् विस्तारपूर्वक इस विषय का वर्णन किया है।[4] सनत्कुमार-संहिता में भी सामान्यतः इसी प्रकार यह विषय कहा गया है।[5] अलंकृत यागशाला में शुद्ध गोमय के द्वारा मण्डल-कल्पन करते हैं और उसपर चारों दिशाओं में सपल्लव कुम्भ को स्थापित कर उनमें इन्द्रादि लोकपालों का आवाहन तथा पूजन करते हैं। इस क्रम में तत्कर्माङ्ग होम-सम्पादन का भी निर्देश किया है। इसके बाद शय्या-कल्पन का विधान किया गया है। शय्या में अधोलिखित देवताओं का निर्दिष्ट क्रम से अर्चन करते हैं :

१. ऐन्द्र भाग में—विष्णु
२. दक्षिण भाग में—मधुसूदन
३. पश्चिम भाग में—त्रिविक्रम
४. उत्तर भाग में—वामन
५. आग्नेयकोण में—श्रीधर
६. नैर्ऋत कोण में—हृषीकेश
७. वायव्य कोण में—पद्मनाभ
८. ऐशान्य कोण में—दामोदर

इन सबका अर्चन, गन्ध तथा पुष्पों से सम्पादित होता है।[6] ईशान कोण में स्नपन-मण्डप का कल्पन कर उस मण्डप में स्नपन-वेदिका का निर्माण किया जाता है। कलशों का अधिवासन कर उनमें तत्तद्द्रव्यों का निक्षेप कर चार कुम्भ स्थापित करते हैं।[7] इसके बाद विज्ञापनपूर्वक प्रतिमा का कौतुक-बन्ध किया जाता है। विज्ञापन के समय गुरु कहता है—'हे अनामय नारायण, तुममें ईश की पूजा करते हैं, तुम द्रव्य-दोषों से रहित ऋद्धियुक्त बनो।' कौतुक ऊर्णमय होता है। अष्टाक्षर मन्त्र से सात बार कौतुक को अभिमन्त्रित कर प्रतिमा के दक्षिण हाथ में उसे बाँधते हैं।[8] पाद्म-

---

१. जयाख्यसंहिता, पट० २०.१३१-१३२
२. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २५.१—१६
३. विमानार्चनकल्प, पट० २७
४. नारदीय संहिता, १५.६—२३
५. सनत्कुमार-संहिता, ब्र० रात्र०, ६.१९—२५
६. नारदीय संहिता, १५.२३—३३
७. वही, १५.३३—४६
८. वही, १५.५५—५८

संहिता ने भी प्रायः इसी प्रकार विस्तार के प्रतिसर बन्धन का निर्देश किया है।[१] पुनः शकुन-पाठ आदि के साथ बेर को स्नान-वेदी पर लाते हैं, और भद्रासन पर उसे रखते हैं। यहाँ प्रतिमा पूर्वमुख रखी जाती है। जो प्रतिमा विशालता या अन्य किसी कारणवश स्नान-वेदी पर ले जाने योग्य नहीं होती, उसकी छाया स्थाली आदि में लेकर उसका संस्कार करते हैं। भद्रासन पर रखी प्रतिमा का सुगन्ध, आज्य तथा गव्य से अभ्यञ्जन करते हैं। पुनः मसूरपिष्ट से उस प्रतिमा का उद्वर्त्तन कर जल से प्रक्षालन करते हैं। मृत्तिका अथवा आमलक से बिम्ब का आलेपन किया जाता है। उस अवसर पर 'मूर्द्धानं दिव' इत्यादि ऋचा का प्रयोग करना कहा गया है। उसके पश्चात् 'समुद्र जेष्ठ' तथा 'या दिव्या' इत्यादि ऋचाओं से नेत्रोन्मीलन किया जाता है। इस अवसर पर मधुयुक्त घृत तैजस पात्र में रखकर 'मधुवाता' मन्त्र से अभिमन्त्रित करते हैं। पुनः सुवर्णशलाका से 'हिरण्यगर्भ' इत्यादि तथा 'चित्रन्देवानाम्' इत्यादि मन्त्र के द्वारा प्रतिमा का नेत्रोन्मीलन किया जाता है। नेत्रोन्मीलन के समय पात्र में स्थापित पदार्थ-विशेष देव को प्रदर्शित करते हैं। उसके अनन्तर पूर्वोक्त चार कलशों के द्वारा देव का स्नपन करते हैं। स्नपनक्रम अधोलिखित है :

प्रथम घट से 'हंसः शुची' मन्त्र के द्वारा।

द्वितीय घट से 'विष्णोरराट्' मन्त्र के द्वारा।

तृतीय घट से 'सोमं राजानम्' मन्त्र के द्वारा।

चतुर्थ घट से 'विश्वतश्चक्षु' मन्त्र के द्वारा।

उद्वर्त्तन 'द्रुपदादिवेती' मन्त्र के द्वारा।

शिर पर आमलक प्रदान 'मानस्तोक्य' मन्त्र के द्वारा।

शुद्धतोय-स्नपन 'विष्णोरराट्' मन्त्र के द्वारा।

पुनः स्नपन 'इदमापः प्रवहतः' मन्त्र के द्वारा।

इस तरह उपर्युक्त क्रम से स्नपन सम्पादित कर भगवान् का आवाहन करते हैं और अर्घ्य, पाद्य, गन्ध, माल्य, पवित्र, वस्त्र, उत्तरीय, पुष्पावकीरण, धूप, अञ्जन, रोचना तथा पुष्पमाल्य से भगवदाराधन सम्पन्न करते हैं। ऋचाओं से पुरुषोत्तम की स्तुति की जाती है। स्नपन के बाद बिम्ब को लाकर शय्या पर सुलाया जाता है। ये सभी कर्म तत्तन्मन्त्रों से सम्पादित होते हैं।[२]

इसके अनन्तर प्रणव के द्वारा बिम्ब में अर्चाभिमानी जीव का समायोजन किया जाता है। इस क्रम में पञ्चतत्त्वों में एक-एक की विपरीत क्रम से संहृति कर अन्ततः बुद्धि में सबका संहार किया जाता है। उसके अनन्तर शान्त अनन्त परमव्योम में पर-ब्रह्म का ध्यान किया जाता है।[३] नारदीय संहिता ने इस प्रसंग में भगवच्छक्ति तथा

---

१. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २६.२२—२८

२. नारदीय संहिता, १५.५९—८१

३. वही, १५.८२—८८

सृष्टिक्रम का संक्षेप में निरूपण किया है, जिसकी चर्चा सृष्टि-प्रक्रिया-निरूपण-क्रम में देखी जा सकती है। प्रतिमा में मूर्त्तिमन्त्रों के तत्तद्वर्णों का न्यास करते हैं। उसके बाद वह्नि-मण्डल में बिन्दु के ध्यान करने का निर्देश किया गया है। इन मूर्त्तिमन्त्रोक्त वर्णों के न्यासादि विषय की सामान्य चर्चा मन्त्र-विचार अध्याय में की जा चुकी है। ईशभावस्थ जीव को पुनः परमेष्ठी, पौरुषी, विश्वात्मिका, निवृत्त्यात्मिका तथा सर्वात्मिका शक्तियों से संयुक्त करते हैं। इसके लिए तत्तद्बीज-मन्त्रों का उल्लेख किया गया है। कहते हैं कि ये पाँच भगवच्छक्तियाँ असंहृत रूप से भगवदैश्वर्य को प्रकाशित नहीं कर सकतीं। ये सभी पाँच संहृत रूप से सबके कारण हैं। इन्हीं पाँच शक्तियों से परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार में कारण होता है। इन्हीं शक्तियों से वह निग्रह तथा अनुग्रह करता है। मूर्त्तियों अर्थात् प्रतिमाओं को मन्त्रात्मक कहा गया है। शक्तियाँ उसकी उपाधि कही गई हैं। इन्हीं शक्तियों के द्वारा भगवान् सर्वव्यापक होता है।[१] इन शक्तियों से संयुक्त देव का मण्डल में विविध अलंकारादि से आराधन आवश्यक है।

प्रतिमा में शक्ति-संयोजन के पश्चात् पुनः दीक्षाधिवास-विधि में उक्त क्रम से प्राक्-कुण्ड में अध्व-होम का विधान किया गया है। होम के बाद शान्त्युदक-सेचन निर्दिष्ट है। उसके अनन्तर यागशालास्थ अग्नि-कुण्ड में शत या सहस्र संख्या की आहुति प्रदान करते हैं। यह आहुति-प्रदान-विषय किञ्चित् विस्तार से यहाँ बताया गया है। दक्षिण-द्वार में गंगा, यमुना, गोदावरी तथा सरस्वती नाम की चार गायों से दूध दूहकर उससे चरु-निर्माण करते हैं और पुनः वह देव को निवेदित कर दिक्पालों के लिए बलि-प्रदानार्थ प्रयुक्त होता है। इसके पश्चात् ब्राह्मणों तथा भक्तों को भोजन तथा दक्षिणा प्रदान करते हैं। इस अवसर पर वेदादि के पारायण, नृत्य, गेय तथा वाद्यादि का आयोजन किया जाता है।[२] इसके पश्चात् स्थण्डिल पर होम का निर्देश किया गया है। इस क्रम में अष्टाक्षर-मन्त्र से अग्नि का प्रणयन तथा विष्णु-गायत्री के द्वारा सर्पिष से अष्टोत्तर शत होम का विधान है। इस होम के पश्चात् सर्वतीर्थमय जल से भगवत्-प्रतिमा की मूर्द्धा का सेचन किया जाता है।[३] इस प्रकार प्रतिमा का अधिवास तथा तदङ्गभूत होमादि तत्तत् कर्म सम्पादित किया जाता है। उसी समय पिण्डिका का अधिवास भी किया जाता है। पिण्डिका से यहाँ प्रतिमापीठ विवक्षित है। इस अधिवास की कालावधि तीन रात या एक कही गई है। अधिवास-क्रम में स्वप्न-दर्शन का भी विधान है। अशुभ स्वप्नादि होने पर शान्ति-होम विहित है। यह स्वप्नदर्शन सामान्यतः दीक्षा-विधि की तरह उक्त है। प्रतिष्ठा-क्रम में प्रथम पिण्डिका-स्थापन करते हैं, पुनः उसके पश्चात् प्रतिमा की स्थापना तथा प्रतिष्ठा। इस क्रम में गर्भगृह को परस्पर सात-सात (अर्थात् ७×७=४९) पदों में विभक्त करते हैं। उन पदों में मध्य से आरम्भ कर क्रमशः ब्राह्म, दैव तथा मानुषपदों का निर्देश किया गया है।

---

१. नारदीय संहिता, १५.११५—१३०

२. वही, १५.१३१—१४५

३. वही, १५,१४५—१५१

स्थावरार्चा अर्थात् एकबेरार्चन-क्रम में ब्राह्म पद में पिण्डिका की स्थापना का विधान है। अस्थावरार्चा अर्थात् बहुबेरार्चन-क्रम में पिण्डिका का स्थापन-स्थान दैव तथा मानुष पदों के मध्य कहा गया है। पिण्डिका-स्थापन-क्रम में सर्वत्र रत्न-न्यास आवश्यक है। वह रत्न-न्यास नपुंसक शिला के ऊपर किया जाता है। इस रत्न-न्यास के क्रम में विष्णु-गायत्री से शत संख्याक होम कर उससे रत्नों को अभिमन्त्रित करते हैं। रत्न-न्यास के साथ बीज-न्यास भी किया जाता है। रत्न-न्यास से धातु तथा लोह भी विवक्षित है। यह न्यास-क्रम अधोलिखित है।

दिशा	बीज	रत्न	धातु	लोह
पूर्व	यव	रत्न	मनःशिला	हिरण्य
अग्निकोण	व्रीहि	मौक्तिक	हरिताल	रजत
दक्षिण	निष्पाव	वैडूर्य	अञ्जन	ताम्र
नैऋंत कोण	प्रियंगु	शंख	श्याम	आयस
पश्चिम दिशा	तिल	स्फटिक	सीसक	त्रपु
वायव्य कोण	माष	पुष्टिक	सौराष्ट्र	कांस्य
उत्तर दिशा	नीवार	चन्द्रकान्त	रोचन	सुवर्ण कूर्म
ईशान कोण	महाशालि	इन्द्रनील	गैरिक	सुवर्णशंख

मध्य में यथावत् पद्मराग तथा पारद के न्यास का निर्देश किया गया है। पुनः ब्रह्मस्थान में हिरण्यक-न्यास का विधान है। इन बीजादि के अलाभ में उनके प्रतिनिधि भी कहे गये हैं। जैसे—बीजों के अभाव में शालिबीज; रत्नों के अलाभ में मुक्ताफल; धातुओं के अलाभ में हरिताल तथा लोहों के अभाव में सुवर्ण प्रतिनिधि रूप में कहे गये हैं। यह रत्न-न्यास लोहमय पिण्ड होने पर किया जाना कहा है। रत्नमय बिम्ब होने पर रत्नन्यास अपेक्षित नहीं होता।[1] पारमेश्वर संहिता में भी बीज तथा रत्नादि के न्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ का वर्णन पाद्मसंहिता की अपेक्षा भी विस्तृत है। यहाँ न्यास के लिए निर्दिष्ट रत्नादि की संख्या अधिक है। साथ-साथ रत्नन्यास के अनेक विकल्प भी कहे गये हैं।[2] पिण्डिका-स्थापन के पश्चात् उसके ऊपर विविधाङ्ग-परीक्षित पादशिला का न्यास किया जाता है। फिर उसके ऊपर प्रासाद के प्रमाणानुरूप प्रतिमा की स्थापना करते हैं।[3] पाञ्चरात्रागम के अनुसार प्रतिष्ठापित प्रतिमा में सारे तत्त्वों का होना भी आवश्यक है। अतः उसके तत्तदङ्गों में तत्तत् पदार्थों का चिन्तन आवश्यक है। यद्यपि नारदीय संहिता ने आलय के एक-एक अङ्ग का निर्देश कर एक-एक में पृथक्-पृथक् एक-एक तत्त्व के चिन्तन का विधान कहा है, पर कुछ अन्य

१. नारदीय संहिता, १५
२. पारमेश्वर संहिता, १५.७३७—७७२
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०
३. नारदीय संहिता, १५

संहिताओं में प्रतिमा के तत्तदङ्गों में ही इन पदार्थों के न्यास या चिन्तन का निर्देश किया है। यह तत्त्व-चिन्तन नारदीय संहिता के अनुसार अधोलिखित है :

(क) १. शिला—पृथ्वी-तत्त्व
२. स्नानवेदी—आपतत्त्व
३. जालान्तर्गत रविरश्मि—तेजस तत्त्व
४. गवाक्ष—वायुतत्त्व
५. गगन—आकाशतत्त्व
} पञ्च भूतपदार्थ

(ख) ५. कपाटद्वय—करद्वय
७. पाद—पाद
८. जलनिर्गम—पायु
९. आणि ?—योनि
१०. कपोतपाली—श्रोत्र
} कर्मेन्द्रियों की संख्या में एक न्यून है। ग्रन्थाशुद्धि के कारण यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता।

११. सुधा—त्वक्
१२. शिखरपार्श्व—नेत्रद्वय
१३. वेदिका—जिह्वा
१४. नासा—घ्राण
} पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ

१५. श्याम, कृष्ण, पीत, रक्त तथा श्वेत—ये पाँच वर्ण—गन्धादि तन्मात्राएँ—५

दीप—मन
पिण्डिका—बुद्धि
पिण्डिकान्तर—प्रकृति
प्रतिमा—परपुरुष
दण्ड एवं कूर्च—केश, रोम
} पाँच संख्या [1]

इस तरह उपर्युक्त क्रम से पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने आलय के अन्तर्गत परपुरुष से प्रारम्भ कर भूत पदार्थों तक सभी तत्त्वों को स्थित बताकर आलय को प्रायः परब्रह्म की तरह ही बताने का प्रयास किया है, जिसमें ये सारे तत्त्व स्थित होते हैं। कोई भी ऐसा तत्त्व या पदार्थ नहीं, जो आलय में विद्यमान न हो। इन सबके द्वारा प्रायः यह प्रतिपादन अभीष्ट है कि आलय (प्रतिमा) ही सर्वोत्कृष्ट आराध्य है। पारमेश्वर संहिता ने भी तत्त्व-न्यास का विस्तार से वर्णन किया है। यह तत्त्वन्यास प्रतिमा में किया जाता है।[2] तत्त्व-न्यास के साथ वर्णन्यास का भी निर्देश किया गया है। नारदीय ने जहाँ आलय के तत्तदङ्गों को तत्तत्तत्त्वों के रूप में बताया है वहाँ पारमेश्वर में प्रतिमा में इन तत्त्वों का न्यास बताते हैं। अक्षर तथा तत्त्वादि-न्यास एवं होम विषय की चर्चा पाद्मसंहिता ने भी अपने ढंग से की है।[3]

---

१. नारदीय संहिता, १५
२. पारमेश्वर संहिता, १५.४९७—५६०
३. पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, २७.१०७—१४६

इन सबके बाद बिम्ब-प्रतिष्ठापन का अवसर आता है। इस क्रम में गन्ध-धूपादि से मूल मन्त्र द्वारा देव का आराधन कर शुद्ध वस्त्रों से वेष्टन करते हैं। शुभ मुहूर्त्त में वैष्णवों की अनुज्ञा से 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते' इस मन्त्र के द्वारा देव का उत्थापन करते हैं। 'अतोदेवा अवन्तुनः' इस मन्त्र के उच्चारण के साथ आलय में प्रतिमा का प्रवेश कराते हैं। प्रासाद में प्रतिमा का प्रवेश कराकर पिण्डका के ऊपर स्थापित करते हैं। उस समय 'त्रैलोक्य विकाराय विक्रमाय नमो नमः' इसका उच्चारण किया जाता है। पुनः 'ध्रुवाद्यौः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा मूर्त्ति को पिण्डिका में स्थिर करते हैं।[1]

पीठ पर जब बिम्ब स्थिर हो जाता है तब उसे सजीव करते हैं। यह सजीवीकरण मूल मन्त्र के द्वारा होता है। सजीवीकरण आचार्य के द्वारा सम्पादित होता है। अपने शरीर से प्राण का तन्मात्रादियों के साथ निर्गमन कर बिम्ब के साथ संयुक्त कराने का ध्यान करते हैं। इस क्रम में तत्तन्मात्राओं तथा इन्द्रियादि से मूर्त्ति को संयुक्त किया जाता है। ऐसा करने से क्षणभर में मूर्त्ति सजीव हो जाती है। इस प्रकार जीवत्वापादित प्रतिमा का राजोपचारादि से आराधन करते हैं। पाञ्चरात्रागम के अनुसार प्रतिमास्थ देव का जीवत्वापादन एक विलक्षण विशेषता कही जा सकती है; क्योंकि सजीवीकरण के पश्चात् ही उसमें विविधोपचारपूर्वक सर्वथा मानवीय भोगादि के द्वारा आराधना का प्रसंग युक्तियुक्त प्रतीत होता है, जो कि भक्तिभावमूलक इस पाञ्चरात्रागमशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

प्रतिष्ठा के पाँच भेद कहे गये हैं : १. स्थापना, २. आस्थापना, ३. संस्थापना, ४. प्रस्थापना तथा ५. प्रतिष्ठा। स्थानक रूप में की गई प्रतिष्ठा को स्थापना कहते हैं। आसीन रूप में की गई प्रतिष्ठा आस्थापना कही गई है। शयन-रूप में की गई प्रतिष्ठा को संस्थापना कहते हैं। यान पर की गई प्रतिष्ठा को प्रस्थापना कहते हैं। ब्राह्म स्थान के अर्चना-पीठ में जो प्रतिमा स्थापित होती है उसे प्रतिष्ठा कहते हैं।[2]

उपर्युक्त क्रम से प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर उसमें सृष्टि आदि न्यास किया जाता है। स्थित प्रतिमा में स्थितिन्यास, आसीन प्रतिमा में सृष्टि-न्यास, शयान प्रतिमा में संहृति-न्यास तथा यानग प्रतिमा में तीनों तरह के न्यास विहित हैं। संहारन्यास पाद, जानु, उपस्थ, नाभि, हृदय, मुख, नेत्र, ललाटादि, शिर तथा मूर्द्धा में मन्त्राक्षरों के द्वारा किया जाता है। मूर्द्धा से पाद-पर्यन्त सृष्टि-न्यास कहा गया है। नाभि से हृदयान्त मन्त्रन्यास को स्थिति-न्यास कहा गया है।[3] विष्वक्सेन-संहिता ने सृष्टि आदि न्यास के साथ-साथ प्रतिमा में मन्त्रादि अनेक न्यास करने का निर्देश किया है।[4]

कर्मार्चा के प्रतिष्ठाक्रम में प्रतिमा का अधिवास कर गर्भागार में प्रवेश कर मूलार्चा से उसका योग किया जाता है और सर्वमन्त्र से पाद-पीठ पर उसे स्थापित करते

---

१. नारदीय संहिता, १५
२. वही
सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र ६.११४—११९
३. नारदीय संहिता, १५.२१०—२१३
४. विष्वकसेन-संहिता, १६.२४—३२

हैं। पुनः मन्त्र-न्यास किया जाता है।[1] नारदीय ने तत्तद्देवों की स्थापना के स्थानादि बताये हैं।[2] इस विषय का सामान्य विवेचन आलय-कल्पनवाले अध्याय में प्रदर्शित है।

नारदीय संहिता ने प्रतिष्ठा-विधि-निरूपण-क्रम में आलय-वृत्ति कल्पन का विधान किया है, जिससे आलयार्चन भविष्यत्काल में निर्विघ्न चलता रहता है। यजमान आत्म-समर्पणपूर्वक गुरु के लिए विविध वस्तुएँ प्रत्यर्पित करता है। प्रतिष्ठा के अवसर पर स्थपत्यादि का सम्मान तथा बन्धु-बान्धवों को भजनादि से संप्रीणन भी विहित है।

प्रतिष्ठा के दूसरे दिन सविस्तर ध्वजारोहणपूर्वक विष्णु का एक रात्र, द्विरात्र, पञ्चरात्र, नवरात्र या द्वादशरात्र उत्सवों में से किसी एक उत्सव का आरम्भ करते हैं। अन्त में तीर्थयात्रावसानान्त स्नपन-सम्पादन का विधान है।

पुराण-प्रतिष्ठापित प्रतिमा का प्रतिष्ठाक्रम भी यही होता है, पर उसमें प्रतिमा का अधिवासन नहीं किया जाता है। स्थापित प्रतिमा का उद्धरण सर्वथा निषिद्ध है। स्वयं व्यक्त तथा मुनिकल्पित प्रतिमा के जीर्ण होने पर या प्रासाद के भग्न होने पर भी प्रतिष्ठा का विधान नहीं है। उसका त्याग भी वर्जित है। उसीमें उसकी आराधना विहित है। इसी तरह विघ्नाधिपादि की स्थापना कही गई है। स्वतन्त्र देवताओं की प्रतिष्ठाक्रिया समान होती है। द्वारपालों का पृथक् स्थापन सर्वथा निषिद्ध है।[3]

स्वतन्त्र तथा अस्वतन्त्र रूप से सामान्यतः आलय दो प्रकार के कहे गये हैं। ग्रामादि के अङ्गरूप में कल्पित आलय अस्वतन्त्र आलय तथा तीर्थ एवं अरण्यादि में कल्पित आलय स्वतन्त्र आलय कहे गये हैं। पाञ्चरात्रागम के अनुसार ये उभयविध आलय हितकारक होते हैं। जो देवालय स्वतन्त्र देवों के अङ्गरूप में नगर, ग्राम या रथ्यादि में पुनः कल्पित होता है उसे केवलालय कहा गया है। केवलालय के साथ देवालय या अन्य देवों का उत्सव आदि करना निषिद्ध है। इस प्रसंग में अधोलिखित १५ देवताओं की स्थापना तथा आराधना का स्वरूप संक्षेप में नारदीय संहिता ने बताया है—१. अग्नि, २. ब्रह्मा, ३. धनद, ४. गजास्य, ५. श्री, ६. स्कन्द, ७. सूर्य, ८. रुद्र, ९. दुर्गा, १०. यम, ११. इन्द्र, १२. विष्णु, १३. काम, १४. अश्विनीकुमार तथा १५. चन्द्रमा। यहाँ इनकी आराधना के उद्देश्य आदि भी बताये गये हैं।[4]

उपर्युक्त देवताओं की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में शाला, मण्डप, बलिपीठ, प्रतिमा, घण्टा, अक्षमाला, गोपुर, महानस तथा प्रपा आदि की प्रतिष्ठा का भी सामान्य निर्देश किया है। इन सबके प्रतिष्ठा-क्रम में अग्निकार्यादि सामान्य क्रिया प्रतिमा-प्रतिष्ठा की तरह वर्णित है।[5]

---

१. नारदीय संहिता, १५ २०७—२०९
२. वही, १५.२१४—२३५
३. नारदीय संहिता, १५.२३६—२५७
४. वही, २८.१—१०८
५. (क) पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३०.३७—४७, ६४—१२७,
पाद्मसंहिता, क्रि० पा०, ३१.१—५४;
(ख) नारदीय संहिता, १६ १—२९

द्वितीय अध्याय

उत्सव

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में सामान्यतः भगवत्प्रतिमा-प्रतिष्ठा-सम्पादनक्रम के अन्त में तदङ्गभूत उत्सवाचरण का विधान देखते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ष में अनेक बार अनेक तरह के भगवदाराधनपरक उत्सवाचरण का निर्देश पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में देखा जा सकता है। उत्सव विषय इस आगम के महत्त्वपूर्ण विषयों में अन्यतम है। अतएव, अनेक संहिता-ग्रन्थों ने भगवदुत्सव तथा तदङ्गभूत अन्यान्य विषयों का विशद विवेचन किया है। प्रस्तुत अध्याय में उत्सव-शब्दार्थ, उसका काल, उत्सव-भेद एवं उसका आधार, ध्वजारोहण, अंकुरार्पण, देवतावाहन, उत्सवबलि, उत्सवाङ्ग अग्निकार्य, उत्सव-रात्रदेवता, उत्सव-बिम्बोपयोग, उत्सव-प्रकार, उत्सव-क्रम में नित्याराधन, प्रतिसरबन्धन, तीर्थोत्सव-क्रम, स्नपन, भगवदाराधन, तीर्थयात्रा, पुष्पयाग, गरुडोद्वासनादि विषयों के विवेचन का प्रयत्न होगा। अन्ततः पाञ्चरात्रागम में वर्णित विविध उत्सवों के संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन देखेंगे। विष्वक्सेन-संहिता ने उत्सवों के अङ्गों का निर्देशपूर्वक परिगणन किया है। उसने उत्सव के अधोलिखित पञ्चदश अङ्ग बताये हैं :

१. अंकुरावाप	६. होम	११. तीर्थस्नान
२. पताकारोहण	७. भूषण	१२. स्नपन
३. शुद्धस्नान	८. बलियाग	१३. पुष्पयाग
४. स्नपन	९. महोत्सव	१४. दक्षिणादान
५. अंकुरोत्सव	१०. तीर्थाधिवास	१५. ध्वजावरोहण[१]।

ये ही विषय सामान्यतः उत्सव-सम्बद्ध अध्यायों में प्रायः सभी पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित हैं।

दुःख को सव कहा गया है। जिस कर्म-विशेष के आचरण से वह सव (दुःख) उद्गत होता है, उसे उत्सव कहते हैं। अर्थात् उत्सव वह क्रिया विशेष है, जिसके सम्पादव से संव (दुःख) समाप्त हो जाता है।[२] नारदीय संहिता ने सव का अर्थ यज्ञ बताया है। यज्ञ से भी उद्गत अर्थात् उत्कृष्ट होने के कारण भगवदाराधन-रूप इस क्रिया-विशेष को उत्सव कहते हैं। कहते हैं कि विना उत्सवाचरण के प्रतिष्ठा का पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता।[३] उत्सव को सर्वशान्तिकर, पुण्यप्रद, सर्वयज्ञफलप्रद, सर्व-पापहारक, सर्वकर्म-शुभावह, राजा तथा राष्ट्र के लिए वृद्धिकारक कहा गया है।[४]

---

१. विष्वक्सेन-संहिता, २७.१३—१६
२. (क) पारमेश्वर-संहिता, १६.२-३
 (ख) विष्वक्सेन संहिता, २७'२२
३. नारदीय संहिता, १८.१-२
४. विष्वक्सेन संहिता, २७.१-२

उत्सव सामान्यत: अधोलिखित रूप में तीन तरह के होते हैं : १. नित्योत्सव, २. नैमित्तिकोत्सव तथा ३. काम्योत्सव। प्रतिसंवत्सर किया जानेवाला उत्सव नित्योत्सव कहा जाता है। भूकम्प, अग्निप्रकोप, महोत्पात, दुर्भिक्ष, राष्ट्रव्यथा, शत्रुसंकट, अनावृष्टि, आकाश से नक्षत्र-पतन, प्रतिमाहास, प्रतिमाङ्गचलन, प्रतिमा का रोदन, आसन से चलना, शशि-सूर्य-व्यत्यय, अथवा अन्य किसी प्रकार के अनिष्ट के शान्त्यर्थ किये जानेवाले उत्सवाचरण को नैमित्तिकोत्सव कहते हैं। धर्मादि चार पुरुषार्थों में से किसी की अपेक्षा कर अनुष्ठित उत्सव को काम्योत्सव कहते हैं।[१] उपर्युक्त तीन तरह के उत्सव उत्सवावधि अर्थात् उत्सवव्याप्ति-काल के आधार पर छह प्रकार के कहे गये हैं; जैसे—१. द्वादशाहोत्सव, २. नवाहोत्सव, ३. सप्ताहोत्सव, ४. पञ्चाहोत्सव, ५. त्रयाहोत्सव तथा ६. एकमाहोत्सव।[२] विष्वक्सेन-संहिता ने द्वादशाह को छोड़कर अन्य पाँच उत्सवों का उल्लेख किया है। इसने इन उत्सवों के नाम तथा फल का निर्देश भी अधोलिखित रूप में किया है :

उत्सव	नाम	फल
एकाहोत्सव	ब्राह्म	ब्रह्म वृद्धि
त्रयाहोत्सव	शैव	रोगनाशक
पञ्चाहोत्सव	ऐन्द्र	दुर्भिक्षनाशक
सप्ताहोत्सव	आर्ष	राज्यवृद्धिदायक
नवाहोत्सव	दैनिक	सर्वशान्ति-प्रदायक[३]

प्रतिमा के आधार पर भी उत्सव का भेद निर्दिष्ट है। उत्सव-बेर में किया गया उत्सव उत्तम, स्नपन-बेर में सम्पादित उत्सव मध्यम तथा नित्योत्सव-बिम्ब में सम्पादित उत्सव अधम कहा गया है। कुम्भ-विष्टर अथवा चक्र में किया गया उत्सव आभास कहा गया है।[४] पारमेश्वर ने कालावधि को आधार मानकर तरह-तरह के उत्सव-भेदों का निर्देश किया है : १. एकाह, २. त्रयाह, ३. पञ्चाह, ४. सप्ताह, ५. नवाह, ६. द्वादशाह, ७. पञ्चदशाह, ८. २१ दिनों का उत्सव। इन आठ उत्सवों को सूक्ष्मोत्सव कहा गया है। इनके अतिरिक्त अधोलिखित पाँच उत्सवों का निर्देश है। ये पाँच उत्सव स्थूल उत्सव के नाम से अभिहित हैं। ये हैं—१. २७ दिनों का उत्सव, २. मासपर्यन्त का उत्सव, ३. दो मास तक चलनेवाला उत्सव, ४. छह मास

१. (क) नारदीय संहिता, १८.३—७
(ख) अनिरुद्ध-संहिता, २०.२—१०
(ग) पारमेश्वर संहिता, १६.३—८
२. नारदीय संहिता, १८.१०-११
३. विष्वक्सेन-संहिता, २७.३—४
वही, ६-७
४. पारमेश्वर संहिता, १६.९-११

तक चलनेवाला उत्सव तथा ५. अब्दपर्यन्त चलनेवाला उत्सव। सब मिलाकर इन उत्सवों की संख्या १३ होती है।[१]

उत्सव का प्रारम्भ तीन तरह से होता है और उसी के आधार पर पूर्वोक्त एक-एक उत्सव तीन-तीन तरह के हो सकते हैं। वे हैं—१. ध्वजारोहणपूर्वक, २. देवताह्वान-पूर्वक तथा ३. अंकुरार्पणपूर्वक। ध्वजारोहणपूर्वक किया गया उत्सव राजा तथा राज्य के लिए शुभप्रद कहा गया है। देवताह्वानपूर्वक किया गया उत्सव सर्वभोग-फलदायक होता है। अंकुरार्पणपूर्वक किया गया उत्सव मोक्षप्रद होता है।[२] सामान्यतः सभी उत्सवों में ध्वजारोहण, देवताह्वान तथा अंकुरार्पण किया जाता है। फिर ये उपर्युक्त तीन प्रकार के उत्सव संशयास्पद न हों, इसके लिए पारमेश्वर संहिता ने एक-एक उत्सव का लक्षण निर्देश किया है। जैसे—१. ध्वजारोहणपूर्वक उत्सव—जहाँ उत्सवारम्भ-दिन में दिवा समय में ध्वजारोहण-सम्पादन कर रात्रि में भेरी-ताडन तथा पालिकाओं में अंकुरार्पण कर उत्सवाचरण होता है उसे ध्वजारोहणपूर्वक उत्सव कहते हैं। २. देवता-ह्वानपूर्वक उत्सव—जिस उत्सव में भेरी-ताडनपूर्वक आघोषण कर उसके पश्चात् अंकुरार्पण कर उत्सवाचरण करते हैं उसे देवताह्वानपूर्वक उत्सव कहते हैं। ३. अंकुरार्पण-पूर्वक उत्सव—जहाँ सायंकाल में अंकुरार्पण के पश्चात् ध्वजारोहण तथा उसके अनन्तर भेरी-ताडन किया जाता है और उत्सवाचरण होता है उसे अंकुरार्पणपूर्वक उत्सव कहा जाता है।[३] पारमेश्वर संहिता के अनुसार संवत्सर में तीन बार किया गया उत्सवा-चरण उत्तम, दो बार किया गया उत्सवाचरण मध्यम तथा एक बार किया जानेवाला उत्सवाचरण अधम होता है।[४]

उत्सवाचरण के लिए अधोनिर्दिष्ट काल कहे गये हैं : चैत्रादि मास, श्रवण नक्षत्र, द्वादशी या पञ्चदशी, यजमान का नक्षत्र, ग्रहण, विषुव अथवा नवमी तिथियों में उत्सवा-चरण विहित है। नगर तथा ग्राम का जन्म-नक्षत्र, प्रतिष्ठा-दिन, प्रासाद का आरम्भ नक्षत्र, राजा का जन्म-दिवस—इन सबमें तीर्थयात्रा का विधान किया गया है।[५]

नारदीय संहिता के अनुसार उत्सव ध्वजारोहणपूर्वक ही होना चाहिए। एकाहोत्सव को छोड़, अन्य उत्सवों में तीर्थयात्रा-दिन से पूर्व २१वें दिन में ध्वजारोहण होना चाहिए। एकाह, त्रिरात्र, पञ्चाह, सप्ताह, नवाह तथा द्वादशाह उत्सव-क्रम में दैविक, मानुष अथवा द्रव्य-सम्बन्धी संकट के कारण यदि २१वाँ दिन अतिक्रान्त हो गया

१. पारमेश्वर संहिता १६.२३-२४
२. (क) नारदीय संहिता, १८.७—१०
   (ख) पारमेश्वर संहिता, १६.२८—३१
   (ग) अनिरुद्ध-संहिता, २०.१६-२०
३ पारमेश्वर संहिता, १६.३१—३५
४. वही, १६.३५-३६
५. (क) नारदीय संहिता, १८.१२—१५
   (ख) विष्वक्सेन-संहिता, २७.१०-११

हो तो उत्सवारम्भ के दिन भी ध्वजारोहण किया जा सकता है। जहाँतक उत्सवक्रम में अंकुरार्पण-कारण का प्रश्न है, उसके लिए ध्वजारोहण से अर्वाक पाँचवें अथवा नौवें दिन में अंकुरार्पण का अवसर बताया गया है।[१]

ध्वजारोहण के लिए ध्वजपट-कल्पन आवश्यक है। ध्वज का मान प्रासाद के द्वार अथवा मूलबेर के समान अथवा पाँच हस्त आयत एवं चतुस्ताल विस्तारयुक्त, एक-हस्तोन्नत शिर तथा दो पाद से संयुक्त यथारुचि पताका का आयाम तथा विस्तार विहित है। ध्वज पर गरुड़ का चिह्न अंकित करते हैं। गरुड़ द्विभुज, पक्ष-विभूषित होता है। उसका उच्छ्राय मूलबेर के बाहु अथवा नाभि के अन्त तक कहा गया है। वह तीक्ष्ण दंष्ट्र बृहत्काय, नील कुंचित नासिकायुक्त तप्त काञ्चन की तरह वर्णवाला होता है। उसका कल्पन नवताल-प्रमाण से विहित है। गरुड़ वामपाद समाकुंचित, दक्षिणपाद भूतल पर स्थापित, हस्तकृताञ्जलिपुट, सौम्य तथा इषद्धासयुक्त आनन, मुकुटादि विचित्राङ्ग नाना विभूषण से विभूषित होता है। इस ध्वजपटस्थ गरुड का अधिवासनादि-सहित अक्षिमोचनादि भी किया जाता है। अक्षिमोचन का समय ध्वजारोहण-दिन से पूर्व दिन कहा गया है। अक्षिमोचन के बाद विमान के सम्मुख या दक्षिण भाग में या अन्यत्र शालितण्डुल से पीठ-कल्पन कर उसपर ध्वज को स्थापित करते हैं। वहाँ नृत्य, गेय तथा स्वस्तिवाचन से गरुड़ का तोष किया जाता है। उसके समीप ही दक्षिण भाग में कुम्भ में गरुड़ का अर्चन करते हैं। पुनः सृष्टि एवं संहार-क्रम से गरुड़ में तत्त्वों का संयोजन करते हैं। तदङ्गभूत होम किया जाता है। तदनन्तर हविष्-निवेदन का निर्देश किया गया है। उसके बाद ध्वज के पुच्छ में कौतुक-बन्धन होता है। कौतुकयुक्त गरुड़ को शय्या पर शयन कराते हैं। यह सब पताकास्थ गरुड़ के लिए किया जाता है। इस पताकास्थ गरुड़-अधिवास के साथ ही ध्वज-स्तम्भ तथा ध्वजदण्ड का भी अधिवासन किया जाता है। अनिरुद्ध-संहिता ने सामान्य रूप से मूलतः इसी प्रकार, किन्तु विस्तार के साथ अधिवास के साथ गरुड़ के अक्षिमोचन विषय का प्रतिपादन किया है।[२]

पूर्वोक्त अधिवासन के दूसरे दिन ध्वजपीठ की स्थापना कही गई है। तृतीयावरण में कल्पित ध्वजपीठ को प्रथम या द्वितीयावरण में लाते हैं, और गन्ध-तोय से उसका सम्प्रोक्षण कर देव के सम्मुख स्थापित करते हैं। स्तम्भ के उपादान-द्रव्य तथा कल्पन विषय कुछ स्थलों में अत्यन्त विस्तृत रूप से निरूपित हैं। नारदीय संहिता ने ध्वजदण्ड का विषय विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है। लक्षण-लक्षित स्तम्भ को निर्दिष्ट स्थान में ले जाकर गर्त्त में स्थापित कर बालुका से गर्त्त को पूर्ण करते हैं और उसे दृढ़ करते हैं। उस स्तम्भ में वैष्णवी यष्टि का संयोजन किया जाता है। अनन्तर पताका-सहित ध्वज का उसमें संयोजन किया जाता है। उस पताका-ध्वज-संयुक्त स्तम्भ का गुरु अलंकरण

१. नारदीय संहिता, १८.१५—२१
२. (क) नारदीय संहिता, १८.२२—३८
(ख) अनिरुद्ध-संहिता, २०.३५—६१

तथा यथाशक्ति पूजा करता है। उस अवसर पर नृत्त-गेयादि विहित हैं। पूजा के पश्चात् प्रासाद के आवरणों तथा ग्राम में भ्रमण करते हैं। पुनः देवालय में प्रवेश करते हैं। ध्वज-स्तम्भ के पीठ के समीप पुण्याह-वाचन किया जाता है। उसके बाद एक दीक्षित शूद्र को बुलाकर उसके हाथ में ध्वज देते हैं, वह शूद्र स्तम्भ पर चढ़कर उसमें ध्वज बाँधता है। ध्वजारोहण सम्पन्न कर आचार्य साधित कुम्भ के जल से ध्वज-पक्षीश का संप्रोक्षण करता और 'तार्क्ष्य' मन्त्र से पूजा करता है। स्तम्भ के मूल में पद्म-विभूषित मेखलात्रययुक्त वेदिका-कल्पन करते हैं। उस वेदिका के ऊपर परिवार-कल्पन किया जाता है। परिवार-कल्पन-क्रम इस प्रकार है—प्रथमावरण में शंख-चक्रादि की स्थापना करते हैं। द्वितीयावरण में कुमुदादि की पूजा होती है। तदनन्तर उत्सव-समाप्ति-पर्यन्त गरुड़ से वहाँ निवास के निमित्त प्रार्थना (ज्ञापन) करते हैं। भूमिगों की वृद्धि के लिए दिन में ध्वजारोहण किया जाता है। अन्तरिक्षचरों की वृद्धि के लिए रात्रि में ध्वजारोहण का विधान है। ध्वजारोहण करने के बाद उसी स्थान में एककाल, द्विकाल अथवा त्रिकाल उसका अर्चन किया जाता है।[१] पूर्वोक्त आलयावरण-भ्रमण एवं ग्राम-भ्रमण-काल में ध्वज के गिर जाने पर प्राय-श्चित्त-स्वरूप उसका प्रोक्षण तथा पुण्याह-वाचन किया जाना विहित है। ध्वजारोहण के दिन विधिवत् भगवत्-स्नपन तथा महाहविष्-निवेदन किया जाना विहित है। इस प्रकार उत्सवांगभूत ध्वजारोहण-क्रम समाप्त होता है।

ध्वजारोहण के रोज रात्रि में उत्सव में सम्मिलित होने के लिए देवताह्वान करते हैं। ध्वज के दक्षिण भाग में गोमय के द्वारा मण्डल-कल्पन करते हैं। पुनः समलंकृत मण्डल में धान्यपीठ कल्पित होता है। पीठ पर वस्त्रवेष्टित पटह स्थापित कर उसकी पूजा की जाती है। पुनः ग्राम या नगर में पारशव के द्वारा पटह-वादन किया जाता है। पटह-वादन के साथ-साथ सर्वत्र उत्सव-घोष किया जाता है। घोष का क्रम आलय में प्रदक्षिण-क्रम से होता है। यह आघोष ग्रामादि में भी किया जाता है। ग्रामादि में आघोष करने के पश्चात् पुनः आलय में प्रवेश करते हैं और गरुड़-स्थान में आघोष किया जाता है। आघोष-काल में भेरी के विविध तालों तथा स्तुतियों से विष्वक्सेन को तृप्त किया जाना विहित है। ऐसा करने से उत्सव के लिए सभी देवता आहूत होते हैं। यदि ध्वजा-रोहण उत्सव के दिन ही हो तो उसके साथ ही देवताह्वान विहित है। अनिरुद्ध-संहिता ने भेरी-ताडन तथा देवताह्वान के समय विविध ताल-मात्रादि संगीतशास्त्रीय विषय के प्रयोग का निर्देश किया है।[२] परिशिष्ट में कुछ तालों की सूची दिखाने का प्रयत्न होगा।

उत्सवाङ्गकर्म ध्वजारोहण तथा भेरी-ताडनपूर्वक देवताह्वान के पश्चात् अंकुरार्पण के विषय में कुछ विचार अपेक्षित है। उत्सवारम्भ-दिन के पूर्वाह्ण में विधिवत् देव का स्नपन

---

१. नारदीय संहिता, १८.३८—६८

२. (क) वही, १८.७३—८१

(ख) अनिरुद्ध-संहिता, २०.६२—९६

(ग) श्रीप्रश्न-संहिता, ३४.१—१५६

तथा महाहविष्-निवेदन सम्पादित कर अपराह्ण में मृदाद्युत्सव का आरम्भ होता है। इस क्रम में अत्यन्त समारोहपूर्वक पुण्योद्यान या वन में जाकर क्षितिमन्त्र से मृद्-संग्रह करते हैं। इस प्रसंग में नदी से बालुका तथा गोकुल से करीष का संग्रह भी किया जाता है। देव के समक्ष या अभिमत शुभ्रप्रदेश में पिष्ट चूर्णों के द्वारा अलंकृत कर कोष्ठक आदि बनाते हैं, उसपर शालिपीठ-कल्पन किया जाता है। पुनः उन पीठों पर पालिकाओं की स्थापना करते हैं। पालिका सामान्यतः लोहज या मृण्मय होती है। अंकुरार्पण-क्रम में उसके तीन भेद कहे गये हैं: १. पालिका, २. घटिका तथा ३. शराव। नारदीय संहिता तथा कुछ अन्य पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने इन तीनों का लक्षण-निर्देशपूर्वक स्वरूप-वर्णन किया है। पालिका वैष्णवी, घटिका ब्राह्मी तथा शराव को शैव कहा गया है। त्रिदैवत—ये तीनों यागों में विहित हैं। अथवा केवल वैष्णवी पालिका स्वीकार्य है। मङ्गलांकुर-कर्म में १६ पालिका, १६ घटिका तथा १२ शराव स्वीकार्य हैं। अनिरुद्ध तथा पारमेश्वर संहिता ने भी इस विषय को प्रायः इसी तरह प्रतिपादित किया है।[१] अंकुरार्पण के निमित्त बीज अपेक्षित होते हैं। ये बीज संख्या में अधोलिखित दस कहे गये हैं—१. व्रीहि, २. मुद्ग, ३. तिल, ४. श्याम, ५. शिम्ब, ६. निष्पाव, ७. सर्षप, ८. प्रियंगु, ९. माष तथा १०. कौलुत्थ। इन बीजों को द्वादशाक्षर मन्त्र के द्वारा पय से प्रक्षालित करते हैं। पुनः गन्धादि से उसकी पूजा की जाती है। मूलमन्त्र से पालिकाओं को पूर्ण कर उसकी पूजा की जाती है। पुनः जितन्त मन्त्र से सभी बीजों का आवाप करते हैं। हरिद्रावारि के द्वारा बीजों के सिंचन के अवसर पर द्वादशाक्षर मन्त्र का विनियोग करते हैं। इसके पश्चात् नवीन वस्त्र से पात्रों का वेष्टन कर भूतक्रूर देवताओं के लिए बलि-प्रदान विहित है। अंकुरार्पण का काल रात्रि ही विहित है; चूंकि चन्द्रमा ओषधियों का राजा है, इसलिए चन्द्र के समय रात्रि में ही अंकुरार्पण किया जाता है। मंगलांकुर की वृद्धि से विधिवत् याग की सिद्धि होती है।[२] अनिरुद्ध-संहिता के अनुसार अंकुरार्पण-प्रसंग में आवाप किये जानेवाले द्रव्य को बहुवार-उत्सवक्रम में बीज, अल्पवार-उत्सवक्रम में प्ररोहक तथा सद्यःकाल के क्रम में तण्डुल कहते हैं।[३] उत्सव के समय प्रतिरात्रि बलि-प्रदान का विधान है। तत्तत् दिनों की बलि तत्तत् देवता-विशेष के लिए प्रिय कही गई है। जैसे—

१. प्रथम रात्रबलि—सर्वभूत प्रिय,

२. द्वितीय रात्रबलि—पितरों के लिए प्रीतिकर,

---

१. (क) नारदीय संहिता, १६,१—२०
   (ख) अनिरुद्ध-संहिता, २०,१४—२७
   (ग) पारमेश्वर संहिता, १६,५६—८०

२. (क) नारदीय संहिता, १९.२१—३२
   (ख) पारमेश्वर संहिता, १६.८६—९०

३. अनिरुद्ध-संहिता, २०,२३

३. तृतीय रात्रबलि—यक्षप्रिय,
४. चतुर्थ रात्रबलि—नागप्रिय,
५. पञ्चम रात्रबलि—ब्रह्मप्रिय,
६. षष्ठ रात्रबलि—शिवप्रिय।

सप्तरात्र से आरम्भ कर सकल बलि वैष्णव अर्थात्-विष्णुप्रिय कही गई है। प्रतिदिन दी जानेवाली बलि के द्रव्यों के देवता अधोलिखित कहे गये हैं :

१. भूतक्रूरदेव—निशाचूर्ण, पलल, सलाजदधि एवं सक्तु,
२. पितर—सतिल शालि-तण्डुल,
३. यक्ष—लाजा तथा मधुबीज,
४. नाग—नारिकेल-पय, पिष्ट सक्तु
५. ब्रह्म—पाद्य अक्षत,
६. वैष्णव—यव, चरु, अपूप तथा गुलान्न,
७. वैष्णव—पायस;
८. वैष्णव—कृसर;
९. वैष्णव—शुद्धान्न,
१०. वैष्णव—मुग्दान्न,
११. वैष्णव—क्षीर, दधि, आज्य-मिश्रित शुद्धान्न,
१२. वैष्णव—शालिज गुड-समन्वित।[१]

महोत्सव-क्रम में यात्रान्त (तीर्थोत्सव-पर्यन्त) कुण्ड में नित्य ही धूमच्छेद के विना विधिहोम किया जाना विहित है। उत्सव के तत्तत् रात्रिदेवता-मन्त्र का ध्यान कर आहुति दी जाती है। होम-द्रव्य के रूप में ब्रह्मवृक्ष, समिध, पद्मादि पुष्प, धूप, मधुपर्क, शालिबीज, तिल तथा आज्य स्वीकृत हैं।

द्वादश रात्रि-उत्सव के द्वादश देवता अधोलिखित हैं :

१. प्रथम रात्रि—वराह,	५. पञ्चम रात्रि—राम,	९. नवम रात्रि—मत्स्य
२. द्वितीय रात्रि—नृसिंह,	६. षष्ठ रात्रि—कृष्ण,	१०. दशम रात्रि—कूर्म
३. तृतीय रात्रि—वामन,	७. सप्तम रात्रि—बुद्ध,	११. एकादश रात्रि—अनन्तात्मा
४. चतुर्थ रात्रि—परशुराम,	८. अष्टम रात्रि—कल्कि,	१२. द्वादश रात्रि—नारायण।[२]

पीठस्थ पालिकाओं के आगे आठो भाग में भूतादि के लिए बलि प्रदान कर बीजों का संरक्षण किया जाता है। उत्सवक्रम में आवश्यक आचार्य-संख्या का निर्देश करते हुए चार, आठ या बारह आचार्यों का होना कहा गया है। ये सभी आचारवान् गुरु के अनुयायी होंगे।[३]

१. नारदीय संहिता, १९.३३—४१
२. वही, १९.४९-५०
३. वही

महोत्सव का आरम्भ रथ, गज या शिविका आदि के अलंकारपूर्वक किया जाता है। इनके अभाव में इच्छानुसार वाहन की गरुडात्म रूप से पूजा करते हैं। पुनः पूजित वाहन पर प्रतिसरान्वित अर्घ्यपाद्यादि से आराधित उत्सवार्चा या बलिबिम्ब अथवा कर्ता की इच्छा के अनुसार कर्मार्चारूप देव-प्रतिमा को स्थापित करते हैं। उसके बाद शंख, दुन्दुभि आदि के घोष, जयनाद, स्तुति तथा गीत-वाद्यादि के साथ महान् समारोहपूर्वक वाहन द्वारा प्रासाद की प्रदक्षिणा की जाती है। शिविका-वहन ब्राह्मणों के द्वारा होना विहित है। भ्रमणकाल में बलि देनेवाला देव के आगे दूर चलता है। समलंकृत ग्राम या नगर का प्रदक्षिणक्रम से परिभ्रमण कर आठ दिशाओं में बलि-प्रदान करते हुए ग्राम के मध्य उत्सव की समाप्ति होती है। इस प्रकार ग्राम तथा प्रासाद का भ्रमण कर भगवदाराधनानन्तर बेर को वाहन से अवतरित करते हैं। पुनः प्रासाद में केवल पुष्प से उनकी आराधना की जाती है। तदनन्तर मूलमन्त्र के द्वारा प्रतिमास्थ शक्ति को मूलबेर में आरोपित किया जाता है।[१]

उत्सवक्रम में कर्मार्चा यदि उत्सवार्चा की तरह प्रयुक्त हो तो रात्रि तथा दिन में एक ही बार उत्सवाचरण विहित है। यदि उत्सव में बलि-बिम्ब प्रयुक्त हो तो दोनों समय इच्छानुसार उत्सव किया जाना चाहिए। यथाभिमतकाल तथा यथाभिमत वीथि में उत्सवार्चा से एक बार नित्य उत्सव करना अभिमत है। उत्सवार्चा के अभाव में कर्म-बिम्ब से भी उत्सवाचरण विहित है। निशोत्सव के अन्त में देव का स्नपन निषिद्ध है। उत्सव के अवसर पर स्नपन केवल दिन में ही किया जाना चाहिए।[२]

महोत्सव के समय नित्याराधन में भी कुछ विशेषता कही गई है। सामान्य दिनों की अपेक्षा महोत्सव के दिनों में द्विगुणित भोग विहित है। नित्य ही ब्राह्मणों एवं दीक्षितों को भोजन कराने का विधान है। प्रतिदिन प्रदक्षिण-क्रम में समारोहपूर्वक भ्रमण अपेक्षित कहा गया है। दिन में उत्सव के बाद स्नानादि के द्वारा देव का आराधन किया जाता है। सहस्रधारा से मूलमन्त्र के द्वारा स्नपन विहित है। उत्सव-प्रसंग में बहुविध उपचारों के द्वारा राजोपचार से भगवदाराधन का विधान किया गया है।[३]

महोत्सव का अन्तिम अंग तीर्थोत्सव होता है। तीर्थयात्रा से पूर्वदिन रात्रि में देव को प्रतिसर बाँधते हैं। नारदीय संहिता ने तीर्थयात्रा के लिए लक्षण-निर्देशपूर्वक पृथक् प्रतिमा का निर्देश किया है। यह अल्प विग्रह कहा गया है। उसी विग्रह के साथ तीर्थयात्रा विहित है। तीर्थयात्रा-बिम्ब के अभाव में नित्य पूजा के लिए विहित कौतुक-बेर, उसके अभाव में बलिबिम्ब भी विकल्प के रूप में स्वीकृत है। प्रतिसर-बन्धन के पूर्व सायंकाल परिभ्रमण कर बलिप्रदान के बाद आलय-प्रवेश कर आचार्य देव के समक्ष तीर्थयात्रार्थ विज्ञापन करते हुए प्रतिसर-बन्धन की अनुज्ञा माँगता है।[४]

---

१. नारदीय संहिता, १९.५०—७४
२. नारदीय संहिता, १९.७५—७९
३. नारदीय संहिता, १९.७९—८७
४. नारदीय संहिता, १९.८८—९३

प्रासाद के अन्दर धान्य-वेदिका बनाकर उसमें अलंकृत यात्राबिम्ब को स्थापित करते हैं। विधि-विधानपूर्वक क्षौमसूत्रयुक्त उर्णामय प्रतिसर भगवान् के दक्षिण कर में 'जितन्त मन्त्र' से बाँधते हैं। दीपादि प्रज्वलन-सहित रात्रिशेष यापित होता है। उसके पश्चात् तीर्थयात्रा अर्थात् तीर्थोत्सव का क्रम आता है। प्रातः आचार्य स्नानादि क्रिया सम्पादित कर पूर्वाह्न में उत्सवाचरण के पश्चात् देवालय में देव का स्नपन आदि सम्पादित करता है। तदनन्तर भगवान् के सामने तीर्थयात्रा के लिए विज्ञान करता है। पूजाकाल की तरह तीर्थबिम्ब में भगवच्छक्ति का आवाहन कर आलय के समक्ष अर्द्धमण्डप में वेदी पर बिम्ब की स्थापना करता है। उसके पश्चात् पुण्याहवाचन एवं अर्घ्यपाद्यादि समर्पणपूर्वक घृतारोपण किया जाता है। घृतारोपण के अनन्तर भगवद-लंकरण तथा केवल पुष्प से भगवदर्चन या आराधन का अवसर आता है। भगवदाराधन के पश्चात् मूलमन्त्र के द्वारा मूलबेर से शक्ति का आरोपण कर तत्तत् स्नपन-द्रव्यों को विहित स्थानों में स्थापित करते हैं और तत्तत् मन्त्रों के द्वारा स्थापित द्रव्यों से भगवान् का स्नपनपूर्वक आराधन किया जाता है। इस आराधनक्रम में रजनी-चूर्ण (हरिद्रा-चूर्ण) प्रतिमा के शिर पर रखकर प्रतिमा का परिमार्जन करते हैं। इस रजनी-चूर्ण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया है। कहते हैं कि इस रजनी-चूर्ण के धारण से गंगास्नान के समान फल प्राप्त होता है। देहगत सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद परमान्न-निवेदन किया जाता है।[1]

इस प्रकार उक्त आराधनादि के बाद भगवद्-बिम्ब को वहन करने के लिए सन्नद्ध रथ या कुञ्जर (यात्रा-वाहन) के समीप लाया जाता है। इस अवसर पर अनेक वाद्यादि के साथ महान् समारोहपूर्वक ध्वज, पताका, भेरी, पटह आदि के साथ शुभ मुहूर्त्त में गुरु आठ अथवा चार शिष्यों के साथ प्रदक्षिणा कर देव को प्रणाम करता है और वस्त्रालंकरणादि से विभूषित प्रतिमा को स्वयं दक्षिण हाथ से लेकर शिष्य के सिर पर रखता है। घोष के साथ बाहर निर्गमन कर शिष्यों से परिवृत्त गुरु छत्र-चामरादिविभूषित होकर कुंजर या रथ के समीप जाता है और गरुड की तरह उस वाहन-विशेष का ध्यान करता है, तदनन्तर उसपर आरूढ होता है। इस अवसर पर गुरु तथा शिष्य सभी नववस्त्रधारी होते हैं। जब समूह से परिवृत्त वे सभी आलया-वरण में प्रदक्षिण-क्रम से भ्रमण कर तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान करते हैं। तीर्थयात्रा योजन-परिमिति की दूरी तक अनुमत है, उससे अधिक नहीं। तीर्थयात्रा-क्रम में अस्पृश्यादि दोष नहीं होता। आचार्य सबकी समृद्धि के लिए आशीर्वाद देता है। कहते हैं कि इस अवसर पर दिया गया आशीर्वाद अवश्य फलदायी होता है। तीर्थ-स्थल में पहुँचकर मूर्त्ति को वाहन से नीचे उतारते हैं और वहाँ तीर्थों का आवाहन होता है। पुनः परमेष्ठी मन्त्र से देव का निमज्जन करते हैं और पञ्चोपनिषद्-मन्त्र से देव का सम्प्रोक्षण किया जाता है। तदनन्तर देव को आचमन समर्पित करते हैं

---

१. नारदीय संहिता, १९.९४—१२६

और वाहन के द्वारा उसी दिन तीर्थस्थान से लौट आते हैं। रात्रिकाल में तीर्थयात्रा निषिद्ध है। देवागार का परिभ्रमण कर बड़े जनसमूह के द्वारा संसेवित देव को आलय में लाकर उद्वासित किया जाता है।[1]

तीर्थयात्रा के पश्चात् पुष्पयाग का अवसर आता है। तीर्थयात्रा के दिन रात में पुष्पयाग किया जाता है। आलय के प्रथमावरण, द्वितीयावरण अथवा तृतीयावरण में लक्षणयुक्त मण्डप पर चक्राब्ज-मण्डल बनाते हैं। यह मण्डल केवल पुष्पों से कल्पित होता है। मण्डल-कल्पन के निमित्त तत्तद्वर्णयुक्त पुष्पों का निर्देश किया गया है और उन्हीं वर्णवाले पुष्पों के द्वारा मण्डल-विधान का निर्देश है। अलंकृत मण्डल में उत्सवार्चा या कर्मार्चा रखकर स्नपनपूर्वक उसका आराधन होता है। पुनः मण्डल में पद्म के मध्य प्रतिमा को स्थापित कर आराधन का विधान है। वहाँ प्रथमावरण में वासुदेवादि मूर्त्तियों तथा शान्त्यादि देवियों, द्वितीयावरण में मुद्रा-शंखादि देव, तृतीयावरण में लोकपालादि एवं ऐशान्य कोण में विष्वक्सेन का आराधन होता है। यहाँ जल से देव का स्नपन नहीं किया जाता। यह कार्य मानस ही सम्पादित होता है। इस आराधन-प्रसंग में प्रभूत गन्ध-पुष्पादि से भगवदाराधन सम्पन्न कर विविध व्यञ्जनयुक्त हविष् का निवेदन विहित है। तदनन्तर देव के दक्षिण या वह्नियागस्थ कुण्ड या स्थण्डिल में सर्षप के द्वारा अष्टोत्तर शत या अष्टोत्तर सहस्र होम सम्पादित करते हैं। पुष्पयाग में पुष्पादि का होम सर्वथा निषिद्ध है। कुमुदादि के लिए आठों दिशाओं में बलि-प्रदान किया जाता है। उसके बाद आचार्य की पूजा तथा दक्षिणा-प्रदान का अवसर आता है। इस अवसर पर सौ सुवर्ण उत्तम दक्षिणा कही गई है। इस तरह यजमान गुरु-सहित वैष्णवों की पूजा कर अत्यन्त पवित्र भाव से देव के आगे आत्मनिवेदन करता है। इस तरह देवाराधन कर मण्डल से देव को उद्धृत कर प्रासादस्थ मूलबिम्ब में अधिरोपित करता है।[2]

पुष्पयाग के दूसरे दिन रात्रि में गुरु साधकों के साथ उत्सवार्चा का स्नपन कराकर महाहविष्-निवेदन कर गरुड की पूजा करता है और उसके पश्चात्-गरुड-मन्त्र से ध्वजस्थ गरुड को मूलगरुड में उद्वासित किया जाता है। महोत्सव में विनियुक्त द्रव्य गुरु स्वयं स्वीकार करता है।[3]

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त अनेक अन्य उत्सवों का विधिवत् वर्णनपूर्वक विधान किया गया है। जैसे नारदीय संहिता तथा कुछ अन्य संहिताओं में कृष्णजयन्ती-व्रत तथा उत्सव का विधान वर्णित है।[4] इसी तरह कार्त्तिकोत्सवाचरण, मार्गशीर्ष-एकादशी-पूजाविधि, पौषमास एकादशीव्रताचरण, माघ मास में तिल-पद्मदान-विधि, फाल्गुन पञ्चमी-उत्सव, चैत्रमासाराधन, ज्येष्ठ-आषाढ़ मास पूजा-प्रकार, श्रावण

---

१. नारदीय संहिता, १९.१२७—१४६
२. वही, १९.१४६—१७१
३. वही, १९.१७१—१७६
४. (क) पाद्मसंहिता, च० पा० १४
   (ख) नारदीय संहिता, २४.८—१२

मास में पवित्रारोपण प्रकार आदि अनेक विशिष्ट उत्सवों का विधान किया गया है।[१] विश्वामित्र-संहिता, पाद्मसंहिता तथा कपिंजल-संहिता ने स्वापशयनोत्थान-उत्सव का निर्देश किया है।[२] पारमेश्वर संहिता ने कृत्तिकादीपोत्सव का वर्णन किया है। अनिरुद्ध-संहिता में भी कृत्तिकादीपोत्सव का वर्णन देखते हैं।[३] विश्वामित्र-संहिता ने कार्त्तिक पौर्णमासी को विष्णु-पूजन-विधि का अलग से निर्देश किया है।[४] अनिरुद्ध तथा पारमेश्वर संहिता ने आग्रहायणोत्सव-विधि का वर्णन[५] किया है। अनिरुद्ध-संहिता में मासोत्सव-विधि का विधान देखा जा सकता है।[६] पाद्मसंहिता ने वसन्त-जगक्रीडोत्सव का वर्णन किया है। यहाँ रामनवमी-उत्सव एवं कामोत्सव का वर्णन भी किया गया है।[७]

श्रीप्रश्न-संहिता में विविध उत्सवों का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ वर्णित उत्सवों में अधोलिखित उत्सव मुख्य रूप से देखे जा सकते हैं, जो प्रायः १८-१९ अध्यायों में साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं। श्रीप्रश्न-संहिता ने तीसवें अध्याय से आरम्भ कर सैंतीसवें अध्याय तक महोत्सव का वर्णन किया है। इन आठ अध्यायों में महोत्सव के अङ्गभूत कृत्य जैसे अंकुरार्पण, ध्वजारोहण आदि विषय सविधि निर्दिष्ट हैं। उस महोत्सव के वर्णन के पश्चात् तत्तद् विशिष्ट उत्सवों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। अध्यायानुक्रम से यहाँ निर्दिष्ट उत्सव इस प्रकार है :

अध्याय-सं०	उत्सव का नाम	अध्याय-सं०	उत्सव का नाम
तीसवाँ अध्याय	महोत्सव-विधि	चालीसवाँ अध्याय	ज्येष्ठस्नपनोत्सव
इकतीसवाँ अध्याय	,,	इकतालीसवाँ ,,	कृष्णजन्मोत्सव
बत्तीसवाँ अध्याय	,,	बयालीसवाँ ,,	गंगोत्पत्युत्सव
तैंतीसवाँ अध्याय	,,	तैंतालीसवाँ ,,	नरक चतुर्दश्युत्सव
चौंतीसवाँ अध्याय	,,	चौवालीसवाँ ,,	अग्निदीपोत्सव
पैंतीसवाँ अध्याय	,,	पैंतालीसवाँ ,,	डोलोत्सव
छत्तीसवाँ अध्याय	उत्सव होमाद्यवभृथान्तहोम	छियालीसवाँ ,,	मोक्षोत्सव
सैंतीसवाँ अध्याय	महोत्सव-विधि	सैंतालीसवाँ ,,	पञ्चपर्वोत्सव
अड़तीसवाँ अध्याय	वसन्तोत्सव-विधि	अड़तालीसवाँ ,,	कल्हारोत्सव
उनचालीसवाँ अ०	प्लवोत्सव-विधि		

---

१. नारदीय संहिता, २४.४५—१०६
२. विश्वामित्र-संहिता, १६
पाद्मसंहिता, च० पा० १४
कपिञ्जल-संहिता, २८; १२९-३०
३. पारमेश्वर संहिता, १७.६१२—६१३
अनिरुद्ध-संहिता, २५'२८—४९
४. विश्वामित्र-संहिता, १६.११३—११७
५. अनिरुद्ध-संहिता, २७
पारमेश्वर संहिता, १७
६. अनिरुद्ध-संहिता, २३
७. पाद्मसंहिता, च० पा० १४ तथा १५ अध्याय

इस प्रकार यहाँ प्रायः अन्य सभी पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में वर्णित उत्सव विषय की अपेक्षा विस्तार के साथ उपरिनिर्दिष्ट उत्सवों का वर्णन देखते हैं।[१]

विविध पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित एवं शक्ति-भावना-प्रदर्शन तथा उपासना के लिए प्रदर्शित इन विविध उत्सवों का क्रम या स्वरूप इस आगम-साहित्य का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय कहा जा सकता है। आज भी दक्षिण-भारत के देव-मन्दिरों में ये उत्सव अत्यन्त उत्साह एवं समारोहपूर्वक सम्पादित होते हैं। ब्रह्मोत्सव आदि अवसरों के समय लाखों की संख्या में भक्तजन भक्ति-भाव से प्ररित होकर आध्यात्मिक उन्नति से अनुप्राणित होते हैं। वस्तुतः ये उत्सव समाज की आध्यात्मिक उन्नति के स्रोत कहे जा सकते हैं।

---

१. श्रीप्रश्न संहिता, अध्याय, ३०—४८

तृतीय अध्याय

स्नपन

अनेक आगमिक तथा श्रौत कर्मों में स्नपन अर्थात् अभिषेक एक प्रमुख क्रिया के रूप में अनुष्ठित होता है। कहा गया है कि स्नपन के ज्ञान से नित्य तथा नैमित्तिक क्रियाएँ सफल होती हैं।[1] पाञ्चरात्र-परम्परा में अनेक अवसरों में स्नपन का विधान देखते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम स्नपन विषय के विवेचन-क्रम में स्नपन का प्रयोजन, काल, विविध भेद, स्नपन-द्रव्य, द्रव्याधिदेव, मन्त्र-स्नपन, क्रिया आदि विषयों का विवरण देखने का प्रयत्न करेंगे।

जहाँ तक स्नपन के निमित्त का प्रश्न है, परमसंहिता के अनुसार स्नपन सर्वशान्तिदायक तथा सर्वपाप-प्रणाशक है।[2] जगत्-संप्रीणन के लिए भी स्नपन का विधान है।[3] प्रतिमा-निर्माण के अनन्तर प्रतिष्ठा से पूर्व कर्मशाला में हुए दोषों की शान्ति के लिए स्नपन आवश्यक है।[4] पाञ्चरात्रागम की अनेक संहिताओं ने स्नपन के उद्देश्य का निर्देश किया है। स्नपन को अवभृथ स्नान की संज्ञा दी गई है। यह अवभृथ स्नान सिद्धि तथा मुक्ति का साधक है।[5] स्नपन के अधोलिखित अवसर बताये गये हैं—स्थापना के चतुर्थ दिन द्वादशी तिथि में, विषुव दिन में, यात्रा के अन्त में, चन्द्र-सूर्य के राहुयोग होने पर, दुर्निमित्त के उदय होने पर, जनपद के व्याधित होने पर, दुर्भिक्ष प्राप्त होने पर, शत्रु से पीड़ा प्राप्त होने पर, उत्सव के समय, अर्थागम होने पर, चिरकाल पूजा-लोप होने पर, चोर, पातकी, चाण्डाल अथवा कुत्सित वस्तु के स्पर्श होने पर, प्रासाद में मरण होने पर तथा अन्य अवसरों पर भी स्नपन का विधान किया गया है।[6] नारदीय संहिता ने मध्यमार्ग अपनाकर ही स्नपन का अनतिदीर्घ वर्णन किया है। यहाँ सामान्य रूप से उत्तम, मध्यम तथा अधम—ये तीन प्रकार के स्नपन कहे गये हैं। इन तीनों में एक-एक स्नपन का निमित्त-निर्देश भी किया गया है। सर्वप्रथम अधम स्नपन के निमित्त निर्दिष्ट हैं। इसके अनुसार किसी प्रकार के महोत्पात होने पर, राष्ट्र के व्याधिग्रस्त होने पर, देवालय में रक्तस्त्री देखे जाने पर, भगवदालय में वल्मीक उत्पन्न

---

१. (i) ईश्वर-संहिता, १५.१
   (ii) पारमेश्वर संहिता, १४.१
२. परमसंहिता, २१.४२
३. श्रीप्रश्न-संहिता, २७.२४
४. जयाख्य-संहिता, पट० २०.१४८
५. वही, पट० २०.३६३
६. (i) परमसंहिता, २१.३७-४१
   (ii) नारदीय संहिता, २०.८८—९४

होने पर, मक्षिकावास होने पर, खद्योत, पक्षी या खर के द्वारा देव का स्पर्श होने पर, अन्त्यजों के सामीप्य होने से, बाहर मृतदेह की अवस्थिति होने पर, आलय के प्राङ्गण में सूतिका, रजस्वला, सुरापायी, शव या महापातकी की उपस्थिति होने पर, अथवा आलय में कहीं भी इन सबकी उपस्थिति से उत्पन्न दोष-नाश के लिए अधम स्नपन कराना आवश्यक कहा गया है।[१] अधम स्नपन-निमित्त-निर्देश के पश्चात् नारदीय संहिता ने मध्यम स्नपन के निमित्तों का निर्देश अधोलिखित रूप में किया है—शत्रुसेना के समीप होने पर, मध्यम स्नपन करने से जय प्राप्त होती है। साथ-साथ यह मध्यम स्नपन सर्वकामप्रद तथा सर्ववाञ्छितदायक कहा गया है।[२] नारदीय संहिता ने उत्तम स्नपन के निमित्त सामान्यतः वहीं बताये हैं, जो परमसंहिता में कहे गये हैं। श्रीप्रश्न-संहिता ने अपने ढंग से अधोलिखित रूप में स्नपन के भेदों का निर्देश किया है :[३]

१. मुख्य स्नपन—प्रतिष्ठाक्रम में, उत्सव में, प्रायश्चित्तादि के अवसर पर तथा संक्रान्त्यादि विशिष्ट काल में विभव तथा इच्छा के अनुसार चतुस्स्थानार्चन कर भगवद्-स्नपन को मुख्य स्नपन कहते हैं।

२. मध्यम स्नपन—हवन के विना चक्राब्ज अथवा भद्रक मण्डल में भगवदाराधन-पूर्वक किया गया स्नपन मध्यम स्नपन होता है।

३. अधम स्नपन-मण्डल-पूजा के विना किया गया स्नपन अधम स्नपन है।[३]

स्नपन के अवसर पर शास्त्रज्ञ गुरु के साथ चार, छह, आठ या बारह आचार्य का वरण किया जाता है। कार्याधिक्य होने पर अनेक प्रवीणों का वरण भी अनुमत है। बहुत आचार्यों के वरण के अवसर में उनकी संख्या नियत नहीं होती। योग्य आचार्यों के अलाभ में उसी प्रकार के चार, तीन या एक ब्राह्मण का वरण किया जाना विहित है। साधकों की संख्या चार, छह, आठ, बारह अथवा सोलह होती है। वे सर्वथा शास्त्रप्रवीण तथा व्यवहार में पूर्ण कुशल होते हैं। इस प्रकार पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय की नित्य तथा नैमित्तिक क्रियाओं में आचार्य तथा साधकों की संख्या नियत कही गई है। संख्याहीन अर्थात् विहित संख्या से हीन आचार्यादि का स्वीकार निषिद्ध है। मोहवश इसके उल्लंघन से राजा तथा राष्ट्र दोनों के लिए भय उत्पन्न होता है।[४] नारदीय संहिता के अनुसार स्नपन के लिए एक या अनेक देशिकों का वरण विहित है। ये देशिक नववस्त्र धारण किये हुए अनेकालङ्करण-विभूषित होंगे।[५]

स्नपन-क्रिया-सम्पादन के लिए मण्डप-कल्पन का विधान देखते हैं। उसी मण्डप में विधिवत् देव का स्नपन सम्पन्न होता है। यह मण्डप-कल्पन एकबेर-प्रतिष्ठा-विधि से

---

१. नारदीय संहिता, २०.६६—७०
२. वही, २०.७७—७६
३. श्रीप्रश्न-संहिता, २७.१३१—१३४
४. (i) ईश्वर-संहिता, १५.७—१२
   (ii) पारमेश्वर संहिता, १४.७—१२
५. (i) नारदीय संहिता, २०.९७—२८
   (ii) ईश्वर-संहिता, १५.२४-२५

अतिरिक्त प्रतिष्ठा-विधि से की गई प्रतिष्ठा-विधिवाले आलय के लिए कहा गया है। इस प्रसंग में स्नपन के लिए स्वीकृत तथा निर्दिष्ट बेरों की चर्चा नितान्त अपेक्षित है। नारदीय संहिता ने स्नपन के लिए ग्राह्य बेरों का स्पष्ट निर्देश किया है। स्नपन सर्वदा स्नपन-बेर में किया जाना चाहिए। स्नपन-बेर के अभाव में उत्सव-बेर में स्नपन किया जाना चाहिए। यदि उत्सव-बेर का भी अभाव हो तो बलिबेर अथवा कर्मबेर में प्रतिसर-बन्धन तथा स्नपन विहित हैं।[१] पर जहाँ 'एकबेर'-विधि से प्रतिष्ठा की गई होती है, अर्थात् मूलबेर के अतिरिक्त स्नपनादि अन्य बेरों का अभाव होता है, वहाँ मण्डप-कल्पन की आवश्यकता नहीं होती है; क्योंकि एकबेर-विधि में स्नपनादि सारी क्रियाएँ मूलबेर में ही होती हैं। स्नपन-मण्डप के लिए अधोलिखित स्थान निर्दिष्ट हैं: आलय के अग्र-भाग, आग्नेयकोण, दक्षिणभाग, नैर्ऋतकोण, पश्चिम दिशा, वायव्यकोण, उत्तरदिशा या ऐशान्य कोण में स्नपन-मण्डप कल्पित होना चाहिए। यह मण्डप आराधक की इच्छा के अनुसार प्रथमावरण, द्वितीयावरण या चतुर्थावरण में कल्पित हो सकता है। स्नपन-मण्डप सर्वत्र पूर्वाभिमुख, चार द्वारों से युक्त होता है। सर्वत्र मण्डप के पश्चिम भाग में वेदिका का स्थान कहा गया है।[२] स्नपनपीठ का मानादि यागपीठ के मानादि के समान होता है।[३] स्नपन-मण्डप में स्नानपीठ-कल्पन के अवसर पर विधिवत् सूत्र-पातादि के द्वारा स्नपन-मण्डल का कल्पन करते हैं।[४] ईश्वरसंहिता ने सौविध्य के अनुसार मण्डप-कल्पन के विना भी वेदी-कल्पन कर उसपर कुम्भादि का अधिवासन कर देव का स्थापन तथा स्नपन विहित बताया है।[५]

अन्य पाञ्चरात्रिक क्रियाओं की तरह स्नपन क्रम में भी अंकुरार्पण का विधान है। यह अंकुरार्पण स्नपन से पूर्व सातवें, पाँचवें अथवा तीसरे दिन किया जाना चाहिए। स्नपन के दिन भी अंकुरार्पण विहित है। स्नपनक्रम में यदि सद्यः अंकुरार्पण किया जाता है, तो उस स्थिति में तण्डुल, पुष्प अथवा अंकुरयुक्त बीज से अंकुरार्पण करते हैं। अंकुरार्पण के लिए पालिकाओं की संख्या सोलह कही गई है। न्यूनातिन्यून आठ पालिकाओं में अंकुरार्पण किया जाना विहित है। इसके लिए शुभबीज अथवा मुद्ग ग्राह्य है।[६]

---

१. नारदीय संहिता, २०.२०-२१
२. (i) श्रीप्रश्न-संहिता, २७.३—५
(ii) नारदीय संहिता, २०.३—६
(iii) ईश्वर-संहिता, १५.३—५; १५-१६
(iv) पारमेश्वर संहिता, १४.४-५, १६
३. ईश्वर-संहिता, १५.५
४. ईश्वर-संहिता, १५.१३-१४
५. वही, १५.५—७
६. (i) नारदीय संहिता, २०.९—१२
(ii) ईश्वर-संहिता, १५.१७-१८
(iii) पारमेश्वर संहिता, १४.१७-१८

अंकुरार्पण के बाद स्नपन निमित्तक प्रतिसरबन्ध अथवा कौतुक-बन्धन का विधान कुम्भाधिवास दिन की रात्रि में कहा है। अर्थात् यदि पूर्व दिन में कुम्भों का अधिवास करते हैं तो पूर्व रात्रि में कौतुक-बन्धन का अवसर कहा गया है। पूर्व दिन में यदि विघ्न हो गया हो तो स्नपन के दिन ही कौतुक-बन्धन किया जाता है। यदि स्नपन के दिन ही कुम्भाधिवासन हो तो उसी दिन कौतुक-बन्धन का समय विहित है।[1]

स्नपन के लिए अपेक्षित कुम्भ के विचारक्रम में कुम्भोपादान-द्रव्य की भी चर्चा की गई है। परमसंहिता ने स्नपन-कुम्भ के लिए सुवर्ण, रजत, ताम्र या मृत् उपादान-द्रव्यों का निर्देश किया है।[2] कुम्भोपादान-द्रव्य के विषय में ईश्वर-संहिता ने प्रायः उपर्युक्त द्रव्यों का ही विध न करते हुए कुम्भ के विषय में कुछ सामान्य बातों का निर्देश किया है। इसके अनुसार कुम्भ, श्लक्ष्ण, असुषिर, चतुरंगुलोन्नत तथा मध्य विस्तार-युक्त होना चाहिए। उसका गल तीन अंगुल उन्नत होगा। विस्तार षडंगुल होगा। मुख का मान त्र्यंगुल होता है। कुम्भ की तीन मेखलाएँ होती हैं। ये मेखलाएँ तीन अंगुल की होती हैं। अनुकल्प में मृत् को कुम्भ का उपादान-द्रव्य स्वीकारा गया है। मृत् दो बार पकाया गया नहीं होना चाहिए। मृत्-कुम्भ सुपक्व, एकवर्णयुक्त तथा सुस्वर होना चाहिए।[3] सामान्य रूप से स्नपन-पात्र का निर्देश करते हुए कहा गया है कि स्नपन-पात्र लोहज, दारुज या मृण्मय हो सकता है।[4] नारदीय संहिता ने लोहज या मृण्मय स्नपन-कुम्भ का विधान किया है। एक श्लोक में ही यहाँ कुम्भ के उपादान-द्रव्य तथा आकार का वर्णन पूर्ण कर दिया गया है। इसके अनुसार कुम्भ चौबीस अंगुल उन्नत, छह अंगुल विस्तृत तथा त्र्यंगुल मुखमान-युक्त होना चाहिए।[5] पारमेश्वर संहिता ने भी प्रायः इसको इसी प्रकार स्वीकारा है।[6]

स्नपन के लिए स्वीकृत कुम्भों का अधिवास किया जाता है। स्नपन-वेदी से पश्चिम दिशा में कुम्भाधिवास के लिए स्थान निर्दिष्ट है। अधिवास-स्थल में प्राक् अग्र अथवा उदग्र रूप में कुशों का आस्तरण करते हैं। ओंकार द्वारा कुम्भों को कुशास्तरण पर स्थापित करते हैं। तदनन्तर विधिवत् कुम्भों का अर्चन तथा तदङ्गभूत होमादि सम्पन्न होते हैं। नारदीय संहिता ने इस प्रसंग में पृथक्-पृथक् मन्त्रों का निर्देश किया है।[7]

---

१. (i) नारदीय संहिता, २०.१३; २३-२४
(ii) ईश्वर-संहिता, १५.१८—२०
(iii) पारमेश्वर संहिता, १४.१८—२०
२. परमसंहिता, २१.५
३. ईश्वर-संहिता, १५.४४—५२
४. पारमेश्वर संहिता, १४.३४
ईश्वर-संहिता, १५.३४
५. नारदीय संहिता, २०.३५
६. पारमेश्वर संहिता, १४.४४—४६
७. (i) नारदीय संहिता, २०.३७—४४
(ii) ईश्वर-संहिता, १५.५३—६१
(iii) पारमेश्वर संहिता, १४.५३—५९

स्नपन के क्रम में अधिवासित कुम्भों को स्थापित करते हैं तथा उनमें तत्तत् स्नपन-द्रव्यों का प्रक्षेप करते हैं। स्नपन के लिए स्वीकृत कलश संख्या तथा उनमें प्रक्षिप्त तत्तद्वस्तुओं (स्नपनद्रव्यों) के आधार पर स्नपन के अनेक भेद कहे गये हैं। स्नपन के ये विविध भेद पाञ्चरात्रागम के अनेक संहिता-ग्रन्थों में वर्णित हैं। पारमेश्वर संहिता ने स्नपन के अधोलिखित भेद बताये हैं। सर्वप्रथम स्नपन दो प्रकार का कहा गया है: १. परस्नपन तथा २. अपरस्नपन। पुनः परस्नपन के दस भेद होते हैं: १. प्रधान स्नपन, २. परस्नपन, ३. परसूक्ष्मस्नपन, ४. परस्थूलस्नपन ५. सूक्ष्म परस्नपन, ६. सूक्ष्म-सूक्ष्मस्नपन, ७. सूक्ष्मस्थूलस्नपन. ८. स्थूल परस्नपन, ९. स्थूल सूक्ष्म स्नपन तथा १०. स्थूल-स्थूल स्नपन।[१] ईश्वर-संहिता ने उपर्युक्त स्नपनों में से छह स्नपनों का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। इन छह के स्नपन-द्रव्य भी अच्छी तरह निर्दिष्ट हैं। इसके अनुसार १. प्रधान स्नपन सबका कारणभूत स्नपन है। २. परस्नपन का निर्देश अधोलिखित द्रव्यों के साथ देखते हैं: १. अम्बु, २. पञ्चगव्य, ३. क्षीर, ४. दधि, ५. घृत, ६. मधु, ७. सर्वौषधिजल, ८. बीजाम्बु, ९. फलोदक, १०. गन्धोदक, ११. हेमोदक तथा १२. रत्नोदक। यहाँ बारह स्नपन-द्रव्यों के निर्देश के द्वारा इस स्नपन को द्वादश कलश-स्नपन कह सकते हैं। इसके लिए पक्षान्तर का विधान भी है। यदि उपर्युक्त द्रव्य उपलब्ध न हों तो केवल जल से ही द्वादश घटों को पूर्ण कर स्नपन किया जाना चाहिए। इस स्नपन को परम स्नपन कहा गया है।

परसूक्ष्मस्नपन में भी १२ घटों में स्थापित अधोलिखित द्रव्यों से स्नपन का विधान है: १. पञ्चगव्य, २. दधि, ३. क्षीर, ४. घृत, ५. मधु, ६. ईक्षुवारि, ७. सर्वौषधिजल, ८. गन्धोदक, ९. रत्नोदक, १०. फलोदक, ११. पुष्पोदक तथा १२. शुद्धोदक। यहाँ भी पूर्वोक्त की तरह पक्षान्तर में केवल जल से ही द्वादश कलशों को पूर्ण कर उसीसे स्नपन का निर्देश है। परस्थूल स्नपन में नौ कलशों में अधोलिखित स्नपन-द्रव्य स्थापित होते हैं: १. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचाम, ४. सर्वौषधिजल, ५. दधि, ६. क्षीर, ७. मधु, ८. घृत तथा ९. शुद्धोदक। सूक्ष्म परस्नपन २५ कलशों से सम्पादित होनेवाला स्नपन है। क्षेत्र का परस्पर पाँच वार विभाग करने पर २५ कोष्ठ बनते हैं। उनमें बाहर के कोष्ठों में पूर्व से प्रारम्भ कर १६ कोष्ठों में क्रमशः १. क्षीर, २. दधि, ३. घृत, ४. मधु, ५. ईक्षु, ६. धातृफलवारि, ७. लोध्रतोय, ८. रक्तचन्दनतोय, ९. रजनी-नीर, १०. ग्रन्थि-जल, ११. पल्लव-जल, १२. तगरोदक, १३. प्रियंगुवारि, १४. मांसीजल, १५. सिद्धार्थोदक तथा १६. सर्वौषधिजलयुक्त घटों का स्थापन होता है। अन्दर के आठ कोष्ठों में पूर्व से प्रारम्भ कर १७. पत्रोदक, १८. पुष्पतोय, १९. फलोदक, २०. बीजोदक, २१. गन्धोदक, २२. हेमोदक, २३. रत्नोदक, २४. पुण्यसरित्तोय तथा २५. मध्यकोष्ठक में शुद्ध तोय-स्थान का विधान है। जिस क्रम से यहाँ इन स्नपन-द्रव्यों के न्यास का निर्देश है, उसी क्रम से उन-उन द्रव्यों

१. पारमेश्वर संहिता, १४.२८—३१

को उठाकर उनसे भगवत्-स्नपन का भी विधान है। यही २५ कोष्ठों के सूक्ष्म पर-स्नपन का स्वरूप है। सूक्ष्म-सूक्ष्म स्नपन १७ कलशों का स्नपन होता है। यहाँ भी पूर्व की तरह २५ कोष्ठों का कल्पन करते हैं। मध्य कोष्ठ में शुद्धोदक स्थापित करते हैं, और बाहर के सोलह कोष्ठों में पूर्व से प्रारम्भ कर क्रमशः १. क्षीराम्भस, २. शुद्धवारि, ३. रत्नोदक, ४. हेमतोय, ५. गन्धाम्बु, ६. फलाम्बु, ७. पुष्पोदक, ८. शालिबीजाम्बु, ९. धातृफलोदक, १०. पथ्यातोय, ११. गलूचीक्षोद, १२. विभीतकजल, १३. कुमारी-क्वाथ, १४. व्याघ्री-सलिल, १५. नागरोदक तथा १६. मधूदक के स्थापन का निर्देश है। तत्तन्मन्त्रों के द्वारा इन स्नपन-द्रव्यों से भगवत्-स्नपन विहित है। इस तरह ईश्वर-संहिता के अनुसार इन छह स्नपनों के द्रव्य का विस्तृत विवेचन है।[१] पारमेश्वर संहिता ने इतने विस्तार के साथ इसका निर्देश नहीं किया है। पारमेश्वर संहिता में उपरिनिर्दिष्ट परस्नपन तथा अपर स्नपन के प्रथम का अर्थात् परस्नपन के दस भेदों के निर्देश के पश्चात् अपर स्नपन के सामान्यतः चार पर्याय तथा एक-एक पर्याय में उत्तम, मध्यम तथा अधम स्नपन के क्रम से नौ-नौ भेदों का विस्तृत वर्णन स्नपन-कलश की संख्या के अनुसार अधोलिखित रूप से बताया गया है:

(क) प्रथम पर्याय (अपर स्नपन)

१. उत्तमोत्तम स्नपन-कलश-संख्या—४७३		
२. उत्तममध्यम स्नपन	कलश-संख्या	४०९
३. उत्तमाधम स्नपन	कलश-संख्या	३१३
१. मध्यमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	२७०
२. मध्यम-मध्यम स्नपन	,, ,,	२१३
३. मध्यमाधम स्नपन	,, ,,	११७
१. अधमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	८१
२. अधम मध्यम स्नपन	,, ,,	४९
३. अधमाधम स्नपन	,, ,,	१७

(ख) द्वितीय पर्याय (अपर स्नपन)

१. उत्तमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	१९६
२. उत्तममध्यम स्नपन	,, ,,	१०८
३. उत्तमाधम स्नपन	,, ,,	९७
१. मध्यमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	८५
२. मध्यम मध्यम स्नपन	,, ,,	८१
३. मध्यमाधम स्नपन	,, ,,	४९
१. अधमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	२५
२. अधम मध्यम स्नपन	,, ,,	१७
३. अधमाधम स्नपन	,, ,,	९

१. ईश्वर-संहिता, १५.७५—१०१

(ग) तृतीय पर्याय (अपर स्नपन)

१. उत्तमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	४९
२. उत्तम मध्यम स्नपन	,, ,,	३३
३. उत्तमाधम स्नपन	,, ,,	२९
१. मध्यमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	२५
२. मध्यम मध्यम स्नपन	,, ,,	२१
३. मध्यमाधम स्नपन	,, ,,	९
१. अधमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	९
२. अधममध्यम स्नपन	,, ,,	५
३. अधमाधम स्नपन	,, ,,	१

(घ) चतुर्थ पर्याय (अपर स्नपन)

१. उत्तमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	२५
२. उत्तम मध्यम स्नपन	,, ,,	२५
३. उत्तमाधम स्नपन	,, ,,	२५
१. मध्यमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	२१
२. मध्यम मध्यम स्नपन	,, ,,	९
३. मध्यमाधम स्नपन	,, ,,	९
१. अधमोत्तम स्नपन	कलश-संख्या	९
२. अधम मध्यम स्नपन	,, ,,	५
३. अधमाधम स्नपन	,, ,,	३[1]

उपर्युक्त परस्नपन तथा अपर स्नपनों के अतिरिक्त पारमेश्वर संहिता ने सहस्र कलश-स्नपन का निर्देश भी किया है। इस सहस्र कलश-स्नपन के अवसर पर कलशों की संख्या १००१ होती है। इस स्नपन को अनन्त कलश-स्नपन भी कहते हैं।[2] इस प्रकार पारमेश्वर संहिता ने कुल ४८ प्रकार के स्नपनों का निर्देश किया है।

ऊपर निर्दिष्ट परस्नपन के पूर्व पाँच प्रधानादि स्नपनों का विधान नित्य तथा नैमित्तिक उभय अवसर पर हुआ है। परस्नपन के उत्तर पाँच सूक्ष्म-सूक्ष्मादि स्थूल स्थूलान्त पाँच स्नपन चातुरात्म्यादि देवताओं के स्थापन-क्रम में विहित हैं। अयन-विषुव में, सूर्य तथा चन्द्रग्रहण के अवसर पर मुख्य कल्परूप में उत्तमोत्तम स्नपन विहित है। अनुकल्प में मध्य तथा उससे न्यूनादि चार स्नपन का अवसर अयनद्वय मध्यस्थ संक्रान्ति निर्दिष्ट है। उत्सव के आरम्भ के दिन तथा अन्तिम दिन में अधमोत्तम स्नपन अनुकल्प में विहित है। महाहविषविधान के अवसर पर उससे न्यून स्नपन का निर्देश है। उपर्युक्त

१. पारमेश्वर संहिता, १४.३१-३२

२. वही, १४.३४३

द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पर्याय के नवक स्नपन देश तथा काल के अनुरूप अनुष्ठेय कहे गये हैं। प्रायश्चित्तादि कार्यों में ये सभी स्नपन किये जा सकते हैं।[1]

नारदीय संहिता ने प्रायः हर पाञ्चरात्रिक विषय को मध्यममार्ग से प्रतिपादित किया है। स्नपन-विषय भी नारदीय संहिता में उसी प्रकार मध्यम मार्ग से वर्णित है। यहाँ उत्तम, मध्यम तथा अधम रूप से स्नपन के तीन भेद कहे गये हैं। उत्तम स्नपन में स्नपन कलश-संख्या ४७३[2] मध्यम स्नपन में स्नपन-कलश संख्या २७७[3] तथा अधम स्नपन में स्नपन-कलश-संख्या ८१ कही गई है।[4] पारमेश्वर संहिता में वर्णित स्नपन के साथ इसकी तुलना करने पर हम देखते हैं कि पारमेश्वर में निर्दिष्ट प्रथम पर्याय के उत्तमोत्तम स्नपन को यहाँ नारदीय संहिता ने उत्तम, उसीके प्रथम पर्याय के ही मध्यमोत्तम स्नपन को मध्यम स्नपन तथा प्रथम पर्याय के अधमोत्तम स्नपन को अधम स्नपन के रूप में स्वीकारा है। इस प्रकार इसने पारमेश्वर के प्रथम पर्याय के स्नपनों में से केवल तीन स्नपनों को स्वीकृत कर संक्षिप्त रूप में स्नपन-संख्या का विधान किया है और इन्हीं तीनों का वर्णन किया है। नारदीय संहिता में वर्णित इन तीन स्नपनों के पीठ का स्वरूप तथा स्नपन-द्रव्यों का वर्णन नारदीय संहिता के परिशिष्ट में देखा जा सकता है।[5]

श्रीप्रश्न-संहिता के अनुसार स्नपन-द्रव्य-स्थापना के लिए १०८ कोष्ठकों का पद-कल्पन करते हैं। मध्य में चार-चार कोष्ठों से युक्त ९ पद कल्पित होते हैं। इस तरह मध्य में ९×४=३६ कोष्ठ होते हैं। आठ दिशाओं में से एक-एक दिशा में ९ कोष्ठक-वाले पद कल्पित होते हैं। इस तरह ८×९=७२ कोष्ठक सभी दिशाओं में होते हैं। अन्ततः ३६+७२=१०८ कोष्ठकोंवाला स्नपन-पद कल्पित होता है। इनमें मध्य में स्थित ९ पदों के मध्य चार कोष्ठकों में अर्थात् ब्रह्मस्थान के चार पदों में १. घृत, २. उष्णोदक, ३. पुष्पोदक तथा ४. सर्वौषधि-जल की स्थापना करते हैं। आठ दिशाओं में स्थित ९-९ कोष्ठकों से युक्त आठ पदों के ब्रह्मस्थान अर्थात् मध्य के कोष्ठों में पूर्वादि से प्रारम्भ कर अधोलिखित द्रव्यों की स्थापना का विधान है: १. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचाम, ४. क्षीर, ५. दधि, ६. पञ्चामृत, ७. मधु तथा ८. गन्धोदक। इन आठ दिशाओं में विद्यमान अन्य रिक्त कोष्ठकों में अस्त्र-मन्त्र के द्वारा शुद्धतोय की स्थापना होती है। इसके बाद मध्य में कल्पित चार-चार कोष्ठकवाले ९ पदों में से ब्रह्मस्थानस्थ पद कोष्ठकों (चार) को छोड़कर अन्य आठ भागों में स्थित आठ पदों के चार-चार कोष्ठकों में पूर्व से आरम्भ कर ईशान कोणान्त चार कोष्ठकों में फलवारि, चार में मार्जनाम्भस, चार

---

१. पारमेश्वर संहिता, १४.५४२—५४८

२. नारदीय संहिता, २०.७९—८१

३. वही, २०.७०—७४

४. वही, २०.३१—३५

५. वही, पृ० ५८०—५८२

में मधुपर्क, चार में पत्रनीर, चार में रत्नोदक, चार में लोहवारि, चार में इक्षुतोय तथा चार में गुलोदक की स्थापना करते हैं।[१]

स्नपन के लिए उक्त द्रव्य अनेक संहिताओं में वर्णित तथा निर्दिष्ट हैं, पर सभी ग्रन्थों में ये द्रव्य समान संख्या या सर्वथा समान रूप में निर्दिष्ट नहीं हैं। इन स्नपन-द्रव्यों का सामान्य विवेचन इस प्रसंग में आवश्यक है। अतः आगे हम स्नपन के तत्तत् द्रव्यों के अन्तर्गत आनेवाले पदार्थों का विवरण तथा परिमाणादि विषय के विवेचन का प्रयत्न करेंगे। श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार स्नपन-द्रव्यों की संख्या आराधक के विभव के अनुसार हो सकती है। अर्थात् स्नपन-द्रव्य एक भी हो सकता है या अनेक या ग्रन्थ में वर्णित सभी।[२] ईश्वर-संहिता ने स्नपन के लिए तत्तद्द्रव्यों का निर्देश तो अवश्य किया है, पर वहाँ उन-उन द्रव्यों का विस्तृत विवरण नहीं देखते। कुछ संहिताओं में वर्णित स्नपन-द्रव्यों के पदार्थों का विवरण अधोलिखित है :

१. पाद्यद्रव्य—१. श्यामाक, २. विष्णुपर्णी, ३. दूर्वा तथा ४. कमल।

२. अर्घ्यद्रव्य—१. यव, २. सिद्धार्थक, ३. गन्ध, ४. पुष्प, ५. अक्षत, ६. फल, ७. तिल तथा ८. कुशाग्र।

३. आचमनीय द्रव्य—१. एला, २. लवङ्ग तथा ३. कर्पूर।

४. पञ्चामृत-द्रव्य—१. कदली, २. नारिकेल, ३. सिता, ४. मधु तथा ५. घृत।

५. गन्धाम्भस—१. चन्दन, २. अगरु, ३. कर्पूर, ४. गन्धराज, ५. मुरा, ६. उशीर, ७. कुंकुम तथा ८. मांसी।

६. फलाम्भ—१. कदली, २. बिल्व, ३. चूत, ४. पनस, ५. बीजपूरक, ६. नारिकेल, ७. आमलक तथा ८. मातुलुङ्ग।

७. मार्जनाम्भ—१. रजनी, २. सहदेवी, ३. शिरीष, ४. सूर्यवर्त्तिनी, ५. सदाभद्र तथा ६. कुशाग्र।

८. मधुपर्क—१. मधु, २. क्षीर, ३. दधि तथा ४. आज्य।

९. पत्रवारि—१. न्यग्रोध, २. अश्वत्थ, ३. बकुल, ४. कदम्ब, ५. आम्र, ६. शिरीष, ७. पलाश तथा ८. बिल्व।

१०. रत्नवारि—१. इन्द्रकान्त, २. सूर्यकान्त, ३. अयस्कान्त, ४. प्रवाल, ५. वैडूर्य, ६. पद्मराग, ७. ब्रह्मराग, ८. गारुड, ९. इन्द्रनील, १०. पुष्यराग, ११. स्फटिक तथा वज्र-मौक्तिक।

११. लोहवारि—१. हिरण्य, २. रजत, ३. ताम्र, ४. अयस तथा ५. त्रपु।

१२. बीजकुम्भ (बीजोदक)—१. गोधूम, २. यव, ३ नीवार, ४. शालि, ५ मुद्ग, ६. प्रियंगु, ७. माष तथा ८. व्रीहि।

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २७.८—१४

२. वही, २७.७०

१३. कषायोदक—१. शमी, २. उदुम्बर, ३. बिल्व, ४. पलाश, ५. अश्वत्थ, ६. वट, ७. खदिर, ८. चम्पक तथा ९. विकङ्कत।

१४. सर्वौषधि—१. कोष्ठ, २. मांसी, ३. हरिद्रा, ४. मुरा, ५. शैलेय चम्पक, ६. वचा, ७. कचोर, ८. मुस्ता।

१५. शान्तिवारि—१. नीवार, २. तिल, ३. सिद्धार्थ, ४. यव, ५. वेणुयव तथा ६. तुलसी-दल।

१६. पुष्पाम्भस—१. पद्म, २. नीलोत्पल, ३. स्थलाब्ज, ४. केतकी, ५. मल्लिका, ६. जाति, ७. नन्द्यावर्त्त, ८. चम्पा, ९. मेधा तथा १०. बकुल।

१७. पञ्चगव्य—१. शकृत्रस, २. गोमूत्र, ३. दधि, ४. क्षीर तथा ५. घृत।

१८. मृदाम्भस—१. पुण्यक्षेत्र, २. अब्धिजलस्थ प्रदेश, ३. पुण्यगा (आदि, मध्य तथा अन्तस्थ), ४. तुलसी-मूल, ५. बिम्ब तथा ६. कमल-मूल।[१]

नारदीय संहिता में स्नपन के लिए विवरण-सहित अधोलिखित १० द्रव्यों का निर्देश देखते हैं: १. पाद्य, २. अर्घ्य, ३. आचमनीय, ४. पञ्चगव्य, ५. कषायोदक, ६. फलोदक, ७. मार्जनोदक, ८. रत्नोदक, ९. लोहोदक तथा १०. गन्धोदक।[२] इस तरह श्रीप्रश्नसंहिता में प्रदर्शित स्नपन-द्रव्यों की अपेक्षा नारदीय संहिता में आठ कम स्नपन-द्रव्य देखते हैं। पर अन्य दस स्नपन-द्रव्य सामान्यतः नारदीय तथा श्रीप्रश्नसंहिता में उभयत्र समान हैं। दोनों के विवरण भी प्रायः समान हैं। जैसे—पाद्यादि द्रव्यों में निर्दिष्ट पदार्थ नारदीय में भी वही हैं, जो श्रीप्रश्नसंहिता में। यदा-कदा अत्यल्प अन्तर देखते हैं। जैसे—श्रीप्रश्नसंहिता ने कषायोदक के लिए नौ पदार्थों का निर्देश किया है, जबकि नारदीय संहिता ने कषायोदक के लिए आठ पदार्थों का विधान किया है। यहाँ चम्पक का ग्रहण नहीं है। इसी प्रकार रत्नवारि में नारदीय संहिता ने केवल नौ पदार्थों का निर्देश किया है, जबकि श्रीप्रश्नसंहिता ने रत्नवारि में बारह पदार्थों का परिगणन किया है। जहाँ तक उन-उन पदार्थों के परिमाण का प्रश्न है, उसपर विचार करते हुए घट में तत्तद्वस्तुओं का अष्टमांश परिमाण रखा जाना कहा है। हेम, लोहजाल तथा रत्नादि का परिमाण विभवानुसार विहित है।[३] नारदीय संहिता ने तीन प्रकार के पञ्चगव्य का विधान किया है: १. प्रोक्षणार्थ, २. प्राशनार्थ तथा ३. स्नपनार्थ।[४] इन तीनों ही पञ्च-गव्यों में सामान्यतः वे ही पदार्थ विहित हैं, जो अन्य ग्रन्थों तथा व्यवहार में प्रसिद्ध हैं।[५]

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २७.५०—६९

२. नारदीय संहिता, २०.९४–१०५

३. श्रीप्रश्नसंहिता, २७.७३

४. नारदीय संहिता, २७.४१—४४

५. वही, २०.९७

स्नपन के क्रम में उक्त तत्तद्रव्यों के देवताओं का निर्देश किया गया है। श्रीप्रश्न-संहिता तथा नारदीय संहिता में उभयत्र इस विषय का वर्णन देखते हैं। ये देवता अधोलिखित हैं :

स्वपन-द्रव्य ↓	देवता (श्रीप्रश्नसंहिता) ↓	देवता (नारदीय संहिता) ↓
१. घृतकुम्भ	वासुदेव-सनातन	विष्णु
२. तप्ततोय	संकर्षण	दिवाकर
३. सर्वौषधि	प्रद्युम्न	×
४. पुण्यतीर्थ	अनिरुद्ध	×
५. शुद्धतोय	वासुदेव (नारायण)—शान्त्यादि (देवी)	
६. पाद्यकुम्भ	केशव	पितर
७. अर्घ्यद्रव्य	माधव	श्रीदेवी
८. आचमन-द्रव्य		वाग्देवी
९. क्षीरकुम्भ	गोविन्द	सोम
१०. दधि	विष्णु	शुक्र
११. पञ्चामृत	मधुसूदन	×
१२. मधु	त्रिविक्रम	महेन्द्र
१३. गन्धकुम्भ	वामन	गन्धर्व
१४. फलकुम्भ	श्रीधर	कुबेर
१५. मार्जनाम्भ	हृषीकेश	विश्वेदेव
१६. मधुपर्क	पद्मनाभ	×
१७. रत्ननीर	दामोदर	ब्रह्मा
१८. पत्रोदक		×
१९. लोहाम्भ	अधोक्षज	वसु
२०. गुलाम्भ	नृसिंह	वराह
२१. ईक्षुनीर	अच्युत	नृसिंह
२२. बीजोदक	हरि	×
२३. कषायोदक		यम
२४. शान्तितोय	कृष्ण	भव
२५. पञ्चगव्य		दक्ष
२६. पञ्चतत्त्व	आदिसूकर	×
२७. मृत्तोय		×[1]

नारदीय संहिता ने उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य स्नपन-द्रव्यों तथा तत्सम्बद्ध अन्य पदार्थों के देवताओं का निर्देश आगे दिये गये रूप में बताया है।

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २७.७५—८२

१. अक्षताम्भस	निर्ऋति;	२. यवोदक	आर्या;
३. नारिकेलाम्भस	श्रीधर;	४. मंगलाम्भस	वासुदेवादि (चार);
५. स्नपन-कलश	अश्विनीकुमार;	६. सूत्र	शेष;
७. कूर्च	परब्रह्म;	८. वर्त्तिका	मातृ;
९. वस्त्र	विष्णु		

अथवा पक्षान्तर में स्नपन में अपेक्षित सभी वस्तुओं के देवता विष्णु को बताया गया है।[१] इस प्रकार स्नपन-द्रव्यों के देवता का निर्देश श्रीप्रश्नसंहिता तथा नारदीय संहिता में उभयत्र देखते हैं, पर जैसा कि ऊपर स्पष्ट निर्दिष्ट है, दोनों में प्रायः हर द्रव्य के देवता के विषय में वैमत्य स्पष्ट है। इससे यह विदित होता है कि इस प्रकार के विषयों में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में कोई एक ही दृढ मत या सिद्धान्त नहीं है। अलग-अलग संहिता-ग्रन्थों के अनुसार ये विषय परस्पर भिन्न हैं। स्नपन-क्रम में इन स्नपनद्रव्य-देवों का अर्चन करते हैं और उसके पश्चात् उन-उन द्रव्यों से क्रमशः देव का स्नपन सम्पन्न करते हैं।

विविध स्नपन-द्रव्यों से भगवान् का स्नपन कराते हुए तत्तन्मन्त्रों के प्रयोग का विधान है। यहाँ मन्त्र-प्रयोग के अवसर पर वैदिक मन्त्र तथा आगमिक मन्त्र दोनों विहित हैं। श्रीप्रश्नसंहिता ने अधिकतर वैदिक मन्त्रों का प्रयोग अधोलिखित रूप में बताया है :

मन्त्र	स्नपन-द्रव्य	मन्त्र	स्नपन-द्रव्य
१. विष्णुगायत्री	पाद्यकुम्भ;	२. तद्विष्णोः	अर्घ्यवारि;
३. नतेविष्णोः	आचमन-वारि;	४. आप्यायस्व	गोक्षीर;
५. दधिक्राव्ण	दधि;	६ मूलमन्त्र	पञ्चामृत;
७. मधुवाता	मधुपर्क;	८ गन्धद्वारम्	गन्धवारि;
९. फलिनि	फलवारि;	१०. शन्नोदेवी	मार्जनाम्भस;
११. या औषधय	पल्लवारि;	१२. इषेत्वे	रत्नोदक;
१३. इषेत्वे	लोहतोय;	१४. मधुवाता	गुलोदक;
१५. सावित्री	अक्षतोदक;	१६. शतधार	बीजतोय;
१७. ओषध्य	कषायोदक;	१८. वेदाहम्	शान्तितोय;
१९. घृतस्नात	घृत;	२०. त्वंविष्णु	उष्णोदक;
२१. योऽपांपुष्पम्	पुष्पाम्बु;	२२. पुंसुक्त	सर्वौषध्युदक;
२३. विष्णो कर्म	पञ्चगव्य;	२४. उद्धृतासि	मृत्तोय;
२५. इमं मे गंगे० अथवा मूलमन्त्र जितन्त मन्त्र अम्भस्येति	शुद्धतीर्थ		

इस प्रकार स्नपन के लिए मन्त्र-प्रयोग के अवसर पर दो क्रम स्पष्ट हैं : एक वैदिक मन्त्रों का प्रयोग तथा दूसरा अवैदिक मन्त्रों का प्रयोग। इसके अतिरिक्त श्रीप्रश्नसंहिता

१. नारदीय संहिता, २०.१०६—११४

के अनुसार अधोलिखित ५ मन्त्रों में से किसी एक मन्त्र के द्वारा भी स्नपन-कार्य विहित है। ये मन्त्र हैं : १. पुरुषसूक्त, २. द्वादशाक्षरमन्त्र, ३. विष्णुगायत्री, ४. षडक्षरमन्त्र तथा ५. स्वमूर्त्तिमन्त्र। इस दूसरे विकल्प में भी सामान्यत: दोनों (वैदिक तथा अवैदिक) मन्त्रों को स्नपन के लिए स्वीकारा गया है।[1]

नारदीय संहिता ने स्नपन के लिए श्रीप्रश्नसंहिता की तरह मन्त्रों का प्रयोग स्वीकार नहीं किया है। यहाँ स्नपन-क्रम में स्वीकृत मन्त्र का क्रम भिन्न तथा अधोलिखित है :

१. (क) मार्जन (ख) प्रोक्षण (ग) उपलेपन (घ) सूत्रपात (ङ) पिष्टचूर्णालङ्करण	द्वादशाक्षरमन्त्र
२. कलशाधिवासन	पञ्चोपनिषद्मन्त्र;
३. कलशन्यास	विष्णुगायत्री;
४. अर्चन	स्वमन्त्र अथवा स्वनाम;
५. कूर्चप्रक्षेप	द्वादशाक्षरमन्त्र;
६. चक्रिका-स्थापन	चक्रमन्त्र;
७. कलशाच्छादन	द्वादशाक्षरमन्त्र;
८. कलशपूरण	स्वमन्त्र;
९. सूत्रप्रक्षेप तथा वेष्टन	प्रणव;
१०. कलश से वस्त्रापनयन	मूलमन्त्र;
११. गुरु के हाथ में द्रव्य प्रदान	विष्णुगायत्री।

इन उपर्युक्त ११ अवसरों पर प्रयुक्त मन्त्रों के निर्देश के बाद नारदीय संहिता ने सामान्य रूप से बताया है कि उपर्युक्त के अतिरिक्त जिन अवसरों पर तथा क्रियाओं में मन्त्र का निर्देश नहीं किया गया है, उन सभी क्रियाओं को द्वादशाक्षरमन्त्र से सम्पन्न किया जाना चाहिए। यहाँ भी मन्त्र-प्रयोग के लिए विकल्प-रूप में स्नपनक्रम में सारी क्रियाएँ द्वादशाक्षरमन्त्र के द्वारा सम्पादित की जा सकती हैं—ऐसा विधान है। विविध स्नपनद्रव्यों से विधिवत् स्नपन-क्रिया सम्पादित करते हैं और अन्त में यथाशक्ति २५, ९, ५ अथवा एक पूर्णकलश परिमित रजनी-चूर्ण देव के मस्तक पर रखते हैं। यहाँ क्रिया भी द्वादशाक्षरमन्त्र के द्वारा ही सम्पन्न होती है। तदनन्तर शुद्ध वारि के द्वारा देव का परिमार्जनपूर्वक स्नपन करते हैं।

अन्त में पुन: भगवदाराधन तथा सम्बद्ध जनों को दक्षिणा प्रदान कर सबके सम्प्रीणन के साथ स्नपन की समाप्ति होती है।[2]

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, २७. ८६—१००

२. नारदीय संहिता, २०. ११४—१२७

चतुर्थ अध्याय

पवित्रारोपण (पवित्रोत्सव)

वैष्णवोत्सवों में पवित्रोत्सव का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह विषय पाञ्चरात्रागम की प्रायः १७-१८ संहिताओं में तथा अनेक वैखानसागम-ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है।[1] शैवागम-ग्रन्थों में भी पवित्रारोपण अर्थात् पवित्रोत्सव का विधान देखते हैं।[2] पाञ्चरात्रागम की पारमेश्वर संहिता ने अत्यन्त विस्तार के साथ प्रायः ४०० श्लोकों में इस विषय का विवेचन किया है। अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने मध्यम तथा सामान्य रूप से इस विषय का प्रतिपादन किया है। ईश्वर-संहिता में भी यह विषय विस्तृत रूप से वर्णित है। सामान्यतः ईश्वर तथा पारमेश्वर संहिता में बहुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। पवित्रोत्सव के वर्णनक्रम में प्रायः सभी पाञ्चरात्रागम में विषय-साम्य देखते हैं, पर पारमेश्वर तथा ईश्वर-संहिताओं में तो असाधारण समानता दृष्टिगोचर होती है।[3]

प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रागम की दृष्टि से वर्णित पवित्रोत्सव-प्रयोजन शब्दार्थ एवं व्युत्पत्ति, प्रशंसा, पवित्र के भेद, पवित्र कल्पनार्थ उपादान-द्रव्य, उत्सवकाल, अधिकारी तथा अनधिकारी-विवेचन, आचार्यादि-संख्या, पवित्रकल्पन से सम्बद्ध विविध विषय, जैसे पवित्र मान, तत्तत् पवित्र प्रमाण, सूत्र-ग्रन्थि-संख्यादि विषय-विवेचन, ग्रन्थि का आकार, पवित्र अलङ्करण तथा वर्णरचनादि विषय के विवेचन का प्रयत्न होगा। पुनः पवित्रोत्सव के लिए अपेक्षित यागशाला-कल्पनादि विविध विषयों के विवेचन के साथ उत्सव-प्रक्रिया के अन्यान्य अङ्गों का वर्णन होगा। अन्ततः उत्सवाङ्गोत्सवादि-कथन के विवरण के साथ अध्याय का उपसंहार होगा।

पवित्रोत्सव के अवसर-निर्देश के क्रम में पवित्रारोपण आत्मार्थ तथा परार्थ रूप में दो तरह का कहा गया है। यह उत्सव एकबेरविधि तथा बहुबेरविधि में उभयत्र विहित है।[4]

पवित्रारोपण के उद्देश्य-प्रतिपादन-क्रम में कहा गया है कि लोभ-बुद्धि के विना भोगों के असम्भव होने से, सामर्थ्य के विना कृच्छ्रादि के परिच्युत होने से, ज्वरादि-

---

१. (क) वासाधिकार, अ० ३९
(ख) विमानार्चनकल्प पट० ७८
(ग) प्रकीर्णाधिकार, अ० ३२

२. सोमशम्भुपद्धति, पृ० २१५; पाण्डिचेरी-संस्करण, सन् १९६३ ई०

३. (क) ईश्वर-संहिता, अ० १४
(ख) पारमेश्वर संहिता, अ० १२

४. अ० संहिता, २४.८

व्याधि से व्याधित होने के कारण यदि आह्निक कर्म का क्षय हो जाता है, तो इन सबसे उत्पन्न दोषों के परिहार के लिए चातुर्मास्य में भगवान् का पवित्रोत्सव करना अत्यन्त आवश्यक है। सांस्पर्शिक दोषों के निवारण के हेतु भी पवित्रोत्सव आवश्यक कहा गया है।[1] पाद्मादि कुछ संहिताओं के अनुसार आलयाराधनक्रम में सम्पूर्ण संवत्सर में उत्पन्न दोषों के निवारण के लिए तथा आलयाराधन-फल-प्राप्ति के लिए पूजा की पूर्णता के हेतु यह पवित्रोत्सव सर्वथा अपेक्षित तथा आवश्यक है।[2] पवित्र-समर्पण के उद्देश्य पर नारदीय संहिता के इस प्रकरण में वर्णित भगवत्क्षमायाचन-प्रसंग से प्रकाश पड़ता है। भगवद्बिम्ब में पवित्र-समर्पण के पश्चात् आराधक कहता है—हे गरुडध्वज! आपको यह सांवत्सरिक पूजा स्वीकार हो। हे जनार्दन! श्रद्धा, भक्ति, क्रिया तथा द्रव्यहीनता-पूर्वक जो तुम्हारी पूजा हुई, वह सब पूर्ण हो। हे देव! जिस प्रकार आप श्रीवत्स, कौस्तुभ तथा किरीट धारण करते हैं, उसी प्रकार इस वनमाला को भी स्वीकार कर धारण कीजिए। हमारी सारी हीनताओं को क्षमा कीजिए। इस प्रकार पवित्रोत्सव को यहाँ सांवत्सरिक पूजा के साथ-साथ दोष-निवारणार्थ भी होना कहा गया है।[3] दुर्वासि-संहिता तथा कुछ अन्य संहिताओं के अनुसार पवित्रोत्सव को प्रायश्चित्त के रूप में किया जाना कहा है। नित्य स्नपनहीनादि दोषों के निवारण तथा पूजा की पूर्णता के लिए इस उत्सव को आवश्यक कहा गया है। इस उत्सव के नहीं करने से राजा तथा राष्ट्र की हानि होती है। महाव्याधियों से जनता पीड़ित होती है। अतः यह पवित्रोत्सव अवश्य करणीय विधि है।[4] जयाख्य तथा कुछ अन्य संहिताओं के मत में क्रिया, जप तथा अर्चनादि के लोप होने पर तज्जन्य दोष-निवारणार्थ पवित्रारोपण के बिना अन्य और कोई गति नहीं है।[5] वाशिष्ट संहिता के अनुसार वर्ष-भर भगवदाराधन से जो

---

१. (i) सात्व० संहिता, १४. श्लो० ४—९; काञ्ची, १९०२ ई०
(ii) ईश्वर-संहिता, १४. श्लो० २—९; श्रीरंगम, १९५३ ई०
(iii) पारमेश्वर संहिता, १२. श्लो० ६—१३

२. (i) पाद्मसंहिता, च० पा० १४. श्लो० ३३—३६, मद्रास १९२३ ई०
(ii) भार्गव-संहिता, २१.३
(iii) विष्णुतिलक, ८.२०७-२०८
(iv) नारदीय संहिता, २३.२-३

३. नारदीय संहिता, २३.६८—७०

४. (i) दुर्वास-संहिता, ३४.५—९ के० सं० विद्यापीठ, तिरुपति, मातृ० ५९६
(ii) हयशीर्ष-संहिता, ४२.३२-३३; आधार पाण्डुलिपि, पृ० २२२
(iii) कपिञ्जल-संहिता, ३२.८—१०
(iv) विश्वा० संहिता, २४.१—५

५. (i) जयाख्य-संहिता, २१.३-४, ६-७
(ii) पौष्कर संहिता, ३०.४३
(iii) श्रीप्रश्नसंहिता, ४२.२२-२३
(iv) हयशीर्ष-संहिता, सौ० का० ४२.१

फल प्राप्त होता है, वह फल पवित्रारोपण से प्राप्त होता है। भगवान् के इस अल्प याग से महान् फल की प्राप्ति होती है।[1]

'पवित्र' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है :

पाति यस्मात् स दोषं हि पतनात् परिरक्षति ॥४५७॥
विशेषेण द्विजं त्राति पूर्णं कर्म करोति च।
....
पतितं च क्रियालोपात् विधिवत् त्रायते यदा ॥४५९॥
तदा पवित्रकं विप्र भूषणं सूत्रजं स्मरेत् ॥[2]

पवित्र की प्रशंसा करते हुए विविध संहिताओं ने इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया है और इसकी श्रौतयागों से तुलना की है। जिस प्रकार तत्तत् महान् श्रौतयागों के सम्पादन से फल-प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस पवित्रोत्व के सम्पादन से भी महत्त्व-पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। पौष्कर संहिता के अनुसार जिस प्रकार अश्वमेध याग विप्रों की सारी इच्छाएँ पूर्ण करता है, राजसूय याग नृपों की समस्त मनोकामनाओं का परिपूरक है, उसी प्रकार भक्तों के लिए पवित्रोत्सव है। भूषणों के मध्य जिस प्रकार कौस्तुभ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूषण है, उसी प्रकार भोगजाल के अन्तर्गत पवित्र को समझना चाहिए, यही भक्तों के पारमेश्वरविषयक व्यापारों को पूर्ण करता है। भोग-मोक्ष-प्राप्ति के लिए उससे बढ़कर शाश्वत भोग कोई नहीं है। पवित्र भक्तों को भक्ति से सतत सालोक्य देता है। यह साधकों को सामीप्य तथा नाना सिद्धि प्रदान करता है। यह अपने स्वरूप-केन्द्रित भक्तों को सायुज्य देता है।[3] इसके अतिरिक्त जिस प्रकार सुराओं में अमृत, मनुष्यों के लिए गंगाजल तथा पितरों के लिए स्वधा है, उसी प्रकार आराधकों के लिए पवित्र पावन, भूतिवर्द्धन, सर्वदोषोपशामक, सर्वोपद्रव-शान्तिविधायक, सर्वसौख्य-प्रद तथा सर्वगुह्य-प्रकाशक कहा गया है।[4] ईश्वर-संहिता कहती है—पवित्र सर्वतो-भावेन भक्तों का पालन करता है। नानात्मरूप से अकृतज्ञों का विच्छेद करता है।

---

१. (i) बा० संहिता (२) पट०, ३२.१—७; K. S. V. Ms. ५८६
   (ii) मा० संहिता, २३.१—३
२. (i) पारमेश्वर संहिता, १२
   (ii) अ० संहिता २४.७
   (iii) ईश्वर-संहिता, १४.२५९—२६१
   (iv) जयाख्य-संहिता, २१.१११-११२
   (v) पाद्मसंहिता, च० १४.३८-३९
३. पौष्कर संहिता, ३०.३—८
४. (i) अ० संहिता, २४.१५६—१५८
   (ii) पाद्मसंहिता, १२.१३—१७; ५२८—५३०
   (iii) दुर्वास-संहिता, ३४.२—४
   (iv) कपिञ्जल-संहिता, ३२.५-६
   (v) पौष्कर संहिता, ३०.१९२—१९४

वह भगवत् षाड्गुण्य महिमा को धारण करता है। जो भक्त इसे धारण करता है उसे भगवत्पद प्रदान करता है।[१]

ईश्वर, पारमेश्वर तथा जयाख्य-संहिताओं ने पवित्र के सूक्ष्म तथा स्थूल—ये दो भेद बताये हैं।[२] कुछ संहिताओं में पवित्र के आकार आदि के आधार पर उसके भेदों का निर्देश किया गया हैं; जैसे—१. कनिष्ठ, २. उत्तम, ३. मध्यम, ४. वनमाला, ५. अधिवास-पवित्र, ६. परिवार-पवित्र तथा ७. दीक्षितादि-पवित्र।[३] कुछ स्थलों में पवित्र दस प्रकार के कहे गये हैं: १. प्रामाण्य-पवित्र, २. गन्ध-पवित्र, ३. अलङ्कार-पवित्र, ४. उत्तम पवित्र, ५. मध्यम, ६. अधम, ७. किरीट, ८. श्रीवत्स, ९. कौस्तुभ तथा १०. वनमाला-पवित्र[४]। इसके बाद सूत्रादि संख्या-सापेक्ष प्रथम, द्वितीयादि पवित्र का उल्लेख किया गया है।[५] इस क्रम में नारदीय संहिता ने पवित्र के तन्तुओं की संख्या तथा पवित्र के मान के आधार पर इसके चार भेद बताये हैं। १. अधम पवित्र का मान मूलबिम्ब के कण्ठ से नाभि के अन्त तक सप्तविंशति तन्तुयुक्त कहा गया है। २. मध्यम पवित्र मूलबिम्ब के कण्ठमूल से ऊरु के अन्त तक ५४ तन्तुवाला कहा गया है। यह मध्यम पवित्र अन्तरिक्ष चरों को प्रिय कहा गया है। ३. उत्तम पवित्र—कन्धों से आरम्भ कर जानु-पर्यन्त लम्बायमान पवित्र, उत्तम पवित्र कहा गया है। इसकी सूत्र-संख्या १०८ कही गई है। यह देवताओं के लिए सुखप्रद कहा गया है। ४. वनमाला-पवित्र—कण्ठ से पादपर्यन्त लम्बायमान पवित्र वनमाला-पवित्र कहा गया है। कुछ अन्य संहिताओं ने भी पवित्र के भेद नारदीय की तरह ही बताये हैं।[६] अनिरुद्ध-संहिता ने अर्चा के शिरप्रमाण को

---

१. (i) ईश्वर-संहिता, १४.८४—९०
(ii) पारमेश्वर संहिता, १२.११३—११९

२. (i) ईश्वर-संहिता, १४.८३
(ii) पार० संहिता, १२.११२

३. मार्कण्डेय संहिता, २३.२८-२९
(ii) वाशिष्ट संहिता, २१.३२

४. (i) पाद्मसंहिता, च० १४.५८—६०
(ii) भार्ग० संहिता, २१.१३-१४
(iii) विश्वा० संहिता, २४. २२—२३

५. (i) ई० संहिता, १४.९८—१०२
(ii) जयाख्य-संहिता, २१.१३-१४; १७-१८
(iii) पार० संहिता, १२.१२८—१३२
(iv) वि० ति० ८.२१२-२१३
(v) अ० संहिता, २४.३९-४०

६. (i) नारदीय संहिता, २३ १४—१८
(ii) कपिञ्जल-संहिता, ३२.२४-२५
(iii) दुर्वास-संहिता, ३४.४०-४१
(iv) मार्कण्डेय-संहिता, २३.३०-३१
(v) वाशिष्ठ संहिता (२), पट० ३२.१७-१८

प्रथम, जानुप्रमाण को द्वितीय, पादमानयुक्त को तृतीय तथा पीठमानयुक्त को चतुर्थ पवित्र कहा है।[१] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार वर्णादि के आधार पर उत्तमादि पवित्र का भेद कहा गया है। पञ्चवर्ण-समायुक्त पञ्चयष्टिवाला पवित्र उत्तम पवित्र कहा गया है। यष्टित्रय-समन्वित मध्यम तथा एक यष्टिवाला पवित्र अधम पवित्र कहा गया है।[२] पवित्र के इन भेदों के अतिरिक्त कुछ विशेष पवित्रों को तत्तत् विशिष्ट नाम से भी अभिहित किया गया है। श्र्यादिदेवियों के पवित्र को पद्म, अन्य देवों के पवित्र को सुदर्शन द्वारतोरण, कुम्भों के पवित्र को शंख तथा मनुष्यों के पवित्र को चक्र नाम से अभिहित किया गया है।[३]

पवित्र के विविध भेदों के विचार के पश्चात् पवित्र-कल्पन के लिए उपयुक्त उपादान-द्रव्य के विषय-विवेचन का प्रयास करेंगे। इस प्रसंग में पौष्कर, ईश्वर तथा पारमेश्वर-संहिताएँ प्रायः शब्दशः समान हैं। ब्राह्मणी कुमारी अथवा वृद्धा या शुद्धा विधवा के द्वारा सम्पादित क्षौम, पट्टज सूक्ष्म दृढसित केश-रोमादि से सर्वथा रहित श्लक्ष्ण-सूत्र पवित्र के लिए ग्राह्य हैं। पवित्र जल से सूत्र को अच्छी तरह धोकर दहन तथा आप्यायन के द्वारा उसे शुद्ध करते हैं। पुनः मूलमन्त्र के द्वारा चातुरात्म्य बुद्धि से सूत्र को चतुर्गुण अथवा अष्टगुण करते हैं। इस प्रकार कल्पित सूत्र से प्रभव तथा अप्यय-बुद्धि के द्वारा भेदभिन्नोपलक्षित केशवादि में अधिष्ठातृभाव से तीन गुण कर विषम तन्तुओं से पवित्र की कल्पना करनी चाहिए। समतन्तु का निषेध किया गया है। सित तथा असित तन्तुओं से इस प्रकार पवित्र का कल्पन हो कि पवित्री की क्रिया विषमा न हो।[४] अन्य मत में कार्पास या क्षौमसूत्र का अच्छी तरह शोधन कर दहनाप्यायन के द्वारा व्यापक रूप से पञ्चभूतात्मक ध्यान करने का विधान है। पुनः उस सूत्र को त्रिगुण कर पुनः चतुर्गुण करने को कहा गया है। समगुणवाला सूत्र सर्वभाव की समता का उत्पादन करता है। अतः इस मत में समगुण पवित्र की ही कल्पना होनी चाहिए, विषम गुण की नहीं।[५] मतान्तर में सुवर्ण, रजत तथा मृत्-कल्पित पवित्र का भी निर्देश है।[६] इस मत में पवित्र के लिए स्वीकृत अन्य उपादान-द्रव्य भी निर्दिष्ट हैं। यहाँ स्वर्ण तथा रजत का सूत्र-कल्पन तथा पवित्र-निर्माण व्यावहारिक है, पर मृण्मय सूत्र-कल्पन की व्यावहारिकता कुछ चिन्तनीय है। कपिञ्जल-संहिता ने ब्राह्मणी के अलावा सदाचार-वती क्षत्रिया तथा वैश्या के द्वारा कल्पित सूत्रों को भी पवित्र-निर्माण के लिए ग्राह्य कहा

---

१. अनिरुद्ध-संहिता, २४.५२-५३
२. श्रीप्रश्नसंहिता, ४२.३६-३७
३. श्रीप्रश्नसंहिता, ४२.३९—४४
४. (i) ईश्वर-संहिता, १४.९१—९८
 (ii) पाद्मसंहिता, १२.१२०—१२७
 (iii) पौष्कर संहिता, ३०.२७—३३
५. जयाख्य-संहिता, २१.८—११
६. कपिञ्जल-संहिता, ३२.१९-२०

है। अभाव में आपण से क्रित सूत्र का उपयोग भी विहित है।[1] कुछ संहिताओं ने पूर्वोक्त पवित्रोपादान-द्रव्यों के साथ दर्भ तथा पद्मनाल-सूत्रों को भी पवित्र-कल्पन के लिए ग्राह्य बताया है। यहाँ वेत्र सूत्र भी उपादान-द्रव्य के रूप में निर्दिष्ट है।[2] हयशीर्ष-संहिता के सौर-काण्ड में सूर्य के पवित्रारोपण का निर्देश किया है। नारदीय तथा कुछ अन्य संहिताओं ने पवित्रोपादान द्रव्य के विषय में सामान्य रूप से कन्या के द्वारा निर्मित तन्तु का संस्कार तथा प्रक्षालन के बाद मुद्गमाषादि चूर्णों के सम्मिश्रण से तन्तु के क्षालन का विधान किया है। क्षालित तन्तु को अच्छी तरह सुखाकर तीन गुण, पुनः चतुर्गुण कर उस तन्तु से पवित्र-कल्पन का विधान देखते हैं।[3] दुर्वास-संहिता में युगापेक्ष पवित्रोपादान-द्रव्य का विधान किया गया है। इसके अनुसार कृतयुग में सुवर्ण, त्रेता में रजत, द्वापर युग में ताम्र तथा कलियुग में वित्तानुसार कार्पास, मूंज, दर्भ अथवा क्षौम दुकूल को उपादान-द्रव्य के रूप में ग्राह्य कहा गया है। अन्य संहिताओं की तरह यहाँ भी ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा के द्वारा कल्पित सूत्र को पवित्र-कल्पन के लिए ग्राह्य बताया है, पर अन्य जातियों से किये गये सूत्र के उपयोग से पवित्रोत्सव का निष्फल होना भी निर्दिष्ट है।[4]

विविध संहिता-ग्रन्थों में विभिन्न पवित्र के मान तथा तन्तु-संख्या एवं उसकी ग्रन्थि-संख्या का निर्देश देखते हैं। ये मान तथा संख्या-निर्देशक्रम सभी जगह समान नहीं हैं। इस प्रसंग में प्रधानतः दो सरणी देखते हैं। एक सरणी में मानतन्तु-संख्या तथा ग्रन्थि-संख्यादि का निर्देश एक ही साथ किया गया है, जबकि कुछ संहिताओं ने सबका पृथक्-पृथक् निर्देश तथा विवेचन किया है। पहले क्रम का प्रतिपादन पाद्म, विश्वामित्र, भार्गव, विष्णुतिलक तथा श्रीप्रश्नसंहिता में किया गया है।[5] मार्कण्डेय-संहिता ने पवित्र

१. (i) अ० संहिता, २४.३४-३५,३६
(ii) कपिञ्जल-संहिता, ३२.२०—२२
२. (i) मार्कण्डेय-संहिता, २३.२४—२७
(ii) वाशिष्ठ संहिता, पट० ३२.१२—१५
(iii) हयशीर्षसंहिता, सौर का०, पट० ४२.३-४
३. (i) विश्वामित्र-संहिता, २४ ६—१०
(ii) नारदीय संहिता, २३ १२—१४
(iii) पाद्मसंहिता, च० १४.४३—४६
(iv) भार्गव-संहिता. २१.७—९
(v) विष्णुतिलक, ८.२०९-२१०
(vi) श्रीप्रश्नसंहिता, ४२.३०—३३
४. दुर्वास-संहिता, ३४.२५—३०
५. (i) विश्वामित्र-संहिता, २४.१४—४४
(ii) पाद्मसंहिता, १४.५०—७४
(iii) भार्गव-संहिता, २१.२०—२३; १५—२०
(iv) विष्णुतिलक, ८.२१५—२२२
(v) श्रीप्रश्नसंहिता, ४२. ३३-३४
(vi) ईश्वर-संहिता, १४.१२१—१५०
(vii) जयाख्य-संहिता, २१.२५-२६
(vii) पाद्मसंहिता, १२.१५०—१७९

के अधोलिखित नामादि का निर्देश किया है :

पवित्र-नाम	प्रमाण	पवित्र-नाम	प्रमाण
१. परिवार-पवित्र	द्वादश तन्तु	८. आलय-पवित्र	अष्टाविंशति तन्तु
२. आचार्य-पवित्र	सप्तविंशति तन्तु	९. गोपुर-पवित्र	एकोनत्रिंशत् तन्तु
३. कुण्ड-पवित्र	अष्टाविंशति तन्तु	१०. प्रासाद-पवित्र	पञ्चविंशति तन्तु
४. घण्टा-पवित्र	पञ्चविंशति तन्तु	११. बलिपीठ-पवित्र	नवत्रिंशत् तन्तु
५. प्रासाद-पवित्र	चत्वारिंशत तन्तु	१२. उपपीठ-पवित्र	पञ्चत्रिंशत् तन्तु
६. धूपदण्ड पवित्र	चत्वारिंशत तन्तु	१३. प्राकार-पवित्र	त्रिगुणित सूत्र[१]
७. दीपपवित्र	पञ्चविंशति तन्तु		

पवित्र-तन्तु-संख्या के विषय में अनिरुद्ध-संहिता ने कोई भी निश्चित मत नहीं बताया है। इसके अनुसार यथेच्छ तन्तु-संख्या विहित है।[२] नारदीय संहिता ने भी तन्तुओं की कोई निश्चित संख्या नहीं कही। कुछ वैखानसागम-ग्रन्थों में पवित्र की सूत्र-संख्या बताई गई है। उत्तमादि पवित्र-भेद के आधार पर निम्नलिखित रूप से पवित्रों की सूत्र-संख्या विहित है :

१. उत्तम पवित्र	१०८ सूत्र
२. मध्यम पवित्र	५४ सूत्र
३. अधम पवित्र	२७ सूत्र
४. वनमाला-पवित्र	१००८ सूत्र
५. अधिवास-पवित्र	२५ सूत्र
६. परिवार-पवित्र	१२ सूत्र[३]

पवित्र-सूत्र-संख्या-वर्णन के बाद पवित्र-ग्रन्थियों का वर्णन द्रष्टव्य है। पवित्र-कल्पन के क्रम में सूत्र के बीच-बीच में ग्रन्थि देते हैं। इस ग्रन्थिबन्धन के विषय में भी सामान्यतः सभी संहिताएँ समान मत की नहीं हैं। ग्रन्थि का प्रमाण अंगुष्ठमान के समान होना चाहिए। विविध पवित्रों में अधोलिखित क्रम से ग्रन्थियों की संख्या भिन्न-भिन्न कही गई है। जैसे—

पवित्र-नाम	ग्रन्थि-संख्या
१. कनिष्ठ पवित्र	द्वादश ग्रन्थि
२. मध्यम पवित्र	चतुर्विंशति ग्रन्थि
३. उत्तम पवित्र	षट्त्रिंशत् ग्रन्थि
४. वनमाला पवित्र	अष्टोत्तरशत ग्रन्थि

१. मार्कण्डेय-संहिता, २३.३०; ३२.३५-३७

२. अनिरुद्ध-संहिता, २४.५१

३. (i) विमानार्चनकल्प, पट ७८, पृ० ४७०

(ii) प्रकी० अ०, ३२.५५-५६

५. अधिवासपवित्र	द्वादश ग्रन्थि
६. परिवार-पवित्र	अष्टग्रन्थि
७. दीक्षितपवित्र	द्वादश अथवा अष्टग्रन्थि[१]

अनिरुद्ध-संहिता ने पवित्रसूत्र-संख्या की तरह ही पवित्र-ग्रन्थियों की कोई निश्चित संख्या-निर्देश नहीं किया है। यथेच्छ ग्रन्थि का विधान वर्णित है।[२] पवित्र-ग्रन्थि का स्वरूप पक्षी के अण्डे के समान अथवा धात्रीफल या स्थूल मुक्ताफल की तरह निर्मित होना कहा गया है।[३]

ग्रन्थियुक्त पवित्र-कल्पन के पश्चात् उसके वर्ण-कल्पन का अवसर आता है। पवित्र को रँगने के लिए कुङ्कुमादि का प्रयोग निर्दिष्ट है।[४] वैखानसागम-संहिताओं के अनुसार पवित्र रँगने के लिए हरिद्रा, कुंकुम, गोरोचन-सिन्दूर तथा गैरिक विशेष रूप से विहित हैं। पवित्रों के लिए सम्मिश्रित वर्ण अधोलिखित रूप में उत्तमादि भेद से निर्दिष्ट हैं :

१. श्रेष्ठवर्ण—कर्पूर तथा कुंकुम का सम्मिश्रण,
२. मध्यमवर्ण—गोरोचन तथा सिन्दूर का सम्मिश्रण,
३. अधमवर्ण—हरिद्रा तथा गैरिक का सम्मिश्रण।

यहाँ हरिद्रा का ग्रहण कुंकुमादि के अभाव में होना कहा गया है।[५] पवित्रों को वर्णित कर उनको सुवासित करते हैं। इसके लिए उशीरादि द्रव्य का उपयोग किया जाता है।[६] सुगन्धि-द्रव्यों का अधिवास भी किया जाता है। मार्कण्डेय-संहिता ने द्रव्यों के अधिवास का विधिवत् वर्णन किया है।[७]

पवित्र-कल्पन के विषय में विचार करने के अनन्तर पवित्रारोपण-काल के सम्बन्ध में कुछ विचार अपेक्षित है। पवित्रारोपण-काल के विषय में विचार के प्रसंग में तीन तरह के चातुर्मास कहे गये हैं : १. सौर, २. चान्द्र तथा ३. वैष्णव।[८] चार महीनों के बीच शुभ दिन में पवित्रारोपण का अवसर कहा गया है। चातुर्मास में आषाढ़

---

१. (i) मार्कण्डेय-संहिता, २३.४५—४८
(ii) नारदीय संहिता, २३
(iii) विमानार्चनकल्प, पट० ७८, पृ० ४७०-४७१
(iv) वासाधिकार, ३९, पृ० ६९
२. अनिरुद्ध-संहिता, २४.५१
३. वही, २४.४१
४. (i) नारदीय संहिता, २३.३२
(ii) अनिरुद्ध-संहिता, २४.६०
५. (i) वासाधिकार, अ० ३९, पृ० ६९
(ii) विमानार्चनकल्प, पट० ७८
६. नारदीय संहिता, २३.३३
७. मार्कण्डेय-संहिता, २३.१०६—११४
८. अनिरुद्ध-संहिता, २४.२
पारमेश्वर-संहिता, १२.१९

पञ्चदशी से कार्त्तिक तक चार मास कहे गये हैं।[1] सम्पूर्ण चन्द्रदिवस को चान्द्रकाल कहते हैं। पवित्रारोपण के लिए पूर्वोक्त तीन कालों में चान्द्रकाल को अधम काल कहा गया है।[2] कर्कट-संक्रान्ति से तुला के भागक्षयपर्यन्त अष्टपक्षयुक्त चार मास को सौरकाल कहा गया है। यह सौरकाल पवित्रारोपण के लिए मध्यम कहा गया है।[3] सम्पूर्ण चातुर्मास्य के एकादशी निशान्तकाल को वैष्णवकाल कहा गया है। यह वैष्णवकाल पवित्रारोपण के लिए उत्तम काल माना गया है।[4] अनिरुद्ध-संहिता के अनुसार द्वादशी आदि तीन तिथियाँ वैष्णवकाल के नाम से अभिहित हैं। इस वैष्णव-काल को यहाँ भी पवित्रोत्सव के लिए उत्तम काल कहा गया है। अतः सर्वप्रयत्न से द्वादशी तिथि को ही पवित्रारोपण करना चाहिए।[5] पवित्रोत्सव-काल के विचार-क्रम में आषाढ़ में पवित्रारोपण को उत्तम, श्रावण में मध्यम तथा कन्या मास में अधम कहा है।[6] इन सबके अतिरिक्त कुछ संहिताओं ने निम्नलिखित रूप में सामान्य ढंग से पवित्रारोपण-काल का निर्देश किया है। श्रावण के शुक्ल या कृष्ण पक्ष में, भाद्र या आश्वयुज महीने में, कार्त्तिक के शुक्लपक्ष में, कर्कटराशिस्थ दिवाकर होने के समय द्वादशी तिथि में भगवान् का पवित्रारोपण विहित है। सिंहस्थ तथा कन्यास्थ रवि होने पर भी द्वादशी तिथि में पवित्रारोपण विहित है। तुलास्थ सूर्य होने पर यथा कथमपि पवित्रारोपण का काल स्वीकार्य है।[7] उत्तरायण के व्यतीत होने के बाद चातुर्मास्य के मध्य में सर्वदोष-

---

१. (i) सात्वत-संहिता, १४ १०
   (ii) अनिरुद्ध-संहिता, २४.१
   (iii) ईश्वर-संहिता, १४.९-१०
२. (i) पारमेश्वर संहिता, १२ २०
   (ii) सात्वत-संहिता, १४.११-१२
   (iii) अ० संहिता, २४.३-४
   (iv) ईश्वर-संहिता, १४.१०
३. (i) सात्वत-संहित', १४.११-१२
   (ii) ईश्वर-संहिता, १४ ११
   (iii) पारमेश्वर संहिता, १२.२०-२१
४. (i) सात्वत-संहिता, १४.१३
   (ii) ईश्वर-संहिता, १४.१२
   (iii) पारमेश्वर संहिता, १२.२१
५. अनिरुद्ध-संहिता, २४.३-४,५
६. दुर्वास संहिता, ३४.१३-१४
७. (i) मार्कण्डेय-संहिता, २३.३—६
   (ii) जयाख्य-संहिता, २१.४—६
   (iii) नारदीय संहिता, २३.५-६
   (iv) भार्गव-संहिता, २१.४-५
   (v) वाशिष्ट संहिता, पट० ३२.७—९
   (vi) विश्वामित्र-संहिता, २४.५-६
   (vii) विष्णुतिलक, २८.७१

विवर्जित शुभ दिन ग्राह्य है।[१] चातुर्मास्य के मध्य में तथा आदि और अन्त में आने-वाली द्वादशी तिथियों में, संक्रान्तियों में, पौर्णमासियों में, अशेष अमावास्या में, तृतीया में, अश्विनी तथा रोहिणी में; अष्टमी, प्रथमा, द्वितीया, पञ्चमी, त्रयोदशी, दशमी तथा एकादशी तिथियों में पवित्रारोपण विहित हैं। पवित्रारोपण के लिए अधोलिखित नक्षत्र ग्राह्य कहे गये हैं—तीनों उत्तरा, रेवती, अश्विनी, भरणी, पुनर्वसु, हस्त, श्रवण तथा वैष्णव नक्षत्र। चातुर्मास्य के काल में आये उत्थानद्वादशी को षडशीतिमुख होना कहा है। उस काल में जो भगवान् जगद्योनि का पवित्रारोपण करता है वह अतीत तथा वर्त्तमान के सभी कुल-संततियों का उद्धार करता है। उस काल में हरि भक्तों के निर्वाण-विग्रह के रूप में सन्निहित रहता है। यद्यपि भगवान् अच्युत भक्तों के समीप सतत सन्निहित रहता है, तथापि उस तिथि में किये जानेवाले इस कर्म की अलग बलवत्ता है। इस तिथि में भगवान् अत्यन्त सन्निहिततर होता है। सत्पात्र देशकालों की आसृष्टि-स्थिति के लिए इस काल में पवित्रारोपण का विधान है।[२] कपिञ्जल के अनुसार यजमान के नक्षत्र में भी पवित्रारोपण विहित है।[३] पौष्करसंहिता ने प्रावृट्काल को विष्णु का प्रीतिकर होना कहा है। इस काल में किया गया पवित्रारोपण अति उत्तम कहा गया है।[४] सूर्य का पवित्रारोपण-काल आषाढ शुक्ल सप्तमी तथा विजय सप्तमी में, मार्ग एवं माघ मासों की शुभ तिथियों में निर्धारित है। अन्य देवों तथा मनुष्यों के लिए भी यह काल ग्राह्य है।[५] कुछ स्थलों में पवित्रारोपण-काल का प्रतिनिधि-काल भी निर्दिष्ट है।[६]

पवित्रारोपण के लिए मण्डप-कल्पन आवश्यक होता है। यह मण्डप सामान्यतः प्रतिष्ठादि क्रम में निर्मित मण्डप के समान होता है। मण्डपों में मण्डल का निर्माण कर

---

१. पारमेश्वर संहिता, १२.१८.२३

२. (i) पारमेश्वर संहिता, १२.२९–४३
   (ii) ईश्वर-संहिता, १४.१६६
   (iii) पौष्कर संहिता, ३०.८.११
   (iv) भार्गव संहिता, २१.५.६
   (v) श्रीप्रश्नसंहिता, ४२.२४—२९
   (vi) पाद्मसंहिता, च० पा० १४.३७; ४०—४३
   (vii) दुर्वास संहिता, ३४.१२-१३
   (viii) विष्णुतिलक, ८.२०८-२०९

३. कपिञ्जल-संहिता, ३२.१०-११

४. (i) पौष्कर संहिता, ३०.२२०—२२६
   (ii) पारमेश्वर संहिता, १२.२४—२८

५. हयशीर्ष-संहिता, सौ० का० ४२.१-२

६. (i) सात्व० संहिता, १४.१४-१५
   (ii) ईश्वर-संहिता, १४.१३-१४
   (iii) पारमेश्वर संहिता, १२.२२-२३

पवित्रारोपण करते हैं। मण्डल के विषय में विविध संहिताओं के अलग-अलग भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रतिमा-विचार-प्रकरण में भगवदाराधन-स्थल के रूप में पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत अन्यतम आराधन-स्थल-मण्डल का निर्देश किया गया है। पवित्रारोपण-क्रम में भी मण्डल में भगवदाराधन कर, मण्डल में भी पवित्रारोपण करते हैं।[1] मण्डल का उपयोग दीक्षादि क्रम में भी होता है। यथास्थान उसकी चर्चा होगी।

पवित्राधिवास—यथाविधि निर्मित पवित्र का अधिवास तत्तद्ग्रन्थों में वर्णित है। नारदीय संहिता ने भी अधिवास-विधि का निर्देश किया है। अधिवास-प्रसंग में मण्डप के द्वारकुम्भों में तत्तत् देवताओं का आराधन तथा वैडूर्यादि रत्नों का प्रक्षेप करते हैं। कुम्भार्चन का क्रम यहाँ वैसा ही होता है, जैसा कि दीक्षाविधि में आचार्य के द्वारा विहित कुम्भार्चन का। गन्धादि द्रव्यों के द्वारा मूलमन्त्र से यह अर्चन सम्पादित होता है। मण्डप पर शालिवेदी के ऊपर सितादि पुष्पों के द्वारा मण्डल की रचना की जाती है। मण्डल में मूल बिम्ब से भगवत्शक्ति का आवाहन कर मण्डलस्थ देव का आराधन करते हैं। यह क्रम उस अवस्था में विहित है जबकि मूलबिम्ब में ही पवित्रारोपण किया जाता हो। पवित्रारोपण यदि उत्सवार्चा या कर्मार्चा में किया जाता हो तब उस स्थिति में मूलबिम्ब से उस बिम्ब-विशेष में भगवत्-शक्ति का आवाहन कर, शक्तियुक्त बिम्ब को मण्डल के मध्य स्थापित करते हैं तथा उसका विधिवत् अर्चन करते हैं। इस आराधन के बाद महोत्सव-विधि से हवन करते हैं। अधिवास के अवसर पर अधोलिखित रूप में पवित्र-ग्रन्थियों का अर्चन करते हैं। अधमपवित्र में द्वादशाक्षर-मन्त्र के द्वारा पृथक्-पृथक् पवित्रग्रन्थियों का पूजन होता है। मध्यम पवित्र में चतुर्विंशति तत्त्वों से पृथक्-पृथक् पवित्रग्रन्थियों का अर्चन होता है। उत्तम पवित्र में चतुर्विंशति तत्त्वों तथा द्वादशाक्षरों के स्वरान्त से सब मिलाकर ३६ के द्वारा उत्तमपवित्र की ३६ ग्रन्थियों का अर्चन करते हैं। वनमाला-पवित्र-ग्रन्थियों में भी उपर्युक्त उत्तम पवित्र-ग्रन्थियों की तरह अर्चन विहित है। पवित्राधिवास-अवधि में अनवरत नृत्त तथा गेयादि का आयोजन करते हैं।[2] अधिवास का काल रात्रि-पर्यन्त होगा। इस कार्य के लिए अलग से एक पवित्र का कल्पन होता है, जिसे अधिवास-पवित्र के नाम से अभिहित करते हैं।

पवित्राधिवास के पश्चात् दूसरे दिन प्रातःकाल आराधक स्नान-जपादि से निवृत्त होकर बिम्ब को मण्डल से उठाकर मण्डप के पश्चिम भाग में रखते हैं। जहाँ केवल मण्डल का आराधन हो वहाँ मण्डलस्थ भगवत्शक्ति को कुम्भ में विसर्जित करते हैं। पुनः उस वेदी पर रज से मण्डल का कल्पन करते हैं। ये मण्डल द्वादशार, चक्राब्ज या भद्रक हो सकते हैं।[3] पाञ्चरात्र-संहिताओं ने विस्तृत रूप से विविध मण्डलों के स्वरूपादि का वर्णन कर उनका निर्माण-प्रकार भी बताया है।[4] मण्डल-कल्पन के अनन्तर कुम्भाराधन

---

१. अनिरुद्ध-संहिता, २४.४७—५०
२. नारदयो संहिता, २३.३९—५६
३. नारदीय संहिता, २३.५६-५७
४. (i) पौष्करसंहिता, अ० ५
   (ii) नारदीय संहिता, अ० ८

करते हैं। उसके पश्चात् मण्डल के मध्य में पद्म पर समलंकृत बिम्ब को स्थापित करते हैं एवं उसकी अर्चना करते हैं। यह अर्चन मण्डल से पश्चिम समीप में ही उत्तम नवीन विस्तृत शुभवस्त्र से निर्मित उत्तम आसन पर बिम्ब को स्थापित करके भी किया जा सकता है। इस प्रकार देव-बिम्बार्चन के लिए यहाँ दो पक्ष निर्दिष्ट हैं। उपरिनिर्दिष्ट कुम्भस्थ तथा मण्डलस्थ देवार्चन के बाद अग्न्याराधन अर्थात् होम का अवसर आता है।[1]

इस प्रकार भगवदाराधन के बाद बिम्ब में स्थित प्रभु को पवित्र से विभूषित करने का अवसर आता है। इस क्रम में मण्डलादि के लिए कल्पित तत्तत् पवित्रों से मण्डलादि को विभूषित करते हैं। कुण्ड-पवित्र अग्निकुण्ड की मेखलाओं में अर्पित होता है। परिवार-पवित्रों के द्वारा परिवार-देवों को विभूषित करते हैं। उसके पश्चात् अलंकार-बिम्बों, प्रमुख विप्र तथा आचार्यादि को तत्तद्बिम्बों के द्वारा विभूषित किया जाता है।[2] इनके अतिरिक्त अधोलिखित पवित्रारोपण-स्थल कहे गये हैं: कुम्भ-मण्डल तथा मण्डलगत सभी देवता, विभव-व्यूहरूप सभी देव, घण्टा, अक्षसूत्र, जाया, सम्बन्धी तथा मन्त्रिगण, भगवद्धर्मसेवी। पवित्रारोपण में सहायता करनेवाले चातुरात्म्याभिलाषियों एवं स्वानुकूल भृत्यों को भी पवित्र से पवित्रित किया जाना चाहिए। सामान्यतः नारदीय संहिता ने भी इन्हीं स्थानों में पवित्र-समर्पण का निर्देश किया है। यहाँ तत्तत् पवित्रों का अधोलिखित रूप से परिगणन किया गया है:

१. अधिवास-पवित्र, २. कुम्भपवित्र, ३. करकपवित्र, ४. अग्निपवित्र, ५. मण्डलपवित्र, ६. अन्यबिम्ब-पवित्र, ७. द्विजेन्द्र-पवित्र, ८. नरेन्द्र-पवित्र, ९. आचार्य-पवित्र, १०. मन्त्रिपवित्र, ११. अलंकार-बिम्ब-पवित्र, १२. मूलबिम्ब-पवित्र।[3]

पवित्रारोपण-क्रम में पवित्र-संख्या का संकेत भी किया गया है। विभव रहने पर देव-देव को पाँच हारसंयुक्त नाना आकार-तन्तुओं से युक्त मुक्ताहार-समन्वित पवित्र समर्पित करने का विधान है। चतुस्स्थानों में एक-एक या दो-दो पवित्र समर्पित होने चाहिए। सभी कर्मबिम्बों में भी उसी तरह एक-एक या दो-दो पवित्र विहित हैं। मुख्य कल्प में गोपुरादि में उत्तमादि पवित्र-समर्पण का निर्देश है। अनुकल्प में मध्यम या उत्तम दो-दो या एक-एक पवित्र-समर्पण का विधान है। मण्डलाङ्ग देवों तथा विष्वक्सेनादि के लिए तीन-तीन, दो-दो अथवा एक-एक पवित्र का विधान है। ईश्वर, पारमेश्वर आदि संहिताओं ने इस विषय को विस्तार से प्रतिपादित किया है। जयाख्य ने भी संक्षेपतः इसी का समर्थन किया है।[4] पौष्करसंहिता के अनुसार

---

१. (i) नारदीय संहिता, २३.५८—६२
(ii) मार्कण्डेय-संहिता, २३.१२३—१२५

२. नारदीय संहिता, २३.६३—७०

३. (i) पौष्करसंहिता, ३०.३३—४०
(ii) पारमेश्वर संहिता, १२.१४५, १४७
(iii) नारदीय संहिता, २३.६४—६७

४. (i) ईश्वर-संहिता, १४.१०८, १२१
(ii) पारमेश्वर-संहिता, १२.१३७—१४६
(iii) जयाख्य-संहिता, २१.११—१३

जगन्नाथ की प्रतिमा में चार, कुण्ड तथा मण्डल में दो-दो तथा शास्त्रपीठ में दो-दो पवित्र समर्पित होने चाहिए।[१] दुर्वास संहिता ने कुम्भमण्डल तथा अग्निकुण्ड में भी चार-, चार पवित्र-समर्पण का निर्देश किया है।[२]

विविध स्थानों में पवित्रारोपण के बाद क्षमा-याचना तथा प्रार्थना का अवसर आता है। क्षमा-याचना के स्वरूप का निर्देश पहले किया जा चुका है। इस प्रकार पवित्रारोपण के पश्चात् दो-तीन दिन या सप्ताह-पर्यन्त प्रतिदिन भगवदाराधनपूर्वक बलिदान एवं उत्सव का विधान है। यह उत्सव अहोरात्र होना चाहिए। इस अवसर पर सर्वत्र वेदादि-पारायण का निर्देश किया गया है।[३] इस क्रम में यजमान देशिक का सम्मान करता है एवं दक्षिणा आदि से उसे सन्तुष्ट करता है। देशिक के साथ यतियों, वैष्णवों, भक्तों, विद्यावय-सम्पन्न महानुभावों का सम्मान भी आवश्यक होता है। इस अवसर पर चाण्डालादि तक के लिए अन्नदानादि विहित है।[४] अन्त में पूर्णाहुतिकर पवित्रावरोहण का अवसर आता है। यह अवरोहण उन-उन स्थानों से किया जाता है, जहाँ पवित्रारोपण हुआ रहता है। पवित्रावरोहण से पूर्व कुम्भादि तत्तत्स्थानों में भगवदर्चन करते हैं।[५] पवित्रारोहण के पश्चात् पवित्र तथा अन्य निर्माल्यों को आचार्य स्वयं ग्रहण करता है या समीपस्थ वैष्णवों को देता है।[६] पवित्रारोपण का यह क्रम सामान्यतः आलयार्चा के लिए विहित है। नारदीय संहिता ने गृहार्चा में विभवादि के अनुसार मण्डप-कल्पन का विधान किया है। गृहार्चा में बिम्ब से अधिक मण्डलार्चन सर्वथा निषिद्ध है।[७]

---

१. पौष्करसंहिता, ३०.३६
२. दुर्वास संहिता, ३४.४३
३. मार्कण्डेय-संहिता, २३.१२६-१२७
४. नारदीय संहिता, २३.७०—७४
५. (i) मार्कण्डेय-संहिता, २३.१२८—१३२
   (ii) नारदीय संहिता, २३.७५-७६
६. नारदीय संहिता, २३.७७
७. नारदीय संहिता, २६.७९-८०

चतुर्थ भाग

प्रथम अध्याय

वैष्णवाचार तथा भेद

भारतीय समाज के प्रायः हर सम्प्रदाय में सामाजिक सदस्यों के आचार तथा दैनन्दिन कर्मों का विस्तार से निरूपण हुआ है। मनु ने पञ्च महायज्ञों का निर्देश करते हुए कहा है :

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥[१]

गृहस्थों के दैनन्दिन कर्म का वर्णन स्मृतिग्रन्थों के अतिरिक्त सूत्र-साहित्य में भी उपलब्ध होता है। गृहस्थों के लिए रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर में जागने का विधान है। रात्रि के मध्य दो प्रहर अर्थात् ६ घण्टे सोने का निर्देश किया गया है। अवशिष्ट अट्ठारह घण्टों के कार्य भी शास्त्रों में विधिवत् वर्णित हैं। ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या-त्याग के समय मनुष्य पवित्र विचारों से मन को शुद्ध करता है। फिर शौच, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्या, तर्पण, पञ्चमहायज्ञ, अग्निहोत्र, मध्याह्न-भोजन, जीविकोपार्जन, अध्ययन, अध्यापन, सायंकालिक सन्ध्या, दान तथा शयन—ये आह्निक कर्म कहे गये हैं।[२]

हारीत-गृहस्थ-रत्नाकर के अनुसार शौच-विधान शरीर की पवित्रता एवं स्वास्थ्य के द्वारा मानवीय आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को प्रस्फुटित करते हैं। शुचिता धार्मिक जीवन का प्रथम सोपान है। इससे मन में प्रसन्नता आती है। यह देवताओं को प्रिय है। शौच से बुद्धि विमल होती है और आध्यात्मिक ज्ञान बढ़ता है।[३]

भागवतपुराण ने गृहस्थों के नित्यकृत्य का निर्देश किया है।[४] बौद्ध तथा जैन-साहित्य में भी गृहस्थों के आचार का विधान है। मूलतः आचारपरक सभी साहित्य सामान्यतः समान कहे जा सकते हैं। क्योंकि, सभी जगह मानवीय आध्यात्मिक विकास को ही मूलरूप से आचार का परम लक्ष्य स्वीकारा गया है। बौद्धाचार्यों ने प्रमुख रूप से वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास की ओर अधिक अवधान दिया है।[५]

---

१. मनुस्मृति, ३.७०
२. प्रा० भा० सा० सां० भू०, पृ० २६२-२६३
३. हारीत-गृहस्थ-रत्नाकर, पृ० ५२२
४. श्रीमद्भागवत, ८.४.१७—२५
   वही, ७.१४. १—६
५. (i) चुल्लवग्ग, ४.४.६
   (ii) महावग्ग, ६.२८.१
   (iii) वही, ६.२३.३
   (iv) वही, ५.१३.१

वैष्णव-आगम-ग्रन्थों में वैष्णवों के आचार तथा दिनचर्या के विषय विस्तृत रूप से प्रतिपादित हैं। वैष्णवों के विशिष्ट आचार का निरूपण तत्तत् पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में पञ्चकाल-प्रक्रिया के अन्तर्गत निर्दिष्ट है, जिसका विस्तृत वर्णन एक पृथक् अध्याय में द्रष्टव्य है। पञ्चकाल-प्रक्रिया में निर्दिष्ट वैष्णवों के आचार के अतिरिक्त वैष्णवीय आचारपरक विषय विस्तृत रूप से वैष्णव-आगम-ग्रन्थों में देखते हैं। नारदीय संहिता ने एकादश अध्याय में वैष्णवों के आचार का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थों में भी वैष्णवाचार का निरूपण है। दैनन्दिन क्रिया-कलाप का निर्देश करते हुए यहाँ कहा गया है कि वैष्णवों को ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहिए। माधव को प्रणाम कर शय्या त्यागकर मल-मूत्रादि विसर्जनार्थ जाना विहित है। इस क्रम में मल-मूत्र-त्यागविधि तथा शरीर-शोधन का क्रम स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है।[१] शरीर-शोधन के पश्चात् सन्ध्योपासन का निर्देश किया गया है। यहाँ निर्गुण पुरुषोत्तम नारायण का ध्यान कर प्रथम ब्राह्मी सन्ध्या विहित है। ब्राह्मी सन्ध्योपासन के पश्चात् वैष्णवी सन्ध्योपासन का अवसर आता है। सन्ध्योपासन-क्रम में आचमनादि के लिए जो मन्त्र निर्दिष्ट हैं वे सामान्यत: वैदिक मन्त्रों की अपेक्षा पौराणिक मन्त्रों के अधिक समीप दिखते हैं। सामान्यतः व्यवहार में सन्ध्या-वन्दन के क्रम में गायत्री मन्त्र के जप का विधान है, पर वैष्णवी सन्ध्या में नारदीय संहिता ने मूल-मन्त्र के जप का निर्देश किया है। इसी प्रकार स्नान के बिना मध्याह्न तथा सायं-सन्ध्या का भी विधान है।[२] अनिरुद्ध-संहिता ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से सन्ध्योपासन का निर्देश करते हुए 'आपो हिष्ठा' इत्यादि मन्त्र से प्रोक्षण के साथ 'सावित्री' मन्त्र के जप का विधान किया है।[३] सन्ध्योपासन के पश्चात् आलयादि-गमन तथा तदङ्गभूत विविध भूतशुद्ध्यर्थ मानस-यागादि विहित हैं। मानस-याग एक विशिष्ट प्रकार की मानसिक आराधना है। इसके द्वारा शरीर के विविध अङ्गों में विविध मन्त्र, देवतादि के न्यास, शरीर में तत्तत् शक्ति के न्यास का क्रम एवं सृष्टि तथा लय के द्वारा शरीर-शोधन का विधान है। शरीर-शुद्धि के बाद हृदयाब्ज में भगवदाराधन इसका मुख्य प्रयोजन है। यह मानस-यागविधि पारमेश्वर संहिता में अत्यन्त विस्तृत रूप से वर्णित है। कुछ अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी इसका विस्तृत वर्णन है।[४] इसके अतिरिक्त वैष्णवों के आचार के निर्देशक्रम में विशेषत: अधालिखित बातों का निर्देश किया गया है। दीक्षित वैष्णवों को सदा ऊर्ध्वपुण्ड्र

---

१. (i) नारदीय संहिता, ११.५३—५८
(ii) पारमेश्वर संहिता, २. १-१३८
(iii) अनिरुद्ध-संहिता, १६.१—१४
(iv) विष्वक्सेन-संहिता, २०.१८—२६
२. नारदीय संहिता, ११.६३-७१
३. अनिरुद्ध-संहिता, १६.१७-१८
४. (i) पारमेश्वर संहिता, ५. १—१८३
(ii) ईश्वर-संहिता, अ० २

धारण करना चाहिए।[1] ऊर्ध्वपुण्ड्र के अनेक भेद तथा स्वरूप होते हैं। यद्यपि नारदीय संहिता में इन विविध भेदों का विशेष उल्लेख तथा वर्णन नहीं है, तथापि पारमेश्वर संहिता में यह विषय विस्तृत रूप से वर्णित है। यहाँ ऊर्ध्वपुण्ड्र का उपादान-द्रव्य, स्वरूप तथा धारण-प्रकार—ये सारे विषय विस्तृत रूप से निर्दिष्ट हैं।[2] वैष्णवों को पाषण्डियों तथा अन्य देवाराधकों के प्रति आस्थावान् नहीं होना चाहिए। वैष्णवों के द्वारा सर्वदा गोग्रास तथा अग्र भीक्षा दी जानी चाहिए। पतितों, विष्णुनिन्दाप्रसक्तों, अदीक्षितों तथा पापीष्ठों के साथ वैष्णवों को आलाप नहीं करना चाहिए। विष्णुविरुद्ध विवादरतों को निर्वासित कर देना चाहिए। इस क्रम में यदि प्राण-त्याग भी करना पड़े, तो उसे भी उचित कहा गया है। वैष्णवों की तुष्टि के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। वैष्णव अपने पुत्रादि के नाम सर्वदा विष्णुनामपरक रखे। वैष्णवों को अपना मन्त्र, मुद्रा तथा अपनी मूर्त्ति किसी के समक्ष प्रकाशित नहीं करनी चाहिए। प्रधान मुनियों के द्वारा आराधित उपल, बालुका, मृत्पिण्ड अथवा प्रतिमा की द्वादशाक्षर-मन्त्र के द्वारा आराधना करनी चाहिए। स्वयं व्यक्त का आराधन भी द्वादशाक्षर-मन्त्र अथवा स्वमन्त्र से किया जाना चाहिए। वैष्णवेतर के समीप वैष्णव-सिद्धान्तों का उच्च स्वर से पाठ वर्जित है।[3] वैष्णवों को सत्य, अक्रोध, अस्तेय, धीशौच, ह्री धृति के साथ संयतेन्द्रियता तथा विद्या का नित्य ही अभ्यास करना चाहिए। गुरु की निन्दा या प्रवाद उसे कभी नहीं सुनना चाहिए। विष्णु से इतर किसी देवता को नमस्कार या अर्चन करना सर्वथा वर्जित है।[4] ये आचार आज भी वैष्णवों के दैनन्दिन कर्म में निश्चित रूप से देखे जा सकते हैं। कट्टर वैष्णव कभी भी वैष्णवेतर आलय में नहीं जाते।

वैष्णवों के आवास आदि के योग्य स्थानादि का निर्देश करते हुए नारदीय संहिता कहती है : वैष्णवों को शुभ्र स्वच्छ देश में बसना चाहिए। जहाँ पुण्या महानदी, महासागर, पलाशादि पुण्यवृक्ष, विप्र, कुश आदि हों वह बसने योग्य स्थान होता है। वर्णाश्रम-समन्वित कुरुक्षेत्रादि देश, जो ऋषियों के द्वारा वास-योग्य बताये गये हैं, वहाँ वास करना विहित है। वास के अयोग्य कुछ निषिद्ध देशों का भी वर्णन देखते हैं, जिन्हें वैष्णवों के लिए वासार्थ वर्ज्य कहा गया है। ये निषिद्ध देश अधोलिखित हैं : पारसीक देश, कटाह, कीकट, सिंहल, कलिङ्ग, सिन्धु, सौवीर, म्लेच्छदेश तथा कामरूप। कुरुक्षेत्रादि वासार्ह देशों में जो शास्त्र या चरित्रादि-निर्देशक तत्त्व हैं, उनका तथा उन देशों के निवासियों द्वारा अनुष्ठित आचार का पालन वैष्णवों के लिए विहित है। इसके अतिरिक्त पाञ्चरात्रज्ञ भागवतोत्तम विप्र जैसा कहें या आचरण करें उसके अनुसार ही आचरण करने का विधान है। अन्ततः वैष्णवों के निषेकादि संस्कारों के विषय में निर्देश करते हुए वैदिक संस्कार-

---

१. नारदीय संहिता, ११.३५

२. पारमेश्वर संहिता, ३. १०—२१

३. नारदीय संहिता, ११. ३६—४७

४. वही, ११. ७१-७२

विधि को वैष्णवों के लिए स्वीकारा गया है। अथवा पाञ्चरात्रोक्त विधि से निषेकादि संस्कार सम्पादित किये जाने का विधान है।[१] वैष्णव-संस्कारों का कुछ विस्तृत विवेचन पृथक् अध्याय में द्रष्टव्य है। वैष्णव स्ववित्तानुसार वासुदेव के अतिरिक्त एक मूर्त्ति की स्थापना कर उत्सव, स्नपन, दान, मण्डलार्चन, महाहविष्-निवेदन करें। वैष्णवों को भगवदर्पित हविश्शेष से ही अपना शरीर-पोषण करना चाहिए। स्वाराध्य मूर्त्ति को निवेदित हविष् का ही ग्रहण विहित है। अन्यदीय अन्न स्वीकार कर अर्चनादि का फल स्वयं को न प्राप्त होकर अन्नदाता को ही प्राप्त होता है। अतः अत्यन्त प्रयत्न से जिस देवता की आराधना की जाय उसके हविष् से ही शरीर-यात्रा की जानी चाहिए। वैष्णवों को भोजन से पूर्व पञ्चोपनिषद्-मन्त्र से पाँच प्राणाहुतियाँ देना तथा भोजनान्त में प्रणव से आचमन करना कहा गया है।[२]

पञ्चकाल-प्रक्रिया में वर्णित वैष्णव कृत्यों के अतिरिक्त संक्षेपतः उपरिलिखित रूप में वैष्णवों का सामान्य आचार कहा गया है। पारमेश्वर आदि बड़ी संहिताओं ने इन्हीं विषयों को अत्यन्त विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है। पर, मूलतः नारदीय संहिता में वर्णित आचारपरक विषय के साथ उनका कोई भेद नहीं है। सामान्यतः सर्वत्र विषय समान है।

वैष्णवों के सामान्य आचार के अतिरिक्त पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने वैष्णवों के आन्तरिक कुछ भेदों का भी निर्देश किया है। इस भेद का मुख्य आधार दीक्षादि के अवसर पर अनुष्ठित तत्तत्संस्कारों की न्यूनता या अधिकता है। इसका विचार नारदीय संहिता के दसवें तथा ग्यारहवें अध्याय में किया गया है। जयाख्य-संहिता ने वैष्णवों में साम्य होते हुए भी ऊनाधिक कर्मानुष्ठान तथा कालकृत ह्रासादि के कारण वैषम्य होना कहा है।[३]

पाञ्चरात्रागम की विविध संहिताओं में पृथक्-पृथक् रूप से वैष्णवों के भेद वर्णित हैं। स्थूलदृष्टि से इनके वर्णन में किञ्चित् साम्य कहा जा सकता है, फिर भी सर्वथा साम्य नहीं कह सकते। आनन्द-संहिता के अनुसार सामान्य रूप से वैष्णव दो तरह के होते हैं : १. बाह्य तथा २. आभ्यन्तर। इस संहिता ने पाञ्चरात्र वैष्णव को बाह्य तथा वैखानस वैष्णव को आभ्यन्तर कहा है।[४] इस संहिता के अनुसार वैष्णव चार प्रकार के कहे गये हैं : १. अनादिवैष्णव, २. आदिवैष्णव, ३. अवान्तरवैष्णव तथा ४. भागवत-

---

१. नारदीय संहिता, ११. ७३—८१

२. वही, ११. ८९—९५

३. भगवद्धर्मं तन्त्राणां पञ्चकालनिषेविनाम्। अप्रतिग्राहकाणां च कणभिक्षाभिवर्त्तिनाम्॥
बाह्याभ्यन्तर तुल्यानां श्रद्धासंयमसेविनाम्। नारायणैक निष्ठानां येऽस्मिन् जाता महाकुले॥
ऊनाधिक्येन विप्रेन्द्र कर्मणानुष्ठितेन च। कालह्रासवशाच्चैव वैषम्यमुपयान्ति च॥
(जयाख्या-संहिता, २२.३—५)

४. आनन्द-संहिता, ८.३५-३६

वैष्णव। (अनादि) आदिवैष्णव अच्युत हैं। इसके अतिरिक्त अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन, पितामह तथा विखना मुनि को भी आदिवैष्णव कहा गया है। पाँच संस्कारों से युक्त, अन्य सूत्रों से संस्कृत पाञ्चरात्रानुसारी अवान्तर वैष्णव कहे गये हैं। मुद्रादि धारण करनेवाले को भागवत कहा गया है।[१] श्रीप्रश्नसंहिता ने लक्षणादि निर्देशपूर्वक वैष्णवों के पाँच भेदों का निर्देश किया है। ये हैं—१. श्रोत्रिय, २. अर्चक (पाञ्चरात्रविद्), ३. पूर्ण, ४. गुरु, ५. भट्टारक तथा ६. भट्टाचार्य। चतुर्वेदविद् विप्र को श्रोत्रिय कहा गया है। दशश्रोत्रिय-तुल्य पाञ्चरात्रविद् को अर्चक कहते हैं। जो वेद-वेदाङ्गों तथा पाञ्चरात्र का अध्ययन करता है और शिष्यों का अध्यापन करता है, वह दर्शपूर्ण के समान दीक्षित गुरु कहा गया है। दीक्षित कुल में उत्पन्न, भट्टाचार्य से दीक्षित, गुरुमुख से वेद तथा अर्थसहित पाञ्चरात्र का अध्येता तथा शमदमोपेत को भट्टारक कहते हैं। दस भट्टारकों के समान वेदवेदाङ्गपारग, वेदान्तार्थ-प्रवीण, पाञ्चरात्रार्थ-तत्त्ववित्, परम्परा-दीक्षित कुल में उत्पन्न, उभयत: दीक्षाप्राप्त, पञ्चकाल-प्रक्रियापरक; योगशास्त्र-प्रवीण, ज्ञानवान्, मोक्ष-चिन्तक, भूपरिग्रह से प्रतिष्ठान्त क्रियाओं को बिना किसी की सहायता से सम्पादित कराने में सशक्त, निरोग, स्वतन्त्र, वृद्धसेवी, रूपवान्, आस्तिक, दूसरों से सतत अनिन्दित, कीर्त्तिमान्, विजितेन्द्रिय, मानसाराधन में दक्ष, मन्त्रशास्त्र-विचक्षण, मन्त्रसिद्ध तथा सर्वदर्शी को भट्टाचार्य की संज्ञा दी गई है।[२]

जयाख्य-संहिता में वैष्णवों के लक्षण-वर्णनक्रम में वैष्णवों के अधोलिखित भेद कहे गये हैं: १. यति, २. एकान्तिन्, ३. वैखानस, ४. कर्मसात्वत, ५. शिखिन् ६. आप्त, ७. अनाप्त, ८. आरम्भिक, ९. संप्रवर्ति, १०. योगी, ११. जपनिष्ठ, १२. तापस, १३. शास्त्रज्ञ तथा १४. शास्त्रधारक। पिता अथवा गुरु के द्वारा निषेकादि संस्कार-संस्कृत, ब्रह्मचारी-गुणोपेत, स्वयं विवेकभावस्थ, निर्मल मन से सभी प्राणियों में विष्णु को देखनेवाला तथा कर्मणा-वाचा केवल विष्णु का आराधक यति कहा गया है। जो यति आद्यद्विजेन्द्र के घर से, उसके अभाव में षट्कर्मरत विप्र के घर से अयाचित सिद्धान्त से अपनी शरीर-यात्रा चलाता है, वह मुण्डितमस्तक तथा श्मश्रु-मुण्डित होकर कषायवस्त्र तथा दण्डधारी होता है। भ्रमणशील रहते हुए षट्कर्मनिरतों से सम्मानपूर्वक भिक्षा प्राप्त कर शरीर-यात्रा चलाता है। जो अपरिग्रहपूर्वक प्रभु का पूजन करता है और गुणी शिष्यों के साथ एकाकी निवास करता है उसे एकान्ति कहा गया है। परिग्रहवान् विप्र, जो परमेश्वर-पूजन में रत रहता है उसे वैखानस वैष्णव कहा गया है। यह द्विजेन्द्रों, क्षत्रियों अथवा वैश्यों से याचित या अयाचित धन प्राप्त कर कुटुम्ब का भरण-पोषण करता है। यह जटी, छत्री तथा सिताम्बरधारी होता है। कर्मसात्वत मुख्य रूप से क्रियार्थ कुटुम्ब अथवा अपने भरण-पोषण के लिए उद्युक्त होकर वृत्ति के निमित्त राजा के पास जानेवाला होता है। शिखी के हृदय में अविरत वैष्णव-यजन का स्फुरण होता है। यह प्रधान रूप से अथवा परम्परागत

---

१. आनन्द संहिता, ८.१४-१८

२. श्रीप्रश्नसंहिता, १६.३—१३

रूप से कृषिकर्म सम्पादित करता हुआ सभी कर्मों का सम्पादन करता है। यहाँ शिखी के लिए भी चातुरात्म्य का निर्देश किया गया है।

आप्त का लक्षण कहते हुए कहा गया है कि जो पञ्चकाल-क्रम में स्थित क्रमशः देवाराधन में संलग्न रहते हैं तथा द्विजातियों एवं चारों वर्णों को जो अधिकार देते हैं, वे शुद्ध भगवन्मार्ग में सत्त्वस्थ सात्वत कहे गये हैं। ये सर्वथा असंकीर्ण विचारवाले होते हैं और ब्रह्म, इन्द्र, रुद्रादि देवताविशेष के आराधनपूर्वक वासुदेव के विना प्रभवादियुक्त चातुरात्म्य के द्वारा आराधन करते हैं। वे फल की आकांक्षा का सर्वथा त्याग करते हैं। वे वेदान्तार्थ जाननेवाले चातुर्वण्य से ऊपर उठे होते हैं। उनकी दृष्टि में मोक्ष की अपेक्षा हरि के संस्थापन का अधिक महत्त्व होता है। सम्मार्जित धन से प्रयत्नपूर्वक प्रतिष्ठा करते हैं। भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से वैष्णवी कीर्त्तनपरक होते हैं।

अनाप्त—वर्णधर्मों के अनुसार आचारवान् रहकर आप्त की तरह परमश्रद्धा से देवता का अर्चन करते हैं।

आरम्भी—पूर्वोक्त के विना जो वैष्णव ब्राह्मणादि अर्थ-सिद्ध्यर्थ विश्वात्म का आराधन करते हैं, उन्हें आरम्भी कहा गया है।

सम्प्रवर्तिन्—स्वयं श्रद्धा से जो हरि के संपूजन में अमार्ग से प्रवृत्त होते हैं, उन्हें सम्प्रवर्तिन् कहा गया है।

योगी—जो वैष्णव शय्या, आसन तथा मार्ग में सतत हृदयगत प्रभु का स्मरण करता है या निष्कलादि प्रभेद से आयतन में निमीलित-नयन बैठकर सदा समाधि का अभ्यास करता है और 'नमो नारायणाय' अथवा 'नमो भगवते वासुदेवाय' का जप करता है, वह भगवद्योग-सेवी कहा गया है। वह कर्मणा, मनसा या वाचा कभी भी किसी का अनिष्ट-चिन्तन नहीं करता।

जपनिष्ठ—जो कषाय वस्त्रधारी दण्डी शुद्ध तथा शान्त मन से समस्त जन्तुओं में भगवद्भाव रखता है, पद्माक्ष अथवा स्फटिक की माला हाथ में लेकर भगवान् का भजन करते हुए जप करता है, वह जपनिष्ठ कहा गया है। जपनिष्ठ मन से विष्णु-अर्चा में तत्पर रहता है। वह मन्त्र-जाप तथा स्तुति-पाठ में भी श्रद्धावान् तथा तत्पर रहता है।

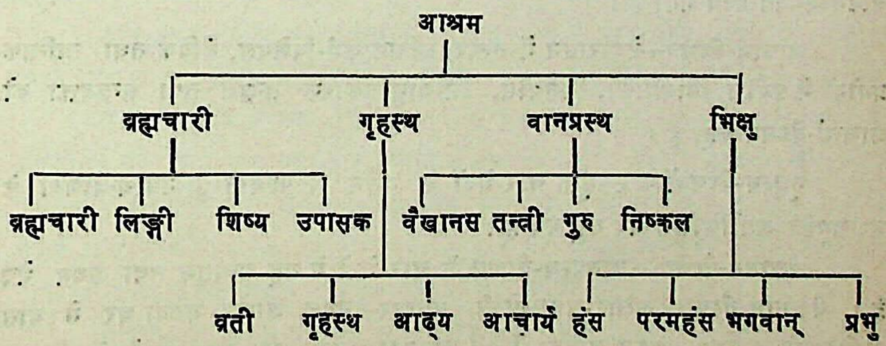
तापस—जो वैष्णव तत्तत् देवताओं का आश्रयण कर व्रत का आचरण करता है, चान्द्रायण तथा एकादशी आदि व्रताचरण करता है, सतत विष्णु के आलय में; उसके अभाव में गृह में स्थित विष्णु की सर्वदा उपासना करता है, उसे तापस कहा जाता है। वह मासोपवासी तथा विष्णु-आलय-लोलुप होता है। व्रत के अवसान में पत्र-पुष्पादि के द्वारा भगवन्मयों की पूजा करता है। औदकी शौच करनेवाला तापस समीपस्थ लोगों को नक्तोपवास-पूजा आदि के लिए सर्वदा उद्बुद्ध करता रहता है। वह पय-मूल-भक्षी होता है।

शास्त्रज्ञ—जो वैष्णव पुराण, धर्मशास्त्र, वैष्णव-इतिहास, वैष्णव-वेदान्त-सिद्धान्तों को जानता है, सुनता है तथा उसकी व्याख्या करता है, प्रणष्ट वाक्यों की वस्तु का विचार करता है और तत्तत् शास्त्रज्ञों के साथ प्रयत्नपूर्वक आगमों का संस्कार करता है उसे शास्त्रज्ञ कहते हैं।

शास्त्रधारक—जो वैष्णव श्रद्धा से कहीं भी आगामों का संकलन कर, ब्रह्म का ध्यान करते हुए उसको धारण करता है और अर्घ्य-पुष्पादि से शास्त्रपीठ की पूजा करता है तथा वैष्णवों को शास्त्र देता है उसे शास्त्रधारक कहते हैं। शास्त्रधारक कभी भी अन्य दर्शनों की निन्दा नहीं करता। इस प्रकार जयाख्य-संहिता ने इन चौदह वैष्णवों का लक्षण-निर्देशपूर्वक वर्णन किया है।[1]

सनत्कुमार-संहिता के अनुसार भी वैष्णवों के द्वारा अनुष्ठित तत्तत् कर्मों (आचारों) के आधार पर ही उनका विविध आन्तरिक भेद स्वीकार किया गया है। ये आचार वर्णाश्रम-धर्म की सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। यहाँ जो वर्णाश्रम निर्दिष्ट है, उसका स्वरूप सामान्यतः स्मृति आदि ग्रन्थों के समान ही है। चारों वर्ण विष्णु से उत्पन्न कहे गये हैं। विष्णु के मुख से ब्राह्मण, विष्णु के बाहु से क्षत्रिय, उसके ऊरु से वैश्य तथा विष्णु के पाद से शूद्र की उत्पत्ति कही गई है। इन वर्णों में अनुलोमजों को अग्राह्य नहीं कहा गया है। पर, प्रतिलोमज सर्वथा अग्राह्य कहे गये हैं। अनुलोमजों में केवल सूत की दीक्षा का अधिकारी कहा गया है। प्रतिलोमजों को दीक्षा नहीं दी जानी चाहिए। वर्णाश्रम-बहिष्कृतों को संस्कार का भी अधिकार नहीं है।[2]

दीक्षा के द्वारा वैष्णव बनने के अधिकारी चारों आश्रमी हैं। इस वर्णन-क्रम में इन चारों के अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। इसका वर्गीकरण सामान्यतः अधोलिखित रूप में देखा जा सकता है।



सनत्कुमार-संहिता में इनमें से प्रत्येक के लक्षण आदि का संक्षेप में निर्देश किया गया है। वे लक्षण अधोलिखित हैं :

१. ब्रह्मचारी—दण्ड तथा अजिनधारक, नित्यवेदाध्ययन-तत्पर, क्षार तथा लवण-रहित भोजन स्वीकार करनेवाले, भैक्ष्याहारी, मितभोक्ता, स्थण्डिलाजिन पर शयन करनेवाला, देवाराधन में तत्पर, गुरुपूजापरक को ब्रह्मचारी कहा गया है।

---

१. जयाख्य-संहिता, २२.६—५६

२. सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र, ५.१—४

लिङ्गी—सभी कर्मों को त्यागकर भैक्ष्याहारी, मिताशन, शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ अथवा वैनतेय की प्रतिकृति को वहन करता हुआ देवताराधन में आसक्त को लिङ्गी कहते हैं।

शिष्य—भैक्ष्याहारी, परिमितभोजी, गुरु के प्रति संयत, सेवा से उपाध्यायों को संतुष्ट करते हुए अन्य कर्मों से विरत तथा हरि-आराधन में तत्पर को शिष्य कहते हैं।

उपासक—जो त्रिकाल देव-पूजन में तत्पर हो, अन्य किसी भी कार्य में अनासक्त, जप-होमादि में निरत, विहिताध्ययनादि में रत, त्रिषवण स्नान करनेवाला, अष्टाक्षर-परायण, गुरु का अनुचर हो, उसे उपासक ब्रह्मचारी कहते हैं।

ब्रह्मचारी-वैष्णवों के लक्षण-निरूपण के पश्चात् विविध गृहस्थ-वैष्णवों के लक्षण अधोलिखित रूप में कहे गये हैं :

व्रती—यह गृहस्थ-वैष्णवों के चार भेदों में अन्यतम पहला भेद है। जो व्रतोपासना में निरत, नियमित रूप से भगवदर्चना में तत्पर, ऋतुकाल में पत्नी के समीप जानेवाला, मिताहारी, नक्तभोजी, जितेन्द्रिय, मूलमन्त्रपरायण हो, उसे व्रती-वैष्णव कहा गया है।

गृहस्थ—व्रत तथा उपासना में निरत, देवताराधन में तत्पर, संहिताध्ययन में संलग्न, शिष्यों के भरण-पोषण में लगा हुआ, स्वदारवृत्ति को गृहस्थ-वैष्णव कहते हैं।

आढ्य-वैष्णव—सर्वदा सर्वातिथिपरक, काम-क्रोधरहित, अन्नदान में रत, पर्वयाजी, नित्य ही काम-रागयुक्त देवोत्सवों में तत्पर, भक्तों के भरण-पोषण में संलग्न गृहस्थ को आढ्य-वैष्णव कहा गया है।

आचार्य-वैष्णव—देवाराधन में तत्पर, प्रतिष्ठाकर्म-विशेषज्ञ, वैदिक तथा तान्त्रिक प्रयोगों में प्रवीण, नित्ययाजी, जितक्रोध, शिष्यानुग्रहकारक तन्त्रज्ञ तथा तन्त्रवक्ता को आचार्य-वैष्णव कहा है।

गृहस्थ-वैष्णवों के उपर्युक्त चार भेदों के वर्णन के पश्चात् वानप्रस्थ-वैष्णवों के लक्षणपूर्वक अधोलिखित भेद कहे गये हैं :

वैखानस-वैष्णव—वानप्रस्थ-वैष्णव के चार भेदों में यह अन्यतम तथा प्रथम भेद है। वैखानस-वैष्णव अक्षार-लवणभोजी, पुत्रदार-समवेत आश्रम अथवा घर में वास करनेवाला, जागरूक रहकर संहिताओं की व्याख्या करनेवाला, अन्य कर्मों से विमुख, स्थण्डिल-अजिनशायी, सदा विष्णुपरायण, नित्य ज्ञान तथा ध्यानपरायण होता है।

तन्त्री-वैष्णव—अग्राम्य वस्तुओं से जीवन-यापन करनेवाला, त्रिसन्ध्य अर्चनरत, केवल तान्त्रिक मन्त्रों से जप तथा होमपरायण, वल्कलाजिन-वसनधारी, दर्भशय्याशायी, विष्णुपरायण, अष्टाक्षरपरक को तन्त्री-वैष्णव कहते हैं।

गुरु—त्रिषवण स्नायी, मूलफलभक्षी, सर्वदा अनियतवासी, सभी तीर्थों का सेवन करनेवाला, सर्वदा विष्णु-अर्चक, ध्यानपरायण, द्वादशाक्षर तत्त्वज्ञ, द्वादशाक्षर पाठक, वल्कलाजिन-वसनधारी को गुरु-वैष्णव की संज्ञा दी गई है।

निष्कल—अष्टाक्षरपरक, नक्तभोजी, दृढव्रत, यदृच्छालाभसंतुष्ट, द्वन्द्वातीत-विमत्सर, वल्कलाजिनवसनधारक, त्रिसन्ध्याराधनतत्पर, सर्वत्र अयाचक, सर्वथा अप्रतिग्राही, स्तुति तथा निन्दा दोनों में तुल्य, मौनी, लोष्ठ, प्रस्तर तथा स्वर्ण में समबुद्धिवाला, कर्मान्तर में अनभिरत को निष्कल वैष्णव कहा गया है।

वानप्रस्थ-वर्णन के पश्चात् भिक्षु वैष्णवों के भेद तथा उनके लक्षण का निर्देश अधोलिखित रूप में देखा जा सकता है :

हंस—चार प्रकार के भिक्षु वैष्णवों में अन्यतम प्रथम हंस कहा गया है। हंस नित्य शंख-चक्रधारी, एकदण्डी, भैक्ष्यभोजी, सर्वदा आराधन में संलग्न, तन्त्रविचक्षण, कषायाजिनवसनधारी, शिखा तथा यज्ञोपवीतधारी, एकचारी तथा यतव्रत होता है।

परमहंस-वैष्णव—एक दण्ड धारण करनेवाला, ज्ञान तथा ध्यानपरायण, नित्य अद्वैत-परायण, रागद्वेष-विवर्जित, शिखा तथा यज्ञोपवीत से रहित, निरुत्सुक, भैक्ष्यभुक्, नियताहारी, ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठ तथा तन्त्रकर्म में श्रद्धालु वैष्णव परमहंस-वैष्णव कहा गया है।

भगवान्-वैष्णव—नित्य शंख-चक्र धारण करनेवाला; कमण्डलुधारक, नित्य वासुदेवपरायण, त्रिदण्डी, योगपट्टिकाधारी, सर्वदा अष्टाक्षरपरक, भैक्ष्यभोजी, नियतेन्द्रिय, पृथिवी पर विचरण करनेवाला भगवान्-वैष्णव कहा जाता है।

प्रभु-वैष्णव—भगवान् की तरह सब वस्तु धारण करनेवाला, गरुड़ध्वज वहन करता हुआ, नित्य शक्रयाग से देवेश की अर्चना करनेवाला, नियतात्मवान्, त्रिसन्ध्याराधनरत वैष्णव प्रभु-वैष्णव कहा गया है।[1]

सनत्कुमार-संहिता ने ब्रह्मरात्र के दसवें अध्याय में दान योग्य पात्रों का परिगणन करते हुए आठ प्रकार के वैष्णवों का निर्देश किया है। जैसे—१. वैष्णव, २. समयी, ३. चक्रवर्त्ती, ४. अभिषिक्त, ५. गुरु, ६. आचार्य, ७. भगवान् तथा ८. विष्णु—इनमें उत्तरोत्तर को उत्तम कहा गया है। अर्थात् वैष्णव की अपेक्षा समयी, समयी की अपेक्षा चक्रवर्त्ती, चक्रवर्त्ती की अपेक्षा अभिषिक्त, अभिषिक्त की अपेक्षा गुरु, गुरु की अपेक्षा आचार्य, आचार्य की अपेक्षा भगवान् तथा भगवान् की अपेक्षा विष्णु को श्रेष्ठ कहा गया है। विष्णु की अपेक्षा उत्तम पात्र की कल्पना भी अशक्य है।[2]

नारदीय संहिता ने वैष्णवों के निम्नलिखित भेद तथा लक्षण कहे हैं :

१. समयी—दीक्षाविधि से संस्कृत वैष्णव को समयी कहते हैं।

२. दीक्षित—विधि के अनुसार अभिषिक्त समयी को दीक्षित की संज्ञा दी गई है।

३. अभिषिक्त—जो दीक्षित तीन बार अभिषिक्त होता है, उसे अभिषिक्त कहते हैं।

---

१. सनत्कुमार-संहिता, ब्रह्मरात्र, ५—४२

२. वही, ब्रह्मरात्र, १०.११—१३

४. गुरु—जो अभिषिक्त वैष्णव चार बार अभिषिक्त होकर आत्मतत्त्व में नियोजित होता है तथा सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ होता है, उसे गुरु की संज्ञा दी गई है।

५. आचार्य—अभिषिक्त गुरु जब विद्यातत्त्व में नियोजित होता है तब सर्ववन्द्य आचार्य की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

६. भगवान्—परतत्त्वस्थ आचार्य जब अभिषिक्त होता है तब उसे भगवान् की संज्ञा दी जाती है। भगवान् को भागवत कहा जाता है।[1]

इस प्रसंग को पूर्व-पर सम्बन्ध के साथ देखने पर हम स्पष्ट देखते हैं कि दीक्षा के अनन्तर ही अभिषेक के आधार पर वैष्णवों के विविध भेद होते हैं। श्रीप्रश्नसंहिता ने भी कुछ इसी से मिलते-जुलते वैष्णव-भेदों का निर्देश किया है। ये भेद मुख्यतः दीक्षा पर ही आधारित हैं। श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार दीक्षा भगवान् का ही स्वरूप है। भगवान् ने अपने स्वरूप को पाँच भागों में विभक्त किया : १. शब्दरूप, २. वृत्तिरूप, ३. अर्थरूप, ४. आचार्यरूप, तथा ५. दीक्षा-रूप। इनमें दीक्षा के तीन भेद कहे गये हैं : १. स्थूला, २. सूक्ष्मा तथा ३. परा। स्थूला दीक्षा से दीक्षित वैष्णव चार प्रकार के कहे गये हैं : १. समयी, २. पुत्रक, ३. साधक तथा ४. आचार्य।

समयी—धर्मशास्त्रोक्त मार्गों का अनुष्ठान करते हुए प्रतिदिन पूजन करने का निश्चय कर पञ्चसंस्कार से संस्कृत, प्रतिदिन भगवत्-पूजन करनेवाले को समयी कहते हैं। उसकी दीक्षा मानसी दीक्षा होती है। वैष्णवों में गृहपूजा के लिए उसे योग्य बताया गया है। इसी दीक्षा को स्थूला दीक्षा कहा गया है।

सूक्ष्मा—अन्य गोत्रोत्पन्न पाञ्चरात्र-प्रतिष्ठा के ज्ञान से सर्वथा रहितों को जब अभिमान से दीक्षित किया जाता है तब वैसी दीक्षा को सूक्ष्मा दीक्षा कहते हैं। यह दीक्षा मध्यमा दीक्षा कही गई है। स्थूला तथा सूक्ष्मा दीक्षाओं में केवल दीक्षा दी जाती है। इन दोनों में अभिषेक नहीं होता। ये दोनों दीक्षा-प्राप्त वैष्णव उत्सवादि में आचार्य या साधक हो सकते हैं।[2]

आचार्य-दीक्षा दो तरह की कही गई है : १. निर्बीजा तथा २. सबीजा। आगम, तन्त्र तथा तन्त्रान्तर सिद्धान्तों के अनुसार पूजा में प्रवृत्तों की दीक्षा निर्बीजा दीक्षा कही गई है। इस प्रकार की निर्बीजा दीक्षा के द्वारा दीक्षित वैष्णवों को अन्यों को दीक्षित करने का अधिकार नहीं है। यही कारण है कि इसे निर्बीजा दीक्षा कहा गया है।[3]

मन्त्र-सिद्धान्त-दीक्षाक्रम को सबीज-दीक्षा कहते हैं। इसमें चतुर्वेदोक्त मन्त्र तथा एकायनवेदोक्त मन्त्रों के द्वारा मन्त्र-सिद्धान्त-विधि से भगवन्निर्दिष्ट गोत्रोत्पन्न

१. नारदीय संहिता, १०.१६—२०
२. श्रीप्रश्नसंहिता, श्लो० २८—३१
३. वही, श्लो० ३२-३३

आचार्य जो पूर्वकाल में भगवान् द्वारा दीक्षित हुआ, उसके द्वारा दी गई दीक्षा परा-दीक्षा कही गई है। इस परा-दीक्षा के द्वारा दीक्षित वैष्णवों को ही आलय-अर्चन में अधिकार दिया गया है।[१]

नारदीय संहिता का एकादश अध्याय समयाचार-निरूपण-अध्याय कहा गया है। समयाचार में सामान्यतः वैष्णवों के दैनन्दिन कृत्यों का विवेचन होता है। यह विषय विस्तृत रूप से पञ्चकाल-प्रक्रिया नामक अध्याय में अन्यत्र वर्णित है। पर नारदीय संहिता ने यहाँ इस क्रम में वैष्णवों के कुछ भेदों का निर्देश किया है। वह भेद वैष्णवों के द्वारा सम्पादित यागादिविशेष की संख्यादि को आश्रित कर बताया गया है। यहाँ वैष्णवों के जो नाम तथा उसके मूलभूत कारण दिखाये गये हैं, वे नारदीय संहिता के दशम अध्याय में वर्णित नामों तथा कारणों के समान हैं। पर यहाँ पूर्व की अपेक्षा कुछ वैलक्षण्य भी है। संहिता कहती है कि 'मण्डले दीक्षितानां तु नामान्येतानि सप्त वै'।[२] इससे पूर्व यहाँ अधोलिखित सात वैष्णवों का उल्लेख किया गया है: १. समयी, २. दीक्षित, ३. चक्रवर्त्ती, ४. अभिषिक्त, ५. गुरु, ६. आचार्य तथा ७. भगवान्। इन सातों के लक्षण-निर्देश से पूर्व सप्त यागों का निर्देश किया गया है। ये सप्त याग निम्नलिखित हैं: १. याग, २. स्तोम, ३. महायाग, ४. अध्वर, ५. सव, ६. क्रतु तथा ७. हरिस्तोम।[३] इन यागों के अनुष्ठाताओं का लक्षण इस प्रकार दिया गया है। जो याग के द्वारा देव का यजन करता है उसे समयी कहते हैं। स्तोम के द्वारा देवयाजक को दीक्षित कहा गया है। महायाग के द्वारा भगवद्याग-सम्पादक को चक्रवर्त्ती कहते हैं। अध्वर में जो भगवद्यजन करता है वह अभिषिक्त कहा जाता है। सव के द्वारा जो भगवदाराधन करता है उसे गुरु की संज्ञा दी गई है। क्रतु के द्वारा भगवदाराधक को आचार्य नाम से पुकारा जाता है। हरिस्तोम से देवाराधक को भगवान् कहा गया है। भगवदंशोद्भवों को भागवत कहते हैं।[४] इन उपर्युक्त सात यागों में केवल ब्राह्मण वर्ण का ही अधिकार है। राजन्य अर्थात् क्षत्रिय को याग, स्तोम, महायाग, महाध्वर तथा सव में ही अधिकार है। क्रतु तथा हरिस्तोम में राजन्य का अधिकार नहीं होता। वैश्य तथा शूद्र का अधिकार अध्वर, सव, क्रतु तथा हरिस्तोम में नहीं होता। वैश्य का अधिकार याग-स्तोम तथा महायाग में ही होता है। शूद्र का अधिकार केवल प्रथम अर्थात् याग में ही होता है।[५]

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, श्लो० ३४—३६

२. नारदीय संहिता, ११.११—१८

३. 'समयी दीक्षितश्चैव चक्रवर्त्ती तथैव च। अभिषिक्तः गुरुश्चैव आचार्यः भगवान् इति॥'
—नारदीय संहिता, ११.१७

४. (i) नारदीय संहिता, ११.१८—२४
(ii) सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, ४.५३—५५

५. नारदीय संहिता, ११.३३—३५

जहाँतक उपर्युक्त यागादि-सम्पादन क्रम में वर्णादि की व्यवस्था का प्रश्न है, उस विषय में याग-प्रवेशकाल, मण्डल, नाम तथा उनकी योनि का सनत्कुमार-संहिता ने निर्देश किया है। उनका क्रम अधोलिखित है :

वर्ण	दीक्षा-प्रवेशकाल	मण्डल	नाम	योनि
१. ब्राह्मण	वसन्त ऋतु	चक्र-मण्डल	वासन्त	ब्रह्मयोनि
२. क्षत्रिय	ग्रीष्म ऋतु	,,	ग्रैष्म	क्षत्रयोनि
३. वैश्य	शरद् ऋतु	,,	शारद	वैश्ययोनि
४. शूद्र	हेमन्त ऋतु	,,	हैमन्त	शूद्रयोनि
५. स्त्री	वर्षा ऋतु	,,	वर्षा	स्त्रीयोनि
६. सूत	शिशिर ऋतु	,,	शैशिर	सूतयोनि[1]

उपर्युक्त वर्णों का अनुलोम क्रम से दीक्षा में प्रवेश का विधान तथा प्रतिलोम क्रम का निषेध किया गया है। विशेष रूप से स्त्री, शूद्र तथा सूत का दीक्षा-काल विपरीत अथवा अन्यथा नहीं होना चाहिए। द्विजातीयों के लिए सभी काल में दीक्षा का वैकल्पिक काल स्वीकृत है।[2]

याग तीन प्रकार के कहे गये हैं—सकल, विकल तथा निष्कल।[3] याग में मण्डल-कल्पन के अवसर पर वर्णानुपूर्व ही रज का उपयोग किया जाना चाहिए। आनुलोम्य क्रम से किये गये रज-प्रयोग को प्रशस्त तथा प्रातिलोम्य क्रम से रज-प्रयोग को अग्राह्य कहा गया है। प्रसंग के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि याग में जिस वर्ण के लिए जिस रज-विशेष के प्रयोग का विधान निर्दिष्ट होता है, उस वर्ण के मण्डल-कल्पन के अवसर में उसी रज का उपयोग होना आवश्यक है। स्तोमादि में रजों को मिश्रित कर प्रयोग का विधान है।[4]

याग-सम्पादन के क्रम में मण्डपादि की कल्पना दीक्षा के अवसर पर किये गये मण्डप के समान होती है। याग-सम्पादन के समय द्वार-आन्तर्यों में आठ कलशों की स्थापना कही गई है। याग की दक्षिणा शत (स्वर्ण) अथवा श्वेत अश्व कही गई है। याग में स्त्री, शूद्र तथा सूत के लिए विशेष रूप से कृष्ण रज के प्रयोग का विधान है। सकल याग में भागवतों के लिए शत दक्षिणा का विधान है। विकल याग में अश्व-दक्षिणा का निर्देश किया गया है। निष्कल याग की दक्षिणा वस्त्र है।[5]

स्तोम में मिश्र रज का प्रयोग होता है। आवरण से बाहर दस कुम्भों की स्थापना की जाती है। पूर्वदिशा में दोनों कलशों के बीच वाराहासन, दक्षिण-दिशा में नारसिंह

---

१. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, ४.१—७
२. वही, ४.८—१०
३. वही, ४—१२
४. वही, ४.१४—१७
५. वही, ४ १७—२०

आसन, पश्चिम दिशा में श्रीधर-आसन तथा उत्तर दिशा में हयवक्त्रासन की कल्पना का निर्देश है। अभिमुख में चार दीक्षितों का स्थान कल्पित होता है। ये चारों ही दीक्षित दर्भासन पर उपविष्ट, नवाम्बरधारी, बद्धोष्णीष, द्वादशाक्षर मन्त्र-जप में तत्पर होते हैं। स्तोम की दक्षिणा याग की अपेक्षा द्विगुण होती है। स्तोम में आचार्य श्रद्धान्वित होकर शिष्य को पादुका प्रदान करता है।[1] नारदीय संहिताओं ने भी शिष्य के अभिषेक के क्रम में वस्त्रादि-समर्पण का निर्देश किया है।[2]

महायाग में स्तोम की तरह बहिरावरण में मण्डल-कल्पन कर लक्षण-सम्पन्न २४ कलशों की स्थापना का विधान है। इनमें १२ कलश तृतीयावरण के अन्तःभाग में तथा १२ कलश तृतीयावरण के बहिःभाग में स्थापित होते हैं। पूर्वोक्त क्रम से चारों दिशाओं तथा कोणों में तत्तद्देवताओं के आसनों की परिकल्पना की गई है। आसन-कल्पन का क्रम निम्नलिखित होता है। आग्नेय कोण में जामदग्नीय, नैर्ऋति में राम, वायव्य में वामन तथा ईशान कोण में वासुदेव। चारों दिशाओं के देवता स्तोम के समान होते हैं। महायाग में अपेक्षित भागवतों के अभाव में तत्तद्दिशाओं में दर्भ-पवित्र या केवल आसन-कल्पन का विधान है। महायाग में वासुदेव-मण्डल की कल्पना होने पर उसमें केवल एक कलश स्थापित होगा। यदि नारायण-मण्डल का कल्पन होता है तो आठ दिशाओं में आठ कलश स्थापित होते हैं। तत्तत् दिशाओं में पूर्वोक्त क्रम से आसनों का विधान कहा गया है। महायाग की दक्षिणा पूर्वोक्त दक्षिणा से त्रिगुणित होती है। महायाग में चतुर्था-वरण नहीं होता। महायाग में भी आचार्य शिष्य को छत्र तथा पादुका प्रदान करता है। इस प्रकार महायाग में दीक्षित वैष्णव को चक्रवर्त्ती की संज्ञा दी गई है।[3]

इस कर्म की तुलना श्रौतप्रक्रिया से की जा सकती है। सामान्य रूप से ऐसा प्रतीत होता है कि चक्रवर्त्तित्व प्रदान के मूल में श्रौतप्रक्रिया का ही अनुकरण निहित है। शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार "वाजसनेय से यजन कर यजमान सम्राट् होता है।"[4] वाजसनेय सम्पादित करनेवाला जिस तरह सम्राट् होता है उसी प्रकार पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में महा-याग सम्पादित करनेवाला शिष्य चक्रवर्त्ती-पद से अलंकृत होता है।

'अध्वर'-सम्पादन के क्रम में द्वितीयावरण के अन्तःभाग में पूर्वोक्त रीति से कलशों तथा आसनों का विधान होता है। रजपात का क्रम भी पूर्वोक्त रीति से ही वर्णित है। दक्षिणा भी पूर्वोक्त रीति से ही विहित है। अध्वर में पीछे शिष्य का अभिषेक किया जाता है और शिष्य के लिए आसन प्रदान किया जाता है। अध्वर में दीक्षित वैष्णव को अभिषिक्त वैष्णव कहा जाता है।

---

१. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, ४.२१—२७
२. नारदीय संहिता, ११.२९
३. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, ४.२८—३६
४. शतपथब्राह्मण, ५.१.१.२४

'सव' अनुष्ठान के प्रसंग में प्रथमावरण के अन्तःभाग में पूर्वोक्त रीति से तोरणों का कल्पन होता है। तोरणों में बाहर द्वार पर आठ कलशों की स्थापना होती है। सभी कलश रत्नगर्भ तथा वस्त्राच्छन्न होते हैं। सव की दक्षिणा अष्टोत्तर शत कही गई है। सव में गुरु शिष्य को किरीटाकार उष्णीष, नव अम्बर तथा क्षौम वस्त्र प्रदान करता है। सबके द्वारा दीक्षित वैष्णव को 'गुरु' कहते हैं।

'ऋतु'-सम्पादन के लिए शुक्ल रज से मण्डल का कल्पन विहित है। पूर्वोक्त रीति से मण्डप में कलशों की स्थापना की जाती है। ऋतु की दक्षिणा 'सव'-दक्षिणा के समान होती है। अन्त में गुरु शिष्य के लिए दक्षिणावर्त्त शंख प्रदान करता है। ऋतु में दीक्षित शिष्य को 'आचार्य' की संज्ञा प्रदान की जाती है।

'हरिस्तोम' याग में लोहज रज के द्वारा मण्डल-कल्पन का निर्देश है। हरिस्तोम में लोहनिर्मित कलशों की स्थापना का विधान है। इस याग में प्रयुक्त पालिकाओं का उपादान-द्रव्य लौह होता है। हरिस्तोम याग में सभी कर्मों में तथा वितानादि के लिए क्षौम वस्त्र का प्रयोग विहित है। हरिस्तोम-सम्पादन के क्रम में गुरु तथा शिष्य सभी क्षौमवस्त्राभूषित होते हैं। वे सर्वाभूषण-अलंकृत होते हैं। हरिस्तोम-सम्पादक आचार्य की दक्षिणा सहस्र संख्या की कही गई है। वहाँ उपस्थित भक्तों की दक्षिणा शत संख्यक विहित है। हरिस्तोम में आचार्य को सर्वविध आत्मीयाभरण-निवेदन कर यथाशक्ति ग्राम तथा आसनादि-निवेदन किया जाता है। हरिस्तोम में दीक्षित वैष्णव को भगवान् की संज्ञा दी गई है। भगवान् शंख, चक्र, गदापाणि, पीत वसनधारी, हविष्यभुक् होता है। हरिस्तोम से बड़ा कोई याग नहीं है। हरिस्तोम में दीक्षित व्यक्ति वैष्णव-पद को प्राप्त करता है।[१]

इस प्रकार उपर्युक्त विविध यागों के द्वारा दीक्षा-प्राप्त वैष्णव भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित होते हैं। नारदीय संहिता ने यागादियों का नाम-निर्देश कर उनके द्वारा दीक्षा-प्राप्त वैष्णवों के नाम-कीर्त्तन के द्वारा वैष्णवों के सात भेद बताये हैं, जिनका विवेचन पूर्व पृष्ठों में किया गया है। पर, नारदीय संहिता में तत्तत् यागादि की प्रक्रिया का वर्णन या स्वरूप-निर्देश नहीं किया गया है। किन्तु सनत्कुमार-संहिता ने संक्षेप में ही सही, इन सात यागादि की प्रक्रिया का स्पष्ट वर्णन किया है और इस तरह नारदीय संहिता में केवल नाम से उक्त यागादि का स्पष्ट वर्णन किया गया है, इसलिए यागादि के स्वरूप का विधिवत् ज्ञान सनत्कुमार-संहिता की सहायता से हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामान्यतः अस्पष्ट प्रतिपादित सात वैष्णव-भेद-विषय सनत्कुमार-संहिता की सहायता से स्पष्ट हो जाता है।

वैष्णव-समाज के वर्त्तमान आचार-व्यवहार पर ध्यान देने से उपर्युक्त वैष्णव-आचार तथा भेद स्पष्ट ही इसी प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं। आज भी वैष्णव-समाज में

१. सनत्कुमार-संहिता, इन्द्ररात्र, ४.३७—५३

आचार्य, दीक्षित, भट्टाचार्य आदि उपाधिधारी लोग हैं और उनका आचार भी पाञ्चरात्र-शास्त्र में उक्त आचार के अनुरूप है। उपर्युक्त विविध यागों में उनकी दीक्षा होती है। इस प्रकार संक्षेप रूप में यहाँ इस अध्याय में हमने पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के सामान्य आचार तथा भेद और भेदमूलक तत्तत् दीक्षा विषयक आचार के विवेचन का प्रयास किया। वैष्णव-समाज में दीक्षा एक प्रमुख विषय है, अतः पाञ्चरात्र-ग्रन्थों ने भी इस विषय का विशिष्ट विस्तृत विवेचन पृथक् रूप से किया है और इसीलिए हमने भी दीक्षा-विषय के विवेचन के लिए एक पृथक् अध्याय स्वीकृत किया है। यहाँ प्रसंगानुसार आवश्यक होने के कारण दीक्षा का नाम-निर्देशमात्र किया गया है।

द्वितीय अध्याय

पाञ्चरात्रिक दीक्षा

पाञ्चरात्र-वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने दीक्षा-विषय को एक महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में स्वीकार कर उसका विस्तृत वर्णन किया है। अनेक पाञ्चरात्र-संहिताओं ने एकाधिक अध्याय में सांगोपांग स्पष्ट रूप से दीक्षा-विधि का निरूपण किया है। इन ग्रन्थों में कहीं अत्यन्त विस्तृत रूप से तो कहीं सामान्यतः संक्षिप्त रूप में दीक्षा की विधि एवं प्रक्रिया वर्णित है। जैसा कि हम इसी प्रकरण में आगे देखेंगे, दीक्षा कोई एक कर्म-विशेष न होकर अनेक विशिष्ट क्रिया-कलापों का समूह है। अतः कुछ पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों के दीक्षा-विषय से सम्बद्ध अनेक अध्यायों में से कुछ अध्यायों में दीक्षा-सम्बन्धी तदङ्गभूत विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा कुछ अध्यायों में प्रत्यक्षतः दीक्षा-प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दीक्षा-प्रक्रिया में कुछ अंगभूत विषय या क्रियाएँ भी होती हैं। इस विषय की स्पष्टता के लिए नारदीय संहिता में दीक्षा से सम्बद्ध विषयों के स्वीकृत क्रम को देखा जा सकता है। जैसा कि दीक्षा-सम्पादन-क्रम में विविध अग्निकुण्डों में हवन का अवसर आता है, उसके लिए अनेक अग्निकुण्डों के कल्पन-प्रकार आदि विषयों के साथ-साथ अग्नि-स्वरूप एवं उसके भेद, उसकी जिह्वा तथा उससे सम्बद्ध कुछ अन्यान्य विषयों का विवेचन दीक्षाङ्गरूप में स्वीकार कर ही प्रायः नारदीय संहिता ने सप्तम अध्याय में विस्तारपूर्वक इन विषयों का प्रतिपादन किया है। अध्याय का प्रारम्भ दीक्षामाहात्म्य-प्रतिपादन से होता है। अध्याय के अन्तिम श्लोकों में भी प्रत्यक्षतः दीक्षा-विधि से सम्बद्ध विषय प्रतिपादित हैं। पर, इस अध्याय के विस्तृत मध्यभाग में केवल अग्नि एवं अग्निकुण्ड विषय का ही प्रतिपादन है। अष्टम अध्याय में मण्डल-कल्पन-प्रक्रिया वर्णित है। पाञ्चरात्रिक वैष्णवों की दीक्षा में मण्डलों का असाधारण महत्त्व प्रायः सर्वत्र प्रतिपादित है। अष्टम अध्याय में दीक्षा से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध विषयों की चर्चा नहीं देखते। परन्तु, सम्पूर्ण अध्याय में मण्डल-कल्पन-प्रकार, उसको विविध वर्णों से सुशोभित करने तथा वर्णोपादान विषय का विवेचन करते हुए मण्डल में अर्चनार्ह देवताओं का स्थान-निर्देश तथा मण्डलों के सामान्य उपयोग विषय का विवेचन देखा जा सकता है। उसके बाद नवम अध्याय में विस्तारपूर्वक प्रत्यक्ष रूप में दीक्षा-विधि का प्रतिपादन किया गया है। दीक्षा से सम्बद्ध इन प्रत्यक्ष विषयों का विस्तृत विवेचन हम आगामी पृष्ठों में देखेंगे। नवम के बाद दशम तथा एकादश अध्यायों में अभिषेक तथा उसके आधार पर वैष्णवों के विविध भेद वर्णित हैं। उसी क्रम में वैष्णवों के आचार-विषय का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार आचार-प्रतिपादनादि

विषय अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में दीक्षा-समाप्ति पर गुरु के द्वारा शिष्य के लिए किया जाना निर्दिष्ट है। ये विषय वैष्णव-भेद तथा आचार के अन्तर्गत देख सकते हैं। अर्थात् ये अभिषेकादि विषय भी दीक्षा से ही सम्बद्ध हैं। अतएव दीक्षा के क्रम में ही अभिषिक्त वैष्णवों के अभिषेक की संख्या आदि के भेद के आधार पर विविध नाम दिये गये हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ये अभिषेकादि दीक्षा के अङ्गभूत विषय हैं, पर प्रत्यक्ष रूप से दीक्षाविधि-वर्णनाध्याय में वर्णित हैं; क्योंकि ये विषय प्रत्यक्षतः दीक्षा से सम्बद्ध नहीं हैं। अतएव नारदीय संहिता ने इन दोनों अध्यायों (दशम तथा एकादश) को क्रमशः 'अभिषेकविधि-निरूपणाध्याय' तथा 'समयाचार-निरूपणाध्याय' के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार ये दोनों विषय दीक्षा के परिशिष्ट के रूप में कहे जा सकते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ये अङ्गभूत विषय दीक्षा से पृथक् हैं। प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रागम में प्रतिपादित पाञ्चरात्रिक वैष्णवों की दीक्षाविधि के विवेचन का प्रयास किया जायगा।

दीक्षा के ऐतिहासिक स्रोत तथा मूल के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व 'दीक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति का सामान्य विवेचन तथा उसके अर्थ का विचार आवश्यक होगा। पुनः दीक्षा की विशिष्टता तथा विधिक्रम आदि के निरूपण का प्रयास समुचित होगा। जहाँ तक 'दीक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, उसपर विचार करने पर इस शब्द के सम्बन्ध में भी प्रायः 'मुद्रा' शब्द की तरह ही दो तरह की व्युत्पत्ति का अवसर आता है: एक वैयाकरण-दृष्टि से व्युत्पादनपरक निर्वचन तथा दूसरा विविध आगम तथा तन्त्र-ग्रन्थों में उक्त 'दीक्षा' शब्द का निर्वचन। यहाँ सामान्य रूप से हम दोनों के विवेचन का प्रयत्न करेंगे। सामान्यत; 'दीक्ष्' धातु से अ प्रत्यय कर 'दीक्ष' शब्द निष्पन्न होता है, पुनः अदन्त-मान कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय कर 'दीक्षा' शब्द व्युत्पन्न होता है।[1] वी० एस० आप्टे ने 'दीक्षा' के अधोलिखित अर्थ बताये हैं: १. किसी धर्म-संस्कारानुष्ठान के लिए अपने-आप को तैयार करना; २. स्वयं को सन्नद्ध करना; ३. शिष्य बनाना; ४. उपनयन-संस्कार करना; ५. उपनीत करना; ६. आत्म-संयम करना।[2] कविकुलगुरु महाकवि कालिदास ने भी 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग किसी धर्म-संस्कार के लिए समर्पण अर्थात् पवित्रीकरण के अर्थ में किया है।[3] यज्ञ-सम्पादन से पूर्व किये जानेवाले प्रारम्भिक संस्कार तथा धर्म-संस्कार के अर्थ में भी 'दीक्षा' शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] शब्दकल्पद्रुम-कार ने भी 'दीक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति प्रायः इसी तरह बतायी है। इसके अनुसार "दीक्षा-स्त्री (दीक्ष्+अ भावप्रत्ययः) स्त्रियां टाप्। यजनम् पूजनमिति अजयपालः। अने०-

---

१ दीक्ष—मौण्डेय-उपासन-उपनयन-नियमव्रत तथा आदेशार्थक है।
—वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादि प्र०, धा० संहिता, ६०६

२. संस्कृत हिन्दी-शब्दकोश, पृ० ४०८; सं० १९७३

३. रघुवंश ३.४४.६५

४. कुमारसम्भव, ७.१; ८.२४

संग्रहः इति हेमचन्द्रः । ३ । ४८७ । गुरुमुखात् स्वेष्टदेवग्रहणम् ।" इत्यादि अर्थ-प्रदर्शन के पश्चात् अन्य दो श्लोकों के द्वारा 'दीक्षा' शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि जिस कारण दीक्षा के द्वारा अत्यन्त ज्ञान दिया जाता है, पाप-संचय का क्षय होता है, अतः इसे दीक्षा कहते हैं। शाक्ततन्त्र-ग्रन्थ 'प्रपञ्चसार' कहता है—दद्याच्च दिव्यभावं क्षणुया द्_रितानि च।[१] वैष्णवाराधनादि-सम्बद्ध गौतमीयतन्त्र के अनुसार दीक्षा सर्वसिद्धि-प्रवर्त्तिका है, दीक्षा के विना शत वर्ष में भी मन्त्र सिद्ध नहीं हो सकते। यह दिव्यता प्रदान करती है। पाप-संतति का क्षय करती है, अतएव तन्त्रपारग मुनियों के द्वारा इसे दीक्षा कहा गया है।[२] नारदीय संहिता ने 'दीक्षया दिक्क्षयं यान्ति' कहते हुए दीक्षा से दिक्क्षय अर्थात् सांसारिता के क्षय का निर्देश किया है।[३] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार जिस कर्म से विष्णु का परम पद दृष्ट होता है और अखिल जगत् खण्डित होता है उसे दीक्षा कहते हैं।[४] इस प्रकार 'दीक्षणं दीक्षा' इस भावसाधन के द्वारा अ प्रत्यय से निष्पन्न दीक्षा शब्द का अर्थ धात्वर्थ के अनुसार नियम-व्रताचरण स्वीकार किया जा सकता है। अथवा वैष्णव-सम्प्रदाय के विशिष्ट धर्म संस्कारानुष्ठान के लिए अपने-आपको तैयार करना भी दीक्षा शब्द का अर्थ आसानी से स्वीकारा जा सकता है। जहाँतक आगम एवं तान्त्रिक ग्रन्थों के द्वारा उक्त 'दीक्षा' शब्द के निर्वचन का प्रश्न है, उनमें प्रकृति प्रत्यय-विभाग तथा इसके अर्थ का प्रतिपादन तो नहीं दीखता, पर सामान्यतः यह अवश्य कहा जा सकता है कि दीक्षा शब्द की व्युत्पत्ति में स्थित दीक्ष् धातु के अर्थ के ऊपर प्रधानतः अवधान नहीं दिया गया है। अन्यथा पापक्षयादि अर्थ का अभिधान करनेवाले धातु के विना भी दीक्षा का वैसा अर्थ करना युक्तियुक्त नहीं होता। अन्ततः उपर्युक्त व्युत्पत्ति आदि को ध्यान में रखते हुए दीक्षा शब्द के वास्तविक अर्थ के विषय में यही कहा जा सकता है कि दीक्षा एक व्रताचरण है तथा उसका प्रयोजन शारीरिक तथा आत्मिक शोधन है। दीक्षा का यह अर्थ कोई नवीन अर्थ नहीं कहा जा सकता, वरन् दीक्षा का यह अर्थ तथा प्रयोजन भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के उदय के साथ-साथ श्रौतकर्मों में भी प्रतिपादित है। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक तथा प्रासांगिक होगा कि दीक्षा का आगमसम्मत अर्थ तथा प्रयोजनादि भी सामान्यतः श्रौतप्रक्रिया के समान हैं।

श्रौतसूत्रादि के मत में सोमयाग से पूर्व यजमान के द्वारा सम्पाद्यमान विविध कर्मसमुच्चय को दीक्षा कहते हैं। भारतीय विद्या के अनेक विद्वानों तथा विचारकों ने

---

१. शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृ० ७१४

२. अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धि प्रवर्त्तिकाम् । यां विना नैव सिद्धिः स्यात् मन्त्रः वर्षशतैरपि । ददाति दीव्यभावं च क्षिणुयात् पापसन्ततिम् । तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः ॥
—गौतमीय तन्त्रम् , ७.१—३; चौखम्बा-संस्करण, १९७७ ई०

३. नारदीय संहिता, ७.७

४. ईक्षते कर्मणा येन तद्विष्णोः परमं पदम् । क्षति संसारमखिलं तेन दीक्षेति भण्यते ।
—श्रीप्रश्नसंहिता, १६.१८-१९

'दीक्षा' शब्द की इस परिभाषा को स्वीकारा है। इन विचारकों में भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त ओल्डनवर्ग, कीथ तथा एल० रेनेउ आदि विदेशी विद्वानों का भी नाम-निर्देश किया जा सकता है।[1] वस्तुतः दीक्षा की यह परिभाषा पूर्णतः उचित जँचती है। सोमयाग-सम्पादन से पूर्व यजमान को आवश्यक रूप से दीक्षा-विधि को पूर्ण करना पड़ता है। इस दीक्षा-विधि के सम्पादन के पश्चात् ही यजमान सोमयाग-सम्पादन का अधिकारी हो पाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह दीक्षा विविध क्रिया-कलापों का समुच्चय है अर्थात् दीक्षा के अवसर में यजमान को दीक्षा के अंगभूत अनेक क्रियाओं का सम्पादन करना पड़ता है। जैसा कि वैष्णवी दीक्षा-प्रक्रिया में दीक्षा में अनेक अङ्गभूत कर्मों का समावेश है। श्रौतप्रक्रिया में दीक्षा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृत्य माना गया है और इसीलिए अनेक वैदिक संहिता-ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों ने इस विषय का सम्यक् विस्तृत विवेचन किया है।[2] इन विविध ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रतिपादित दीक्षा विषय के अनुसार वैदिक दीक्षा के वैशिष्ट्यों की चर्चा करते हुए श्रीगणेश उमाकान्त चिटे ने वैदिक अर्थात् श्रौतदीक्षा के अधोलिखित सात वैशिष्ट्यों का निर्देश किया है। सामान्य रूप से वैष्णवी दीक्षा की विशेषताओं के विवेचन के क्रम में इस वैदिक दीक्षा की विशेषता की चर्चा अप्रासंगिक नहीं कही जायगी। वैदिक दीक्षा की निम्नांकित विशेषताएँ हैं :

१. **धार्मिक आनन्दातिरेकोपलब्धि**—याग-सम्पादक यजमान को दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् एक विशेष प्रकार के धर्मविषयक आनन्दातिरेक की उपलब्धि होती है। दीक्षा के विना इस प्रकार के आनन्दातिरेक की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस तरह दीक्षा-ग्रहण की अनेक विशेषताओं में यह अन्यतम विशेषता कही गई है।

२. **देवत्वापादन**—अर्थात् दीक्षा-ग्रहण के अनन्तर यजमान अपने में देवत्व का आपादन कर लेता है। तात्पर्य यह है कि दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् यजमान न केवल आनन्दातिरेक को ही प्राप्त कर अति उच्च पद प्राप्त करता है, अपितु दीक्षा के द्वारा संस्कृत यजमान देवत्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दीक्षा के वैशिष्ट्यों में अन्यतम वैशिष्ट्य यजमान का देवत्वापादन कहा गया।

३. **उच्च वर्णश्रेणी-उपलब्धि**—दीक्षा-ग्रहण के द्वारा यजमान को उच्च वर्ण-श्रेणी की उपलब्धि कराना भी दीक्षा का एक वैशिष्ट्य कहा गया है। अर्थात् दीक्षाक्रम में यजमान गर्भाहित होता है और उसके बाद उस यजमान का दूसरा जन्म होता है। दीक्षाक्रम में सम्पन्न पुनर्जन्म में यजमान केवल जन्मान्तर को ही नहीं प्राप्त करता है, अपितु वह ब्राह्मण के रूप में जन्म लेता है। मतलब यह है कि यजमान यदि क्षत्रिय-वर्ण होता है, तब दीक्षा के द्वारा संस्कृत होकर ब्राह्मण के रूप में जन्मान्तर प्राप्त करता है। इसी तरह वैश्यवर्ण यजमान दीक्षा के द्वारा जन्मान्तरित होकर ब्राह्मण-वर्ण हो जाता है। इस तरह

---

१. सिग्निफिकेन्स ऑफ दीक्षा : अनाल्स ऑफ द भं० ओ० रि० इन्स्टी०, पूना, वॉल्यूम ११, भाग १—४, सन १९७० ई०

२. शतपथब्राह्मण, ३.२.१; कात्यायन श्रौतसूत्र, ७.२.४

श्रौतदीक्षा की एक विशेषता वर्णश्रेणी-उन्नयन अर्थात् क्षत्रिय तथा वैश्य-कुलोद्भव यजमान को इसी शरीर में ब्राह्मणत्व प्रदान करना भी है।

४. **गूढ संस्कारक्रम**—गूढ संस्कारक्रम भी दीक्षा की एक विशेषता कही गई है। इसका आशय यह है कि दीक्षा के द्वारा न केवल उच्च वर्णश्रेणी-प्रापक जन्मान्तर ही उपलब्ध होता है, अपितु दीक्षा-सम्पादन-प्रक्रिया में यजमान की गूढसंहृति भी होती है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ने दीक्षा को तीन मृत्युओं में अन्यतम मृत्यु होना स्वीकारा है।[1]

५. **परिशोधन**—दीक्षा का पाँचवाँ वैशिष्ट्य यजमान की परिशुद्धि बताया गया है। इसके अनुसार यजमान दीक्षा के द्वारा परिशोधित होकर याग-सम्पादन के लिए अर्हता प्राप्त करता है। 'दीक्षया आत्मानं पुनिते' अर्थात् दीक्षा के द्वारा यजमान अपने को पवित्र करता है। इस प्रकार यजमान की शुद्धता के लिए दीक्षा की अपेक्षा कही गई है।

६. **शक्ति-सम्पादन**—यजमान को शक्ति-सम्पन्न करना भी श्रौतदीक्षा की विशेषता है। इसे उर्क शब्द से अभिहित किया गया है। इस रूप में दीक्षा यजमान के लिए शक्ति-सम्पादन से भी सम्बद्ध है। इस कथन के द्वारा यह कहना कि दीक्षा यजमान में यज्ञ-सम्पादन की योग्यता प्रदान करती है, युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है।[2]

इस तरह वैदिक ग्रन्थों में दीक्षा के विविध वैशिष्ट्यों का निर्देश किया गया है। आधुनिक विद्वानों ने भी सामान्यतः उसी तरह से दीक्षा की अनेक विशेषताओं का वर्णन किया है। इन सब विषयों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षा की कोई एक ही निश्चित विशेषता नहीं कही जा सकती। स्वभावतः दीक्षा की उपर्युक्त अनेक विशेषताएँ हमारे समक्ष आती हैं।

हमने पहले संकेत किया है कि पाञ्चरात्रागम-प्रक्रिया न्यूनाधिक रूप में श्रौत-प्रक्रिया के अनुकरण की तरह है। श्रौतप्रक्रिया की दीक्षा तथा पाञ्चरात्र-प्रक्रिया के दीक्षावर्णनों के ऊपर स्थूलतः विचार करने से भी यह कथन उचित ही प्रतीत होता है। ऊपर हमने सोमयाग के अङ्गभूत विषय दीक्षा की विशेषताओं का संक्षेपतः वर्णन देखा है। पाञ्चरात्रागम के दीक्षाक्रम के परिशीलन से भी सामान्यतः पाञ्चरात्रिक दीक्षा की भी ये ही विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इसका संक्षिप्त वर्णन आगे देखने का प्रयत्न करेंगे।

पाञ्चरात्रागम के अनुसार दीक्षा को गुह्यात् गुह्यतर हितकारक कहा गया है। विष्णुमण्डल में दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् महापातकी तथा उपपातकी भी शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। कर्मदुष्ट, बीजदुष्ट, आहारदुष्ट तथा संकरकारक भी एक बार अध्वर में दीक्षा-प्राप्ति के बाद मुक्त हो जाते हैं। दीक्षा के बाद मनुष्य को वह गति प्राप्त हो जाती है, जो कि याग, दान आदि के द्वारा विप्र को भी प्राप्त नहीं होती। साधारण पाशबन्धयुक्त

---

१. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

२. सिग्निफिकेन्स ऑफ दीक्षा : अनाल्स ऑफ द भण्डा० ओ० रि० इन्स्टी०, पूना, वॉल्यूम ५१, भाग १—४, सन् १९७० ई०

जो जीव पाशपञ्जरों से योनि-मार्गों में प्रवेश कर भ्रमण करते रहते हैं, वे दीक्षा के द्वारा सभी बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। दीक्षा निर्वाणदा होती है। पशुपति के लिए दीक्षा का न्यास कर चञ्चल चित्त का शोधन भी किया जाता है। इस प्रकार बन्धन से मुक्त होने का उपाय दीक्षा है।[१] अदीक्षित जनों का, विष्णु की आराधना आदि में अधिकार नहीं होता। अर्थात् दीक्षा के पश्चात् ही वैष्णव जन भगवत्-पूजा की अर्हता प्राप्त करते हैं।[२] दीक्षा प्राप्त कर मनुष्य देहान्त के अनन्तर अभिमत पद को प्राप्त करता है। एक दीक्षा कैवल्य-फलदा, दूसरी भोग तथा कैवल्यदा तथा तृतीय दीक्षा केवल भोगदा कही गई है। ये सभी दीक्षाएँ आचार्यानुमत हैं और फललाभ के लिए अनुष्ठेय हैं।[३] दीक्षा-प्रदानक्रम में गुरु भगवान् के प्रति विज्ञापन करता है। उस विज्ञापन से दीक्षा के उद्देश्य तथा दीक्षा की विशेषता पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। आचार्य अर्थात् गुरु हाथ में देव को ग्रहण कर कहता है : "हे देव ! संसार-पाशबद्ध पशुओं के पाशमोक्ष में मात्र तुम्हीं शरण हो, दूसरी कोई गति नहीं है। तुम्हारा आराधन ही इसमें हेतु है। अतः जन्मपाश में आबद्ध पशु-जन्मवाले इस शिष्य को पाशमुक्त करने के लिए हे आदिदेव ! अनुज्ञा प्रदान करो।"[४] इस प्रार्थनापूर्वक अनुज्ञा-याचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि संसार-बन्धन से मुक्ति-प्राप्ति के लिए दीक्षा अत्यन्त अपेक्षित है। इससे यह भी स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि दीक्षा के अभाव में मनुष्य पशु रहता है, अर्थात् दीक्षा के द्वारा पशुत्व का निवारण कर शिष्य को कुछ उच्चता प्राप्त कराई जाती है। दीक्षा के क्रम में तत्त्वहोमादि के द्वारा शुद्धदेह शिष्य निर्वाणाख्य पद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार दग्धबीज से अंकुर उद्भूत नहीं होता उसी प्रकार वैष्णवी दीक्षा-प्राप्त शिष्य पुनः पशुता को नहीं प्राप्त करता, फिर पाशबद्ध होने का प्रश्न ही कहाँ उठता ?[५] इस कथन के द्वारा भी दीक्षा का उद्देश्य तथा वैशिष्ट्य शिष्य की शुद्धि तथा मोक्ष-प्राप्ति अर्थात् भवबन्ध से विमुक्ति है।

इन उपर्युक्त तथ्यों के विवेचन से हम यह कह सकते हैं कि पाञ्चरात्रिक दीक्षा का प्रयोजन भी सामान्यतः वैदिक दीक्षा के समान ही यजमान अर्थात् शिष्य का शुद्धीकरण है। इस शुद्धीकरण के पश्चात् ही शुद्ध शिष्य भगवदाराधन के लिए अधिकृत होता है। जिस प्रकार दीक्षा-प्राप्त यजमान सोमयाग-सम्पादन में योग्यता प्राप्त करता है, उसी प्रकार वैष्णव भी पहले दीक्षा प्राप्त करता है। फिर भगवदाराधन के द्वारा भुक्ति-मुक्ति उभय लाभ का अधिकारी होता है और भवसागर से मुक्ति प्राप्त होती है। यद्यपि नारदीय संहिता ने दीक्षा से पाशच्छेद आदि के प्रसंग में प्रत्यक्षतः दीक्षा को भगवदाराधक होने की योग्यता प्रदान करनेवाला नहीं कहा है, फिर भी इस संहिता के प्रथम अध्याय में नारद ने

---

१. नारदीय संहिता, ७.३—६
२. ईश्वर-संहिता, २१.१
३. वही, २१.२४७—२४९
४. पाद्मसंहिता, चर्यापा०, २.२९—३१
५. नारदीय संहिता, ९.२७-२८

गौतम से स्पष्ट कहा है कि विना वैष्णवी दीक्षा प्राप्त किये इस पाञ्चरात्रशास्त्र में या विष्णु के आराधन में किसी को अधिकार नहीं होता। इसीलिए गौतम सर्वप्रथम वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करता है, पुनः नारद उसे वैष्णवशास्त्र का उपदेश देता है। अर्थात् दीक्षा के विना पाञ्चरात्रशास्त्र-ज्ञान-प्राप्ति में अधिकार नहीं होता। अतः पाञ्चरात्र-ज्ञान-प्राप्ति की अर्हता के लिए भी दीक्षा-ग्रहण आवश्यक है।[1] यह विषय अन्यत्र संहिताओं में भी प्रायः इसी तरह देखा जा सकता है।[2]

पाञ्चरात्रिक दीक्षाक्रम में किये जानेवाले संस्कारों के वैशिष्ट्य को देखने के बाद हम इस वैष्णव-दीक्षा-क्रम पर श्रौतदीक्षा-वैशिष्ट्य का प्रभाव देवत्वापादन के रूप में भी देखते हैं। वैष्णवी दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् शिष्य अर्थात् दीक्षित पुरुष वासुदेव के समान हो जाता है। इस दीक्षा-प्रक्रिया के अनुसार दीक्षा के अवसान में गुरु शिष्य को विष्णुहस्त प्रदान करता है, और इस विष्णुहस्त-प्रदान से शिष्य वासुदेव के समान हो जाता है।[2] इस प्रकार दीक्षा के द्वारा देवत्वापादन यहाँ भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

पाञ्चरात्रिक दीक्षाक्रम में शिष्य के देह-शोधन तथा संस्कार के निमित्त उसका दहन तथा आप्यायन, उसी प्रकार सृष्टि तथा संहृति का विधान भी किया गया है। नारदीय संहिता कहती है:

प्रकृत्यादि विकृत्यन्तां साधिभूताधिदैविकाम्।
सृष्टिमाध्यात्मिकीं कृत्वा हुवितां संहरेत् क्रमात्॥[3]

इस विषय को सामान्यतः इसी रूप में पाञ्चरात्रागम के अन्य ग्रन्थों ने भी बताया है।[4] इस संस्कार की हम श्रौतदीक्षा के अन्यतम वैशिष्ट्य 'गूढ संस्कारक्रम' के साथ तुलना कर सकते हैं। वस्तुतः वहाँ भी यजमान के शुद्धिक्रम में सृष्टि तथा संहृति का ही विधान किया गया है।

पाञ्चरात्रिक दीक्षा के द्वारा जहाँ तक शिष्य के शरीर के शोधन का प्रश्न है, वह तो पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में अत्यन्त स्पष्ट तथा विस्तृत रूप में वर्णित है। इसका किञ्चित् विस्तृत वर्णन हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे। इस प्रकार श्रौतदीक्षा की विशेषता—परिशोधन का अनुकरण पाञ्चरात्रिक दीक्षा के क्रम में भी स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। उभयत्र परिशोधन का प्रयोजन समान कहा गया है। श्रौतयागक्रम में आत्मा की शुचिता के लिए दीक्षा की आवश्यकता कही गई है। उसी प्रकार यहाँ भी शारीरिक तथा आध्यात्मिक शुचिता के लिए दीक्षा का विधान किया गया है।

---

१. नारदीय संहिता, १.१८—२०
२. ईश्वर-संहिता, २१.४१९-२०
नारदीय संहिता, ९.३२१
३. वही, ९.६
४. पाद्मसंहिता, च० पा०, २.४६-४७
विश्वामित्र-संहिता, ९.५२-५३
जयाख्य-संहिता, पट० १६.२४२—२४४

श्रौत दीक्षा की विशेषताओं में अन्यतम विशेषता शक्ति-सम्पादन कही गई है। अर्थात् दीक्षा के द्वारा यजमान में शक्ति आती है। यजमान उसी शक्ति के द्वारा याग की सभी प्रक्रियाओं को पूर्ण करता है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी शिष्य दीक्षाक्रम में शक्ति प्राप्त करता है। दीक्षा-माहात्म्य वर्णन के क्रम में नारदीय संहिता ने विष्णु के त्रिविध शक्तिपात का निर्देश किया है। अर्थात् शिष्य के ऊपर विष्णु की शक्ति आती है, उसके द्वारा शिष्य सर्वसामर्थ्ययुक्त हो जाता है। इस प्रकार पाञ्चरात्रिक दीक्षा भी श्रौत दीक्षा की तरह शक्ति-सम्पादनात्मक वैशिष्ट्य से युक्त कही जा सकती है। शक्तिपात तथा दीक्षा की विशेषता के वर्णन-क्रम में नारदीय संहिता कहती है कि पृथिवी पर दीक्षा से बढ़कर कोई भी मोचन नहीं है। दीक्षा के समान स्नान नहीं है, दीक्षा के समान कोई तीर्थ नहीं है, दीक्षा के समान कोई योग नहीं है, दुर्लभ वैष्णवी दीक्षा अल्प-पुण्य लोगों को नहीं प्राप्त होती है। जब अपवर्ग होनेवाला होता है, तब उसका पश्चिम जन्म होता है। अर्थात् पूर्वजन्म समाप्त होता है। उसी स्थिति में इस दिव्य वैष्णव ज्ञान में श्रद्धा होती है। संसारतरु के विच्छेद-विधायक दृढ़ परशु के ज्ञान का कारण दीक्षा है। वह दीक्षा गुरु में व्यवस्थित है। गुरु-ज्ञान विज्ञानवान् तत्त्व-निष्पादक होता है। अनागमवेदि हेतुओं से जो विचलित होते हैं, उनमें तीव्र शक्तिपात नहीं होता। अद्भुत कर्म विष्णु का त्रिविध शक्तिपात कहा गया है—दिव्य, मन्द तथा मध्य। पापभीरु शुभाचार, शास्त्रान्वेषण-तत्पर विष्णुभक्त दीक्षार्थी, जो चिरकाल से गुरु-अन्वेषण में तत्पर होता है, उसी को सत्त्व की सभी शक्तियाँ अनुगृहीत करती हैं। उसके पश्चात् दिव्या अनुग्राहिका दैवी शक्ति प्रवृत्त होती है। तत्पश्चात् दीक्षार्थी चैतन्य के संचलन के अनन्तर दीक्षा के लिए प्रयत्न करता है तथा परतत्त्वज्ञ आचार्य के समीप जाता है और दीक्षा-संस्कार प्राप्त करता है।[1]

इस प्रकार सामान्य रूप से विवेचन के आधार पर, जैसा कि पहले भी कहा गया है, पाञ्चरात्रिक दीक्षा की भी प्रायः वही विशेषताएँ हैं, जो श्रौत प्रक्रिया में वर्णित दीक्षा की। वस्तुतः श्रौत याग-सम्पादन (जो कि एक अमूर्त्त अग्नि-आराधनामूलक प्रक्रिया है) के लिए योग्यता तथा अर्हता-प्राप्ति के निमित्त श्रौत दीक्षा का विधान किया गया है। उसी के अनुकरण-रूप में यहाँ पाञ्चरात्रिक दीक्षा का विधान भी कहा जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट प्रतिपादित है, पाञ्चरात्रिक दीक्षा-प्राप्ति के पश्चात् ही वैष्णव समूर्त्त भगवदाराधन की अर्हता प्राप्त करता है। वह आराधन परार्थ तथा स्वार्थ, उभयविध हो सकता है। इस क्रम में ईश्वर-संहिता ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रमुख भगवदाराधक वैष्णवों के लिए अभिषेक-सहित दीक्षा का निर्देश किया है।[2] श्रीप्रश्न-संहिता ने स्पष्ट शब्दों में श्रौत दीक्षा की तरह इस दीक्षा को बताया है।[3] अब कदाचित्

---

१. नारदीय संहिता, ६.३११–३२०

२. ईश्वर-संहिता, २१.५०३-५०४

३. यथैव कर्मकाण्डेषु दीक्षोक्ता याग सिद्धये। तथैवैकायने वेदे पूजायागादि सिद्धये॥
—श्रीप्रश्नसंहिता, १६.२०

यह प्रश्न हो सकता है कि इन आराधनों के उद्देश्य तथा प्रयोजन क्या हैं? सामान्यतः इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि श्रौत याग के द्वारा स्वर्गादि-प्राप्ति के लिए विधिवत् अग्नि में होम कर अमूर्त्ताराधन तथा मोक्ष एवं वैकुण्ठादि; विष्णुलोक-सायुज्यादि-प्राप्ति के लिए समूर्त्ताराधनमूलक पाञ्चरात्रशास्त्र-विहित इस स्वार्थ तथा परार्थ-पूजा का विधान किया गया है। नारदीय संहिता ने विष्णुहस्त-प्रदत्त शिष्य को जीवन्मुक्त होना कहा है। जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः विष्णुहस्ते समर्पिते।[१] यह विष्णुहस्त-समर्पण-दीक्षा का ही एक अङ्गभूत कर्म है। इससे यह प्रतीत होता है कि दीक्षा की पूर्णता के बाद दीक्षार्थी जीवन्मुक्त हो जाता है। यद्यपि दीक्षाक्रम में जिस प्रकार की शुद्धि तथा व्रताचारादि के द्वारा शिष्य की शुचिता आदि का विधान किया गया है, पुनः दीक्षा-प्रदान के अवसर में जिस प्रकार शिष्य के देहादि के तत्तदवयवों का एवं विविध अध्वों के द्वारा सारे तत्त्वों का शोधनादि किया जाता है, उसके बाद मनुष्य को निश्चित ही माया से रहित होकर मुक्त हो जाना चाहिए। परन्तु सामान्यतः व्यवहार में जो दीक्षा-प्रदान आदि देखते हैं, उनमें कितनों को जीवन्मुक्ति का अवसर प्राप्त होता है, यह एक चिन्तनीय विषय है।

जयाख्य-संहिता ने सामान्य रूप से दो प्रकार की दीक्षा का निर्देश किया है: १. सामान्या दीक्षा तथा २. विशेषाख्या दीक्षा। सामान्या दीक्षा के तीन भेद कहे गये हैं: १. संक्षिप्ता, २. मध्यमा तथा ३. अतिविस्तृता। संक्षिप्ता दीक्षा अल्प-कालिक होती है। यह दीक्षा भोग एवं संकट प्रदान करनेवाली कही गई है। मध्यमा दीक्षा के द्वारा मध्यम भोग तथा काल की प्राप्ति निर्दिष्ट है। विस्तीर्णा दीक्षा होम-पूजा के प्रभाव से अनन्त भोगफल-दायिनी कही गई है। अपवर्ग में तीनों दीक्षाओं को सम होना कहा है। विशेषाख्या दीक्षा पाँच प्रकार की कही गई है। उनमें प्रथम दीक्षा समयज्ञ विष्णुचित्त भक्त के लिए कही गयी है। उसी प्रकार यह दीक्षा कन्यकाओं के लिए भी कही गई है। द्वितीय दीक्षा पुत्रक के लिए, तृतीय दीक्षा मोक्षमार्गस्थ साधकों के लिए, चतुर्थी मोक्ष-सायुज्य-दायिनी दीक्षा आचार्य के लिए तथा पञ्चमी दीक्षा देशिकों एवं अङ्गनाओं के लिए कही गई है। इन सभी दीक्षाओं में तत्तन्मन्त्रों द्वारा तत्त्व-संयोजन आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है और उसी के तारतम्यादि भाव के आधार पर ये दीक्षा-भेद कल्पित हैं।[२] ईश्वर-संहिता ने सामान्यतः १. वैभव-दीक्षा, २. व्यूह-दीक्षा तथा ३. ब्रह्मदीक्षा के रूप में तीन प्रकार की दीक्षाओं का निर्देश किया है। इन तीनों दीक्षाओं के अन्त में गुरु शिष्य को शक्ति, भूषण तथा वाहन आदि प्रदान करता है।[३]

दीक्षाविधि-सम्पादन के लिए स्थान का निर्देश किया गया है। यह स्थान पुण्य-देश, अनुकूल, मनोज्ञ, साधु-निषेवित, मृद्, वारि, फल-पुष्पादियुक्त, गो-सस्यशालियुक्त

---

१. नारदीय संहिता, ६.३४४
२. जयाख्य-संहिता, १६.५४—६१
३. ईश्वर-संहिता, २१.४४८—४६०

सुभग, क्षुद्र प्राणियों से रहित, सत्पक्षी तथा सत् पशुओं से सुसेवित वर्णों के अनुरूप होना चाहिए। वहाँ की भूमि सर्वथा दोष-रहित हो। इस तरह के स्थान-विशेष में आलय-कल्पनक्रम में निर्दिष्ट विधि के अनुसार भूमि-संस्कारादि कर मण्डपादि-कल्पन कर दीक्षा-विधि सम्पादित होनी चाहिए। ईश्वर-संहिता ने उपर्युक्त स्थानादि का वर्णन कर भूमि पर मण्डप तथा पीठ एवं उपपीठादि-कल्पनविधि का विस्तार से वर्णन किया है।[1] नारदीय संहिता ने पर्वतपृष्ठ, नदियों के मनोरम संगम-स्थल या महानदी का मनोरम किनारा दीक्षाविधि-सम्पादन के लिए उपयुक्त बताये हैं। इन स्थानों में से किसी जगह भू-परीक्षण कर मण्डपादि-कल्पनपूर्वक दीक्षा-सम्पादन का विधान कहा है। नारदीय संहिता ने यहाँ इस प्रसंग में भू-परीक्षण के लिए प्रायः उन्हीं विधियों का निर्देश किया है, जो वास्तुकल्पन-प्रसंग में वर्णित है। जैसे भूखनन, पुनः उसका पूरण आदि क्रम।[2] पाद्मसंहिता ने सामान्य रूप से प्रतिष्ठा-विधि की तरह शुचि देश में दीक्षा-मण्डपादि-कल्पन का निर्देश किया है। कुछ अन्य संहिताओं ने भी पाद्म का अनुसरण किया है।[3]

विश्वामित्र-संहिता ने मीन, मेष, वृष तथा नक्र राशिस्थ आदित्य के पूर्वपक्ष के शुभ नक्षत्र में एकादशी तिथि की रात्रि में दीक्षा का काल-विधान किया है। सामान्यतः पाद्मसंहिता ने भी इसी उपर्युक्त काल को दीक्षा के लिए स्वीकारा है।[4] पाद्मसंहिता में मास का उल्लेख तो नहीं देखते, पर तिथि का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है।[5] जयाख्य-संहिता ने स्पष्ट रूप से दीक्षाकाल के रूप में द्वादशी तिथि को ग्राह्य कहा है। इसके अनुसार दशमी को दीक्षा के लिए आवश्यक सम्भारों का संग्रह किया जाना चाहिए।[6]

जैसा कि हमने पहले कहा है, दीक्षा के अङ्गभूत क्रिया-कलापों में अग्निकार्य अन्यतम तथा आवश्यक अङ्ग है। इसलिए अग्निकार्य अर्थात् होमादि-सम्बद्ध विषय का विवेचन दीक्षा-विधि-विवेचन के प्रकरण में आवश्यक प्रतीत होता है। अतः आगे हम इस विषय पर संक्षेपतः विचार करने का प्रयत्न करेंगे।

दीक्षा-प्रदान-प्रसंग में स्थानादि का चयन तथा उसके संस्कार के पश्चात् शिष्य का शरीर-शोधन करते हैं और उसके पश्चात् पाञ्चरात्र वैष्णवागम-प्रक्रिया के अनुसार सम्पाद्यमान चतुस्स्थानाराधनों में अन्यतम कुम्भाराधन का विधान देखते हैं। सरल, निर्व्रण कर्करीयुक्त, परिपूर्ण रम्यकलश पीठन्यास-क्रम से संस्थापित कर साङ्गदेव की उसमें पूजा करते हैं। नारदीय संहिता तथा पाञ्चरात्रागम की अन्य संहिताओं ने भी

---

१. ईश्वर-संहिता, २१.४४
२. नारदीय संहिता, ७.१०—१४
३. पाद्मसंहिता, च० पा० २.३
   विश्वामित्र-संहिता, ९.३-४
४. विश्वामित्र-संहिता
५. पाद्मसंहिता, च० पा० २.४
६. जयाख्य संहिता, १६.८९-९०

इस पूजा का वर्णन अत्यन्त स्पष्ट रूप से बताया है।[1] कुम्भार्चन के पश्चात् अग्नि-आराधन का अवसर आता है। यह अग्नि-आराधन केवल दीक्षा-विधि में ही विहित नहीं है, अपितु पाञ्चरात्र-प्रक्रिया की प्रतिष्ठा, उत्सवादि अनेक अवसरों में अग्नि-आराधन अर्थात् अग्नि-कुण्ड में विधिवत् होम-सम्पादन का विधान किया गया है। नारदीय संहिता ने, जैसा कि हमने पहले भी कहा है, दीक्षा-विधि-निरूपण-प्रसंग में ही साङ्गोपाङ्ग अग्नि-आराधन का वर्णन किया है। इस वर्णन-क्रम में होमार्थ अग्निकुण्ड-कल्पन-प्रकार तथा कुण्ड के लक्षणादि वर्णित हैं। कुण्ड-संस्कार, वह्निस्वरूप, उसकी विविध जिह्वा आदि का लक्षण तथा विनियोगादि विषय भी इसी क्रम में निर्दिष्ट हैं।

नारदीय संहिता में चार प्रकार के अग्निकुण्डों का वर्णन किया गया है। कुण्डों के स्वरूप के आधार पर यह भेद किया गया है। ये स्वरूप हैं: १. चतुरस्र कुण्ड, २. वृत्तकुण्ड, ३. अर्द्धचन्द्राकार कुण्ड तथा ४. पद्माकार कुण्ड। चतुरस्र कुण्ड २४ अंगुल का होना कहा गया है। चतुरस्रखनन के पश्चात् तीन अंगुल छोड़कर मेखला का कल्पन करते हैं। उनमें प्रथम सात्त्विक, द्वितीय राजसी तथा तृतीय तामसी मेखला कही गई है। जहाँ तक मेखलाओं की उन्नति का प्रश्न है, उसके लिए प्रथम मेखला को द्वादश अंगुल उन्नत, द्वितीय मेखला को अष्टांगुल उन्नत तथा तृतीय मेखला को चार अंगुल उन्नत होना विहित है। इन सभी मेखलाओं का विस्तार चार अंगुल कहा गया है। कुण्ड में दश अंगुल, षडंगुल, चतुरंगुल अथवा द्वयंगुल परिमाणात्मक कुण्डयोनि-कल्पन विहित है। योनि कुण्ड में पश्चिम दिशा में क्रमशः नीचे की ओर जाती हुई कल्पित होती है। उसका स्वरूप अश्वत्थ-पत्र की तरह होता है और वह कुण्ड में किञ्चित् निवेशित होती है। यह पञ्चदश अंगुल आयत तथा चतुरंगुल आयतनार्ह परिमित होती है। इसका मूल तीन अंगुल तथा अग्र षडंगुल होता है। उपर्युक्त यह अग्निकुण्ड-लक्षण एक हाथ के कुण्ड का कहा गया है। दो हाथ के कुण्ड में नाभि तथा मेखला पूर्वोक्त की अपेक्षा द्विगुणित की जानी चाहिए। संक्षिप्त कर्म में एक मेखलायुक्त कुण्ड भी किया जा सकता है। इस प्रकार यह चतुरस्र अग्निकुण्ड का वर्णन हुआ। इसके पश्चात् वर्त्तुलाकार कुण्डकल्पन का सामान्य निर्देश किया गया है। पुनः अर्द्धचन्द्राकार कुण्डकल्पन का निर्देश किया गया है। पद्माकार कुण्ड का स्वरूप वर्त्तुल होता है, पर इस कुण्ड की मेखला में पद्मदल का कल्पन किया गया होता है।[2] श्रीप्रश्न-संहिता ने अधोलिखित १४ तरह के अग्निकुण्डों का निर्देश करते हुए उनके विनियोग के अवसरों का निर्देश भी किया है। इसके अनुसार

---

१. नारदीय संहिता, ७.२२—२८
ज्याख्य संहिता, पट० १६.६५—१०४
ईश्वर-संहिता, २१.९८ तथा आगे।
पाद्मसंहिता, च० पा० २.९—१४
विश्वामित्र-संहिता, ९.१२—१९

२. नारदीय संहिता, ७.२९—४१

१. त्रिकोणकुण्ड, २. चतुष्कोणकुण्ड, ३. पंचकोणकुण्ड, ४. षडस्रकुण्ड ५. सप्तास्रकुण्ड, ६. अष्टास्रकुण्ड, ७. नवकोणकुण्ड, ८. दशकोणकुण्ड, ९. एकादश कोण कुण्ड, १०. द्वादशास्रकुण्ड, ११. चापकोणकुण्ड, १२. वृत्तकुण्ड, १३. पद्माकार कुण्ड, १४. योनि-कुण्ड—ये चौदह कुण्ड परिगणित हैं। इनके विनियोग का अवसर अधोलिखित कहा गया है :

कुण्ड	विनियोगावसर	कुण्ड	विनियोगावसर
१. चतुष्कोणकुण्ड	सर्वाभ्युदय कर्म;	८. नवास्रकुण्ड	विद्वेष कर्म;
२. पद्मकुण्ड	पौष्टिक कर्म;	९. दशास्रकुण्ड	वस्त्रादि पितृतोष कर्म;
३. वृत्तकुण्ड	शान्तिक कर्म;	१०. एकादशास्रकुण्ड	ब्रह्मादि देवाराधन-कर्म;
४. पञ्चकोणकुण्ड		११. द्वादशास्रकुण्ड	हरिदर्शन-कामनार्थ;
५. षडस्रकुण्ड	स्तम्भन-कर्म	१२. योनिकुण्ड	कन्या-आप्ति के लिए;
६. सप्तास्रकुण्ड	मोहन-कर्म	१३. त्रिकोणकुण्ड	मारण-कर्म;
७. अष्टास्रकुण्ड	मारण-कर्म	१४. चापकुण्ड	उच्चाटन-कर्म।[1]

वैखानस आगम-ग्रन्थ के विमानार्चन-कल्प ने अग्निकुण्ड-लक्षणादि का वर्णन करते हुए पाँच प्रकार की अग्नि का निर्देश किया है। कहते हैं कि ब्रह्मा ने पाँच तरह से अग्निसृष्टि कर पाँच लोकों में उसका विभाग किया। आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक के लिए, अन्वाहार्य अग्नि अन्तरिक्ष-लोक के लिए, गार्हपत्य-अग्नि पृथ्वी-लोक के लिए, आवसथ्य अग्नि महर्लोक के लिए, सभ्य-अग्नि जनलोक के लिए प्रदान की। इसके अनन्तर यहाँ तत्तत् लोकों के आकार के अनुसार तत्तत् अग्निकुंड के स्वरूप का निर्देश भी किया गया है। इसके अनुसार स्वर्गलोक चतुरस्र है, अतः आहवनीय के लिए चतुरस्र स्वरूप कहा, अर्थात् आहवनीयाग्नि का कुण्ड चतुरस्र होता है। अन्तरिक्ष-लोक अर्द्धचन्द्राकार कहा गया है, अतः उसकी अग्नि का कुण्ड अर्द्धचन्द्राकृति होगा। भूमि मण्डलाकृति होती है, अतः भूलोक के लिए प्रदत्त गार्हपत्य अग्नि के लिए भूमण्डलाकृति कुण्ड का निर्देश किया गया है। महर्लोक त्र्यस्र कहा गया है। अतः उस लोक के लिए निर्दिष्ट आवसथ्य अग्नि का कुण्ड त्र्यस्र कहा गया है। जनोलोक का स्वरूप चतुरस्र बताया गया है, अतः उस लोक के लिए कथित सभ्याग्नि के कुण्ड का स्वरूप भी चतुरस्र कहा गया है। तपोलोक का स्वरूप पुण्डरीक की तरह कहा गया है और इसलिए तपोलोक के लिए विहित अग्निकुण्ड पुण्डरीक की तरह उक्त है। इस प्रकार यहाँ प्रारम्भ में पाँच अग्नियों की प्रतिज्ञा करके भी उनके विवरण के क्रम में छह अग्निकुण्डों का विधान देखते हैं। इन छह अग्निकुण्डों के स्वरूप-वर्णन के पश्चात् अधोलिखित रूप में यागशाला में अग्निकुण्डों के कल्पन आदि का वर्णन देखते हैं। यागशाला का नौ विभाग कर मध्य में ब्राह्म भाग में शय्यावेदि, ऐन्द्र पद में सभ्य तथा आहवनीय कुण्डों का कल्पन विहित है। आहवनीय को औपासनाग्नि की तरह होना कहा गया है। याम्य भाग में अर्थात् दक्षिण दिशा में अन्वाहार्याग्नि कुण्ड अर्द्ध-चन्द्राकृतिक होना बताया गया है। पश्चिम में गार्हपत्याग्नि-कुण्ड पूर्ण चन्द्राकृतिक होना

१. श्रीप्रश्नसंहिता, १८.६७—७३

कहा गया है। उत्तर में आवसथ्याग्निकुण्ड त्रिकोणाकृतिक बनाना कहा गया है। शम्यावेदि के पूर्व आहवनीय के पश्चिम भाग में त्रिवेदिसहित सभ्याग्निकुण्ड का स्थान निर्दिष्ट है। आग्नेय कोण में त्रिवेदिसहित पौण्डरीक अग्निकुण्ड का स्थान विहित है। इस तरह उपर्युक्त छह कुण्डों के साथ-साथ यहाँ पुनः आठ तरह के अग्निकुण्डों का वर्णन किया गया है।[1] यज्ञतत्त्व-प्रकाश नामक श्रौत याग-सम्पादन विषय-प्रतिपादक ग्रन्थ में स्वतन्त्र पशुयाग-वेदि तथा आपस्तम्ब श्रौत सूत्रानुसारिणी सोमयागार्थ महावेदि का स्वरूप चित्र के द्वारा दिखाया गया है। इन दोनों वेदियों में सामान्यतः अग्निकुण्डों का स्वरूप-निर्देशपूर्वक स्थान भी निर्दिष्ट हैं। इसके अनुसार आहवनीय अग्निकुण्ड का स्वरूप चतुरस्र तथा स्थान वेदि के पूर्व भाग में प्रदर्शित है। गार्हपत्याग्निकुण्ड का स्वरूप पूर्वनिर्दिष्ट की तरह पूर्ण चन्द्राकृतिक वेदि के पश्चिम भाग में कहा गया है। उसके बाद दक्षिणाग्निकुण्ड का स्वरूप अर्द्धचन्द्राकार तथा स्थान दक्षिण में दिखाया गया है। इनके अतिरिक्त उत्तर दिशा में चन्द्राकार स्वरूपवाले आग्नीध्रीयाग्निकुण्ड का निर्देश किया गया है।[2] इस तरह यहाँ श्रौतयाग-वेदि में चार तरह के अग्निकुण्डों का वर्णन देखते हैं। यहाँ चतुरस्र, चन्द्राकार तथा अर्द्धचन्द्राकार रूप से तीन प्रकार के अग्निकुण्डों का विधान है, पर पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में त्र्यस्रादि बहुविध अग्निकुण्डों का विधान देखते हैं। इन सबके अतिरिक्त वैखानस तथा पाञ्चरात्र उभयविध आगम-ग्रन्थों में पौण्डरीकाग्निकुण्ड-कल्पन का भी विधान है। इन दोनों श्रौत तथा आगमिक प्रक्रिया में निर्दिष्ट कुण्डों की तुलना से सामान्य रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आगमिक अग्निकुण्ड विषयों का मूल प्रायः श्रौत प्रक्रिया ही हो। पर उत्तर काल में श्रौतकर्म के लिए विहित अल्पसंख्याक होमकुण्डों की संख्या विविध फलोद्देश्य-भेद के आधार पर अधिक हो गई होगी, जैसा कि श्रीप्रश्नसंहिता में तत्तदुद्देश्य से होम-विधान के लिए पृथक्-पृथक् स्वरूपवाले होमकुण्डों का विधान किया गया है। नारदीय संहिता ने तत्तत् आगमिक कर्म-सम्पादन के अवसर में तत्तत् अग्निकुण्ड में होम का निर्देश अधोलिखित रूप से कहा है: १. नैमित्तिक कर्म, २. पवित्र याग, ३. पुष्प-याग, ४. शान्ति-कर्म तथा ५. बल्यङ्ग कर्म में चतुरस्र कुण्ड अथवा अर्द्धचन्द्राकार कुण्ड का प्रयोग विहित है। ६. पौष्टिक कर्म, ७. ग्रहशान्ति-विधि, ८. प्रायश्चित्त कर्म तथा उत्सव के अवसर पर वृत्तकुण्ड अथवा चतुरस्र कुण्ड में हवन का विधान किया गया है। अन्ततः उपसंहार-रूप में कहा गया है कि चतुरस्र तथा वृत्तकुण्ड का प्रयोग सार्वत्रिक है। प्रमाणरहित, छिन्नमेखलादि कुण्ड के विनियोग से अनेकानेक दोष प्रदर्शित किये गये हैं।[3] जयाख्य संहिता ने नित्य तथा नैमित्तिक होम के लिए वृत्त या चतुरस्र होम-कुण्ड होना बताया है।[4] श्रीप्रश्न-संहिता ने

---

१. विमानार्चनकल्प, पटल, ३०, पृ० २१५-१६

२. यज्ञतत्त्वप्रकाश, परिशिष्ट, पृ० ५-६

३. नारदीय संहिता, ७.४१—४६

४. जयाख्य संहिता, पट० १५.३१

तत्तद्वर्णानुरूप दीक्षा-प्रसंग में अग्निकुण्डों के उपयोग का निर्देश किया है। कहते हैं:

चतुरस्रं ब्राह्मणानां वृत्तं कुण्डं तु भूपतेः।
वैश्यस(स्य) चापकुण्डं स्याच्छूद्रजातेस्त्रिकोणकम् ॥

—अर्थात् ब्राह्मणों की दीक्षा के समय चतुरस्र अग्निकुण्ड में, क्षत्रियों की दीक्षा के अवसर में वृत्ताकार अग्निकुण्ड में, वैश्यों की दीक्षा के अवसर में चापकुण्ड में तथा शूद्रों की दीक्षा के समय त्रिकोण अग्निकुण्ड में होम किया जाना चाहिए।[1] होम-संख्या के अनुरूप अग्निकुण्ड की अल्पता या विशालता निर्दिष्ट है। जैसे कोटिसंख्या होम के लिए आठ हाथ का अग्निकुण्ड शुभ कहा गया है। महाहोम के लिए स्वल्पाकार अग्निकुण्ड तथा स्वल्प होम के लिए महाकुण्ड-कल्पन का विधान कहा है। तत्तत् दिशाओं में अग्निकुण्ड की स्थिति के अनुरूप भी फल वर्णित है। जैसे—

दिशा	कुण्डकल्पन-फल	दिशा	कुण्डकल्पन-फल
१. पूर्वदिशा में	जयदायक	५. पश्चिम दिशा में	आयुष्यवर्द्धक;
२. आग्नेय कोण में	धनदायक	६. वायव्य कोण में	धननाशक, अनायुष्यकर, अर्त्तता-प्रदायक;
३. दक्षिण दिशा में	मेधादायक;	७. उत्तर दिशा में	सर्वसम्पत्ति एवं समृद्धिदायक;
४. नैर्ऋतकोण में	मोक्षदायक;	८. ईशान कोण में	धनदायक तथा पुण्य-प्रवर्द्धक।[2]

दीक्षाक्रम में अग्निकुण्ड में होम करने से पूर्व उसका संस्कार करना कहा गया है। कुण्ड का उपलेपन तथा जल के द्वारा प्रोक्षण कर पूर्वाग्र या उत्तराग्र विष्टर रखकर फिर अग्नि का भ्रमण कराकर योनि के मध्य रखते हैं, और द्वादशाक्षर मन्त्र के एक-एक बीज-मन्त्र से क्रमशः कुण्ड का गर्भाधानादि संस्कार सम्पन्न करते हैं। इन संस्कारों का क्रम इस प्रकार है: १. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. अन्नप्राशन, ७. चौलकर्म, ८. व्रतबन्ध, ९. वेदव्रत (वेदाध्ययन), १०. समावर्त्तन, ११. गार्हस्थ्य। संस्कार के अन्त में पूर्णाहुति का विधान किया गया है। यहाँ अग्नि को वासुदेव शरीरवाले पञ्चमुख के रूप में ध्यान किया जाना उक्त है। विविध दिशाओं में स्थित अग्निमुख का वर्ण अधोलिखित कहा गया है: पूर्वदिशा में सुवर्ण की आभावाला, दक्षिण दिशा में कृष्ण वर्ण, पश्चिम दिशा में चन्द्र की आभावाला, उत्तर दिशा में रक्तवर्णाभ तथा ऊपर की ओर शुद्ध स्फटिक की आभायुक्त अग्निस्वरूप ध्येय होता है। कहा गया है कि अग्नि में २८ कलाओं का निवास है। उसके नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हैं। आराधक को अग्नि में इसी तरह का ध्यान करना चाहिए। उपर्युक्त रूप में अग्नि के पाँच मुख हैं, और इनके सात जिह्वाएँ भी कही गई हैं। अग्नि का मुख अग्निकुण्ड-प्रमाण का कहा गया है। यह सहस्रों ज्वाला-समूह से युक्त वासुदेवात्मक मुख है। अग्नि के ऊपरवाले मुख में होम किया जाना चाहिए। नारदीय संहिता में वह्निजिह्वा

---

१. श्रीप्रश्न-संहिता, १६.४०
२. नारदीय संहिता, ७.४७—५४

के विषय में वर्णन करते हुए उसका वर्ण, स्वरूप, स्थान तथा उसमें किये गये होम के फल का निर्देश भी किया गया है। ये विषय नीचे देखे जा सकते हैं :

जिह्वाक्रम	वर्ण	स्वरूप	स्थान	होमफल
प्रथमा	नीलवर्ण	कालरूपिणी	पश्चिमास्य	अशोभन
द्वितीय	ताम्रवर्णा	ब्रह्मरूपिणी	पूर्वास्य	धनधान्यप्रदा, सर्वसम्पत्प्रदा
तृतीया	शुक्लवर्णा	सोमदेवत्या	मध्यास्य (वामगा)	सबको प्रीणन करनेवाली
चतुर्थी	कृष्णवर्णा	×	दक्षिणास्य(याम्यदिशा)	सर्वगोत्रादि-नाशिनी;
पञ्चमी	अतसी कुसुमवर्णा	वैष्णवी	उत्तरास्यगता	धनधान्य-समृद्धिदा; उत्तमा;
षष्ठी	शुक्लवर्णा	सूर्य देवता	मध्यास्य (दक्षिणगा)	शान्ति-पुष्टिदा;
सप्तमी	×	सर्वदेवी	मध्यास्य (मध्यगा)	धर्मकामार्थ मोक्षदा

पाँच अग्नि की जिह्वाओं के विनियोग-क्रम अधोलिखित हैं : पूर्वास्य जिह्वा में शान्ति-होम, पश्चिम जिह्वा में प्रायश्चित्त होम, उत्तरास्य जिह्वा में सर्वकामार्थ होम, दक्षिणास्य जिह्वा में आभिचारिक होम, मध्यमास्य जिह्वा में सिद्धिलाभदायक होम किये जाते हैं।[1]

जयाख्य संहिता ने कुण्डमध्यगत अग्नि के सामान्यतः दस संस्कारों का तथा बाह्यरूप से पाँच संस्कारों का विधान किया है। इस तरह यहाँ अग्नि के पञ्चदश संस्कार कहे गये हैं। पाँच बाह्य संस्कार अधोलिखित हैं : १. प्रोक्षण, २. ताडन, ३. अर्चन, ४. अवकुण्ठन, तथा ५. अमृतीकरण। कुण्डमध्यगत संस्कार निम्नलिखित हैं : १. गर्भन्यास, २. पुंसवन, ३. वक्त्रकल्पन, ४. सीमन्त, ५. वक्त्रनिर्यास, ६. निष्क्रामण, ७. जातकर्म, ८. नामकरण, ९. भोग, १०. प्राशन तथा ११. अधिकार।[2] गर्भाधानादि संस्कारों की संख्या प्रतिज्ञारूप से दस कही गई है, पर इन संस्कारों के विवेचन-क्रम में एकादश संस्कारों का स्वरूप-निर्देशपूर्वक विवेचन किया गया है। पुंसवन के पश्चात् वक्त्रकल्पन का निर्देश देखते हैं। अग्निवक्त्र में अर्चिका होना स्वाभाविक है। उन वक्त्रार्चिषों के नाम अधोलिखित हैं : १. प्रभा, २. दीप्ति, ३. प्रकाशा, ४. मरीचि, ५. तपनी, ६. कराला तथा ७. लेलिहा। ये सभी कुण्डाश्रित रूप में व्यवस्थित होती हैं। दिग्विभाग के अनुसार अधोलिखित रूप से उनकी स्थिति होती है :

१. ईशान कोण में—प्रभा
२. पूर्व दिशा में—दीप्ति
३. अग्निकोण में—प्रकाशा
४. निर्ऋति कोण में—मरीचि
५. पश्चिम दिशा में—तपनी
६. वायव्य कोण में—कराला
७. उत्तर तथा दक्षिण दिशाओं में—लेलिहा।[3]

इस प्रकार अग्नि-संस्कारपूर्वक अग्नि में होम किया जाता है। जहाँ तक दीक्षा-क्रम में अग्नि-कार्य का प्रश्न है, उस प्रसंग में होम के पश्चात् चरु संस्रपन का विधान

१. नारदीय संहिता, ७.५५-७६
२. जयाख्य संहिता, १५.१०६—११०
३. वही, १५.१३१—१४०

वर्णित है। चरु के सुपक्व होने के बाद, उसे चार भागों में विभक्त कर एक भाग देव के निमित्त रखा जाता है। अभिघार आदि के पश्चात् चरु के द्वितीय भाग का मूलमन्त्र से अग्नि में हवन करना कहा गया है। पुनः आज्य से आहुति-त्रय प्रदान कर, प्रणव के द्वारा पञ्चगव्य-पान कर कायशुद्धि के लिए गुरु शिष्य के साथ अवशिष्ट चरु का भक्षण करता है।[1] और, इस प्रकार दीक्षाङ्गभूत अग्नि-कार्य प्रायः समाप्त होता है।

अग्नि-कार्य के पश्चात् दीक्षा के अङ्गभूत कार्य मण्डलाराधन का अवसर आता है। जैसा कि पहले कहा गया है, नारदीय संहिता ने दीक्षा-वर्णनक्रम में ही अलग से एक अध्याय में मण्डल-विषय का विस्तृत वर्णन किया है। अतः अब हम यहाँ अग्नि-कार्य के पश्चात् दीक्षा में सम्पाद्यमान कार्य मण्डलार्चन-क्रम में उक्त मण्डल-विषय के विवेचन का प्रयत्न करेंगे।

यद्यपि जयाख्य संहिता ने आढ्य शिष्य के लिए महामण्डलार्चनपूर्वक दीक्षा-विधान का निर्देश किया है, फिर भी सभी पाञ्चरात्र-ग्रन्थों ने सामान्य रूप से दीक्षा-विधि वर्णनक्रम में सबके लिए दीक्षाङ्गभूत मण्डलार्चन का आवश्यक रूप से उल्लेख किया है। जहाँ भी दीक्षा-विधि वर्णित हैं, निश्चित ही वहाँ मण्डल-विषय का विस्तृत या संक्षिप्त वर्णन देखते हैं। अनेक पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में मण्डल-विषय विस्तृत रूप में प्रतिपादित है। हम जानते हैं कि पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के लिए अनेक अवसरों पर कुम्भ, मण्डल, अग्नि तथा बेरार्चनरूप चतुस्स्थानार्चन का विधान किया गया है। सामान्यतः इनकी आचारादिपरक क्रियाएँ उपर्युक्त इन सभी आराधनाओं के साथ ही पूर्ण होती हैं। इससे हम जान सकते हैं कि पाञ्चरात्र-प्रक्रिया में मण्डलार्चन का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाञ्चरात्रागम में त्रयी में अन्यतम ग्रन्थ पौष्कर-संहिता ने सर्वापेक्षया अत्यन्त विस्तार से मण्डल-कल्पनादि विषय का वर्णन किया है। पौष्कर-संहिता ने मण्डलार्चन को याग शब्द से अभिहित किया है। इन यागों के द्वारा दृष्ट समयी शश्वत पुत्रकत्व को प्राप्त करता है। अर्थात् वैष्णव-दीक्षा-क्रम में मण्डलार्चन के द्वारा ही वैष्णवों को उत्तरोत्तर उत्कृष्टता की प्राप्ति होती है। पौष्कर-संहिता में जितने मण्डलों का परिगणन किया गया है, प्रायः उतने मण्डल अन्य किसी भी एक पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थ में नहीं देखते। पौष्कर में अधोलिखित मण्डलों का निर्देश देखते हैं। यहाँ उसका फल भी उक्त है :

	मण्डल	फल
१.	सर्वतोभद्र	भद्रकारक;
२.	अघनिर्मोचन	अनेक जन्म के पापों का नाशक;
३.	सदब्जमण्डल	धर्ममार्ग-प्रदर्शक;
४.	धर्ममण्डल	पूजन से धर्म-प्राप्ति;
५.	वसुगर्भमण्डल	भक्तों को धन देनेवाला;

१. नारदीय संहिता, ७.७८—८७

मण्डल	फल
६. सर्वकामप्रद मण्डल	इच्छित फलप्रद;
७. अमित्रघ्न मण्डल	शत्रु-समुदाय का विनाशक;
८. आयुष्य मण्डल	परमायुष्य-प्राप्ति, अपमृत्यु-नाशक;
९. बलभद्र मण्डल	बलोत्साहवर्द्धक;
१०. पौष्टिक मण्डल	पुष्टिकारक;
११. आरोग्यप्रद मण्डल	सभी रोगों का विनाशक;
१२. विवेक-मण्डल	विवेक-प्रदायक;
१३. वागीश मण्डल	वाग्विभूति-प्रदायक;
१४. मानस मण्डल	सौमनस्य प्रदायक;
१५. जयाख्य मण्डल	जयप्रदायक;
१६. स्वस्तिक मण्डल	स्वस्तिकारक;
१७. आनन्त मण्डल	अनन्त सुखदायक;
१८. नित्याख्य मण्डल	नित्यतृप्ति-प्रदायक;
१९. भूतावास मण्डल	भूतजयदायक:
२०. अमोघ मण्डल	ममता-निवर्त्तक:
२१. सुप्रतिष्ठ मण्डल	मनःशान्ति-प्रदायक;
२२. बुद्ध्याधारमण्डल	बुद्धि-प्रतिष्ठा-लाभ;
२३. गुणाकर-मण्डल	गुणदायक;
२४. गुणसंघमण्डल	दोष-क्षयकारक;
२५. ध्रुवाख्यमण्डल	परमपददायक[1] ।

पौष्कर-संहिता ने उपर्युक्त क्रम से पहले इन २५ मण्डलों के नाम तथा स्थूल रूप से फल का कीर्त्तन किया है। पुनः विस्तारपूर्वक एक-एक मण्डल के स्वरूप का वर्णन भी किया है। यदि पौष्कर-संहिता के अनितर साधारण वैशिष्ट्य-विषयों की चर्चा की जाय तो निश्चित ही मण्डल-विषय उनमें अन्यतम होगा। इस संहिता में अनेक अध्यायों में मण्डल-कल्पन-प्रकार का विधिवत् वर्णन किया गया है। डॉ० पी० पी० आप्टे ने पौष्कर-संहिता में वर्णित कुछ मण्डलों का वर्ण-निर्देशपूर्वक चित्र-कल्पन किया है। विषय-काठिन्य तथा ग्रन्थ-पातादि दोष के कारण सभी मण्डलों का चित्रकल्पन कुछ दुष्कर-सा है।

मण्डलकल्पन-विधि का निर्देश सामान्यतः अनेक पाञ्चरात्रागम-संहिताओं में समान है। सर्वप्रथम मण्डल के आकार के अनुरूप पीठ-कल्पन करते हैं। उस पीठ पर परस्पर सूत्रपात कर पदों का कल्पन करते हैं। उन्हीं पदों के आधार पर विविध अङ्ग-प्रत्यङ्ग-कल्पनपूर्वक मण्डल का स्वरूप-निर्माण करते हैं। उन्हीं पदों के आधार पर सुमनोहर अब्ज अथवा चक्र का कल्पन करते हैं। उदाहरण के लिए नारदीय संहिता में वर्णित भद्रक-मण्डल का सविश्लेषण रूप-वर्णन पर्याप्त होगा। जैसा कि हमने पहले कहा है, नारदीय संहिता ने एक पूरे अध्याय अर्थात् आठवें अध्याय में मण्डलों की ही चर्चा की है। यहाँ

१. पौष्कर-संहिता, ५,१—१८

सामान्यतः दो मण्डलस्वरूप वर्णित हैं। भद्रकमण्डल तथा चक्राब्ज मण्डल। पुनः उसमें नाभि-भेद से कुछ अवान्तर भेद का भी निर्देश देखते हैं। नारदीय संहिता में उक्त भद्रक मण्डल-वर्णन के अनुसार मण्डल के लिए कल्पित चतुरस्र पीठ पर पद-कल्पन करते हैं। इन्हें मध्य से आरम्भ कर ११ भागों में विभक्त करते हैं। इस तरह मण्डल के ११ अङ्ग वर्णित हैं। जहाँ तक मण्डल-कल्पनार्थ पदों की संख्या का प्रश्न है, उस विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि सुमनोरम पीठ पर चतुरस्रीकृत क्षेत्र में परस्पर सोलह-सोलह सूत्र-पात किये जाने चाहिए। स्वाभाविक रूप से १६×१६=२५६ कोष्ठयुक्त क्षेत्र तैयार होगा। मध्य में विद्यमान ३६ पदों में शुभ पङ्कज-कल्पन किया जाता है। पङ्कज के लिए स्वीकृत पदों में सर्वापेक्षया मध्य भाग में स्थित कुछ पदों को कर्णिकाक्षेत्र के रूप में स्वीकारा गया है। कर्णिकाक्षेत्र के चतुर्दिक् विद्यमान कुछ पदों के क्षेत्र को केसरक्षेत्र के रूप में निर्धारित किया गया है। केसरक्षेत्र के अनन्तर चतुर्दिक् विद्यमान पदों में से कुछ पदविशेष को दल-सन्धिक्षेत्र के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। उस दलसन्धि-क्षेत्र के चारों तरफ विद्यमान पदों में एक सीमा-विशेष तक विद्यमान पदों में दलाग्रक्षेत्र का विधान कहा गया है। दलाग्रक्षेत्र के बाहरवाले पदों में पीठक्षेत्र कहा गया है। पीठ के बाहर वीथि-क्षेत्र होता है। वीथि के बाहर चारों ओर कुछ निश्चित पद द्वारों के लिए निर्धारित होते हैं। इन द्वारों का स्थान चारों ओर मध्य भाग में होता है। इन द्वारों के पार्श्व भागों में शोभा तथा उपशोभा-क्षेत्र कल्पित होते हैं। उसी में चार कोणों पर विशेष रूप से कोण-स्थानों का वर्णन किया गया है। उन चारों कोणों को शंखचित्र से चित्रित करते हैं। इन सबकी अपेक्षा बहिर्भाग में बहिरावरण रेखा का निर्देश किया गया है। इस प्रकार सामान्य रूप से भद्रक-मण्डल के एकादश अङ्ग या विभाग देखे जा सकते हैं। जैसे : १. कर्णिकाक्षेत्र, २. केसरक्षेत्र, ३. दलसन्धिक्षेत्र, ४. दलाग्रक्षेत्र, ५. पीठक्षेत्र, ६. वीथिक्षेत्र, ७. द्वारक्षेत्र, ८. शोभा-क्षेत्र, ९. उपशोभा-क्षेत्र, १०. कोणक्षेत्र तथा ११. बहिरावरण-रेखाक्षेत्र के रूप में भद्रक-मण्डल को विभक्त देख सकते हैं।[1] अब्जयुक्त मण्डल में सामान्यतः ये विभाग सर्वत्र देखे जाते हैं। अर्थात् कमल-स्वरूप की तरह कल्पित इस मण्डल में कमल के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग, विभाग एवं उपविभाग दृष्टिगोचर होते हैं। नारदीय संहिता एवं विश्वामित्र-संहिता के परिशिष्ट में चित्ररूप में भद्रक-मण्डल का स्वरूप-विभाग वर्णन-सहित देखा जा सकता है।[2] नारदीय संहिता ने दीक्षार्थ मण्डल के लिए मण्डप तथा पीठकल्पन का वर्णन सातवें अध्याय के अन्त में ही किया है।[3] उसके बाद आठवें अध्याय के प्रारम्भ में सूत्रपातपूर्वक मण्डल-कल्पनार्थ चतुरस्र क्षेत्र-कल्पन-प्रक्रिया का निर्देश करते हुए उपर्युक्त मण्डल के एक-एक अङ्गकल्पन का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन किया है। नारदीय संहिता में वर्णित भद्रक स्वरूप सर्वथा स्पष्ट है।

---

१. नारदीय संहिता, ८.८—१९; २१—२८; ३३; ५१; ६२

२. वही, परिशिष्ट पृ० ५७६

३. वही, ७.२०२—२०६

पूर्वोक्त भद्रक-मण्डल में केवल अब्ज-कल्पन का विधान देखा गया है। पर चक्राब्ज मण्डल, जो नारदीय संहिता में द्वितीय मण्डल के रूप में निर्दिष्ट है, एक ही साथ चक्र तथा अब्ज से युक्त होता है। अर्थात् चक्राब्ज-मण्डल का अर्थ हुआ ऐसा मण्डल-विशेष, जिसमें चक्र तथा अब्ज दोनों कल्पित हों। चक्राब्ज-मण्डल-कल्पन में प्रारम्भ में सूत्रपात तथा पदकल्पन-विधि पूर्वोक्त भद्रक-मण्डल के समान होती है। यह मण्डल पीठ-पर्यन्त चतुरस्र होता है। नौ पद पद्म के लिए तथा तीन नाभि (चक्र-नाभि) के लिए क्रमशः स्वीकृत होते हैं। आठ पदों में अर-कल्पन का विधान है। चार पदों से नेमि-कल्पन विहित है। इस प्रकार जो चक्र कल्पित होता है, उसमें एक नाभि तथा एक नेमि होता है। यद्यपि एक ही मण्डल में चक्र तथा अब्ज-कल्पन-निर्देश कुछ विचित्र-सा प्रतीत हो सकता है, फिर भी ग्रन्थ में वर्णित रूप के अनुसार एक ही मण्डल में इन दोनों का कल्पन होता है। नारदीय संहिता में चक्राब्ज-मण्डल-कल्पन-निर्देश के क्रम में कहा गया है : "लिखित्वा पूर्ववत् पद्मम् अरकान् अथ संलिखेत्।" अर्थात् चक्राब्ज-मण्डल-कल्पनक्रम में पहले पूर्व प्रदर्शित प्रकार से पद्म का उल्लेख कर उसके बाद अरों का उल्लेख करना चाहिए। ये अर संख्या में द्वादश होंगे और दल के समान होंगे। दल की रेखाओं को प्रसारित कर उन्हीं रेखाओं पर अरों के उल्लेख का विधान है। इस प्रकार ये द्वादश अर चक्राब्ज में होते हैं। अर का स्वरूप मातुलुङ्ग की तरह कहा गया है। उसके कल्पन की विधि भी निर्दिष्ट है। इस प्रकार निर्मित मण्डल एकनाभि-चक्राब्जमण्डल होता है। नारदीय संहिता ने द्विनाभि चक्राब्जमण्डल कल्पन की विधि का भी वर्णन किया है।[१] विश्वामित्र-संहिता ने भी चक्राब्जमण्डल के स्वरूप का प्रायः वैसा ही वर्णन किया है, जैसा कि नारदीय संहिता ने। यहाँ विश्वामित्र ने भद्रकमण्डल के स्वरूप का वर्णन किया है। इन दोनों के अतिरिक्त विश्वामित्र-संहिता में एक अन्य मण्डल, स्वस्तिकमण्डल-कल्पन की विधि भी कही गई है।[२] मार्कण्डेय-संहिता में भी मण्डल-कल्पनादि विषय प्रतिपादित हैं। प्रायः पूर्वोक्त क्रम से अन्य ग्रन्थों की तरह ही यहाँ भी भद्रकमण्डल-कल्पन तथा आचार्य-लक्षणादि का निर्देश किया गया है।[३] पाद्म-संहिता ने 'चक्राब्जादीनि बिम्बानि' ऐसा कहते हुए मण्डलों को भी बिम्ब अर्थात् प्रतिमा होना कहा है। पाद्म-संहिता ने भी मण्डल-कल्पनार्थ पीठ-निर्माण, अलंकरणादि विषय का अन्य संहिताओं की तरह ही वर्णन किया है। पद-कल्पन के लिए चन्दनाद्र सूत्र के द्वारा पदरेखा-कल्पन विहित है। भद्रक-मण्डल तथा चक्राब्जमण्डल के सारे विभाग तथा स्वरूपादि यहाँ सामान्यतः पूर्वोक्त प्रकार से ही निर्दिष्ट हैं। भद्रक के पश्चात् यहाँ 'स्वस्तिक बिम्ब' अर्थात् स्वस्तिक-मण्डल का स्वरूप संक्षेप रूप में वर्णित है। उसके बाद पाद्म ने सौरमण्डल तथा इन्दुमण्डल का निर्देश किया है। चक्राब्जमण्डल को बिना पीठ का होना कहा

१. नारदीय संहिता, ८.३३—४६
२. विश्वामित्र-संहिता, १५.१—३८
३. मार्कण्डेय-संहिता, १२.१—२१

है। इस प्रसंग में नारदीय संहिता में उक्त भद्रकमण्डल का सर्वदा पीठ-सहित कल्पन स्मरणीय है।[२]

इस प्रकार दीक्षा-विधि-सम्पादनार्थ आवश्यक मण्डल का स्वरूप-निर्देश उपर्युक्त अनेक पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में देखा जा सकता है, पर पौष्कर-संहिता की तरह अन्य संहिताओं में विविध मण्डलों का विवरण नहीं देखते। पौष्कर-संहिता के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में तीन, चार या पाँच मण्डलों के स्वरूप निर्दिष्ट हैं। अतः सामान्य रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दीक्षा के अवसर में भद्रक, चक्राब्ज और नारदीय संहिता में वर्णित मण्डलों में से अन्यतम मण्डल ही मुख्यतः आवश्यक हैं।

उपर्युक्त रूप में मण्डल-स्वरूपादि वर्णन के पश्चात् उसमें विविध वर्णविन्यास का अवसर आता है। इस क्रम में वर्णकल्पन-विधि का निर्देश किया गया है। तत्तद्वर्णों के उपादान-द्रव्य अधोलिखित हैं: सितवर्ण के लिए शालिपिष्ट, रक्तवर्ण के लिए कौसुम्भ, पीतवर्ण के लिए हरिद्र, कृष्णवर्ण के लिए पुटदग्ध व्रीहि तथा श्यामवर्ण के लिए श्यामच्छद्।[१] पाद्मसंहिता ने सितादि पाँच वर्णों से मण्डल को सुशोभित करना कहा है। ये पञ्चवर्ण रत्नज कहे गये हैं। अथवा उनके चूर्णों से या लोहज अथवा धातुज चूर्णों के द्वारा मण्डल में वर्णकल्पन किया जाना चाहिए। पाद्म ने इन उपर्युक्त वर्णोपादान-द्रव्य के अतिरिक्त चन्दन, अगरु, कुष्ठ आदि गन्धचूर्ण, शाल्यादि तण्डुलपिष्ट अथवा सितव्रीहि से अवक्षुण्ण पुटदग्ध से श्यामवर्ण-कल्पन का निर्देश किया है। अथवा श्याम, शुक्ल अक्षुण्ण कौसुम्भ पाटल से मण्डल को विभूषित करते हैं। अथवा निशाचूर्ण या कज्जल-प्रसूनों से मण्डल में पाँच वर्ण कल्पित होते हैं। मण्डलस्थ अब्ज के तत्तद्भागों को आवश्यकतानुर तत्तद्वर्णों से रंग देकर सुशोभित किया जाता है। अधोलिखित क्रम से मण्डल के विविध भागों को तत्तद्वर्णों से शोभित करना कहा गया है:

मण्डल-भाग	वर्ण	मण्डल-भाग	वर्ण
१. अन्तराल-स्थान	कृष्ण या श्याम	९. प्रतिकेसर	अर्जुनवर्ण;
२. कर्णिका	पीतवर्ण;	१०. बिन्दु	रत्नों के द्वारा;
३. बिन्दु	शुक्लवर्ण;	११. वहाँ का आद्यन्त	सित तथा रक्तवर्ण;
४. कर्णिका-रेखा	पाटल-वर्ण;	१२. वह्निवलय	रक्त अथवा सितवर्ण;
५. केसरावनि	कृष्ण अथवा पाटल;	१३. नाभिरेखा-त्रय	क्रमशः श्याम, पीत तथा रक्तवर्ण;
६. केसरावनि पूर्वभाग	श्वेतवर्ण;	१४. द्विनाभि-चक्र में	श्याम तथा पीतवर्ण;
७. केसरावनि उत्तरभाग	पीतवर्ण;	१५. एकनाभि-चक्र में	श्यामवर्ण;
८. विराम-स्थल	रक्तवर्ण;	१६. अरकोटि (अररेखा)	असितवर्ण;

१. पाद्म-संहिता, चर्यापाद ७.१—४६

२. नारदीय संहिता, ८.५९—६१

१७. अरान्तवलय	रक्तवर्ण;	२५. शोभा	रक्तवर्ण;
१८. नेम्यन्त भाग	कृष्णवर्ण;	२६. उपशोभा	पीतवर्ण;
१९. नेमि-मही-भाग	सितवर्ण;	२७. द्वार	यथाक्रम शुक्ल, रक्त, पीत, कृष्ण;
२०. नेमि का आदि भाग	कृष्णवर्ण;		
२१. नेमि का अन्त भाग	सितवर्ण;	२८. उत्तरादि कोण	कृष्ण अर्जुन;
२२. पीठ	पीत अथवा पाटल-वर्ण;	२९. शंख	कृष्ण अर्जुन;
२३. वीथि	पाटल या सितवर्ण;	३०. स्वस्तिक	पाटलवर्ण;
२४. लतावितानादि	चूर्ण से;	३१. अन्तराल	ऐन्दव, शुक्लवर्ण।[१]

उपर्युक्त विस्तृत वर्णन पाद्मसंहिता का है, पर नारदीय संहिता में भी प्रायः वर्ण-कल्पन-विषय इसी प्रकार उक्त है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि नारदीय संहिता में पाद्म की अपेक्षा इस विषय का थोड़ा संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह वर्ण-विन्यास-प्रकार हस्त-परिमित मण्डल के लिए कहा गया है। रेखाओं में चूर्णोत्सेध कनिष्ठांगुलि-सम्मित होती है। द्विहस्त प्रमाणयुक्त मण्डल में अनामिका अंगुल-प्रमाण से तथा त्रिहस्त परिमाणयुक्त मण्डल में मध्यमांगुलि-उत्सेध के समान, चार हाथ परिमित मण्डल में तर्जनी अंगुलि-सम्मित, पञ्चहस्त परिमित मण्डल में अंगुष्ठा-परिमित उत्सेध निर्दिष्ट है।[२] विश्वामित्र-संहिता में मण्डलविषय प्रायः पाद्म की तरह ही वर्णित है।[३] पाञ्चरात्रागम के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी मण्डल-विषय प्रायः उपर्युक्त रीति से ही वर्णित है। नाममात्र का कुछ साधारण भेद हो सकता है।

मण्डल-कल्पन तथा वर्णापादन के पश्चात् मण्डल के तत्तद्भागों में तत्तद्देवताओं के आराधन का निर्देश किया गया है। कुछ स्थलों में मण्डल में षडब्वादि के आराधन का निर्देश किया गया है। नारदीय संहिता में अधोलिखित रूप से मण्डल में देवाराधन का विधान किया गया है :

मण्डलस्थ स्थान	आराध्य देवता
१. पूर्व-पश्चिम द्वार	गरुड
२. दक्षिण द्वार	सुदर्शन (चक्र)
३. उत्तर द्वार	गदा
४. आग्नेयादि कोण	पाञ्चजन्य
५. देव के वाम पार्श्व में	शार्ङ्ग (धनुष्), खेटक

१. पाद्मसंहिता, च० पा० ७.४७
नारदीय संहिता, ८.५९—६१
२. पाद्मसंहिता, च० पा० ७
३. विश्वामित्र-संहिता, १५.४१—५६

मण्डलस्थ स्थान	आराध्य देवता
६. देव के दक्षिण भाग में	इषु, असि
७. अग्रभाग रथ्या में	वनमाला
८. द्वादश कमल-पत्रों में	द्वादशाङ्ग (प्राय: द्वादशाक्षर मन्त्र के द्वादशवर्ण)
९. कर्णिका-क्षेत्र में	द्वादशाक्षर मन्त्रान्तर्गत प्रभु (वासुदेव)
१०. कर्णिका-क्षेत्र (वनमाला के दक्षिण भाग में)	श्री
११. कर्णिका-क्षेत्र (वनमाला के उत्तर भाग में)	पुष्टि
१२. बहिर्भाग में	श्रीवत्स, कौस्तुभ तथा दिक्पाल
१३. पूर्वादि वीथियों में	प्रकृत्यादि
१४. मण्डलस्थ द्वादश अरों के अन्त में—	१. सूर्य, २. धातृ, ३. अर्यमन् , ४. मित्र, ५. वरुण, ६. भग, ७. इन्द्र, ८. विवश्वत्, ९. सवितृ, १०. पूषा; ११. त्वष्टृ तथा १२. विष्णु
१५. दैवभाग में (अरक्षेत्र में)—	विष्णवादि द्वादश
१६. नाभि-भाग में	ईशान, ब्रह्म तथा विष्णु

इन देवताओं के अर्चनक्रम में नमः शब्दान्त तत्तत् देवताओं के नाम का उच्चारण विहित है।[1] यद्यपि नारदीय संहिता ने मण्डल में तत्तत् अध्व के समाराधन का विधान नहीं किया है, फिर भी अध्वों का वर्णन दीक्षा-वर्णनाध्याय में ही किया है। यहाँ सबसे विस्तृत रूप में भुवनाध्व-वर्णन किया गया है। यह भुवनाध्व-वर्णन हम इसी अध्याय में आगे देखेंगे। इन सभी अध्वादि का योजन कर शिष्य की शुद्धि की जाती है। यथास्थान इसका विवेचन होगा। पर, पाद्मसंहिता ने अधोलिखित रूप में स्पष्टतः मण्डल में तंत्तदध्वाराधन का विधान कहा है :

१. मन्त्राध्व	कर्णिका में;	४. पदाध्व	नाभि-भाग में;
२. तत्त्वाध्व	केसरों में;	५. कलाध्व	अरों में;
३. वर्णाध्व	दलों में;	६. भुवनाध्व	नेमिभाग में।

इस प्रकार इन षडध्वों का आराधन-स्थलमण्डल होता है। इस आराधन के पश्चात् दीक्षा-विधि पूर्ण होती है। इन षडध्वाराधन के पश्चात् पद्म की द्वादश कर्णिकाओं के द्वादश बिन्दुओं में द्वादशाक्षर का समावाहन कर उनकी पूजा की जाती है। केसरों पर श्री आदि देवियों की, दलभूमि में श्री की १२ शक्तियों की समाराधना की जाती है। दलान्त-वलय में प्रथम वाभिगत विष्णु, द्वितीय नाभिस्थ ब्रह्मा तथा तृतीय नाभिस्थ त्रिनेत्र शिव का समर्चन कहा गया है। मण्डलस्थ द्वादश चक्रारों में विष्णवादि द्वादश मूर्त्तियों का आराधन होता है। अन्तरावलय में मत्स्यादि दशावतार-मूर्त्तियों का अर्चन-स्थान विहित है। प्रथम नेमिवलय में शंखादि आयुध, चार पीठ-कोणों में वराह, नृकेसरी, अनन्त तथा हयग्रीव को क्रमशः अग्न्यादि कोणों में समाराधित होना कहा है। वीथिका में इन्द्रादि

१. नारदीय संहिता, ८ ६१—७४

लोकपाल आराधित होते हैं। द्वारों पर चण्डादि द्वारपालों का पूजन विहित है। रथ्या के ईशान कोण में विष्वक्सेन का अर्चन होता है। पूर्वद्वार के बाहर क्षिति में अभिमुख-स्थित गरुड का स्थान निर्दिष्ट है। दक्षिण तथा पश्चिम-द्वारों में गदा, उत्तर वलज में शंख का पूजन करते हैं। प्रथमावरण के द्वादशाब्जों में विष्ण्वादि बारह मूर्त्तियों का आराधन होता है। द्वितीयावरण में द्वादश कमलों पर वासुदेवादि कृष्णान्त द्वादश मूर्त्तियों की पूजा का स्थान कहा गया है। आवरण के अन्त में पद्मों पर द्वादश आदित्यों का पूजन होता है। यहाँ पाद्मसंहिता में अष्टार चक्राब्ज-मण्डलस्थ देवों का आराधन अधोलिखित रूप में बताया है। अष्टार चक्राब्ज-मण्डल में नारायणाख्य बिम्ब में वासुदेव का अर्चन किया जाता है। आठ बिन्दुओं पर अष्टाक्षर-न्यास कर, कसरों पर व्याप्त्यादि आठ शक्तियों का समाराधन करते हैं। आठ दलों पर श्री आदि आठ देवियों के आराधन का स्थान कल्पित है। आठ अरों में अष्ट शंखादि आयुधों की पूजा का स्थान कहा गया है। तीन आवरणों में आठ-आठ के क्रम से २४ पद्मों पर चौबीस मूर्तियों के आराधन का निर्देश देखते हैं। तीनों ही आवरणों के मण्डल में हरि के आराधन का विधान देखते हैं।[१]

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से दीक्षाक्रम में सामान्यतः मण्डलार्चन का विवरण दिया गया है। विविध संहिताओं में निर्दिष्ट विषय के आलोडन के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डलार्चन के विषय में सभी ग्रन्थ सर्वथा एकरूप नहीं हैं। नारदीय संहिता ने जहाँ इस अर्चन-प्रकार को संक्षेपतः मध्यम रूप में प्रतिपादित किया है, वहाँ पाद्म ने कुछ विस्तार से इसका निरूपण किया है। पाद्म ने तीन आवरणों में मण्डल को विभक्त बताकर पृथक्-पृथक् आवरणों में आराध्य देवों का निर्देश किया है, जबकि नारदीय संहिता ने आवरण आदि की कोई चर्चा नहीं की है।

इस प्रकार मण्डलार्चन का स्वरूप हमने दीक्षाविधि-प्रतिपादनक्रम में देखा। इसके अतिरिक्त भी कुछ अवसरों पर मण्डलार्चन का विधान देखते हैं। नारदीय संहिता के अनुसार प्रतिष्ठा के अवसर पर, शान्ति तथा पौष्टिक कर्म के अवसर पर यथेष्ट मण्डलार्चन करना आवश्यक है। प्रायश्चित्त तथा आभिचारिक कर्म-सम्पादन के समय चक्राब्ज-मण्डलाराधन विहित है। व्याधि तथा अनिष्ट-विनाश के लिए भद्रक-मण्डलार्चन आवश्यक है। पवित्रारोहण के समय चक्राब्ज तथा भद्रक-मण्डल के आराधन का निर्देश किया गया है। एकबेरार्चन-क्रम में केवल मण्डलार्चन अपेक्षित बताया गया है। बहुबेरार्चन-क्रम में मण्डल के मध्य पूर्व भाग में प्रतिमा (उत्सवबेर) रखकर कालानुरूप स्नान के विना देव का आराधन कर देव-प्रतिमा में पवित्रारोपण किया जाना चाहिए।[२] पाद्मसंहिता के अनुसार अधोलिखित अवसरों पर मण्डलाराधन विहित है: दर्श, पौर्णमासी, संक्रान्ति, श्रवण, द्वादशी, विषुव, ग्रहशान्ति का अवसर तथा जन्म-नक्षत्र में विशेष रूप से मण्डल में हरि का आराधन किया जाना चाहिए। मण्डलाराधन का फल बताते हुए कहा गया है कि मण्डल के आराधन से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[३]

---

१. पाद्मसंहिता, च० पा० ७.६५—८४
२. नारदीय संहिता, ८.७४—७६
३. पाद्मसंहिता, च० पा०, ८.४-८५

नारदीय संहिता ने ऊपर उक्त प्रकार से कल्पित चक्राब्ज तथा भद्रक-मण्डल में अत्यन्त भक्तिभाव से भगवदाराधन सम्पादित कर बहुविध भोगादि के द्वारा भगवान् को सन्तुष्ट करने के पश्चात् मण्डलाराधन के अङ्गभूत होम का विधान बताया है। मण्डलाराधनाङ्ग होम के द्वारा पावक को सन्तुष्ट करने के साथ-साथ मण्डलार्चन-विधि समाप्त होती है।

मण्डलाराधन के पश्चात् शिष्य का आह्वान कर दीक्षा के अन्य कर्म सम्पादित होते हैं।[1] कुछ स्थलों में दीक्षा-प्रदान से पूर्व ब्रह्मचर्य में स्थित शिष्य के परीक्षण का विधान किया गया है। शुचि, जितेन्द्रिय, धीर, गुरुदेवाग्नि-तत्पर, वर्णाश्रमधर्मगुणोपेत, विनीत, श्रद्धान्वित तथा भगवद्भक्त, जो शिष्य संसाराग्नि से खिन्न होता है, वही दीक्षा के लिए योग्य अधिकारी कहा गया है। आचार्य अर्थात् गुरु इन उपर्युक्त लक्षणों से युक्त शिष्य का परीक्षण करता है तथा शिष्य को दीक्षा के लिए योग्य समझकर उसे दीक्षित करता है।[2] ईश्वर-संहिता ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र किसी भी वर्ण को दीक्षा के लिए अधिकारी बताया है। दीक्षाभिलाषी संसारभय से सर्वथा भीत होता है। वह वैराग्यबुद्धियुक्त, अचल, दीर्घकाल तक खेद एवं उद्वेग से रहित होकर दासभाव से गुरु के गृह में निवास करता है। दीक्षा-प्रदान से पूर्व गुरु उपयुक्त लक्षणयुक्त दीक्षार्थी शिष्य को बुलाकर अपने समक्ष बैठाता है और उससे कृताकृत विषयक प्रश्न पूछता है। उत्तर के द्वारा शिष्य के दोषबल का ज्ञान-सम्पादन कर यथोचित क्रिच्छ्रादि से प्रायश्चित्तादि के द्वारा उसके दोषों का उच्छेद करता है। इसके अतिरिक्त भी अनेक व्रताचरणादि के द्वारा शिष्य के विविध दोष-निवारण के लिए मार्ग प्रदर्शित है।[3] नारदीय संहिता ने शिष्य के पापादि-परीक्षण के हेतु बारह मन्त्राहुतियों का निर्देश किया है। इन आहुतियों के पश्चात् पूर्णाहुति देते हैं। पूर्णाहुति-प्रदान के पश्चात् तत्तत् निमित्तों के परीक्षण का अवसर आता है। देशिक आचार्य यह निमित्त-परीक्षण अर्थात् शिष्य से किये गये कृत्य (पापादियों) का परिचय वह्निविकार धूम तथा विस्फुलिङ्गादि निरीक्षण के द्वारा सम्पादित करता है। अधोलिखित प्रकार से यह परीक्षण होता है। हवन के बाद यदि अग्नि का धूम आकाश की ओर जाता है, जर्जरा शब्द उत्पन्न होता है, स्फुलिंग नहीं उड़ते तब इन सब लक्षणों को देखकर जानना चाहिए कि शिष्य ब्रह्महत्या-दोष से युक्त है। जिस हवन के बाद अग्नि से नील तथा बभ्रुवर्ण धूम निर्गत हो तथा किसी प्रकार का कोई शब्द नहीं आता हो तो उसे देखकर शिष्य को सुरापायी समझना चाहिए। समिद्ध अग्नि में दधि से हवन करने के बाद यदि अग्नि क्षण में जले और शान्त हो जाय, उस स्थिति में शिष्य का स्तेयकर्तृत्व जानना चाहिए। हवन-काल में अग्नि यदि विस्वर हो तथा सधूम मही में कुछ लिखता हुआ प्रतीत हो तो शिष्य का गुरु-अङ्गनागामी होना सूचित होता है। हवन के पश्चात्

१. नारदीय संहिता, ९.२—४
२. जयाख्यसंहिता, १६.५१—५३
३. ईश्वर-संहिता, २१.४—२८

यदि अग्नि विविध रूप धारण करती हो तो उस स्थिति में शिष्य को सर्वपापरत जानना चाहिए। इस प्रकार उपरिर्निर्दिष्ट शिष्यों के पाप-ज्ञापक चिह्नों के निर्देश के पश्चात् अधोलिखित रूप से शिष्य के उपपातक कर्त्तृत्व-उपलक्षक चिह्नों का उल्लेख किया गया है। यदि हवन-काल में अग्नि में ध्वांक्षस्वर हो, ऊर्ध्ववाहुक, काक, उलूक, खर, उष्ट्र तथा गृध्र का स्वर उद्भूत हो, शिवा तथा वानर का घोर निःस्वन श्रवणगोचर होता हो, धूम-समूह शर की तरह असकृत भूलेखन कर रहा हो, अग्नि घुर्घुरा शब्द के साथ जलती हो, असकृत फट्कार शब्द श्रूयमाण हो तब उस स्थिति में शिष्य को उपपातकी होना जानना चाहिए।[1] पर नारदीय संहिता में यह शिष्य-परीक्षण-विधि दीक्षा-विधिवर्णन के मध्य भाग में वर्णित है, जबकि गुरु शिष्य का पाशच्छेद करता है। इन उपर्युक्त विधियों के द्वारा गुरु शिष्य का पाप जानता है और उन पापों का संग्रह करता है। यह संग्रह प्रणव के द्वारा कुशमय सूत्र से सम्पादित होता है। कुश शिष्य के पाद के अग्र भाग से प्रारम्भ कर उसके शिखाग्रपर्यन्त प्रसारित किया जाता है। उसी कुश में पाशों का संग्रह कर ग्रन्थिबन्धन करते हैं। पुनः संहार-मुद्रा के साथ सूत्र को सम्पुटित कर उसका ग्रहण करते हैं। उसके पश्चात् दामोदरादि सात पदों में तत्त्वशोधन किया जाता है। इस क्रम में कालतत्त्व से आरम्भ कर यावत्तत्त्वपर्यन्त तत्त्वों को परस्पर बाँधते हैं। संहारक्रम-योग से उसमें मन्त्रबीज का विन्यास करते हैं। पुनः मूलमन्त्र के द्वारा तत्त्वहोम किया जाता है। यहाँ इस प्रसंग में एक-एक तत्त्व में सौ-सौ आकृतियाँ प्रदान करते हैं। अपने में विद्यमान पशु को दामोदर-पद में लाया जाता है। उसे अनुग्राहक शक्ति से अविकार में नियोजित करते हैं। पुनः उसे पञ्चविंशति आहुतिपूर्वक भोग-पद में लाते हैं। पुनः उतनी ही अर्थात् पञ्चविंशति आहुतियाँ प्रदान कर लयपद में लाया जाता है, उसके अनन्तर दस आहुति प्रदान कर पाशच्छेद सम्पादित किया जाता है। उसके पश्चात् पूर्णाहुति प्रदान कर पशु को पाश से वियुक्त करते हैं। इस प्रकार दामोदर-पद में शिष्य का तत्त्व-शोधन किया जाता है। इसके बाद इसी प्रसंग में पद्मनाभ-पद में, हृषीकेश-पद में, श्रीधर-पद में, वामन-पद में, त्रिविक्रम-पद में तथा मधुसूदन-पद में पाशच्छेदपूर्वक सात पदों में शिष्य का तत्त्व-शोधन सम्पादित किया जाता है।[2] परन्तु ईश्वर-संहिता में वर्णित शिष्य-परीक्षण दीक्षा-प्रदान से पूर्व शिष्य की दीक्षा के लिए अर्हता-ज्ञान-सम्पादनार्थ होता है। उस परीक्षणक्रम में यदि शिष्य अयोग्य होता है तो उसकी अयोग्यता को देखते हुए पुनः शिष्य को भगवत् सेवादि में नियुक्त कर, उसे सर्वथा शुद्ध बनाकर दीक्षा-ग्रहणार्ह बनाने का विधान करते हैं। इस प्रकार शिष्य के पापादिबोधक लक्षणों का ज्ञान-सम्पादन उभयत्र (ईश्वर तथा नारदीय में) भिन्न-भिन्न प्रयोजन से किया गया प्रतीत होता है।

दीक्षा-प्रदान के प्रसंग में नारदीय संहिता ने मण्डलार्चन के पश्चात् विष्णुहस्त से शिष्य का प्रोक्षण कर, हृदय में प्रकृत्यादि विकृत्यन्त साधिभूत आधिदैविक आध्यात्मिक

---

१. नारदीय संहिता, ९.२६४—२७४
२. नारदीय संहिता, ९.२७५—२८९

सृष्टि तथा संहार का निर्देश किया है। यह आध्यात्मिकी सृष्टि कर हृदय में ही उसका संहार करते हैं। इसके बाद इस प्रसंग में पुनः अग्नि के समीप आकर सृष्टीशादि होम का विधान किया गया है। सृष्टीशादि होम का स्वरूप अधोलिखित रूप से प्रतिपादित है। अग्नि के समीप आकर मूलमन्त्र के द्वारा शत संख्याक आहुतियाँ प्रदान करते हैं। इस होम के द्वारा उदासीनत्व का आपादन किया जाता है। पुनः मूलमन्त्र से ही शत-मन्त्रित शुक्ल रज लेकर हृदन्त हुंफट्कारान्तयुक्त मन्त्रोद्धारपूर्वक वियोग-पद संयुक्त विविध तत्त्वों के नाम के साथ पृथिव्यादि तत्त्वों का विश्लेषण कर होम करते हैं। आलय तथा मूर्त्तियों में लीयमान सर्वतत्त्वाधान का स्मरण करना कहा गया है। फिर ताडन के द्वारा उन तत्त्वों को वियुक्त कर उन सभी तत्त्वों का अग्नि में होम करते हैं। देशिक पुनः पूर्णाहुति के द्वारा शुद्ध शिष्य का उद्धार कर अव्याकृत परतत्त्व में उसका साधन करता है। ज्ञानयोग के द्वारा उससे ऊपर परमात्मा में उसका विलय किया जाता है। इसके बाद विमुक्त-बन्धन जीव का पर अव्यय, निर्वृत्त, परमानन्द शुद्धबुद्ध पद में स्मरण करते हैं। पुनः पूर्णाहुति प्रदान करते हैं। यही सृष्टीशादि होम का स्वरूप हो सकता है।[१] इसके पश्चात् तत्त्वहोम-समन्वित मन्त्र-होम का क्रम आता है; जिसका वर्णन हम आगे देखेंगे। ईश्वर-संहिता ने भी प्रायः इसी तरह इस विषय का प्रतिपादन किया है।[२]

इस प्रसंग में एक अवधेय विषय यह है कि दीक्षाक्रम में शिष्य की शुद्धता के आपादन के लिए षडध्व हवन का भी विधान किया गया है। पाद्मसंहिता ने षडध्वों का वर्णन करते हुए अधोलिखित अध्वों का निर्देश किया है :

कलाध्वा च पदाध्वा च भुवनाध्वा तथैव च।
मन्त्राध्वा मन्त्रवर्णाध्वा षडध्वानः प्रकीर्त्तिताः ॥[३]

यद्यपि उपसंहार-रूप में यहाँ षडध्व का निर्देश किया गया है, फिर भी परिगणन करने से यहाँ केवल पांच अध्व ही दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वामित्र-संहिता ने भी शिष्य में अध्वशोधन का विधान करते हुए षडध्वों का निर्देश किया है। इसके अनुसार ये षडध्व परिगणन के साथ अधोलिखित छह हैं :

कलाध्वानं पदाध्वानं भुवनाध्वानमध्वतः ॥
तत्त्वाध्वानं तदनु मन्त्राध्वानमनन्तरम्।
वर्णाध्वानं च मतिमान् शोधयित्वा स्वविद्यया ॥[४]

तुलना करने से ज्ञात होता है कि पाद्मसंहिता ने तत्त्वाध्व का निर्देश नहीं किया है। कह सकते हैं कि विश्वामित्र-संहिता में वर्णित षडध्व उचित है। नारदीय संहिता ने भी षडध्व का विस्तृत विवरण दिया है। यहाँ भी वे ही षडध्व वर्णित हैं, जो विश्वामित्र-

---

१. नारदीय संहिता, ९.५—११
२. ईश्वर-संहिता, १८१—१९०
३. पाद्मसंहिता, च० पा० २.५१
४. विश्वामित्र-संहिता, ९.५७—५८

संहिता में दीक्षाविधि-वर्णन के क्रम में इन षडध्वों का निर्देश अन्यत्र पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में भी किया गया है।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि इस संसार में मुख्य रूप से ये ही छह अध्व अर्थात् मार्ग हैं। इन मार्गों का होमादि के द्वारा संशोधन-सम्पादन कर मनुष्य शुचि तथा पवित्र हो जाता है। अतएव प्रायः दीक्षाक्रम में षडध्व-शोधन करना आवश्यक है। पाद्मसंहिता तथा विश्वामित्र-संहिता ने षडध्व होम का निर्देश किया है, जिसका स्वरूप अत्यन्त सामान्य है। पर, नारदीय संहिता ने इन षडध्वों का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। छह अध्वों में भी भुवनाध्व-वर्णन यहाँ सर्वापेक्षया विस्तृत है। भुवनाध्व का इतना विस्तृत वर्णन किसी अन्य संहिता में नहीं देखते।

नारदीय संहिता में सर्वप्रथम तत्त्वाध्व-शोधन का विधान किया गया है। यह तत्त्वशोधन द्वादशाक्षरों में तत्तद्भूत के साथ किया जाता है। इसका क्रम अधोलिखित रूप से कहा गया है :

वर्ण	तत्त्व	भूत
यकार में	ग़न्धतन्मात्रा	पृथ्वी के साथ;
वाकार में	रसतन्मात्रा	जलतत्त्व के साथ;
देकार में	रूपतन्मात्रा	तेजस् तत्त्व के साथ;
सुकार में	स्पर्शतन्मात्रा	वायुतत्त्व के साथ;
वाकार में	शब्दतन्मात्रा	व्योमतत्त्व के साथ;

तेकार में
वकार में
गकार में
भकार में
मकार में } इन पाँचों में ज्ञानेन्द्रिय पाँच तथा कर्मेन्द्रिय पाँच क्रमशः शोधित होते हैं।

नकार में—अहंकार, बुद्धि तथा मन-तत्त्वों के शोधन का निर्देश कहा गया है। अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से वासुदेव-मन्त्र (द्वादशाक्षर मन्त्र) के द्वादश अक्षरों में शिष्य के शारीरिक गन्धतन्मात्रादि तत्त्वों का शोधन कर शिष्य का तत्त्वाध्व-शोधन सम्पन्न होता है। नारदीय संहिता ने इस क्षेत्र को भोगायतन कहा है। यहाँ चतुर्विंश पद कहे गये हैं। एक-एक त्रिगुण कहा गया है। पशु अर्थात् शिष्य में तामस गुण होना निर्दिष्ट है। उसमें स्थित पञ्चविंश गुण राजस होते हैं। गुणभोक्ता को क्षेत्रज्ञ कहा गया है। द्वादशाक्षर मन्त्र में जो द्वादश परतत्त्व कहे गये हैं उन्हीं से शिष्य बुद्धि को प्राप्त करता है और उससे बन्धपाश स्फुट होता है।[२] नारदीय संहिता ने इसके पश्चात् सत्त्वस्थ वासुदेव पुरुष का लक्षण कहा है, पर यह वासुदेव-स्वरूप अन्यत्र वर्णित होने के कारण यहाँ विस्तार से पुनः उसका वर्णन अनावश्यक है। इस प्रकार तत्त्वशोधन के द्वारा शुद्ध किया गया

१. ईश्वर-संहिता, २१.२३—२१६
२. नारदीय संहिता, ९.१५—२३

शिष्य निर्वाणाख्य पद में लीन होता है। निर्वाणाख्य पद में लीन को पुनः पशुत्व-लाभ नहीं होता। जिस प्रकार दग्धबीज से पुनः अंकुरोत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार तत्त्व-शोधन के बाद शिष्य को पुनः पशुत्व-लाभ नहीं होता। इस प्रकार की शुद्धता तत्त्वहोम के द्वारा प्राप्त होती है। इस तत्त्वहोम की संख्या का निर्देश करते हुए एक-एक तत्त्व की आहुति-संख्या सौ-सौ कही गई है। इसकी पूर्णाहुति-संख्या द्वादश कही गई है।[1] इसी प्रसंग में पाशच्छेद के क्रम में ज्ञाननाशक शिखाच्छेद वर्णित है। कहा गया है कि पार्थिव तत्त्व से आरम्भ कर यावत्तत्त्व-पर्यन्त पाशच्छेद कर क्रमशः तत्त्व-तत्त्व को विशोधित कर आगे भी तत्त्व-शोधन के लिए तत्तत् तत्त्वों का क्रमशः तत्तत्तत्त्वों में निक्षेप कर तत्त्व-तत्त्व का समुद्धार करना चाहिए। उसके पश्चात् निरालम्ब शुभपद में उस दीक्षार्थी शिष्य-विशेष का नियोजन किया जाना कहा है। वह शुभ पद ब्रह्मपद है, और निष्प्रपञ्च, निराभास, निष्क्रिय, शाश्वतध्रुव तथा सर्वकारणों का कारणभूत है। अर्थात् जितने भी कार्यजात हैं, वे सभी उसी ब्रह्म से उद्भूत होते हैं। इस तरह उपर्युक्त क्रम से पाशच्छेद के लिए तत्त्व-तत्त्व में परस्पर शोधन कर शिष्य का शिखाच्छेद करते हैं। यहाँ शिखा का अर्थ अज्ञान है, न कि केशमयी शिखा। इस अज्ञानरूपी शिखा का छेदन ज्ञान-शस्त्र के द्वारा किया जाता है। शिखाच्छेद-क्रम का निर्देश करते हुए कहा गया है कि कुशमयी शिखा-कल्पन कर, पुनः उसका छेदन कर शस्त्रमन्त्र के द्वारा छिन्न शिखा का होम किया जाना चाहिए। इस तरह गुरु के द्वारा किया गया शिष्य का शिखाच्छेदन पूर्ण होता है। इसके अन्त में पूर्णाहुति का विधान किया गया है।[2]

उपर्युक्त क्रम से होमादि के द्वारा तत्त्वाध्व-शोधन कर उसके पश्चात् द्वितीय अध्व वर्णाध्व-शोधन का क्रम-निर्देश किया गया है। कहते हैं कि 'क' से 'म' तक विद्यमान पंचविंशति वर्ण मुद्गल (पुद्गल ?) के शरीर कहे गये हैं। यहाँ नारदीय संहिता ने चवर्ग तथा टवर्ग में स्थित दस वर्गों को पुद्गल का गुण बताया है। तवर्गस्थ पाँच वर्णों का सम्बन्ध पञ्चतन्मात्राओं से बताया गया है। पवर्गस्थ पाँच वर्णों का सम्बन्ध प्राण से व्यान तक, पाँच वायुओं के साथ कहा गया है। य, र, ल तथा व—इन चार वर्णों का क्रमशः अन्तः-करण, मन, बुद्धि तथा अहंकार के साथ सम्बन्ध बताया गया है। श, ष, स, ह, क्ष तथा त्र का ऊर्मिषट् के साथ सम्बन्ध है। इनके सम्बन्धों के पश्चात् अकारादि स्वरवर्णों का विवेचन करते हुए अधोलिखित विवरण दिया गया है। अकार को सम, आकार को काल, इकार को धर्माधर्म, ईकार को जाति, उकार को प्रायः धर्माधर्म तथा ऊकार को जाति के साथ सम्बद्ध कहा गया है। इसके बाद ऋ को काम, लृ को क्रोध, ए को लोभ, ऐ को मोह, ओ को राग तथा औ को माया-पिशुनभाव के साथ सम्बद्ध कहा गया है।[3] इस वर्णाध्व-वर्णन में कवर्ग का पृथक् निर्देश नहीं देखते। कदाचित् ग्रन्थपात के कारण ऐसा

१. नारदीय संहिता, ९.२७—३०
२. वही, ९.३२—३८
३. वही, ९.३९—४५

हो। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, 'क' वर्ण से 'म' वर्ण तक पंचविंश वर्णों को पुद्गल का शरीर कहा गया है। नारदीय संहिता की मातृकाओं में सर्वत्र मुद्गल शब्द का उल्लेख था। पर मुद्गल शब्द पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय में कोई प्रचलित शब्द नहीं है। अतः ऐसा सोच सकते हैं कि मूलतः यहाँ पुद्गल शब्द रहा होगा, लेख-प्रमाद से मुद्गल रूप में परिणत हो गया होगा। जहाँ तक पुद्गल शब्द का सम्बन्ध है, यह शब्द जैनदर्शन में सामान्यतः परमतत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त किया गया। अति स्थूल रूप से विचार करने पर पुद्गल को नैयायिकों का अणुतत्त्व कहा जा सकता है। अतएव, हमने नारदीय संहिता के मुद्रित संस्करण में कोष्ठक में 'पु' लिखकर मुद्गल की जगह पुद्गल यह सम्भाव्य पाठ स्वीकारा है। तो इस प्रकार यहाँ कहा जा सकता है कि नारदीय संहिता ने जैन-सम्प्रदाय के द्वारा परम तत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त पुद्गल शब्द को प्रायः उसी अर्थ में स्वीकार कर यहाँ प्रयोग किया है। पुद्गल शब्द स्वीकार करने के बाद यहाँ सन्दर्भ की अच्छी तरह व्याख्या की जा सकती है। पुद्गल का अर्थ वी० एस० आप्टे ने परमाणु तथा आत्मा कहा है। जो हमारे मत के अनुकूल है।[1] वर्णाध्व-कीर्त्तन के क्रम में निर्दिष्ट विषय के विवेचन से यह आता है कि वर्णों में भी तत्तत्तत्त्वों के साथ परम तत्त्व की स्थिति मानी गई है और दीक्षाक्रम में इनके द्वारा शिष्य की शुद्धि आवश्यक है।

नारदीय संहिता ने सर्वापेक्षया विस्तृत रूप से भुवनाध्व का वर्णन किया है। भुवनाध्व में अप्रमाण तत्त्वों की स्थिति कही गई है। इन अप्रमाण अर्थात् असंख्यात तत्त्वों से चराचर भुवन व्याप्त है। भुवनाध्वर्णन-क्रम में सर्वप्रथम पञ्चतत्त्वों का परिगणन किया गया है। ये तत्त्व हैं : १. पृथ्वी, २. वायु, ३. आकाश, ४. आप तथा ५. ज्योति। ये सभी पाँच तत्त्व अनन्ताधार से व्याप्य कहे गये हैं। पुनः एक-एक का वर्णन करते हुए पृथ्वी-तत्त्व का वर्णन करते हुए इसे अनन्त तथा सर्वसत्त्वधरा कहा गया है। यह नाना जनपदों से आकीर्ण है। उसी तरह अनेक पत्तनों का अधिष्ठान भी। यह अनेक जाति के नाना नद, नदी तथा शैलों से आवृत है। जलतत्त्व नदी, नद तथा समुद्रग एवं अनन्त कहा गया है। यह जल-तत्त्व पर्वताकार संस्थ, अन्तर्भूमिगत कहा गया है। तेज तत्त्व व्यापक; सर्वसम्भव तथा अनन्त कहा गया है। वायुतत्त्व सर्वग व्यापक है। आकाश-तत्त्व अनालम्ब माना गया है, यह नाना संश्रय-संस्थित कहा गया है। अर्थात् इस भुवन-विभाग के रूप में वासुदेव व्यवस्थित है। भूमि, आप, अग्नि, वायु तथा वियत् तत्त्व परस्पर संस्थान में संस्थित हैं। अर्थात् वासुदेवरूप ब्रह्म, उपर्युक्त पाँच तत्त्वों से उद्भूत शरीररूप संस्थान में संस्थित है।[2] यहाँ प्रतिपादित विषय का मूल हम छान्दोग्योपनिषद् में देख सकते हैं। उपनिषद् ने शरीर को आत्मा अर्थात् ब्रह्म का संस्थान कहा है। प्रजापति आत्मोपदेश-क्रम में इन्द्र से कहता है—"मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तम्

---

१. द स्टूडेण्ट्स संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ३४०; मोतीलाल बनारसीदास, १९६५
२. नारदीय संहिता, ९.४५—५२

मृत्युना तदस्यामृतस्या शरीरस्य आत्म: अधिष्ठानम्'[1] इस तरह पाञ्चरात्र-संहिता के अनुसार भी पञ्चतत्त्वमय शरीर ब्रह्म (वासुदेव) का अधिष्ठान-स्वरूप स्वीकृत कहा जा सकता है।

भुवनाध्व-वर्णन में पञ्चमहाभूतों के निर्देश के पश्चात् अधोलिखित सात पातालों का निर्देश किया गया है: १. आभास, २. परताल, ३. नितल, ४. गभस्तिमत्, ५. महातल, ६. सुतल तथा ७. रसातल। ये पाताल त्रिखण्ड कहे गये हैं और तेज से समावृत हैं। नारदीय संहिता में पातालों के निर्देश के बाद हृदय-पद्म में अवस्थित सर्वव्यापी परपुरुष अनन्त का स्थान कहा गया है। प्राय: हृत्पद्म से यहाँ उपनिषद् में वर्णित हृत्पुण्डरीकस्थ दहराकाशस्थ ब्रह्म[2] विवक्षित है। यद्यपि यह ब्रह्म सर्वव्यापक है, फिर भी हृत्पद्म भुवन में स्थित शरीर के अन्तर्गत प्रदर्शित है, अत: उसमें अन्त:विद्यमान ब्रह्म का वर्णन भी यहाँ प्रासंगिक ही कहा जायगा। उसका स्थान सुशक्ताधारभूत संकर्षण से पर कहा गया है। उसके ऊपर भगवान् काल का स्थान निर्दिष्ट है। काल को ही संकर्षण की संज्ञा दी गई है। संकर्षण के अंश से उद्भूत, दस दिशाओं में व्यवस्थित रुद्र कहे गये हैं। ये काल रुद्रादि कोटि रुद्रों से समावृत कहे गये हैं। ये ज्वाला-माला परिक्षिप्त कालाग्नि के समान निर्दिष्ट हैं। उसके ऊपर पंचदश कोटि परिमित निरालम्ब कहा गया है। उसके ऊपर यातनालय घोर नरक बताये जाते हैं। इन नरकों की संख्या एक सौ चालीस कही गई है। इन नरकों के राजाओं की संख्या ३२ है। इनकी स्थिति रौरव के ऊपर तथा अवीचि के नीचे कही गई है। ये सभी एक लक्षोच्छ्रित बताये जाते हैं। कुम्भीपाक इनके बीच में है। इन ३२ नरकराजों का परिगणन करते हुए अधोलिखित नाम के नरक गिनाये गये हैं:

१. रौरव, २. अतिक्रूर, ३. उष्णतातप संताप, ४. कमलाख्याति, ५. कम्पिनी, ६ नीलसूत्र, ७. सूच्यग्र, ८. क्षुत्पिपासा ?, ९. खड्गताल वन, १०. कुम्भीपाक, ११. अम्बरीष, १२. तप्ताङ्गार, १३. तप्तलाक्षारस, १४. लालापङ्क, १५. त्रपुलील, १६. पलाश, १७. उच्छ्वास, १८. निरुच्छ्वास, १९. युग्मवह, २०. धाराधार, २१. शाल्मली, २२. क्षुत्पिपासा, २३. कृमि-निचय, २४. लोहस्तम्भ, २५. अग्निचूर्ण, २६. वैतरणी नदी, २७. चार अवीचि। इस तरह यद्यपि ये नरकराज प्रतिज्ञावाक्य के अनुसार ३२ कहे गये हैं, फिर भी परिगणन के बाद तीस ही आते हैं। इनका अन्तर लक्ष योजन कहा गया है। उससे त्रिगुण अयुत ऊपर कुष्माण्ड भवन कहा गया है। यह दिव्यायतन तथा दिव्य स्त्री से सुशोभित है। पाताल के सात भागों का निर्देश पहले किया गया है। वे नौ लक्ष योजन ऊपर कहे गये हैं। उनके तीन खण्ड कहे गये हैं। वे एक-एक खण्ड जनाश्रित हैं। पाताल के प्रथम खण्ड में दानवों का आवास है। द्वितीय खण्ड में नाग तथा तृतीय खण्ड में राक्षस—सब सुखपूर्वक निवास करते हैं। आवास हाटकोपम कहा गया है। आवास में सङ्कर्षण निवास करते हैं। वहाँ दिव्य भोगी क्रूर नाग तथा असुर निवास करते हैं। नागकन्याओं से समावृत

१. छान्दोग्योपनिषद्, अ० ८; खण्ड १२, मन्त्र १
२. छान्दोग्योपनिषद्

अनन्त गुलिकादि भी वहाँ ही रहते हैं। अनन्त बलोपेत विकट, शूलदन्त तथा लोहिताक्षादि वहाँ राक्षसियों के साथ निवास करते हैं। आवास की अपेक्षा दस सहस्र योजन ऊपर निरालय पद्मराग-धरातलयुक्त परताल की स्थिति कही गई है। यहाँ प्रथम खण्ड में दिव्य स्त्रीभोग-सम्पन्न असुरियों से समावृत प्रह्लाद, इलाद तथा वह्निजिह्वादि विद्यमान हैं। परताल के द्वितीय खण्ड में वासुकि तथा शंखपाल स्थित कहे गये हैं। वहाँ नाग-कन्या-समावृत धृतराष्ट्रादि भी हैं। परताल के तृतीय खण्ड में विद्युन्माली, ताम्रजिह्वा तथा राक्षसियों के साथ हिरण्याक्षादि रहते हैं। नितल इन्द्रनील-धरापृष्ठयुक्त वर्णित है। वहाँ प्रथम खण्ड में शिशुमार आदि दानव निवास करते हैं। द्वितीय खण्ड में कम्बला-श्वतरादि नाग स्थित हैं। वहाँ सहस्र स्त्रियों से समावृत अनेक भोग-सम्पन्न यमदंष्ट्र, उग्र-दंष्ट्र तथा भीषण विषलाभ भी स्थित हैं। उसके बाद गभस्तिमत् का वर्णन किया गया है। यह गभस्तिमत् पुष्पों से विभूषित है। इसके प्रथम खण्ड में महिषादि निवास करते हैं। द्वितीय खण्ड में कार्कोटक, पद्मराग तथा खण्डक का निवास है। गभस्तिमत् के तृतीय खण्ड में दिव्य देह महाकाय, महोदर, महाकाय तथा महोत्कट स्थित हैं। महातल के प्रथम खण्ड में धनञ्जय तथा सुकालादि दानव निवास करते हैं। इसके द्वितीय खण्ड में अणिमत्, तीक्ष्णजिह्वाद्रि तथा कोद्रवेय का निवास है। तृतीय खण्ड में ज्वालास्य पद्मन् तथा गुह्य राक्षस रहते हैं। सुतल सर्वरत्नमय कहा गया है। इसके आदि खण्ड में शङ्खोदर नाम के दैत्य का स्थान कहा गया है। द्वितीय खण्ड में नागराज, श्वेतभद्र, सुदर्शन, सुमुख तथा अन्य महाबली निवास करते हैं। तृतीय खण्ड में मेघनाद, महाभाग, भीम तथा भीमबल राक्षस निवास करते हैं। रसातल—सुतल से सप्तपञ्च योजन ऊपर बहुत भुवनों से युक्त मुक्ता भूमितलमय दिव्य रसातल कहा गया है। यह दीर्घिका, उद्यान तथा पुष्प से समृद्ध एवं हेम-प्राकार से सुशोभित कहा गया है। यहाँ सिद्ध तथा नागों का निवास है। दिव्यस्त्री-परिवारित सालबन्ध्य का यही स्थान है। ऊपर भाग में लोहिता-क्षादि राक्षस स्थित हैं। उसके ऊपर हाटकाख्य रुद्र का आयतन बताया गया है। विष्णु के द्वारा जो दृप्त दानव मारे गये, उन दानवों की रूप-यौवनगर्विता दिव्य प्रमदाएँ स्वयं विष्णु के द्वारा हाटक को दी गई थीं। संकर्षण ने स्वांश भोग के लिए उन्हें पुनः कल्पित किया था। वे प्रमदाएँ गीत तथा नृत्तादि से देव की उपासना करती हैं। पद्महेम रत्नाढ्य, दिव्य स्त्रीभोग-विभूषित इस रसातल में नियम-व्रतसंयुक्त, मन्त्र-साधनतत्पर भगवद्भक्त, गुरुदेवाग्नि-पूजक, समयाचार-संयुक्त साधक भोग प्राप्त करते हैं। हठात् यन्त्रणाओं के भेदन तथा हठात् भोग प्रदान करने के कारण संकर्षण का यह अंश हाटकेश्वर नाम से प्रसिद्ध है।[१] इस प्रकार तत्तत् खण्डों से युक्त भुवन में विद्यमान इन सात तलों का वर्णन किया गया।

सात तलों के वर्णन के पश्चात् भुवनाध्व के अन्तर्गत आनेवाली पृथ्वी की स्थिति तथा उसके विस्तारादि का वर्णन किया गया है। ऊपर निर्दिष्ट सात तलयुक्त पाताल के ऊपर

१. नारदीय संहिता, ९.५२—९६

सात द्वीपयुक्त पृथ्वी की स्थिति कही गई है। यह पृथ्वी शतार्द्ध कोटियोजन परिमिता है। यह भूमण्डल अधोलिखित भागों में विभक्त है : १. जम्बूद्वीप, २. शाकद्वीप, ३. कुश-द्वीप, ४. क्रौञ्चद्वीप ५. शाल्मली द्वीप, ६. गोमेदद्वीप तथा ७. पुष्कर द्वीप। इनमें एक-एक द्वीप स्वयं की अपेक्षा द्विगुणित समुद्र से समावृत है। इस प्रकार ये सात द्वीप सात समुद्रों से समावृत हैं। ये सात समुद्र निम्नलिखित कहे गये हैं : १. क्षार-समुद्र, २. क्षीर समुद्र, ३. सर्पिसमुद्र, ४. ईक्षु-समुद्र, ५. सुरा-समुद्र, ६. दधि-समुद्र तथा ७. स्वच्छोद समुद्र। यह स्वच्छोद समुद्र पुष्कर द्वीप के बाह्य भाग में स्थित है। इन उदधियों के साथ मिलकर एक-एक द्वीप द्विगुण-द्विगुण कहे गये हैं। जम्बूद्वीप सर्वतः लक्षयोजन विस्तृत है। उसके मध्यगत मेरु कर्णिकाकृति में संस्थित है। जम्बूद्वीप के नौ विस्तृत खण्ड कहे गये हैं। वर्द्धमानाकृति मेरु हेममय कहा गया है। यह एक सहस्र चौरासी योजन उच्छ्राय प्रमाण-वाला है। मेरु के शृङ्ग सौवर्ण, राजत तथा रत्नज रूप में वर्णित हैं। मेरु के ये शृङ्ग विष्णु की मूर्त्ति के भेद की तरह शोभायमान हैं। मेरु के सौम्य भाग में राजत, आग्नेय-कोण में काञ्चनमय शृङ्ग कहा गया है। ग्रन्थ-अशुद्धि के कारण मेरु-शृङ्ग का स्वरूप सर्वथा स्पष्ट नहीं हो पाता है। मेरु की आठ दिशाओं में स्थित आठ पुरियों की स्थिति अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट है :

१. पूर्वदिशा में	अमरावती;	५. पश्चिम दिशा में	शुद्धवती;
२. आग्नेयकोण में	तेजोवती;	६. वायव्य कोण में	गन्धवती;
३. याम्यदिशा में	वैवस्वती;	७. उत्तर दिशा में	महोदया;
४. निर्ऋतिकोण में	रक्षोवती;	८. ईशान कोण में	यशस्विनी;

मेरु के चतुर्दिक् स्थित वर्ष; पर्वतादि अधोलिखित हैं :

दिशा	पर्वत नाम	वहाँ के तरु	वहाँ के सरोवर	तत्रस्थ वन
१. पूर्व दिशा	मन्दर	कदम्ब	अरुणोदय	चैत्रवन;
२. दक्षिण दिशा	गन्धमादन	जम्बू	पुष्कर	वैर्वाणिनी;
३. पश्चिम दिशा	विपुल	अश्वत्थ	सितोदक	वैभ्राज;
४. उत्तर दिशा	सुपार्श्व	न्यग्रोध	मानस	नन्दन।

मेरु के चारों तरफ अधोलिखित नगों का निर्देश किया गया है :

(क) पूर्वदिशा में ↓	(ख) दक्षिणदिशा में ↓	(ग) पश्चिमदिशा में ↓	(घ) उत्तरदिशा में ↓
१. सितान्त;	१. शिशर;	१. वैडूर्य;	१. हंस;
२. चक्रभुञ्ज;	२. पतङ्ग;	२. विवास;	२. वृषभशंकु;
३. माल्यवान्;	३. रूचक;	३. कपिल;	३. कुम्भनाग;
४. कुकुरि;	४. त्रिकूटवान्;	४. गन्धमादन;	४. अञ्जन;
५. वैकङ्कत;	५. निषध;	५. मारुधि;	५. काल,

[इस तरह मेरु के एक-एक भाग में पाँच-पाँच नगों की स्थिति वर्णित है। इन नगों के निर्देश के पश्चात् मेरु के केसराचल वर्णित हैं। ये केसराचल क्रमशः दक्षिण तथा उत्तर में अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट हैं :

दक्षिण दिशा में	उत्तर दिशा में;
१. निषध	१. नीलगिरि;
२. हेमकूट	२. श्वेतगिरि;
३. हिमवान्	३. शृङ्गवान्;

ये गिरि अत्यन्त रम्य हैं। इनमें सिद्धों का आवास कहा गया है। इनके भुवन सुरम्य हैं और वहाँ किन्नरों का स्थान है। वहाँ चारों तरफ देवताओं के आयतन विद्यमान हैं। इन विविध पर्वतों से आवृत मेरु के वर्णन के अनन्तर जम्बूद्वीपस्थ भद्राश्वादि देश तथा वहाँ सुपूजित देवता आदि का वर्णन किया गया है। ये पूजित सभी देव भगवान् वासुदेव की मूर्त्तियाँ कहे गये हैं। विष्णु ही इन विविध रूपों को धारण करते हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है :

स्थान	देश का नाम	आराध्य देवता
१. पद्मा के पूर्वदक्षिण में	भद्राश्व	हयशीर्ष;
२. विष्णु के दक्षिण में	केतुमाल	वराह;
३. अग्नि के पश्चिम में	भारत	कूर्म;
४. शम्भु के उत्तर में	कुरु	गोविन्द;

यह परमात्मा वासुदेव विविध रूपों में वहाँ विद्यमान हैं। इस वर्णन के अनन्तर हम महानदी आदि कुछ नदियों का वर्णन देखते हैं। महानदी विष्णु के पादाब्ज से निकली है। उसका विकास-क्रम अधोलिखित है :

विष्णु-पादाब्ज
↓
महानदी
↓
चन्द्रमण्डल
↓
ब्रह्मपुरी
↓
मेरु का ऊर्ध्वभाग
↓

	१. सीता	२. अलकनन्दा	३. चक्षु	४. भद्रा
प्रवाहदेश—	भारत के (पूर्व में)	केतुमाल (दक्षिण में)	भद्राश्वान (पश्चिम में)	उत्तर कुरु
गन्तव्य स्थल—	अर्णव को —	अर्णव को —	अर्णव को ×	अर्णव को

उपर्युक्त क्रम से विष्णु के पादाब्ज से चलकर महानदी उक्त क्रम से विविध स्थानों को पार करती हुई, विविध रूपों में विभक्त होकर तत्तत् देशों में विचरती हुई अर्णव को प्राप्त करती है। उपर्युक्त मेरु पर्वत की कर्णिका की तरह मध्य स्थान में कल्पना कर एक चतुष्पत्री भुवनपद्म का कल्पन नारदीय संहिता में देखते हैं। इस कमल में चार कर्णिकाओं के रूप में १. अनिल, २. निषधायाम, ३. माल्यवान् तथा ४. गन्धमादन पर्वतों को स्वीकारा गया है। इसके बाद १. भारत, २. केतुमाल, ३. भद्राश्व तथा ४. कुरु देशों को मर्यादा-शैल के बाहर चार कमल-पत्रों के रूप में कहा गया है।

भारतादि देश का विस्तार अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट है। यहाँ भारत का एक वर्ष के रूप में निर्देश किया गया है। नारदीय संहिता ने इस प्रसंग में वर्ष का लक्षण भी बताया है। कहा गया है कि एक शैल से दूसरे शैल-पर्यन्त विद्यमान देश-भाग को वर्ष कहते हैं। अर्थात् दो पर्वतों के बीच बसा हुआ देश 'वर्ष' शब्द से अभिहित होता है। हिमशैल से समुद्रान्त भारत की अवस्थिति कही गई है। इसके विस्तार का वर्णन स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। भारतवर्ष के पश्चात् किंपुरुष वर्ष का निर्देश है। यह आठ सहस्र योजन कहा गया है। इसके बाद ही वर्ष का उल्लेख किया गया है, जिसका विस्तार नौ सहस्र योजन कहा गया है। इस प्रकार मेरु के दक्षिण भाग में विद्यमान तीन वर्षों का निर्देश किया गया है। पर, जहाँ तक यहाँ निर्दिष्ट वर्ष के लक्षण का प्रश्न है, वह भारत के विषय में संघटित नहीं होता। भारत का विस्तार हिमालय से समुद्र-पर्यन्त कहा गया है, जो एक अत्यन्त तथ्यपूर्ण विषय है। पर दो पर्वतों के मध्य न होने के कारण इसमें पूर्वोक्त वर्ष-लक्षण का समन्वय कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह विषय चिन्तनीय है। इस प्रकार वर्णित क्रम से मेरु के दक्षिण में तीन वर्षों की अवस्थिति कही गई। ये वर्ष हुए : १. भारतवर्ष, २. किंपुरुष वर्ष तथा ३. हरिवर्ष। मेरु के उत्तर में भी तीन वर्षों की अवस्थिति कही गई है। वे हैं : १. रम्यक, २. हिरण्मय तथा ३. कुरु। इनमें एक-एक का प्रमाण नौ सहस्र योजन कहा गया है। उपर्युक्त वर्षों में सर्वापेक्षया विस्तार के साथ भारतवर्ष का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस वर्णनक्रम में भारत के विभाग, भारत में स्थित महाचल, भारत की नदियाँ, भारत के सर, तीर्थ, वहाँ के देव आदि विषय बताये गये हैं। ये सब अधोलिखित प्रकार से वर्णित हैं :

(क) भारत विभाग	(ख) भारतस्थ महाचल	(ग) भारतस्थ नदियाँ
१. इन्द्र	१. महेन्द्र	१. भागीरथी
२. कसेरु	२. मलय	२. यमुना
३. ताम्र	३. सह्य	३. नर्मदा
४. गभस्ति	४. कीर्तिमान	४. सरस्वती
५. सौम्यक	५. ऋक्ष पर्वत	५. कावेरी
६. गन्धर्व	६. विन्ध्य	६. ताम्रपर्णी
७. चारण	७. पारियात्र	७. गोदा
८. कन्यका द्वीप	८. कन्यका	८. वेगा
९. वारुण		९. महानदी।

(घ) भारतस्थ सर	(ङ) भारत के तीर्थ	(च) तीर्थस्थ देव	तीर्थ	तीर्थदेव
१. अनन्त	१. सालग्राम	मुकुन्द	६. सुकर	सौकरानन
२. पङ्कज	२. द्वारवती	केशव	७. कण्ठ	जनार्दन
३. चन्द्र	३. चक्रदान	चक्रधर	८. काञ्ची	वरद
४. अगस्त्य	४. कुरुप्रिय	माधव	९. स्थान	पद्मनाभ
५. पुष्कर	५. रङ्ग	वासुदेव	१०. शिवप्रिय	हरि।

भारत में स्थित ये उपर्युक्त विष्णु-क्षेत्र वर्णित हुए। इसके अतिरिक्त भारत में विद्यमान शिवक्षेत्रों का परिगणन भी किया गया है। ये शिवक्षेत्र अधोलिखित कहे गये हैं: १. वाराणसी, २. कालाक, ३. चक्रदान, ४. गद, ५. शिव, ६. वासुकीश्वर, ७. वरद तथा ८. आदिमुक्तीश्वर। इस प्रकार भारत-वर्णन के अनन्तर नारदीय संहिता ने जम्बूद्वीपस्थ द्वीपों का निर्देश किया है। जम्बूद्वीप में भारतवर्ष है। इसे कर्म-भूमि कहा गया है। अन्य सभी भोगभूमि कहे गये हैं। अल्पपुण्य जन यहाँ मनुष्य-जन्म नहीं पाता। अनेक सहस्र जन्म तक संसार में आवागमन के बाद कदाचित् जीव भारतभूमि में मनुष्य-रूप में जन्म प्राप्त करता है। जहाँ तक जम्बूद्वीपस्थ द्वीपों का प्रश्न है, वे अधोलिखित कहे गये हैं: १. अङ्ग द्वीप, २. मलय द्वीप, ३. शङ्ख द्वीप, ४. कुमुद द्वीप, तथा ५. वराह द्वीप। ये सभी भोगाख्य सुखदायक हैं। मलयद्वीप में मलयाचल सुशोभित है। वहाँ दिव्य हेमपुरी लंका स्थित है। संक्षेपतः यही जम्बूद्वीप का परिचय है।

जम्बू आदि द्वीपों को चारों ओर से घेरकर तत्तत् समुद्र स्थित कहे गये हैं। अर्थात् मध्य में जम्बूद्वीप है और उसके चतुर्दिक् क्षारोद है। उसका विस्तार लक्षयोजन है। उसके बाह्य भाग में एक द्वीप है। उसका नाम पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता है। उस द्वीप का विस्तार दो लक्ष योजना कहा गया है। नारदीय संहिता ने वहाँ चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था कही है। मोक्षाकांक्षियों के द्वारा वहाँ भगवान् आराधित है। उसके चारों तरफ क्षीरोद पूर्वोक्त प्रमाण में निर्दिष्ट है। यह क्षीरोद, इससे द्विगुणित परिमाणवाले कुशद्वीप से वेष्टित है। कुशद्वीप के चारों तरफ उसी परिमाण में दध्योद स्थित है। उससे द्विगुण परिमाणवाला क्रौञ्चद्वीप उसके चारों तरफ स्थित है। उस क्रौञ्चद्वीप के बाह्य भाग में सर्पिष उदधि कहा गया है। उसके बाहर इक्षुरस से परिवृत शाल्मली द्वीप की स्थिति कही गई है। इक्षुरसोदधि के चतुर्दिक् गोमेद द्वीप कहा गया है। गोमेद के चारों तरफ सुरोदधि का स्थान बताया गया है। उसके बाहर पुष्करद्वीप चारों ओर से स्वच्छोद से परिवृत है। यही द्वीपों का स्थिति-क्रम है। पूर्वोक्त स्वच्छोद के बाहर स्वादूदकान्त हिरण्मय भूमि की स्थिति कही गई है। यह द्विपञ्च योजन परिमित कथित है। उसके बाहर भी भूमि उसी तरह की है। पर, स्वादु उदक की अपेक्षा वह द्विगुण कहा गया है। वह सर्वप्राणिविराजित है। उसके बाहर लोकालोक शैल स्थित है। इसका विस्तार दस सहस्र योजन कहा गया है। ये सभी लोक इस लोकालोक के अन्दर

ही हैं, बाहर नहीं। यह लोकालोक सबके ऊपर वर्त्तुलरूप में विद्यमान है। उसके चारों तरफ शैल को आवृत कर तम की स्थिति कही गई है। अर्थात् यह लोकालोक तमसूरूप कटाह से परिवृत है। यहाँ पृथ्वी का लक्षण अधोलिखित रूप में बताया गया है। कहते हैं, सूर्य तथा चन्द्र जहाँ तक अपने प्रकाश से प्रकाशित करते हैं, उस द्वीप तथा उदधि-समन्वित भाग को पृथ्वी कहते हैं।

इसके पश्चात् भुवनाध्व-कीर्त्तन के क्रम में पृथ्वी तथा सूर्यादि ग्रहों के पारस्परिक अन्तर का वर्णन किया गया है। यह अन्तर अधोलिखित क्रम से वर्णित है: पृथ्वी से सूर्य का अन्तर पचास लक्षकोटि योजन, सूर्य से बुध का अन्तर दो लाख योजन, सूर्य से भार्गव का अन्तर दो लाख योजन, सूर्य से कुज, जीव तथा शनि की दूरी दो-दो लाख योजन, मुनियों (प्राय: सप्तर्षि) के स्थान की दूरी एक लाख योजन निर्दिष्ट है। भूर्भुव: तथा स्वर्लोकों का अन्तर पाँच लाख योजन उल्लिखित है। इन्हें वेदोक्त याजियों का त्रैलोक्य कहा गया है। उनके ऊपर कोटि योजन की दूरी पर महर्लोक की स्थिति है। उसके ऊपर दो कोटि योजन की दूरी पर जनलोक है। उससे ऊपर आठ कोटि योजन की दूरी पर तपोलोक कहा गया है। उससे ऊपर षोडश कोटि योजन दूर सत्य-लोक है। उससे ऊपर तीन कोटि योजन पर ब्रह्मस्थान कहा गया है। उससे ऊपर तीन कोटि योजन की दूरी पर निवृत्त्यात्मा हरि का स्थान है। उससे ऊपर चार कोटि योजन की दूरी पर विश्वात्म भगवान् संकर्षण का स्थान है। उससे ऊपर अर्द्धकोटि योजन सुमित दूरी तक ब्रह्माण्ड की स्थिति है। इस प्रकार सामान्यत: पञ्चाशत कोटि योजन विस्तारयुक्त पृथ्वी कही गई है। यहाँ सभी तत्त्व पार्थिव कहे गये हैं। पार्थिव तत्त्व जल से वेष्टित है। नारदीय संहिता ने कुछ जल-तत्त्वों का निर्देश किया है। इसके अन्तर्गत अमरेश, प्रभास, नैमिष तथा पुष्कर का उल्लेख किया गया है। ये जल-तत्त्व वह्नि से वेष्टित कहे गये हैं। तैजस तत्त्वों में कुछ स्थलों का निर्देश देखते हैं। पर ग्रन्थ की अशुद्धि के कारण वे स्पष्ट प्रतीत नहीं होते। उसके पश्चात् कुछ वायुतत्त्व स्थित तीर्थों का निर्देश किया गया है। यह वायु-तत्त्व पूर्वोक्त तैजस तत्त्व को वेष्टित कर स्थित है। वायुतत्त्व में स्थित तीर्थ हैं—कुरुक्षेत्र, विमल तथा प्रभास। ये सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कहे गये हैं। इस वायु के बाद भगवान् व्योम की स्थिति कही गई है। यह रूप-रहित कहा गया है। इसे संकल्पाख्य मन का बहिरावरण कहते हैं। यह व्योम भूतादि महत् से व्याप्त है। महत्तत्त्व को आवृत कर प्रधान समवस्थित है। वह अनन्त है और उससे बहुविध कार्य होते हैं। अर्थात् यह प्रधान बहुधा कारण कहा गया है। अशेष का हेतुभूत बीज त्रिगुण-अव्यय-प्रकृति तत्त्व कहा गया है। उसके पश्चात् माया-रूप तरु निर्दिष्ट है। उसी माया के अन्दर ब्रह्माण्ड की स्थिति बताई जाती है। माया के अन्दर असंख्यात ब्रह्माण्डों की स्थिति कही गई है। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि, तिल में तेल तथा उदुम्बर में मसक विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार प्रधान में पुरुष अव-स्थित रहता है। विष्णु की शक्ति से ये प्रधान तथा पुरुष सर्वत्र व्याप्त हैं। आदिसर्ग में प्रधान और पुरुष के क्षोभ तथा पृथक् भाव में कारण हरि की परा सृज्यशक्ति है।

उसके परितः ज्ञानाख्या निर्वाणदा शक्ति स्थित है। उसके आगे सर्वकलातीत शक्त्यतीत परशिवब्रह्म कहा गया है। इस ब्रह्मादि का विवेचन पृथक् भी देखा जा सकता है। यह सब भुवनादि उसी सर्वात्म परब्रह्म में अवस्थित है। उस परब्रह्म में जो ध्यान नियोजित करता है, उसे पुनः जन्मादि ग्रहण नहीं करना पड़ता।[1]

इस प्रकार नारदीय संहिता में वर्णित षडध्व में अन्यतम भुवनाध्व का स्वरूप देखा। यहाँ प्रतिपादित विषयों में सामान्यतः भुवन में उपलब्ध हर तत्त्व के प्रदर्शन का प्रयास हुआ है। ये विषय बहुत-कुछ अंश में पौराणिक विषयों के सर्वथा समान हैं। जैसे विविध नरक आदि का वर्णन, अनेक लोकों की स्थिति, वहाँ के निवासियों का निर्देश आदि विषय अनेक स्थलों में पुराणों में उपलब्ध हैं। विविध पर्वत तथा वर्ष आदि भौगोलिक विषयों के साथ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि-वर्णन, जो खगोलशास्त्रीय विषय है, यहाँ विस्तृत रूप से दिया गया है। इन नक्षत्रों की परस्पर दूरी आदि कुछ ऐसे विषय यहाँ वर्णित हैं, जिनका आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचनपूर्वक विश्लेषण तथा परीक्षण अपेक्षित है। जहाँ तक वैष्णव-दीक्षाक्रम में इनके निर्देश का प्रश्न है, उसपर विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि दीक्षाप्राप्त व्यक्ति को पूर्ण ज्ञान-सम्पन्न होना चाहिए। वे ज्ञान भौतिक तथा आध्यात्मिक उभयविध हो सकते हैं। भुवनाध्व के अन्तर्गत वर्णित विषयों के विवेचनादि के विना सभी विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः दीक्षार्थी के लिए सारे भुवनाध्व का ज्ञान-सम्पादन तथा उसका यजन अत्यन्त अपेक्षित है। पाञ्चरात्रागम की किसी संहिता ने भुवनाध्व का उतना विस्तृत वर्णन नहीं किया है जितना विस्तृत वर्णन नारदीय संहिता ने। इस तरह भुवनाध्व-वर्णन नारदीय संहिता की एक विशेषता कही जा सकती है। दीक्षाक्रम में गुरु इस वर्णित भुवनाध्व के द्वारा शिष्य का शोधन करता है।

भुवनाध्व-शोधन के बाद विविध विषुव के वर्णन तथा उन सबमें शिष्य के शोधन का अवसर आता है। इस विषुव-वर्णनक्रम में सर्वप्रथम एकाक्षर मन्त्र के स्वरूपादि का निर्देश किया गया है। इसमें १. सर्वात्मपद, २. निवृत्तिपद, ३. विश्वात्मपद, ४. पुरुषात्मपद तथा ५. परमेष्ठिपद आते हैं। इन सब पदों का स्थान शरीर में बताते हैं, पुनः उन सभी पदों में होम कर शिष्य के शरीर का शोधन किया जाता है।[2] इसके पश्चात् वह्न्यक्षर मंत्र का निर्देश देखते हैं। इसके दो तरह के स्वरूप कहे गये हैं: स्थूल तथा सूक्ष्म। स्थूल के पाँच भेद हैं और सूक्ष्म का एक भेद है। इन सबसे भी शिष्य के शरीर का शोधन करते हैं। पुनः कला-तत्त्व का वर्णन देखते हैं। कला-तत्त्व में पाँच स्थूलतत्त्व कहे गये हैं। उन पाँचों में अधोलिखित रूप से पाँच शक्तियाँ अवस्थित कही गई हैं:

---

१. नारदीय संहिता, ९.१७३—२१३

२. वही, ९.२१३—२२४

कलातत्त्वस्थ तत्त्व	स्थूल तत्त्व में विद्यमान शक्तियाँ
१. सर्वात्मा	सूक्ष्मा
२. निवृत्त्यात्मा	सुसूक्ष्मा
३. विश्वात्मा	मृता
४. पुरुषात्मा	अमृता
५. परमेष्ठ्यात्मा	व्यापिनी।

ये शक्तियाँ परानुग्रहकारिणी ज्ञानाख्या कही गई हैं।[1] इन पदों में शिष्य के शोधन के पश्चात् परमपद निर्वाणाख्य पद उक्त है। इस निर्वाणाख्य पद में लीन होने के बाद जन्म-ग्रहण का अवसर नहीं आता। यह निर्वाणाख्य पद शक्त्यतीत पद कहा गया है। यह शक्त्यतीत विषुव चार विषुवों में अन्यतम तथा प्रथम विषुव कहा जा सकता है। इसके पश्चात् मन्त्रविषुव का निर्देश किया गया है। विप्र मन्त्रोच्चारण करते हुए जब-तक अन्यमना नहीं होता तबतक मन्त्रशरीरात्मा 'नमः स्वाहा' पदोच्चारण तक एकत्व-रूप में रहता है, उसे ही मन्त्रविषुव की संज्ञा दी गई। उसके पश्चात् तृतीय विषुव प्राणविषुव का निर्देश किया गया है। प्राण जब सब स्थानों का अतिक्रमण कर अव्यय से पर सर्वशक्तिकलान्तक प्रशान्त पद को प्राप्त करता है, तब उसे प्राणविषुव कहते हैं। प्राण जब उत्तरायण तथा दक्षिणायन के मध्य होता है तब उसे कालाख्य विषुव कहते हैं। इस तरह ये चार विषुव कहे गये हैं। इन चार विषुवों को जाननेवाला देशिक जन्म-संसार-बन्धन से मुक्त कराने में समर्थ होता है। दीक्षा-विधि के क्रम में इन विषुवों के द्वारा भी शिष्य का शोधन विहित है।

विषुव-वर्णन के पश्चात् समरसों का वर्णन किया गया है। ये समरस चार कहे गये हैं: १. मन्त्र-समरस, २. नाडी-समरस, ३. भूत-समरस तथा ४. तत्त्व-समरस। मन्त्री का मन्त्र में जब एकतान से लय होता है, तब उसे मन्त्र-समरस कहते हैं। देशिक जब परशक्तिगत विभु को नाडी के मध्यगत बनाकर कर्म करता है, तब उसे नाडी-समरस कहते हैं। देशिक जब आत्मा को सभी भूतों में स्थित देखता है तब उसे भूत-समरस की संज्ञा दी जाती है। समरसों में परम समरस तत्त्व-समरस कहा गया है। आत्मा को जब परमतत्त्व में स्थिर किया जाता है और तत्त्वस्थ रूप में ही सभी कर्म सम्पादित होते हैं तब उसे ही तत्त्व-समरस कहा जाता है।[2] दीक्षाक्रम में इन चार समरसों के द्वारा भी शिष्य का शोधन आवश्यक होता है। इन विविध विधियों से शिष्य के शोधन के पश्चात् प्रायश्चित्तों के कुछ अवसर तथा आत्मशुद्ध्यर्थ होम का विधान देखते हैं। होम के लिए द्वादशाक्षर मन्त्र का प्रयोग कहा है। इस प्रसंग में कहा गया है कि द्वादशाक्षर मन्त्र, अष्टाक्षर मन्त्र तथा प्रणव का उद्धार वासुदेव ने स्वयं किया था। नारदीय संहिता ने इस आत्मशुद्ध्यर्थ होमक्रम में उपर्युक्त दोनों मन्त्रों (द्वादशाक्षर तथा अष्टाक्षर मन्त्रों) का

१. नारदीय संहिता, ९.२२८—२३१
२. वही, ९.२३२—२५१

उद्धृत स्वरूप लिखा है। कहते हैं कि इससे उत्तम अन्य कोई मन्त्र नहीं है। इसके जप, चिन्तन, स्मरण, ध्यान तथा पूजन से द्वादशाक्षर-वेदी अवश्य ही बन्धन-मुक्त हो जाता है। कहा गया है कि सूर्य-चन्द्रादि ग्रह जा-जाकर निवृत्त होते हैं, पर आत्मशोधन के पश्चात् शिष्य के पापोपलक्षक चिह्नों के द्वारा शिष्य के पाप की जानकारी तथा उसका संग्रह कर गुरु विविध पदों में उसका शोधन करता है। यह विषय हम पहले देख चुके हैं।

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से मन्त्राध्व, वर्णाध्व, कलाध्व, भुवनाध्व तथा पदाध्व के साथ शिष्य का शोधन कर उसे पवित्र बनाया जाता है। कहते हैं कि जिस तरह अग्नि में शोधित कनक शुद्ध होता है, उसी तरह उपर्युक्त विधि से शोधन के पश्चात् शिष्य भी अग्नि में शोधित कनक की तरह सर्वथा शुद्ध हो जाता है। इस तरह सर्वथा शुद्ध शिष्य का शिखाच्छेद (पूर्वोक्त विधि से) कर, उसमें परमशक्ति का ध्यान करते हैं। पुनः निष्क्रिय, निर्मल, शान्त, सर्वकारणकारणभूत, निरालम्ब, निरञ्जन, परतत्त्व वासुदेव पद में शिष्य का योजन करते हैं। फिर निर्वाणाख्य शुद्ध परमकला का ध्यान कर पूर्णाहुति-प्रक्षेप करते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से संशुद्ध तथा परम पद में संयोजित, धर्माधर्म से विनिर्मुक्त ज्ञान-शक्तिकलात्मक परमतत्त्व में लीन वैष्णव पुनः जन्म नहीं प्राप्त करता। इस प्रकार अध्वर में दीक्षित वैष्णव को जीवन्मुक्त जानना चाहिए। निर्वाणास्पद वैष्णव पुनः पाश से नहीं बँधता है। निर्वाण-पदसात्कृत वैष्णव पूर्वशरीर के क्षय होने तक यावदायु इसी लोक में रहता है। आयु के क्षीण होने पर शरीर त्याग कर वह वैष्णव पद को प्राप्त करता है। इस तरह दुर्लभ मण्डल में दीक्षा के द्वारा विशुद्धात्मा क्षीणपाप शिष्य मुक्त हो जाता है।[१]

दीक्षा-वर्णनक्रम में व्यावहारिक दृष्टि से वैष्णवों के तापादि संस्कार अत्यन्त प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण कृत्य हैं। पर नारदीय संहिता तथा कुछ अन्य पाञ्चरात्रागम-संहिताओं ने इनमें से सबका निर्देश नहीं किया है। परन्तु ईश्वर-संहिता ने संक्षेप रूप से अधोलिखित क्रम से तापादि संस्कार का विधान किया है। कहा गया है कि शिष्य को संस्कृत कर उसका पञ्च संस्कार किया जाना चाहिए। यहाँ संस्कार पाँच प्रकार के कहे गये हैं। वे पाँच संस्कार अधोलिखित हैं:

तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रोयागश्च पञ्चमः।

ताप-संस्कार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ताप-संस्कार-सम्पादन के क्रम में आचार्य वैष्णवों तथा सभ्यों की पूजा कर तथा उनसे अनुज्ञा प्राप्त कर शिष्य के साथ अग्नि-कुण्ड के समीप जाता है। तत्तन्मन्त्रों के द्वारा चक्र तथा शंख की पूजा करते हैं। ये चक्र तथा शंख आचार्य को अपनी दीक्षा के समय गुरु से प्राप्त होते हैं। चक्र तथा शंख की पूजा के पश्चात् मूलमन्त्र के द्वारा अष्टोत्तर शत संख्या की घृताहुति प्रदान करते हैं। उसके बाद कुण्डस्थ अग्नि में चक्र तथा शंख का विक्षेप कर उसकी पूजा करते हैं। पुनः चक्रमन्त्र तथा शंखमन्त्र से एक सौ आठ बार या अट्ठाईस बार होम करते हैं। इससे कुछ अन्य मन्त्रों के द्वारा भी यहाँ होम उक्त है। इस हवन के पश्चात् देवेश तथा गुरु-परम्परा का ध्यान

१. नारदीय संहिता, ९.२७५—३१०

कर शिष्य के दक्षिण बाहुमूल को तप्त चक्र द्वारा अङ्कित करते हैं। शिष्य के सव्य बाहुमूल को शंख द्वारा अङ्कित किया जाना कहा है। फिर, चक्र तथा शंख का स्वमन्त्र से अभिषेक कर, मूलमन्त्र द्वारा उसकी पूजा कर पूर्णाहुति प्रदान की जाती है।[१]

तापसंस्कार के पश्चात् ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण का अवसर आता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण के लिए उपादानद्रव्य के रूप में वैष्णवक्षेत्र से श्वेत मृत्तिका-ग्रहण विहित है। शिष्य हस्तपाद प्रक्षालन कर प्राङ्मुख या उदङ्मुख बैठता है और वाम हस्त के तल को अस्त्रमन्त्र से धोकर उसपर श्वेत मृत्तिका प्रणव के साथ रखता है। 'गन्धद्वार' मन्त्र द्वारा मृत्तिका-जल से सिंचित कर, मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित करता है। उसके बीच नारसिंह मन्त्र के बीज का उल्लेख किया जाना कहा गया है। पुनः, उस मृत्तिका को ललाटादि में धारण करता है। इस धारण-क्रम में तत्तदिच्छा-विशेष के अनुसार तत्तदङ्गुलि-विशेष द्वारा धारण का विधान देखते हैं। जैसे : पुष्टि के लिए अंगुष्ठा से, मुक्तिसिद्धि के लिए तर्जनी द्वारा, वाञ्छितार्थ-लाभ के लिए अनामिका से, आयुष्काम के लिए मध्यमा अंगुलि द्वारा ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण किया जाना चाहिए। नख से ऊर्ध्वपुण्ड्र का स्पर्श नहीं होना चाहिए। ऊर्ध्वपुण्ड्र रम्य, ऋजु तथा विष्णु के पादद्वयाकृतिक होना कहा गया है। यह सान्तराल, सुपार्श्व तथा दो या तीन अंगुल का होना चाहिए। इसका विस्तार चार अंगुल होता है। ललाट तथा कुक्षि में चार अंगुल विस्तारवाला ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण निर्दिष्ट है। ईश्वर-संहिता ने अन्यान्य अङ्गों में भी ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण का निर्देश किया है तथा उनका विस्तार और आयाम भी बताया है। इनकी संख्या द्वादश स्थानों के अनुसार द्वादश कही गई है।

ये द्वादश तथा उनके ऊर्ध्वपुण्ड्र का प्रमाण अधोलिखित है :

स्थान	विस्तार	आयाम
१. ललाट में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
२. कुक्षि में	चतुरंगुल	चतुरंगुल (अथवा अष्टांगुलायत)
३. हृदय में	त्र्यंगुल	चतुरंगुल
४. कण्ठदेश में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
५. दक्षिणोदर में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
६. दक्षिण बाहुमध्य में	अष्टांगुल	चतुरंगुल
७. दक्षिण अंश में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
८. वाम कुक्षि में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
९. वाम बाहु में	अष्टांगुल	चतुरंगुल
१०. वामांस में	चतुरंगुल	चतुरंगुल
११. पृष्ठ में	अष्टांगुल	चतुरंगुल
१२. ककुद्देश में	चतुरंगुल	त्र्यंगुल

१. ईश्वर-संहिता, २१.२८४—२९२

उसके पश्चात् ऊर्ध्वपुण्ड्रों के मध्य में विष्णु-समर्पित रजनीचूर्ण धारण करना कहा गया है। रजनीचूर्ण धारण से लक्ष्मी-सान्निध्य सिद्ध होता है। उसका स्वरूप वर्त्तिदीपाकृतिक या वेणुपत्राकृतिक हो सकता है। वैष्णवों की मान्यता के अनुसार, इस उक्त प्रकार से ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण से लक्ष्मी के साथ जगत्पति विष्णु सतत वहाँ रमण करते हैं।[1]

जहाँतक नाम-संस्कार का प्रश्न है, उसका क्रम नारदीय संहिता में तथा अन्यत्र भी देखते हैं। नारदीय संहिता के अनुसार, दीक्षाक्रम में चरुकल्पन तथा उसके विनियोग के पश्चात् दन्तकाष्ठ-पात द्वारा शुभाशुभ-परीक्षणादि का अवसर आता है। इसका संक्षिप्त वर्णन हम आगे देखेंगे। इसी क्रम में नाम-संस्कार की विधि वर्णित है। इसे दीक्षार्थ नाम-चयन कहा गया है। शिष्य को पूर्वोक्त विधियों से संस्कृत कर उसके नेत्रों को बाँध देते हैं। बँधे नेत्र शिष्य के हाथों की बद्धाञ्जलि में पुष्प रखकर उसे विविध नामों से युक्त स्थल पर गिराते हैं। उस समय पुष्प जिस मूर्त्ति (नाम) पर गिरता है, वही नाम शिष्य को दिया जाता है। उस अवसर पर अमन्त्र अर्चन भी किया जाता है। सामान्यतः ये नाम वासुदेवादि हो सकते हैं। ब्राह्मणादि वर्णों के अनुसार नाम के साथ पृथक्-पृथक् उपनाम का भी निर्देश किया गया है। इसकी चर्चा अन्यत्र की गई है।[2]

दन्तकाष्ठ-प्रक्षेप द्वारा शुभाशुभ-परीक्षण के क्रम में शिष्य के साथ आचार्य क्षीरवृक्षज निर्व्रण दन्तकाष्ठ का भक्षण करते हैं और उसका भञ्जन कर भूमि पर प्रक्षेप कर उसके पतन का निरीक्षण करते हैं। यह दन्तकाष्ठ यदि ऐन्द्र, वारुण, कौबेर तथा ईशानकोण में अभिमुख होकर गिरता है, तो उसे शुभ कहा गया है। उसके विपरीत गिरने पर अशुभ, अर्थात् विपद्दायी कहा गया है। अशुभ के ज्ञान होने पर शान्ति करना आवश्यक है। उसकी शान्ति के लिए नारसिंह मन्त्र से पश्चिमास्य में सर्पिष् के द्वारा अष्टोत्तरशत होम किया जाना आवश्यक है।[3] उसके पश्चात् शिष्य के शरीर में सृष्टिक्रम से अध्वषट्क का न्यास किया जाता है। इस क्रम में बलि-प्रदान का अवसर आता है। देशिक 'नमो भूतेभ्यः' इस मन्त्र द्वारा माष-ओदन से भूतों के लिए बलि-प्रक्षेप करता है। बलि-प्रक्षेप के पश्चात् गुरु शिष्य के साथ कुशासन पर शयन करता है। शयन के समय जगत्-योनि विष्णु का स्मरण किया जाना विहित है। प्रातः उठकर शिष्य शुभाशुभ दृष्ट स्वप्न के अनुसार आचरण करता है। अर्थात्, यदि अशुभ स्वप्न-दर्शन होता है, तो शान्ति-होम किया जाता है।[4] जयाख्यसंहिता ने किञ्चित्

---

१. ईश्वर-संहिता, २१ २९२—३१२
२. नारदीय संहिता, ९.३२१—३४५
ईश्वर-संहिता, २१.३१९—३२५
३. जयाख्य-संहिता, १६.१८९—१९५
नारदीय संहिता, ९.८८—९१
४. नारदीय संहिता, ९ ९८—१०१

विस्तृत रूप से इस विषय का निर्देश किया है। यहाँ स्वप्नाधिपति मन्त्र का स्वरूप-निर्देश भी देखते हैं। शुभबोधक स्वप्नचिह्नों का निर्देश करते हुए जिन वस्तुओं का परिगणन किया गया है, उनमें गुरु, देव, द्विज, कन्या, गो, गज, अश्व, केसरी, दर्पण, शंख, भेरी तथा तन्त्रीवाद्य शोभन कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त ताम्बूल-भक्षण, दधि, अभिनन्दन, सिद्धान्न, मांसभक्षण, मद्य, स्त्री, मदिरा, आसव, छत्र, यान, सित वस्त्र, श्वेत चन्दन, माल्य, मुक्ताफलहार, पूर्णोदित चन्द्र, आकाशस्थ प्रचण्ड सूर्य, नदी, समुद्र, प्रफुल्ल पादप, शाली, कुंकुम, रोचना, मधु, लाजा, सिद्धार्थक-बीज, भाण्ड तथा पायस, तपस्यारत आचार्य, गाती हुई वराङ्गना तथा मन के लिए प्रीतिकर अन्य कोई स्वप्न शुभ माने जाते हैं। इन सबके विपरीत तथा मन में खेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु यदि स्वप्न में दिखती है, तो उसे अशुभ कहा गया है। इस प्रकार, शुभाशुभ ज्ञान-सम्पादन कर आचार्य अशुभ होने पर शान्ति करने के पश्चात् दीक्षाविधि को पूर्ण करता है।[1]

विष्वक्सेनसंहिता ने दीक्षा के विषय में केवल एक ही अध्याय में विचार किया है। पर, यहाँ दीक्षा से सम्बद्ध केवल शकुन-विषय पर विस्तृत विचार किया गया है। यहाँ ६३ वस्तुओं के निर्देश के साथ उनके दर्शन का फल निर्दिष्ट है। अन्य विषय अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं। अध्याय का नाम भी 'दीक्षाशकुन-विचार' कहा है।[2]

दीक्षा के अन्त में गुरु शिष्य को विष्णुहस्त प्रदान करता है।[3] इससे पुरुष वासुदेव के समान हो जाता है। इस प्रसंग में करन्यास करके देहन्यास किया जाता है। यह न्यास सृष्टि, स्थिति तथा संहार-रूप से तीन तरह का होता है। परम तत्त्व, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल, मुक्तिदायक आदि रूपों में वासुदेव का ध्यान कर दोनों हाथों में द्वादशात्मा का विन्यास करते हैं। गुरु शिष्य के दोनों हाथों के मध्य सोम तथा सूर्यकला का न्यास भी करता है। वाम हाथ में सोमकला तथा अंगुलिपर्वों में पूषादि कलाओं का न्यास किया जाता है। ये पूषादि संख्या में १५ हैं, जो १५ अंगुलिपर्वों में न्यस्त होते हैं। १५ कलाएँ इस प्रकार हैं: १. पूषा, २. अर्यमा, ३. सुमनस्, ४. पुष्टि, ५. प्रीति, ६. रति, ७. सृष्टि, ८. धृति, ९. मति, १०. मेधा, ११. मनीषा, १२. अंशुमालिनी, १३. शंखिनी, १४. स्वच्छा तथा १५. सम्पूर्णमण्डला। इस प्रकार, वाम हस्त में सोम-कला का ध्यान कर दक्षिण हस्त में में सूर्यकला का ध्यान किया जाता है। सूर्यकला के साथ दक्षिण हस्त में यथानिर्दिष्ट कलाओं के न्यास का विधान है। इस न्यास से पूर्व दक्षिण हस्त में द्वादशाक्षर मन्त्र के बीजों का न्यास भी विहित है। दक्षिण हस्त में न्यासार्थ ये कलाएँ कही गई हैं: १. तपनी, २. तापनी, ३. धूम्रा, ४. ज्वलिनी ५. ज्वालिनी ६. पावनी, ७. हव्यवाहा, ८. तेजोवती, ९. शतधा, १०. वामा, ११. पद्मप्रबोधिनी तथा १२. तमोपहा। इन कलाओं के न्यास के पश्चात् दक्षिण हस्त की अंगुलियों के पर्वों में

१. जयाख्यसंहिता, १६.१९६-२१५
२ विष्वक्सेनसंहिता, ३७.१६-९१
३. जयाख्यसंहिता, १६.३३४

ये कलाएँ न्यस्त होती हैं: १. उद्भवा, २. विरजा, ३. विश्वा, ४. विमला, ५. बिन्दुमालिनी, ६. सुप्रभासा, ७. जलदा, ८. क्षीरदा, ९. सुवर्चसा, १०. आज्यभागा, ११. हविर्भागा १२. आहुति, १३. यज्ञोद्भवा, १४. व्यापिनी तथा १५. पूर्णा। सोलहवीं कला निर्वाणाख्या कला कही गई है। इस निर्वाणाख्या कला का न्यास सूर्यहस्त के मध्य उक्त है। इन सब कलाओं का सूर्यहस्त में ध्यानकर, पूर्वाभिमुख उपविष्ट शिष्य में गुरु द्वादशाक्षर मन्त्र के बीजों का न्यास करते हैं। गुरु कालतत्त्व से आरम्भ कर निरामतत्त्व तक तथा मूलमन्त्र के बीजों से शिष्य का आलम्भन कर शिष्य के मस्तक पर विष्णुहस्त प्रदान करता है। इस क्रम में गुरु पहले दक्षिण हस्त शिष्य के मस्तक पर रखते हैं। उसके द्वारा पातकों का तथा वह्निकला का ध्यानकर पाशजाल का दहन किया जाता है।

अन्ततः, इस सबके बाद दीक्षा-निर्वर्त्तन करते हैं। अग्नि में ब्रह्म का ध्यान कर होम-सम्पादनपूर्वक कला-व्याख्यान योग से यह निर्वर्त्तन होता है। इसकी पूर्णता के लिए १२ होम के द्वारा पूर्णाहुति प्रदान की जाती है। उसके बाद शिष्य के आप्यायन तथा संरक्षण के लिए सोमकला वामहस्त में रखते हैं। इस प्रकार, विष्णुहस्त-प्रदत्त शिष्य जीवन्मुक्त कहा गया है। इस तरह दीक्षाविधि समाप्त होती है।[१]

इस प्रकार, हमने उपर्युक्त रूप में वैष्णवों की दीक्षाविधि का वर्णन देखा। दीक्षाविधि पाञ्चरात्रागम की जिन संहिताओं में वर्णित हैं, वे मूलतः प्रायः समान हैं। जैसे: दीक्षा का उद्देश्य, तदङ्गभूत अग्नि-आराधन, कुम्भाराधन, मण्डलाराधन आदि विषय तथा दीक्षा के क्रम में सम्पाद्यमान अन्यान्य शिष्यशोधनप्रकार तथा शुभाशुभ निमित्त-परीक्षण एवं आवश्यक होने पर शान्ति आदि विषय। इनके वर्णन-क्रम में कदाचित् एक ग्रन्थ का दूसरे ग्रन्थ से न्यूनाधिक भेद देखा जा सकता है, पर मूलतः परस्पर कोई बड़ा भेद नहीं दिखाई पड़ता।

●

१. नारदीय संहिता, ९.३२१—३४५

तृतीय अध्याय

वैष्णव-संस्कार

'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति 'संस्क्रियते अनेन इति संस्कारः' के रूप में निर्दिष्ट है। सम्+ √कृ+घञ्, सुट् क्रम से यह शब्द व्युत्पन्न होता है।[1] इस सामान्य व्युत्पत्ति के अनुसार, मानवीय आचार-विचार तथा आचरण आदि के परिमार्जन एवं संस्कृत करने के साधनभूत क्रिया-कलाप तथा व्यवहार को संस्कार कहा जा सकता है। हिन्दी-विश्वकोश ने संस्कार का अर्थ शुद्ध किया जाना बताया है।[2] इस प्रकार, समाज की सांस्कृतिक उन्नति की दृष्टि से हिन्दूधर्म या किसी भी अन्य धर्म या सम्प्रदाय-विशेष के संस्कार उस समाज के महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं। जहाँतक संस्कारों के आरम्भ का प्रश्न है, उसपर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कारों का प्रारम्भ समाज के सांस्कृतिक विकास के साथ ही शुरू हो जाता है। अतः, संस्कारों में कालक्रम से परिवर्त्तन या विकास होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार सामाजिक विकास तथा उन्नति कोई आकस्मिक घटना नहीं है, जो एकाएक एक दिन में विकसित या सम्पन्न हो गया हो, उसी प्रकार संस्कारों के प्रारम्भ तथा विकास का कोई एक निश्चित काल या रूप नहीं स्थिर किया जा सकता। सामाजिक विकास के साथ-साथ संस्कारों का विकास-क्रम भी सामान्य गति से चलता रहता है।

हिन्दू-समाज एक प्राचीन समाज है। इसके संस्कारों का वर्णन वेदों के कतिपय सूक्तों, कुछ ब्राह्मणग्रन्थों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों, विविध स्मृतियों तथा परवर्त्ती निबन्ध-ग्रन्थों में भी पाया जाता है।[3] ये संस्कार न्यूनाधिक रूप में प्रायः सभी धर्म में निर्दिष्ट हैं। ईसाई-धर्म की बहुसंख्य धर्मविधियों में कुछ 'साक्रामेण्ट' अथवा संस्कार कहे गये हैं। 'साक्रामेण्ट' का अर्थ होता है पवित्र। बपतिस्मा, मूरवारिष्ट, पापस्वीकरण तथा पौरोहित्य के अलावा विवाह, दृढ़ीकरण (कन्फर्मेशन) तथा रोगियों का संस्कार, इस तरह ईसाइयों के कुल सात साक्रामेण्ट अथवा संस्कार कहे गये हैं।[4] अबेस्ता में प्रतिपादित धर्म वैदिक धर्म के समान हैं। पारसीक धर्म में जातकर्म, अन्नप्राशन तथा उपनयन-संस्कार हिन्दू-संस्कार के समान हैं। अग्नि की उपासना तथा यज्ञपद्धति हिन्दू एवं पारसीक, दोनों समाज में एक समान थी।

हिन्दू-संस्कृति एक विकास-सम्पन्न विशाल संस्कृति है। कालक्रम से इसके विविध अवान्तर भेद विकसित हुए हैं। इन विविध सम्प्रदायों में हरएक सम्प्रदाय की अपनी

---

१. शब्दस्तोममहानिधि, पृ० ४५१
२. हिन्दी-विश्वकोश, खण्ड ११, पृ० ४३२
३. हिन्दू-संस्कार, प्रस्तावना, पृ० १
४. हिन्दी-विश्वकोश, खण्ड ११, पृ० ४३२

कुछ निजी विशेषता है। संस्कार के विषय में सभी हिन्दू सम्प्रदाय सर्वथा समान हैं, ऐसा नहीं कह सकते। पर, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये संस्कार मूलतः अति प्राचीन, अर्थात् वेदकाल से ही मूलरूप में स्थित पाये जाते हैं। ऋग्वेद में प्रत्यक्ष तो नहीं, पर अप्रत्यक्ष रूप में लोकधर्म के निर्देश अवश्य दिखते हैं। विवाह,[१] अन्त्येष्टि,[२] गर्भाधान[३] आदि विविध संस्कारों से सम्बद्ध भी कुछ विशिष्ट सूक्त उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हिन्दू-संस्कारों का उदय वैदिक काल या उससे भी पूर्व हो चुका था। पर, वैदिक साहित्य में संस्कार शब्द उपलब्ध नहीं होता। ब्राह्मण-साहित्य में भी यह शब्द उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विशेष प्रकरणों में उपनयन, अन्त्येष्टि आदि कतिपय संस्कारों के अङ्ग अवश्य वर्णित हैं।[४]

संस्कार गृह्यसूत्रों के विषय हैं। पर, गृह्यसूत्रों में संस्कार शब्द का प्रयोग वैयक्तिक शुद्धि के निमित्त किये जानेवाले अनुष्ठानों के लिए न करके अग्नि में आहुति देने के पूर्व यज्ञीय सामग्री के परिष्कार के लिए करते हैं। जैसा कि मीमांसक लोग संस्कार का अर्थ-प्रतिपादन करते हैं। जैसे : आ० गृ० सू०,[५] पा० गृ० सू०[६] तथा गो० गृ० सूत्र[७] आदि में पञ्चभू-संस्कार तथा पाक-संस्कार का उल्लेख देखते हैं। यहाँ दैहिक संस्कारों का अन्तर्भाव पाकयज्ञों में कर लिया गया है। पारस्करगृह्यसूत्र अधोलिखित क्रम से पाकयज्ञों को चार भागों में विभक्त कर प्रदर्शित करता है : १. हुत, २. आहुत, ३. प्रहुत तथा ४. प्राशित।[८] बौधायनगृह्यसूत्र में पाकयज्ञों को सात भागों में विभक्त कर निरूपित किया गया है। ये हैं : १. हुत, २. प्रहुत, ३. आहुत, ४. शूलवर्ग, ५. बलिहरण, ६. प्रत्यवरोहण तथा ७. अष्टकाहोम। हुतादि का विवरण प्रस्तुत करते हुए हुत के अन्तर्गत विवाह से सीमन्तोन्नयन-पर्यन्त संस्कार समाविष्ट किये गये हैं। प्रहुत के अन्तर्गत जातकर्म से चौल-पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समावेश किया गया है। आहुत के अन्तर्गत उपनयन तथा समावर्त्तन-संस्कार अन्तर्भूत हैं। इस प्रकार, जिस क्रिया-कलाप का आगे स्मृत्यादि ग्रन्थों में संस्कार नाम दिया गया है, यहाँ उनका निरूपण गृह्ययज्ञों के रूप में किया गया है।[९]

इस प्रकार, हिन्दू-संस्कार के मूल का सामान्य विवेचन किया गया। हिन्दू-धार्मिक संस्कारों के निरूपण, वर्णन आदि मुख्य रूप से गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्रों के अतिरिक्त स्मृतिग्रन्थों में गर्भाधानादि संस्कार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। जैसा कि हमने पहले देखा है, हिन्दू-धर्म के विविध सम्प्रदाय संस्कारादि की दृष्टि से सर्वथा समान नहीं हैं।

---

१. ऋ० वे० १०.८५
२. वही, १०.१४; १६.१८
३. वही, १०.१८३-१८४
४. शतपथब्राह्मण, ११.१४
५. आ० गृ० सूत्र, १.३.१
६. पा० गृ० सूत्र, ११.२
७. गो० गृ० सूत्र, १.१.९
८. पा० गृ० सूत्र, १.४१
९. हिन्दु-संस्कार, पृ० २०

हिन्दू-धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायों के संस्कारादि सामान्यतः पृथक्-पृथक् कहे जा सकते हैं; जो उन-उन सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक ग्रन्थों में विधिवत् वर्णित हैं। हिन्दू-धर्म के एक अत्यन्त जीवन्त तथा प्रसिद्ध सम्प्रदाय, वैष्णव-सम्प्रदाय ने भी अपने आचार तथा संस्कार-प्रतिपादक आगम-ग्रन्थों में इन विषयों का प्रतिपादन किया है। वैष्णव-आगम की पाञ्चरात्र-शाखा ने पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के आचार तथा संस्कार का पूर्ण विवेचन किया है। वास्तविक रूप से पाञ्चरात्रागम के आलोडन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह आगम मुख्यतः वैष्णवाचार-प्रतिपादक शास्त्र है। उसमें वर्णित प्रायः सभी विषय प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से वैष्णवों के आचार से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। इस तरह, वैष्णवाचार पाञ्चरात्रागम का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है। आचार पर विचार करते हुए हम उनके संस्कारों को नहीं छोड़ सकते। सामान्य रूप से वैष्णवाचार को हम तीन निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं:

वैष्णवाचार

१. सामान्याचार (संस्कार) — २. विशेषाचार — ३. दैनन्दिन कृत्य (पञ्चकाल-प्रक्रिया)

२. विशेषाचार: दीक्षा — अभिषेकादि

सामान्य आचार से हमारा तात्पर्य वैष्णवों के उन आचार-विषयों से है, जो आचार-सामान्य हिन्दूजनों के लिए गृह्यसूत्र तथा स्मृतिग्रन्थों में प्रतिपादित हैं, और पाञ्चरात्रागमसंहिता-ग्रन्थों में वैष्णवों के लिए प्रायः गृह्यसूत्रादि की तरह अथवा किञ्चित् भिन्न रूप में वे ही विषय प्रतिपादित हैं। इन संस्कारों में गर्भाधान से प्रारम्भ कर और्ध्वदेहिक कर्मों का विवेचन किया गया है। यद्यपि सभी पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने विधिवत् इस विषय का विवेचन नहीं किया है, तथापि कुछ संहिताओं में इस विषय को एक प्रमुख विषय के रूप में दिखाया गया है। जैसे, नारदीय संहिता ने सम्पूर्ण २९वें अध्याय में इन्हीं गर्भाधानादि संस्कारों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त जयाख्य-संहिता तथा पौष्करसंहिता ने संस्कारों में अन्यतम संस्कार श्राद्धकर्म आदि विषयों का वर्णन किया है। पाञ्चरात्र-साहित्य के अध्येताओं को यह स्पष्ट विदित है कि पौष्करसंहिता का उपलब्ध मुद्रित संस्करण पूर्ण नहीं है। इसमें अत्यधिक ग्रन्थपात है। अतः, कहा जा सकता है पौष्कर-संहिता का वह भाग, जिसमें गर्भाधानादि संस्कार वर्णित थे, कदाचित् हमें उपलब्ध नहीं है और इसीलिए सभी संस्कार पौष्कर-संहिता में हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। नारदीय संहिता में वर्णित ये संस्कार यद्यपि संक्षिप्त हैं, तथापि पूर्ण कहे जा सकते हैं। इस प्रकार, सभी संस्कारों का उल्लेखपूर्वक वर्णन अन्य किसी पाञ्चरात्र-ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता।

वैष्णवों के विशेषाचार से हमारा तात्पर्य वैष्णवों के लिए विहित उन आचारों से है, जो विशेष रूप से केवल वैष्णवों द्वारा ही समाज में स्वीकृत तथा अनुष्ठित हैं। इसके अन्तर्गत वैष्णवी दीक्षा, उनके विविध कृत्य तथा उनके भेदों के निर्देश हैं। इस संस्कार में दीक्षा के पश्चात् जो अभिषेकादि संस्कार निर्दिष्ट हैं, वे सामान्यतः परार्थयजन-सम्पादक दीक्षितादि अर्चक वैष्णवों के लिए विहित हैं। परन्तु, दीक्षा-संस्कार तो सभी वैष्णवों के लिए आवश्यक है। वैष्णवदीक्षाविधि पृथक् अध्याय में देखी जा सकती है।

वैष्णवाचार के तृतीय भेद, अर्थात् दैनन्दिन कृत्य (पाञ्चरात्र-प्रक्रिया) के अन्तर्गत वैष्णवीय आचार के कतिपय विशेष कृत्यों का वर्णन है। ये कृत्य वैष्णवों के दैनन्दिन कार्यक्रम के रूप में विहित हैं। इसके अन्तर्गत प्रातः शय्यात्याग से आरम्भ कर रात्रि-पर्यन्त सम्पाद्यमान कर्त्तव्यों के स्वरूप का विवेचन होता है। इनका स्वरूप एवं विशेष परिचय पञ्चकाल-प्रक्रिया नामक अध्याय में देख सकते हैं। प्रस्तुत अध्याय में पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के गर्भाधानादि संस्कारों के विवेचन का प्रयत्न होगा। सामान्य रूप से कतिपय सूत्रादि ग्रन्थों के साथ इस पाञ्चरात्रिक संस्कार का सम्बन्ध आदि देखने का प्रयत्न होगा। मुख्यतः हमारी विवेच्य विषयवस्तु पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित संस्कारक्रम होगी।

नारदीय संहिता ने वैष्णवों के लिए २० संस्कारों का निर्देश किया है। इन संस्कारों का उल्लेख करते हुए इन्हें दीक्षितों का 'गर्भाधानादि कर्म'-वर्णन कहा गया है। यह कथन संस्कार-निरूपणाध्याय के प्रारम्भ में प्रस्तावना के रूप में निर्दिष्ट है। अध्यायान्त पुष्पिका में 'निषेकादिश्मशानान्त संस्कारविधि' के नाम से इस अध्याय का उल्लेख किया गया है। नारदीय संहिता में निर्दिष्ट संस्कार अधोलिखित हैं :

१. गर्भाधान
२. पुंसवन
३. सीमन्त
४. जातकर्म
   (क) गुह्यनामकरण
   (ख) स्तनपान-संस्कार
   (ग) जातरक्षार्थ होम
५. नामकरण-संस्कार
६. उपनिष्क्रमण-संस्कार
   (क) भानुनिरीक्षण
७. अन्नप्राशन
८. चूडाकरण-संस्कार
९. उपनयन-संस्कार
१०. वेदाभ्यास
११. दीक्षा, पाञ्चरात्राभ्यास
१२. समावर्त्तन-संस्कार
१३. विवाह-संस्कार
१४. वह्न्याधान
१५. वानप्रस्थ
१६. संन्यास-स्वीकार
१७. शरीरत्याग
१८. दाहादि संस्कार
१९. श्राद्धकर्म
२०. वार्षिक श्राद्ध[1]

इन संस्कारों के विषय में पृथक्-पृथक् रूप से विचार करने के पूर्व कतिपय गृह्य-सूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों में प्रयुक्त संस्कारों का स्वरूप देखना विषय-विवेचन की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होगा। इस क्रम में यथानिर्दिष्ट ग्रन्थों के यथोक्त संस्कार देखे जा सकते हैं। जैसे :

---

१. नारदीय संहिता, २९

१. पारस्करगृह्यसूत्र

१. विवाह
२. गर्भाधान
३. पुंसवन
४. सीमन्तोन्नयन
५. जातकर्म
६. नामकरण
७. निष्क्रमण
८. अन्नप्राशन
९. चूडाकरण
१०. उपनयन
११. केशान्त
१२. समावर्त्तन
१२. अन्त्येष्टि

२. बोधायनगृह्यसूत्र

१. विवाह
२. गर्भाधान
३. पुंसवन
४. सीमन्तोन्नयन
५. जातकर्म
६. नामकरण
७. उपनिष्क्रमण
८. अन्नप्राशन
९. चूडाकर्म
१०. कर्णवेध
११. उपनयन
१२. समावर्त्तन
१३. पितृमेध

३. आश्वलायनगृह्यसूत्र

१. विवाह
२. गर्भाधान
३. पुंसवन
४. सीमन्तोन्नयन
५. जातकर्म
६. नामकरण
७. चूडाकरण
८. अन्नप्राशन
९. उपनयन
१०. समावर्त्तन
११. अन्त्येष्टि

४. वाराहगृह्यसूत्र

१. जातकर्म
२. नामकरण
३. दन्तोद्गमन
४. अन्नप्राशन
५. चूडाकर्म
६. उपनयन
७. वेदव्रत
८. गोदान
९. समावर्त्तन
१०. विवाह
११. गर्भाधान
१२. पुंसवन
१३. सीमन्तोन्नयन

५. वैखानसगृह्यसूत्र

१. ऋतुसंगमन
२. गर्भाधान
३. सीमन्त
४. विष्णुबलि
५. जातकर्म
६. उत्थान
७. नामकरण
८. अन्नप्राशन
९. प्रवसागमन
१०. पिण्डवर्धन
११. चौलक
१२. उपनयन
१३. पारायण
१४. व्रतबन्ध-विसर्ग
१५. उपाकर्म
१६. उत्सर्जन
१७. समावर्त्तन
१८. पाणिग्रहण

६. गौतमधर्मसूत्र

१. गर्भाधान
२. पुंसवन
३. सीमन्तोन्नयन
४. जातकर्म
५. नामकरण
६. अन्नप्राशन
७. चौल
८. उपनयन
९-१२ चार वेदव्रत
१३. स्नान
१४. सहधर्मचारिणी-संयोग
१५-१९. पञ्चमहायज्ञ
२०-२६. सप्तपाकयज्ञ
२७-३३. सप्तहविर्यज्ञ
३४-४०. सप्तसोमयज्ञ

इनके अतिरिक्त, निम्नांकित स्मृतिग्रन्थों में संस्कारों का वर्णन यथानिर्दिष्ट क्रम से देखते हैं :

मनुस्मृति	व्यासस्मृति
१. गर्भाधान	१. गर्भाधान
२. पुंसवन	२. पुंसवन
३. सीमन्तोन्नयन	३. सीमन्त
४. जातकर्म	४. जातकर्म
५. नामधेय	५. नामक्रिया
६. निष्क्रमण	६. निष्क्रमण
७. अन्नप्राशन	७. अन्नप्राशन
८. चूडाकर्म	८. वपनक्रिया
९. उपनयन या मौञ्जीबन्धन	९. कर्णवेध
१०. केशान्त	१०. व्रतादेश
११. समावर्त्तन	११. वेदारम्भ
१२. विवाह	१२. केशान्त
१३. श्मशान[१]	१३. स्नान
	१४. उद्वाह
	१५. विवाह
	१६. अग्निपरिग्रह

याज्ञवल्क्यस्मृति में केशान्त को छोड़कर अन्य सभी वे ही संस्कार निर्दिष्ट हैं, जो मनुस्मृति में।[२] गौतमस्मृति में ४० संस्कारों का निर्देश है। इसके अन्तर्गत वैदिक यज्ञों का अन्तर्भाव किया गया है।[३] अङ्गिरा ने २५ संस्कारों का उल्लेख किया है। जातूकर्ण्य ने भी सोलह संस्कारों का उल्लेख किया है। व्यासस्मृति के समान ही इसके संस्कार कहे गये हैं। थोड़ा-सा नाममात्र का भेद है। आधुनिक काल में सोलह संस्कार ही सर्वाधिक प्रचलित हैं।

इन विविध सूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों में वर्णित संस्कारों के नाम तथा संख्या-प्रदर्शन का प्रयोजन यह है कि नारदीय संहिता तथा इन सूत्रादि ग्रन्थों में प्रदर्शित संस्कारों का पारस्परिक तुलनात्मक रूप देखा जा सके। यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से उभयत्र दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि पूर्वोक्त ग्रन्थों में प्रदर्शित संस्कारों के साथ नारदीय संहिता के संस्कार सर्वथा समान नहीं हैं। आश्वलायन, पारस्कर तथा बोधायनगृह्यसूत्रों ने विवाह से संस्कारों का आरम्भ किया है, जबकि वाराहगृह्यसूत्र में जातकर्म से

१. मनुस्मृति, २.१६, २६, २९; ३ १-४

२. वही, २.१६, २८

३. गौतमस्मृति, ३, १-४, ?

संस्कारों का आरम्भ देखते हैं। दो सूत्रग्रन्थों ने (एक वैखानसगृह्यसूत्र तथा दूसरे गौतमधर्मसूत्र ने) गर्भाधान से संस्कारों के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। इन दोनों के साथ नारदीय संहिता में निर्दिष्ट संस्कार का आरम्भ समान है। वैखानस-आगम का मूल प्रायः पाञ्चरात्रिक सम्प्रदाय से प्राचीन है।[1] वैखानस-आगम वैखानस-सूत्रमूलक है। यह अनेक वैखानस आगम-ग्रन्थों में उक्त है। स्वभावतः, वैखानस-आगम-सम्प्रदाय पर उसका प्रभाव हो सकता है। वैखानस तथा पाञ्चरात्र उभय आगम वैष्णव-सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। अतः, कह सकते हैं कि पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के संस्कार पर अन्य सूत्रादिकों में उक्त संस्कारों का प्रभाव उतना नहीं है, जितना वैखानस-धर्मसूत्र का। अर्थात्, पाञ्चरात्रिक वैष्णवों ने वैखानस-धर्मसूत्रोक्त संस्कारक्रम को अंशतः स्वीकारा है, न कि अन्य सूत्रोक्त संस्कारों को। जिस प्रकार वैखानस-आगम का मूल वैखानस-सूत्र को स्वीकार किया गया है, उस प्रकार पाञ्चरात्रागम का मूल किसी भी सूत्रविशेष को नहीं स्वीकारा गया है। वैखानस-धर्मसूत्रोक्त संस्कारों के साथ नारदीय संहिता में वर्णित संस्कारों का प्रारम्भिक साम्य होने के बाद भी नारदीय संहिता ने सर्वतोभावेन वैखानस-धर्मसूत्र का अनुसरण नहीं किया है। नारदीय संहिता के अनुसार, संस्कारों की संख्या २० है, जबकि वैखानस-धर्मसूत्र में केवल १८ संस्कार वर्णित हैं। प्रारम्भिक साम्य से भी वैखानस-धर्मसूत्र ने ऋतु-संगमन तथा गर्भाधान को पृथक्-पृथक् संस्कारों के रूप में बताया है, पर नारदीय संहिता ने गर्भाधान तथा ऋतु-संगमन को अत्यन्त पृथक्-पृथक् नहीं देखा है। नारदीय संहिता में निर्दिष्ट संस्कारों में कुछ ऐसे भी संस्कार हैं, जो पूर्वोक्त सूत्र या स्मृति-ग्रन्थोक्त संस्कारों से भिन्न है। ऐसे संस्कार यथानिर्दिष्ट हो सकते हैं : १. दीक्षापाञ्चरात्राभ्यास, २. वानप्रस्थ, ३. संन्यास-स्वीकार तथा ४. शरीरत्याग। ये संस्कार सामान्यतः अन्य किसी भी सूत्र या स्मृतिग्रन्थ में इस रूप में दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन संस्कारों में दीक्षा-संस्कार पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के लिए ही विशेषतः विहित है। प्रायः अन्यों के लिए इस संस्कार का उतना महत्त्व नहीं है। अतः, अन्यत्र इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। दीक्षा-पाञ्चरात्राभ्यास तो वास्तव में स्पष्ट ही केवल पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के लिए ही विहित है। अन्यों के लिए इसका कोई खास महत्त्व नहीं है। अतएव, अन्यत्र किसी सूत्रादि ग्रन्थ में इसका उल्लेख तक नहीं देखते, जबकि पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के लिए यह संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है। दीक्षा के बिना वैष्णव वस्तुतः वैष्णव ही नहीं हो पाता। दीक्षा-निरूपण अध्याय में इस विषय को कुछ अधिक विस्तृत तथा स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। विविध आगम-ग्रन्थों में दीक्षा-निरूपण-क्रम में ही पाञ्चरात्राभ्यास विषय का भी विवेचन किया गया है। सूत्रादि ग्रन्थों में प्रायः वानप्रस्थ तथा संन्यास-स्वीकार एवं शरीरत्याग को संस्कार के अन्तर्गत नहीं स्वीकारा गया है। जैसा कि सर्वविदित है, वानप्रस्थ तथा संन्यास-विषय आश्रम-व्यवस्था तथा आश्रमधर्म-व्यवस्था का विषय है, इन दोनों विषयों का संस्कारों के रूप में परिगणन करना पाञ्चरात्रागम, विशेषकर नारदीय संहिता की असाधारण विशेषता

---

१. 'विश्वसंस्कृतम्'—'वैखानससम्प्रदायस्य प्राचीनत्वम्', मई, १९६७ ई०

कही जायगी। अन्य जो संस्कार नारदीय संहिता में वर्णित हैं, वे प्रायः वही हैं, जो अन्यत्र सूत्रादिकों में निर्दिष्ट तथा वर्णित हैं।

इस उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् नारदीय संहिता में प्रदर्शित संस्कारों के स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है, अतः आगे हम उसका वर्णन देखेंगे।

गर्भाधान-संस्कार : मन्त्री, अर्थात् दीक्षित वैष्णव ऋतुकाल के बाद स्नानादि से शुद्ध पत्नी के पास शुभदिन में रात्रि के समय जाय और 'विष्णुर्योनिम्' इस मन्त्र से पूर्वाभिमुख होकर स्त्रीप्रसंग करे। ऐसा कहते हुए इसने स्त्रीसंगम के रूप में ही गर्भाधान का निर्देश किया है। अलग से गर्भाधान का निर्देश यहाँ नहीं देखते। तो, इस तरह कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि नारदीय संहिता ने भी स्त्रीप्रसंग का ही प्रथम संस्कार के रूप में उल्लेख किया, पर पृथक् रूप से गर्भाधान का उल्लेख इसमें नहीं देखते। अतः, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यहाँ स्त्रीप्रसंग के रूप में ही गर्भाधान का निर्देश किया गया है।

पुंसवन-संस्कार : स्त्रीप्रसंग, अर्थात् गर्भाधान-संस्कार के बाद पुंसवन का निर्देश किया गया है। यह संस्कार गर्भाधान के बाद तृतीय मास में विहित है। इस संस्कार के क्रम में न्यग्रोध का अंकुर तोड़कर उसका रस पत्नी के दक्षिण नासापुट में डाला जाता है। उस समय 'इदं विष्णुः' इस मन्त्र का प्रयोग विहित है। यह संस्कार यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इसी तरह वर्णित है। पर, पुंसवन-संस्कार में 'पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनम्' ऐसा ही अभिप्राय यहाँ भी विवक्षित है। गृह्यसूत्र के अनुसार भी प्रायः यह संस्कार इसी प्रकार सम्पादित होता है।[1]

सीमन्तोन्नयन-संस्कार : 'सीमान्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत सीमन्तोन्नयनमिति नामधेयम्'[2] के अनुसार जिस कर्म में गर्भिणी का केश-संस्कार करते हुए केश ऊपर की ओर ले जाते हैं, उस कर्मविशेष को सीमन्तोन्नयन-संस्कार कहते हैं। बौधायन ने इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ को शारीरिक आघात से सुरक्षित तथा गर्भिणी को यथा-सम्भव प्रसन्न, हर्षित तथा उल्लसित रखना बताया है।[3] नारदीय संहिता ने इस संस्कार का काल गर्भाधान के पश्चात् चौथे या पाँचवें मास में निर्धारित किया है। इस संस्कार में पुरुषसूक्त से आज्य, समिध तथा ओदन द्वारा हवन करते हैं। पुनः व्याहृति द्वारा होम किया जाता है। अन्त में, शुक्ल शलल्या द्वारा सीमन्तोन्नयन करना विहित है। सीमन्तोन्नयन के लिए मन्त्र के रूप में क्रमशः तीन बार व्याहृतियों का प्रयोग विहित है।[4]

जातकर्म-संस्कार : पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् जातकर्म का अवसर आता है। गृह्य-सूत्रों में इसका काल नाभिबन्धन से पूर्व कहा गया है।[5] यव, व्रीहि, सुवर्ण तथा मधु को

---

१. पारस्करगृह्यसूत्र १.१४.२
२. वी० नि० संहिता, भाग १, पृ० १७२
३. बौधायनगृह्यसूत्र, १.१०.७
४. नारदीय संहिता, २९.५-६
५. शा० गृह्यसूत्र, १.२५.४
पा० गृ० सू०, १.१६.२३
बौधायन गृ० सू०, १.८

पीसकर जातक के मुख में रखने का विधान है। उस समय महाव्याहृति के उच्चारण का निर्देश किया गया है। उत्पन्न शिशु के मुख में उपर्युक्त वस्तुओं के रखने के बाद प्रणवोच्चारणपूर्वक उसके मस्तक को सूँघने का विधान है।

गुह्यनामकरण तथा स्तनपान-रक्षाहोम-संस्कार : जातकर्म के पश्चात् गुह्य-नामकरण करने का निर्देश किया गया है। उसी क्रम में 'ओं' के उच्चारपूर्वक स्तनपान कराना विहित है। गुह्यनामकरण तथा यह स्तनपान प्रायः पूर्वोक्त जातकर्म के ही अङ्गभूत कर्म हैं। इसी का अङ्गभूत कर्म रक्षाहोम भी कहा जा सकता है।[1] गोभिलगृह्य-सूत्र के अनुसार जातकर्म के प्रसंग में शिशु के कान में 'तू वेद है' इस वाक्योच्चारण के साथ उसका नाम रखा जाता था। इस नाम को केवल माता-पिता ही जानते थे, अन्य कोई नहीं। नाभि काटने के बाद शिशु को स्नान कराकर माता का स्तन पान कराया जाता था। पारस्करगृह्यसूत्र के अनुसार, कुछ अभिचारपूर्ण वचनों के साथ धान की भूसी से सायं तथा प्रातःकाल सूतिकागृह के द्वार पर भूत-प्रेत-निवारणार्थ होम किया जाता था। उसमें सरसों की भूसी का भी प्रयोग करते थे। इस प्रकार, इन तीनों का मूल हम गोभिल तथा पारस्करगृह्यसूत्र में देख सकते हैं।[2] अन्यत्र सामान्यतः नामकरण का अवसर जातकर्म के पश्चात् आता है। गुह्यनामकरण के प्रसंग में जन्माशौच की अवधि का निर्देश किया गया है। इस अशौच की व्याप्ति-अवधि दीक्षित के लिए दस दिन की कही गई है।

नामकरण-संस्कार : उसके पश्चात् ग्यारहवें दिन नामकरण का अवसर आता है।[3] इस तरह गुह्यनामकरण से सर्वथा पृथक् यह ग्यारह दिनवाला नामकरण कहा जायगा। यह स्मृतिग्रन्थों की तरह विहित है।

उपनिष्क्रमण : भानु-निरीक्षण : नामकरण के पश्चात् उपनिष्क्रमण का अवसर आता है। उसी के क्रम में भानु-निरीक्षण भी विहित है। शिशु के जन्म से चौथे महीने में उपनिष्क्रमण-संस्कार विहित है। यह भानु-निरीक्षण 'तच्चक्षुः' इत्यादि मन्त्र से सम्पादित होना कहा गया है।[4] पारस्करगृह्यसूत्र तथा मनुस्मृति में जन्म के १२वें दिन से चतुर्थ मास-पर्यन्त निष्क्रमण का काल निर्दिष्ट है।[5]

अन्नप्राशन-संस्कार : नारदीय संहिता ने जन्म से छठे महीने में हवन-सम्पादन-पूर्वक शिशु का अन्नप्राशन-संस्कार सम्पन्न करना कहा है।[6] सुश्रुत ने भी अन्न-

---

१. नारदीय संहिता, २९.७-९
२. गोभिलगृह्यसूत्र, २.७
   पारस्करगृह्यसूत्र, १६.१९
३. नारदीय संहिता, २९.१०
४. वही, २९.११
५. पारस्करगृह्यसूत्र, १.१७.५-६
   मनुस्मृति, २.२३४
६. नारदीय संहिता, २९.१२

प्राशन के लिए यही काल बताया है।[१] पारस्करगृह्यसूत्र ने इस प्रसंग में वाग्देवता के लिए आहुति का निर्देश किया है।[२]

चूडाकरण-संस्कार : जन्म के द्वितीय या तृतीय वर्ष में चूडाकरण-संस्कार का काल कहा गया है। चूडाकरण-संस्कार भी होम-सम्पादनपूर्वक किया जाना विहित है। नारदीय संहिता ने इसी संस्कार के साथ शिखास्थापन का विधान भी बताया है।[३] चूडाकरण का अर्थ ही चूडा, अर्थात् शिखा का स्थापन है। इसका प्रयोजन आयुष्य तथा सौन्दर्य की वृद्धि तथा कल्याण की प्राप्ति है।[४]

उपनयन-संस्कार : जन्म के पाँचवें, सातवें अथवा नवें वर्ष में शिशु के उपनयन का काल कहा गया है। इस प्रसंग में पुरुषसूक्त, विष्णुसूक्त तथा स्वाहान्त सप्तव्याहृतियों द्वारा पृथक्-पृथक् समिद्, घृत तथा तिल द्वारा हवन करने का विधान है। उसके पश्चात् 'विष्णोः कर्माणि' मन्त्र द्वारा त्रिगुण मेखला बाँधते हैं। पुनः गुरु के समीप तीन व्याहृतियों से यज्ञोपवीत दिया जाता है। 'पृथिव्यां विष्णो' ऋचा द्वारा कृष्णाजिन देने का निर्देश है। कृष्णाजिन को उपवीत की तरह आयामवाला तथा शुभरोमादियुक्त होना चाहिए। उसके बाद 'यो मे दण्डः' इस मन्त्र द्वारा माणवक को पलाशदण्ड देते हैं। इन कर्मों के पश्चात् गायत्री का उपदेश किया जाता है। तदनन्तर होमपूर्वक चार व्रतों का आचरण विहित है।[५] इस तरह यह संस्कार भी सामान्यतः सूत्र तथा स्मृति-साहित्य के समान ही है।

वेदाभ्यासादि-संस्कार : उपर्युक्त रीति से उपनीत भागवत बालक के लिए वेदाभ्यास का विधान भी सामान्यतः अन्य ग्रन्थों में विहित वेदाभ्यास की तरह ही कहा जा सकता है। उसके पश्चात् पाञ्चरात्र-दीक्षा तथा पाञ्चरात्राभ्यास का अवसर आता है।[६] जिसका विवेचन आगे के अध्याय में देखा जा सकता है।

समावर्त्तन-संस्कार : वेदाभ्यास तथा दीक्षापूर्वक पाञ्चरात्राभ्यास के पश्चात् समावर्त्तन का अवसर आता है। इस अवसर पर पूर्वोक्त रीति से होमादि-सम्पादनपूर्वक कलशों से भागवत बालक का अभिषेक किया जाता है।[७]

विवाह-संस्कार : समावर्त्तन के पश्चात् विवाह-संस्कार का अवसर आता है। वर 'पृथिव्यां विष्णुः' इस ऋचा से कन्या के दक्षिण पाणि का ग्रहण करता है। समिध, आज्य तथा ओदन से क्रमशः पुरुषसूक्त, विष्णुसूक्त तथा सप्तव्याहृतियों द्वारा होम-सम्पादन

---

१. सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थान, १०.६४
२. पारस्करगृह्यसूत्र, १.१६-२
३. नारदीय संहिता, २६.१२-१३
४. आ० गृह्यसूत्र, १.१७-१२
५. नारदीय संहिता, २६.१४-१६
६. वही, २६.२०
७. वही, २६.२१

करता है। फिर, प्रणव द्वारा वर स्वयं लाजहोम करता है और कन्या द्वारा भी लाजहोम करवाता है। तीन व्याहृतियों से वह्नि की प्रदक्षिणा का भी विधान यहाँ देखते हैं। उसके बाद पाषाणखण्ड का स्पर्श विहित है। नारदीय संहिता में पाषाण-स्पर्श के बाद विहित कर्म ग्रन्थपात के कारण स्पष्ट ज्ञात नहीं होता। यहाँ किसी वस्तु के संग्रह का विधान रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। पर, वह वस्तु क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं है। फिर, प्रदक्षिणापूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न होता है। इसके पश्चात् वह्न्याधान कर उसमें विष्णु के यजन का विधान कहा गया है।[१]

वानप्रस्थ एवं संन्यास-स्वीकार : यथाकाल भागवत माणवक को वानप्रस्थ, पुनः संन्यास स्वीकार करना कहा गया है।[२] पर, इन सबके लिए अलग से कोई विशेष क्रिया-कलाप निर्दिष्ट नहीं है।

शरीरत्याग : अन्त में भागवत योगी योग द्वारा शरीरत्याग करे, ऐसा विहित है। भगवद्वंशजों के लिए यही मार्ग निर्दिष्ट है, अन्य मार्ग नहीं।[३] यहाँ शरीरत्याग-प्रक्रिया प्रायः जैनों के शरीर-त्यागक्रम के समान है। यहाँ कहा गया है कि गृहस्थ का जीवन अन्तःसंल्लेख-विधि से होना चाहिए। इसके अनुसार मनोविकार से रहित होकर शुद्ध मन से सभी लोगों को क्षमा प्रदान कर, अपने अशेष पापों की समालोचना करना कहा गया है। अन्त में, महाव्रतों को अपनाकर चित्त को शोक, भय, विषाद, अरति आदि से मुक्त कर भोज्य तथा पेय का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और समाधि द्वारा प्राण का विसर्जन करना चाहिए, ऐसा निर्दिष्ट है।[४]

दाह-संस्कार : मृतक को कार्पट पर सुलाकर किया जाना चाहिए, फिर घर से पितृकानन (श्मशान) में ले जाकर रखना चाहिए। पुनः वहाँ काष्ठों की चिता बनाकर उसपर शव को रखते हैं और शव पर सुवर्णखण्ड, सर्पिष्, दधि, बीज तथा तण्डुल-प्रक्षेप कर प्रणवोच्चारणपूर्वक चिता में अग्नि प्रज्वलित करते हैं।[५]

श्राद्धकर्म : घर से बाहर श्मशान के सन्निकट त्रिरात्रिपर्यन्त बलि देकर चौथे दिन उसे त्यागना चाहिए। चतुर्थ दिवस में अस्थिसंचय भी करते हैं। ग्यारहवें दिन श्राद्ध का काल कहा गया है। यह कर्म एकोद्दिष्ट-विधि से सम्पादित किया जाना चाहिए। पुनः संवत्सर-पर्यन्त प्रतिमास उसी तरह श्राद्ध करने का विधान है। यहाँ श्राद्ध का फल मृतात्मा को वैष्णव-पद से योग करना कहा गया है। उसके बाद प्रतिवर्ष भागवत की मरण-तिथि में वार्षिक श्राद्ध सम्पन्न करने का विधान कहा गया है।[६]

---

१. नारदीय संहिता, २९.२२-२६
२. वही, २९.२६-२८
३. वही, २९.२९
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७.२२-३७
५. नारदीय संहिता, २९.२९-३२
६. वही, २९.३२-३६

नारदीय संहिता ने अन्ततः उपसंहार-रूप में स्पष्ट बताया है कि निषेकादि सभी कर्मों में जहाँ विस्तार से सारी बातें नहीं वर्णित हैं, वे सारे कर्म वेदोदित मार्ग से सम्पादित होने चाहिए।[१] अतएव, ऊपर निर्दिष्ट विधियों में वस्तुतः सारे संस्कारों का मूल गृह्यसूत्र तथा स्मृतिग्रन्थों में देखा जा सकता है। विविध सूत्रों में निर्दिष्ट संस्कारों की अपेक्षा पाञ्चरात्रिक दीक्षा तथा पाञ्चरात्रशास्त्राध्ययन ही यहाँ विशिष्ट या अधिक कहा गया है। यही कारण है कि हमने भी यहाँ केवल कुछ ही स्थलों में सूत्र तथा स्मृति-ग्रन्थों के साथ प्रस्तुत विषय के तुलनात्मक विवेचन का प्रयास किया है। अन्य विषयों को नारदीय संहिता में उद्धृत क्रम के अनुसार ही संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित किया जायगा।

नारदीय संहिता ने २९वें अध्याय के अन्त में अत्यन्त स्पष्ट रूप में यह बताया गया है कि वैष्णवों के लिए 'विष्णुयाग' के अतिरिक्त अन्य कोई भी याग-सम्पादन अनावश्यक है। वस्तुतः, वैष्णवों के लिए अन्य याग-सम्पादन अनावश्यक ही नहीं, अपितु निषिद्ध भी है। भागवत योगी के लिए अहर्निश विष्णु का ही आराधन आवश्यक रूप से विहित है। वैष्णव यदि वैष्णव-संस्कार में दीक्षित न हो, केवल वेदोक्त संस्कार से ही संस्कृत हो, उस स्थिति में भी उसको केवल विष्णुयाग-सम्पादन करना चाहिए। अर्थात्, सच्चा वैष्णव किसी अन्य याग का अनुष्ठान न करे।[२] जहाँतक वैष्णव-याग का सम्बन्ध है, उसपर विचार करने पर 'वैष्णव-याग' पद से विष्णु-आराधना का अर्थ प्रतीत होता है। वह आराधना परार्थ या स्वार्थ उभयविध हो सकती है। अर्थात्, वैष्णवों के लिए आलय में अथवा अपने गृह में केवल विष्णुपूजा अपेक्षित है, अन्य श्रौतादि कर्म उनके लिए अपेक्षित नहीं है। इन्हीं कारणों से भक्ति-सम्प्रदाय एवं साहित्य का मूल उद्भव-स्रोत यह पाञ्चरात्रागम माना गया है, जहाँ विष्णुभक्ति एवं आराधना की तुलना में अन्य सभी अनुष्ठानों को कम महत्त्व का होना स्वीकारा गया है।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि वैष्णव-संस्कार हिन्दुओं के सामान्य गर्भाधानादि संस्कार से भिन्न तथा विलक्षण संस्कार नहीं कहे जा सकते। मूलतः, ये वे ही संस्कार हैं, जो हिन्दुओं के लिए तत्तत् सूत्रग्रन्थों तथा स्मृतिग्रन्थों में विस्तृत रूप से वर्णित है। हाँ, यहाँ पाञ्चरात्र-दीक्षा तथा वैष्णवागम-प्रतिपादित आचार एवं पञ्चकाल-प्रक्रिया का अनुष्ठान अवश्य ही पाञ्चरात्रिक वैष्णवों के आचार-विचार का वैशिष्ट्य कहा जा सकता है, जो अन्य हिन्दू-सम्प्रदाय से स्थूलतः भिन्न है।

---

१. नारदीय संहिता, २९.३६-३७

२. वही, २९.३७-३८

चतुर्थ अध्याय

पञ्चकाल-प्रक्रिया

पञ्चकाल-प्रक्रिया में वैष्णवों के दैनन्दिन कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन तथा निर्देश है। यह पञ्चकालानुरूप क्रियाकलाप सभी वैष्णवों के लिए सामान्य रूप में विहित हैं। इस तरह सभी वैष्णवों के दैनन्दिन आचार पञ्चकाल-प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाते हैं। चाहे वह वैष्णव स्वार्थं या परार्थाधिकृत हो।[1] अतएव, दीक्षा के क्रम में गुरु के द्वारा शिष्य के लिए पञ्चकाल-विधि के उपदेश का निश्चित विधान किया गया है।[2] पञ्चकाल-विधि के ज्ञान से जन्तु जन्म-संसारबन्धन से विमुक्त हो जाता है।[3] इस अध्याय में हम पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित पञ्चकाल-प्रक्रिया के विवेचन का प्रयत्न करेंगे।

सामान्य रूप से विचार करने पर इस प्रकार के कालविभागश्रित आचारक्रम का निर्देश भारतीय साहित्य में अनेकत्र देखा जा सकता है। कालाश्रित के आचारविषयक इतिहास को स्थूल रूप से देखकर कहा जा सकता है कि यह कालाश्रित आचार-विभाग उतना ही प्राचीन है, जितना कि भारतीय आचार। वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार के कालविभागाश्रित आचार का निर्देश देखा जा सकता है। 'पञ्चमहायज्ञ' आदि आचार-विधि प्राचीन भारतीय साहित्य के विविध स्थलों में विधिवत् वर्णित हैं। ये पाँच यज्ञ हैं : १. ब्रह्मयज्ञ, २. पितृयज्ञ, ३. देवयज्ञ ४. भूतयज्ञ तथा ५. अतिथियज्ञ।[4] अथर्ववेद में अनेक स्थलों में अतिथि-सत्कार का उल्लेख देखते हैं।[5] बृहदारण्यकोपनिषद् में भी यह विषय प्रायः इसी तरह निर्दिष्ट है।[6] जैनमतावलम्बियों के आचार में भी कालविभाग देख सकते हैं।[7] इस तरह, कालविभागाश्रित आचार-प्रतिपादन-क्रम अत्यन्त प्राचीन विषय है।

वस्तुतः, काल एक ही है, फिर यह पञ्चकाल-कथन कहाँतक युक्तियुक्त है? कुछ स्थलों में ऐसा प्रश्न उठाकर उसका उत्तर देते हुए कहा गया है : एक ही वासरपरिमित काल का प्रातः से आरम्भ कर निशान्त तक पाँच विभाग करते हैं। ये पाँच विभाग दैनन्दिन कर्म-सम्पादन की सुकरता के लिए किये गये हैं।[8] ये पाँच काल पाञ्चरात्रागम-

---

१. जयाख्यसंहिता, २२.५६
२. श्रीप्रश्नसंहिता, १७.१
३. नारदीय संहिता, ३०.१
४. शतपथब्राह्मण, ११.५.६.२
५. अथर्ववेद, ९.६.१-१२; ९.६.१८—२८
६. बृहदारण्यकोपनिषद्, १.४.१६
७. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान'
८. (क) पौष्करसंहिता, ३८.२८३—२८४
(ख) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ९.१५७—१६०

ग्रन्थों में इस रूप में निर्दिष्ट हैं : १. अभिगमनकाल, २. उपादानकाल, ३. इज्याकाल, ४. स्वाध्यायकाल तथा ५. योगकाल।[१] यहाँ इन पाँच कालों के लक्षण आदि देखने का प्रयास किया जायगा।

अभिगमनकाल : जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट है, पञ्चकाल-प्रक्रिया में सर्वप्रथम अभिगमनकाल आता है। प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में शय्या पर निद्रात्याग के बाद से ही इस काल का प्रारम्भ होता है। नारदीय संहिता कहती है :

> आरम्य शयनात् प्रातः यावत् पूर्वावसानकम् ॥
> कर्म भागवतः कुर्यात् सदा नित्यमतन्द्रितः।
> एष कालाभिगमनः।[२]

यहाँ पूर्वावसान कर्म से तात्पर्य है अभिगमन-कालान्तर्गत निर्दिष्ट कर्मों के समाप्ति-पर्यन्त कर्म। विष्णुतिलकसंहिता ने अत्यन्त ही विस्तार के साथ इस काल के कर्मों का निर्देश तथा विवेचन किया है। नारदीय संहिता ने ऊपर लिखे रूप में अत्यन्त संक्षेप में अभिगमनकाल की केवल व्याप्ति का निर्देश किया है। यहाँ अभिगमन-कालान्तर्गत कर्मों का नाम या स्वरूप वर्णित नहीं है। विषय की स्पष्टता के लिए विष्णुतिलक-संहिता में वर्णित अभिगमनकालिक कर्मों का निर्देश प्रासंगिक होगा। ब्राह्ममुहूर्त्त में निद्रात्याग के बाद शय्या पर ही भागवत भगवत्-स्मरण करता है। पुनः मलमूत्र-विसर्जन हेतु तडाग या नदी के समीप जाकर दक्षिण कर्ण पर यज्ञोपवीत तथा शिर पर उत्तरीय बाँधता है। भूमि को तृण से आच्छादित कर मल तथा मूत्र का विसर्जन करता है। इस प्रसंग में प्रातःकाल उत्तराभिमुख बैठने का विधान है। तदनन्तर तत्तद् अङ्गों के शोधन का अवसर आता है। उसके लिए मिट्टी द्वारा हाथ तथा गुह्याङ्गों को शुद्ध करता है। कुछ पाञ्चरात्र ग्रन्थों ने इसके लिए संख्याविशेष का निर्देश किया है। कुछ अन्य ग्रन्थों ने

---

१. (क) जयाख्यसंहिता, २२.६८—८४
(ख) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ६.१५५—१५६
(ग) सनत्कुमारसंहिता, ऋषिरात्र०, १.३-१५
(घ) पाद्मसंहिता, च० पा०, १३.३-४
(ङ) विष्णुतिलकसंहिता, ३.४२-४३
(च) श्रीप्रश्नसंहिता, १७.२
(छ) नारदीय संहिता, ३०.२-४

२. (क) सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०, १.३-६
(ख) शृणुष्वावहितो ब्रह्मन् पञ्चकालविनिर्णयम्।
अथाभिगमनाख्यस्तु कालः प्रथम उच्यते ॥
अथोपादानसंज्ञस्तु द्वितीयः काल उच्यते।
इज्याकालस्तृतीयस्तु स्वाध्यायाख्योऽन्य उच्यते ॥
पञ्चमो योगकालस्तु पञ्च कालाः उदाहृताः ॥ —नारदीय संहिता, ३०.३-५

सामान्यतः मनःपूतत्व-लाभपर्यन्त मिट्टी द्वारा तत्तद् अङ्गों के शोधन का विधान किया है।[1] शौच के पश्चात् दन्तधावन का क्रम आता है। इसके पूर्व आचमन तथा स्वप्रोक्षण निर्दिष्ट है। दन्तधावन के लिए न्यग्रोध, प्लक्ष या निम्बादि की शाखा ग्राह्य बताई गई है। ब्राह्मणों के लिए दन्तधावन का परिमाण कनिष्ठांगुल से छह अंगुल, वैश्य के लिए दन्तधावन का परिमाण दस अंगुल तथा शूद्र के लिए दन्तधावन का मान आठ अंगुल विहित है। इस क्रम में विष्णुसंहिता ने मन्त्र का निर्देश अधोलिखित रूप में किया है :

आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजां पशून् वसूनि च।
ब्रह्मप्रज्ञां च मेधां च त्वन्नो देहि वनस्पते ॥[2]

अमावास्या तथा श्राद्ध के दिन दन्तधावन निषिद्ध है। दन्तधावन को दो भागों में विभक्त कर उससे जिह्वा का शोधन विहित है। तदनन्तर, बारह बार कुल्ली करने का विधान है।[3]

दन्तधावन के पश्चात् भागवत स्नान करता है। स्नान से पूर्व अङ्गन्यास तथा प्राणायाम द्वारा शरीर की शुद्धि आवश्यक होती है। शुद्ध शरीर से स्नान के लिए संकल्प किये जाने का विधान है। विष्णुतिलकसंहिता ने इस क्रम में संकल्प का लक्षण-निर्देश किया है। इसके अनुसार कर्मस्थल, वर्ष, ऋतु, मास, अयन, तिथि, वार, नक्षत्र, योग तथा करण का उच्चारणपूर्वक 'अमुक कर्म करता हूँ' इस प्रकार की गई उक्ति को संकल्प कहते हैं।[4] संकल्प कर लेने के बाद भगवत्स्मरण के साथ तीर्थराज का स्मरण कर नाभि-परिमित जल के अन्दर नारायण के स्मरण के साथ तीन बार निमज्जन करना होता है। पुण्यरूपा देवी का उसी स्थिति में मानसिक आराधन निर्दिष्ट है। स्नान के समय आराधक जल में निमज्जन कर तबतक जल के अन्दर ही मूलमन्त्र का जप करता है, जब-तक कि उसकी साँस सहन कर सकती है।[5] यद्यपि नारदीय संहिता ने अभिगमनकाल के अन्तर्गत स्नान के क्रम तथा विधि का निर्देश नहीं किया है, तथापि 'आराधन-विधान' नाम के द्वितीय अध्याय में वैष्णवों के लिए विहित स्नानक्रम का निर्देश स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है। उस क्रम में विहित स्नान का स्वरूप प्रायः इसी प्रकार का है। स्नान के लिए सर्वोत्तम स्थान सरोवर कहा गया है। अतएव, विविध स्नानों में अवगाहन-स्नान

---

१. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ३.४५-५५
   (ख) श्रीप्रश्नसंहिता, १७.४-१४
   (ग) पाद्मसंहिता, च० पाद०, १३.४-१६
२. विष्णुतिलकसंहिता, ३.५८
३. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ३.५६-५९
   (ख) पाद्मसंहिता, च० पाद०, १३.१६-२०
४. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ३.६८-६९
   (ख) पारमेश्वरसंहिता, २.४०-५७
५. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ३.७०-७६
   (ख) पाद्मसंहिता, चर्यापा०, १३.२५

को सर्वापेक्षया उत्कृष्ट स्नान समझा जाता है। अवगाहन-स्नान के योग्य स्थान के अभाव में वापी तथा कूपादि पर भी स्नान अनुमत है। आराधक के सामर्थ्य के अनुसार उष्णोदक भी स्नान के लिए ग्राह्य है। स्नान के अनन्तर देवादितर्पण भी स्नान का आवश्यक अंग होता है। अतः, साधक स्नान के पश्चात् तत्काल ही देवादितर्पण भी सम्पादित करता है।[1] पाञ्चरात्रागम के अनुसार, स्नान के जो भेद कहे गये हैं, वे अधोलिखित हैं :

१. **कण्ठस्नान** : शिखा-विमज्जन के विना किये जानेवाले स्नान को कण्ठस्नान कहते हैं।

२. **कापिलस्नान** : नाभि, जङ्घा, ऊरु तथा गुह्याङ्गों के प्रक्षालन को कापिल-स्नान कहते हैं।

३. **आमयस्नान** : गीले वस्त्र से शरीर के सम्मार्जन को आमयस्नान कहते हैं।

४. **मन्त्र-स्नान** : तार, व्याहृति, गायत्री तथा 'आपोहिष्ठा' इन मन्त्रों से प्रोक्षण-विधान को मन्त्रस्नान कहा गया है।[2]

विश्वामित्रसंहिता ने सात प्रकार के अधोनिर्दिष्ट स्नानों का निर्देश किया है :

१. **वायव्यस्नान** : चलती हुई गायों के पैरों से उड़ी हुई धूलि को शिरसा धारण करने को वायव्यस्नान कहते हैं।

२. **पार्थिवस्नान** : प्रशस्त वैष्णव-क्षेत्र में स्थित श्वेत मिट्टी द्वारा केशवादि मूतिमन्त्रों के नामोच्चारपूर्वक ललाटादि तत्तद् गात्रों में ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण को पार्थिव-स्नान कहते हैं।

३. **दिव्यस्नान** : मेघरहित आतपयुक्त आकाश से हो रही वर्षा में किया जानेवाला स्नान दिव्यस्नान कहा जाता है।

४. **वारुणस्नान** : नदी, तडाग आदि स्थानों में साङ्ग जलाप्लावन-स्नान को वारुण-स्नान कहा गया है।

५. **आग्नेयस्नान** : समिध तथा गोमयादि द्वारा हवन सम्पन्न होने के बाद हवन-कुण्ड के भस्म का अभिमन्त्रण करते हैं और उस भस्म से ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण को आग्नेयस्नान कहते हैं।

६. **मानसस्नान** : पादप्रक्षालन के बाद आचमन कर प्रक्षालित पवित्र वस्त्र धारण कर शुद्धासन पर आसीन हो अच्छी तरह प्राणायामपूर्वक हृत्पुण्डरीक में हरि के स्मरण करने को मानसस्नान कहते हैं।

---

१. (क) पाद्मसंहिता, च० पा०, १३.२०—२२
(ख) नारदीय संहिता, २.४—२४
(ग) विष्णुतिलकसंहिता, ३.८२—८५
२. वही, ३.८०—८२

७. मान्त्रस्नान : यहाँ के मान्त्रस्नान का स्वरूप भी विष्णुतिलकसंहिता में वर्णित मन्त्रस्नान की तरह ही है। यहाँ केवल 'आपोहिष्ठा' मन्त्र के उच्चारण के साथ प्रोक्षण कहा है, जबकि विष्णुतिलकसंहिता ने तार, व्याहृति तथा गायत्री को इसकी अपेक्षा अधिक कहा है।[1] इस तरह सब मिलाकर पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय के अनुसार प्रायः दस स्नान विहित हैं।

स्नान के बाद वैष्णवों के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण का अवसर आता है। पञ्चकाल-प्रक्रिया के अनुसार यह ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण भी अभिगमनकाल का एक अंग है। इसके अन्तर्गत ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण के निमित्त जलग्रहण और चन्दन मलने की समन्त्रक विधि का निर्देश है। दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली से वैष्णव अपने विविध अङ्गों में चन्दन लगाता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र जिन अङ्गों में लगाना विहित है, वे हैं : ललाट, उदर, वक्ष, कण्ठ के मध्य, दोनों पार्श्वभाग, दक्षिण भुजा, सव्येतर कण्ठ, उदर का बायाँ भाग, वाम भुजा, पृष्ठप्रदेश तथा कण्ठ के पीछे का भाग। कहा गया है कि मुक्ति की अभिलाषा रखनेवाले को अवश्य ही ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण करना चाहिए। पुण्ड्र के मध्य हरिद्राचूर्ण की रेखा भी अवश्य ही लगाई जानी चाहिए। यहाँ दूसरा पक्ष यह है कि यदि उपर्युक्त विहित अङ्गों में ऊर्ध्वपुण्ड्र नहीं किया जा सके, तब ललाट, उभय भुजा तथा वक्षःस्थल, इन चार अङ्गों में ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाना आवश्यक माना गया है। तृतीय पक्ष में केवल ललाटप्रदेश में ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण विहित है। तत्तद् अङ्गों में ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण के अवसर पर केशवादि नामों का न्यास आवश्यक कहा गया है। ऊर्ध्वपुण्ड्र की बारह रेखाओं में क्रमशः श्री, सुधोद्भवा, विमला, चन्द्रवसु, विष्णुपत्नी, वैष्णवी, हरिप्रिया, शार्ङ्गिणी, देवदेवी, लक्ष्मी, निर्झरी तथा सुन्दरी के मन्त्रों का न्यास निर्दिष्ट है।[2] ऊर्ध्वपुण्ड्र के उपादान-द्रव्य के विषय में तत्तत्कामनानुसार उसके वर्ण का विधान किया गया है। उपादान-द्रव्य के रूप में चन्दन या सुगन्धित द्रव्य अथवा पर्वताग्र या नदी अथवा सिन्धुतीर की मृत्तिका का ग्रहण निर्दिष्ट है। कामनानुरूप उनका वर्ण इस प्रकार होगा : वश्यार्थी रक्तवर्ण; धनार्थी पीतवर्ण; शान्तिकामी श्यामवर्ण; और मोक्षार्थी श्वेतवर्ण का ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। ऊर्ध्वपुण्ड्र के अनेक रूप वर्णित हैं। जैसे : १. वर्त्तिदीपाकृति; २. वेणुपत्राकृति; ३. पद्ममुकुलाकार; ४. उत्पलमुकुलाकार; ५. मत्स्याकार, ६. कूर्माकार तथा ७. शंखाकार। कामनानुसार तत्तद् अंगुलों से ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण का विधान है। जैसे : तर्जनी से मुक्तिसिद्धि के लिए, अनामिका से वाञ्छितार्थसिद्धि के लिए, और आयुष्यकामना से मध्यला अंगुलि से ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण का विधाव किया गया है। ऊर्ध्वपुण्ड्र का नख से स्पर्श नहीं होना चाहिए। ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण के क्रम में तत्तदङ्गों में तत्तद्देवताओं का न्यास यथानिर्दिष्ट रूप में कहा गया है : ललाट—वासुदेव, हृदय—सङ्कर्षण; दक्षिण स्कन्ध—प्रद्युम्न, वाम स्कन्ध—अनिरुद्ध; ललाट—केशव; उदर—नारायण,

---

१. विश्वामित्रसंहिता, १०.४—१५
पारमेश्वरसंहिता में भी द्रष्टव्य २.१२५—१३६

२. विष्णुतिलकसंहिता, ३.९२—९७

हृदय—माधव, कण्ठकूपक—गोविन्द; उदरदक्षिणपार्श्व—विष्णु; उदरदक्षिणपार्श्वबाहुमध्य—मधुसूदन; कण्ठकूप—त्रिविक्रम; वामकुक्षि—वामन; वामबाहु—श्रीधर; कण्ठ—हृषीकेश।[1]

ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारण के पश्चात् विष्णुतिलकसंहिता के अनुसार सन्ध्योपासन का अवसर आता है। सन्ध्योपासन पवित्री-युक्त हाथ से किया जाना चाहिए। पवित्री अनामिका अंगुली में धारण की जाती है। पवित्री कुशनिर्मित होती है। विविध कर्मों में पवित्री के दर्भ की संख्या निम्नलिखित रूप में पृथक्-पृथक् कही गई हैं :

प्रेतकर्मक पवित्रदर्भ-संख्या १

नित्यकर्मक पवित्रदर्भ-संख्या २

पितृकर्मक पवित्रदर्भ-संख्या ३

अभिचारकर्मक पवित्रदर्भ-संख्या ४

पौष्टिककर्मक पवित्रदर्भ-संख्या ५

शान्तिकर्मक पवित्रदर्भ-संख्या ६

इनमें कर्मों के अनुरूप विहित पवित्री धारण कर सन्ध्योपासन-सम्पादन का विधान है।[2] कालानुरूप सन्ध्या चार कही गई है : १. प्रातःसन्ध्या, २. सायंसन्ध्या, ३. मध्याह्न-सन्ध्या तथा ४. रात्रिसन्ध्या। सन्ध्योपासनक्रम में प्रोक्षणादि के अवसर पर कुछ आगमिक मन्त्रों का प्रयोग भी विहित है। पर, उसके विकल्प के रूप में आराधक के स्वगृह्योक्त मन्त्रों के स्वीकार का भी निर्देश है। सायं तथा प्रातःसन्ध्याओं के लिए तीन-तीन तथा दिन एवं रात्रिसन्ध्याओं के लिए एक-एक सूर्य-अर्घ्यदान का विधान किया गया है। विविध सन्ध्याकाल के अतिक्रमण हो जाने पर यदि सन्ध्यावन्दन का आचरण होता है, तो उस स्थिति में प्रायश्चित्त के रूप में सूर्य के लिए एक अर्घ्य अधिक देना होता है। सन्ध्योपासन यदि नहीं किया जा सके, तो उस अवस्था में उपवास आदि प्रायश्चित्त का विधान है। सन्ध्योपासन के क्रम में, जलांजलि-प्रक्षेप के अवसर में स्थल पर बैठा हुआ साधक जल में जलांजलि-प्रक्षेप कर सकता है, पर जल में स्थित उपासक स्थल पर जलांजलि-प्रक्षेप नहीं कर सकता। जल में रहते हुए जल में प्रक्षेप विहित है।[3]

गायत्री का आवाहन तथा उसका जप सन्ध्या का सर्वथा अविभाज्य अंग कहा गया है। गायत्री-जप की संख्या एक हजार आठ, एक सौ आठ अथवा सौकर्यानुसार अट्ठाईस होना भी निर्दिष्ट है। इस प्रसंग में गायत्री का ध्यान तथा उपस्थान भी आवश्यक होता है। वैष्णवों के लिए सन्ध्योपासन के बाद ब्रह्मयज्ञान्त सभी कर्मों का विधान किया गया है। परन्तु, इसके अङ्गभूत तत्तत्कर्मों का विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। इस बीच साधक गेहस्थ गौ आदि पशुओं की देखरेख करता है। तदनन्तर, देवताराधनार्थ तत्तद्वस्तुओं का संकलन करता है। संकलन की वस्तु आदि विषय का विस्तार से विवेचन

---

१. पारमेश्वरसंहिता, ३.९—१९

२. विष्णुतिलकसंहिता, ३.९८—१०५

३. वही, ३.१०८—१२०

'उपादानकाल' के अन्तर्गत किया जायगा। सामान्य रूप से अभिगमनकाल के वर्णन को देखतें हुए यही कहा जा सकता है कि प्रातः शय्यात्याग के बाद भगवदाराधनार्थ आवश्यक पदार्थों के संग्रह से पूर्व आराधक द्वारा किये जानेवाले कर्म के लिए निर्धारित काल को अभिगमनकाल कहा गया है।[1]

पाञ्चरात्रागम के अनेक संहिताग्रन्थों ने पञ्चकाल-प्रक्रिया के वर्णन-क्रम में अभिगमनकाल का निर्देशपूर्वक वर्णन किया है। प्रायः अधिक स्थलों में इस विषय का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप से न होकर अत्यन्त संक्षिप्त रूप में ही किया गया है। सामान्यतः, इन सभी संहिताओं के अनुसार, ब्राह्ममुहूर्त्त से आरम्भ कर वासर के पूर्वांश का काल, जिसमें आराधक देहशोधनादि, जप, ध्यान तथा अर्चन-स्तोत्रों से कर्म-वाक्-चित्त-संयुक्त होकर, आदित्य-दर्शन कर जगदाधार के समीप जाता है, उस कालविशेष को अभिगमनकाल कहते हैं।[2] लक्ष्मीतन्त्र में भी अभिगमनकाल का निर्देश इसी प्रकार संक्षिप्त रूप में किया गया है। यहाँ तीन सन्ध्याओं का विधान है, जिन्हें लक्ष्मीमयी कहा गया है। इन तीनों को क्रमशः सूर्य, सोम तथा अग्निरूप कहा गया है।[3]

उपादानकाल : पञ्चकाल-प्रक्रिया का अन्यतम तथा दूसरा काल उपादानकाल कहा गया है। इसका निर्वचन-सम्मत अर्थ करते हुए कहा जा सकता है कि 'उप समीपं आदीयते इति उपादानम्'। उपादान के निमित्त विहित जो काल है, उसे उपादानकाल कहा जाता हैं। अर्थात्, उपादानकाल से वैष्णवों का वह काल विवक्षित है, जिस काल में वह भगवदाराधनार्थ आवश्यक उपकरणों का संग्रह करता है। नारदीय संहिता कहती है :

... ... उपादानाख्य उच्यते ॥५॥
यदाऽसौ देवपूजार्थं सम्भाराण्याहरिष्यति।
तदुपादानकालस्तु ॥६॥[4]

इस काल के अन्दर आराधक वैष्णव भगवदाराधन के लिए पुष्प, फल, धूप आदि से प्रारम्भ कर भगवन्निवेदनार्थं तत्तदन्नादियों का संग्रह करता है। यद्यपि पञ्चकाल-प्रक्रिया के वर्णन-क्रम में उपादानकाल के अन्तर्गत इन विषयों का विस्तृत वर्णन अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता, तथापि नारदीय संहिता ने बारहवें तथा इक्कीसवें अध्यायों में

---

१. विष्णुतिलकसंहिता, ३.१२१—१३२
२. (क) जयाख्यसंहिता, पटल, २२.६८-६९
   (ख) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ८.६१-६२
   (ग) पौष्करसंहिता, ३८.२८५-२८६
   (घ) नारदीय संहिता, ३०
३. लक्ष्मीतन्त्र, २८.२०—२४
४. (क) नारदीय संहिता, ३०.५-६
   (ख) सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०, १.७-८

पृथक् रूप से हविष् तथा पुष्पफलादि का विस्तृत वर्णनपूर्वक निर्देश किया है। नारदीय संहिता की अनुबन्ध-संख्या ३ के अन्तर्गत 'अर्पणार्हपुष्पाणि' शीर्षक के नीचे ५१ पुष्पों का नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया गया है।[१] इसी क्रम में 'अर्पणार्हफलानि' शीर्षक के अन्तर्गत तीस फलों का भी नामोल्लेखपूर्वक निर्देश किया गया है।[२] इस काल के अन्तर्गत संग्रह-योग्य वस्तुओं की गणना पाद्मसंहिता ने अधोलिखित रूप से की है :

उपादद्यात्ततः पूजासाधनानि यथायथम् ।
पुष्पाणि फलमूलानि विविधान्योषधीरपि ॥
दध्यादि च हविर्योग्यं तण्डुलानि गुडानि च ।
स्नानीयानि च वस्त्राणि स्वादूनि सलिलानि च ॥
दर्भान् पर्णानि समिधो यथाशक्ति यथावसु ।
आहृत्य याज्ञिकार्थैः वा पूजास्थाने निवेशयेत् ॥
नित्योपादानसमयमित्थम् ।[३]

पाञ्चरात्र-आगम की कुछ अन्य संहिताओं ने भी नारदीय संहिता की तरह ही अत्यन्त संक्षेप में इस काल का निर्देश किया है।[४] यह उपादानकाल आर्थिक दृष्टि से अशक्त आराधक के लिए प्रायः विशिष्ट रूप से विहित है; क्योंकि लक्ष्मीतन्त्र ने वित्तवानों के लिए इस काल में विविधोपादानों का निषेध किया है। जो सहायक की सहायता से तत्तद्वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है, उसे स्वयं इस काल में तत्तद्वस्तुसंग्रह के लिए यत्र-तत्र गमन की आवश्यकता नहीं है। उसका कहना है :

सति वित्ते न कुर्वीतोपादानं तु विचक्षणः ।[५]

विष्णुतिलकसंहिता ने उपादानकाल का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। इस काल में संग्राह्य एक-एक वस्तु का विवरण देते हुए सबका निम्नलिखित रूप से निर्देश किया है :

१. पुष्पसंग्रहण : यहाँ भगवदाराधन के अवसर पर ग्राह्य तथा अग्राह्य पुष्पों के नाम परिगणित हैं। यहाँ प्रायः वे ही ग्राह्य पुष्प सामान्यतः निर्दिष्ट हैं, जो नारदीय संहिता में हैं।

---

१. (क) नारदीय संहिता, अनु० ३, पृ० ५३०
(ख) नारदीय संहिता, अनु० २१, पृ० ३—११
२. (क) नारदीय संहिता, अनु० ३, पृ० ५३१
(ख) नारदीय संहिता, अनु० २१, पृ० १२—१६
३. पाद्मसंहिता, च०, १३.३१—३४
४. (क) पौष्करसंहिता, ३८.२८७
(ख) जयाख्यसंहिता, पट० २२,६९-७०
(ग) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का० ९.६३
५. लक्ष्मीतन्त्र, २८.२४

२. दर्भसंग्रहण : दर्भ स्त्री तथा पुमान् दो प्रकार के होते हैं। प्रतिष्ठा, उत्सवक्रम तथा काम्य कर्मों में स्त्री-दर्भ एवं नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों में पुमान्-दर्भ फलदायक होता है। आभिचारिक तथा पितृकर्मों में काश का उपयोग विहित है। अग्रसहित, मनोरम दर्भ स्वीकार्य होता है, अग्रहीन दर्भ सर्वथा त्याज्य होता है। उसका उपयोग किसी भी कर्म में नहीं होता।

३. समित्संग्रहण : समित् के अन्तर्गत (१) अश्वत्थ, (२) वट, (३) पलाश, (४) प्लक्ष, (५) उदुम्बर, (६) शमी, (७) अपामार्ग, (८) खदिर तथा (९) कुश, इन नौ का निर्देश है। इनका प्रमाण ताल-आयाम तथा कनिष्ठा के नाह के समान होना आवश्यक है। समिध सर्वथा निर्दुष्ट होने चाहिए, अन्यथा विविध बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं।

४. पात्रसंग्रहण : भगवदर्चन के अवसर पर प्रयुक्त पात्रों का संस्कार आवश्यक होता है। इस क्रम में विविध द्रव्यों से कल्पित विविध पात्रों के संस्कार के लिए विभिन्न वस्तुओं का निर्देश अधोलिखित रूप से किया गया है :

(क) सुवर्णपात्र—निशाचूर्ण द्वारा
(ख) रजतपात्र—भस्म तथा चूर्ण द्वारा
(ग) ताम्रपात्र—तिन्तिडी के रस से
(घ) कांस्यपात्र—भस्म द्वारा
(ङ) रीतिपात्र—मिट्टी द्वारा
(च) मृत्पात्र—मिट्टी द्वारा

इन पात्रों का समन्त्रक संस्कार किया जाना विहित है। इन संस्कृत पात्रों को गोमय से उपलिप्त पवित्र प्रदेश में रखा जाना निर्दिष्ट है।[1] पात्रसंग्रहण के पश्चात् चन्दन तथा गव्यादि अर्चनोपादान-द्रव्यों के संग्रह का निर्देश देखते हैं। इसी प्रसंग में विष्णुतिलक-संहिता ने विविध शाकादि के नामों का परिगणनपूर्वक निर्देश किया है।[2]

५. धान्यसंग्रह : शुद्धपात्र लेकर वीथि-संचरण करते हुए धान्यसंग्रहण करना कहा गया है। किसी के समक्ष केवल एक बार याचना करने का विधान है। अनेक बार याचना निषिद्ध है। वैष्णव आराधक को उपलब्ध धान्य से ही सन्तुष्ट होना चाहिए। विष्णुतिलकसंहिता ने तथा नारदीय संहिता ने भी संग्राह्य धान्य का निर्देश किया है।[3] अन्नों के संस्कार के पश्चात् ही उसका उपयोग विहित है। कहा गया है कि असंस्कृत अन्न के उपयोग से विविध बाधाएँ उपस्थित होती हैं।[4] इस प्रसंग में

---

१. विष्णुतिलकसंहिता, ३.१३३—१६०
२. वही, ३.१६१—१६८
३. (क) नारदीय संहिता, १२.२—१०
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ३.७०—७४
४. नारदीय संहिता, १२.११—१४

भगवत्समर्पणार्थ बहुविध भक्ष्य पदार्थों के कल्पन का विधिवत् निर्देश देखते हैं। इसका वर्णन नारदीय संहिता तथा विष्णुतिलकसंहिता, उभयत्र दृष्टिगोचर होता है। नारदीय संहिता ने गौल्यान्न, कृसरान्न, हरिद्रान्न, यवान्न तथा मिश्रान्न बनाने की विधि का निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है।[1] इस प्रकार, यही पञ्चकाल-प्रक्रिया के दूसरे काल उपादानकाल का स्वरूप पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है।

इज्याकाल : पञ्चकाल-प्रक्रिया का तृतीय काल इज्याकाल कहा गया है। उपादानकाल में वर्णित संग्राह्य उपादानों के संग्रह के पश्चात् आराधक भगवदर्चा या भगवदाराधन में प्रवृत्त होता है। वैष्णवों के इसी भगवदाराधन-काल को इज्याकाल कहा गया है। नारदीय संहिता तथा सनत्कुमारसंहिता के अनुसार, '**यजेद्यदासौ देवेशम् इज्याकालः स उच्यते।**'[2] 'इज्या' शब्द का अर्थ है 'याग'। वैष्णवयाग से प्रायः भगवदर्चन अथवा आराधन का अर्थ अभिप्रेत है। इज्याकाल का लक्षण प्रायः सब जगह वैसा ही कहा गया है, जैसा कि हमने ऊपर देखा है। फिर भी, पाद्मसंहिता तथा विष्णुतिलकसंहिता ने विस्तारपूर्वक इज्याकाल का वर्णन किया है। इन दोनों संहिताओं में इज्याकाल के वर्णन के अन्तर्गत, भूतशुद्धि, मानसयाग तथा अनेकविध न्यास आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। पाद्मसंहिता के अनुसार, इज्या के अन्तर्गत आनेवाले विषय निम्नलिखित हैं :

१. मध्याह्नस्नान, २. अङ्गन्यास, ३. देवयजन एवं स्तुति तथा ४. पञ्चमहायज्ञादि। यहाँ भगवत्स्तुति अत्यन्त विस्तृत रूप से निर्दिष्ट है।[3] विष्णुतिलकसंहिता ने इज्या के अन्तर्गत मध्याह्नस्नान से आरम्भ कर पूर्ववत् आलय-प्रवेश तथा अर्चन आदि विषय का वर्णन किया है। इस क्रम में १. भूतशुद्धि, २. मानसयाग, ३. मन्त्रशुद्धि, ४. बाह्याराधन, ५. योगपीठ-अर्चन, ६. बिम्बगत भगवदाराधन तथा ७. योगपीठगत परिवारार्चन आदि विषयों का विस्तृत-विवेचन किया गया है। इसी क्रम में इज्या-अनुयाग का भी विस्तृत विवरण द्रष्टव्य है।[4] कुछ पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने संक्षेप में, परन्तु अत्यन्त स्पष्ट रूप से इज्याकाल का निरूपण किया है। पौष्कर तथा पारमेश्वरसंहिताओं के अनुसार, '**गते दिनाष्टमे भागे स्नानपूर्वं समाचरेत्। प्राग्वदाराधनं मन्त्रं तृतीयप्रहरावधि॥**' दिन के अष्टम भाग, अर्थात् प्रथम प्रहर के व्यतीत होने के बाद स्नान कर दिन की तृतीयप्रहरावधि में मन्त्रादिपूर्वक भगवदाराधन

---

१. (क) नारदीय संहिता, १२.३१—३९
   (ख) विष्णुतिलकसंहिता, ३
२. (क) नारदीय संहिता,
   (ख) सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०, १.९
३. पाद्मसंहिता, च० पाद०, १३.३४—६७
४. विष्णुतिलकसंहिता, ३.२३१—४७०

इज्याकालान्तर्गत आता है।[1] जयाख्यसंहिता ने अष्टांग याग द्वारा सार्धप्रहरावधिक भगवदाराधन को इज्याकाल कहा है।[2]

श्रीप्रश्नसंहिता इज्याकाल के वर्णन-क्रम में स्वार्थयाजी तथा परार्थयाजी, दो तरह के वैष्णवों का निर्देश किया है। इस दोनों ही वैष्णवों के लिए यह इज्याकाल समान रूप से निर्दिष्ट है। जहाँतक इज्याकाल के अन्तर्गत आनेवाले कर्मों का प्रश्न है, वे पूर्वोक्त कर्म ही यहाँ भी इज्याकालान्तर्गत आते हैं। परार्थ-यजन करनेवाले वैष्णव स्नान-सम्पादनपरक इज्या-कर्म, (अर्थात् सन्ध्योपासनादि कर्म) स्वसूत्रोक्त विधान से सम्पन्न कर भगवदालय में प्रवेश करते हैं, और वासुदेवार्चन-पूर्वक उत्सवान्त भगवदाराधन करते हैं। स्वार्थयजन करनेवाले वैष्णव (स्वगृहाराधक वैष्णव) के लिए भी पाञ्चरात्रक्रम से भगवान् की आराधना विहित है।[3]

लक्ष्मीतन्त्र ने भी निम्नलिखित रूप से इस विषय का निर्देश किया है :

स्नानं कृत्वा विधानेन त्रिविधं शास्त्रचोदितम्।
भूतशुद्धिं विधायाथ यागमान्तरमाचरेत्॥
स्वयमुत्पादितैः स्फीतैः लब्धैः शिष्यादितः तथा।
भोगैर्यजेत् मां विष्णुमुभौ वा शास्त्रपूर्वकम्॥
अष्टाङ्गेन विधानेन ह्यनुयागावसानकैः।[4]

इस प्रकार, इज्याकाल का वर्णन प्रायः सभी पाञ्चरात्र-संहिताओं में समान ही हैं। कुछ में उनका केवल संक्षिप्त निर्देश है, तो किसी में तदन्तर्गत एक-एक कर्म का विस्तृत वर्णन। परन्तु, विषयवस्तु के आधार पर इन सबमें कोई भी तात्त्विक भेद नहीं है। नारदीय संहिता ने देहशुद्धि आदि विषयों का विस्तृत विवेचन आराधनाध्याय में[5] किया है, पर विष्णुतिलक ने इज्या-वर्णन के प्रसंग में ही। इन विषयों का अध्ययन वैष्णवाचार-प्रसंग में देख सकते हैं। विषय की उपयुक्तता के आधार पर यह क्रम-निर्धारण उचित प्रतीत होता है। प्रायः इसी कारण अधिक संहिताओं ने इस विषय के विवेचन में अत्यन्त संक्षेप से ही अपना प्रतिपाद्य उपस्थापित किया है।

स्वाध्यायकाल : वैष्णवों के पञ्चकालान्तर्गत चतुर्थ काल स्वाध्यायकाल कहा गया है। भगवदाराधन तथा भोजनादि से निवृत्त होने के बाद वैष्णवों के लिए अध्ययन अथवा अध्यापन एक अनिवार्य कर्त्तव्य कहा गया है। इसके लिए निर्दिष्ट काल को

---

१. (क) पौष्करसंहिता, ३८.२८७-८८
(ख) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ९.६३-६४
२. जयाख्यसंहिता, पटल, २२ ७१
३. श्रीप्रश्नसंहिता, १७.४६-४८
४. लक्ष्मीतन्त्र, २८.२६—२८
५. नारदीय संहिता, २.३३—६२

स्वाध्यायकाल की संज्ञा दी गई है। नारदीय संहिता ने अन्यान्य कालों की तरह ही इस काल का वर्णन भी अत्यन्त संक्षेप में केवल एक श्लोक में इस प्रकार किया है :

अध्यापनं वाऽध्ययनं जपं भागवता यदा।
कुर्यात् स्वाध्यायकालोऽसौ कीर्तितो मुनिपुङ्गव ॥[1]

सनत्कुमारसंहिता ने भी इसी से मिलता-जुलता स्वाध्याय का लक्षण दिया है। इसके लिए दिन का चतुर्थ प्रहर ग्राह्य है। इस समय वैष्णव श्रवणयुक्त चिन्तन तथा अपनी इच्छा के अनुसार शास्त्र या पुराणादि का प्रवचन कर सकता है।[2] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार सायंकाल में वेद, वेदार्थ, पुराण, धर्मशास्त्र, पाञ्चरात्रशास्त्र, वेदान्तशास्त्र, इतिहास, अन्य सूरियों की रचनाओं का अध्ययन या प्रवचन, हरिकथा का श्रवण या पठन इन सबमें से एक या अनेक करना वैष्णवों का कर्त्तव्य है। इन सबमें अशक्त व्यक्ति के लिए द्वय-अष्टाक्षरमन्त्र या द्वादशाक्षरमन्त्र अथवा षडक्षरमन्त्र का जप करना विहित है।[3]

'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' तथा 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'[4] के अनुसार वैष्णवों के दैनन्दिन स्वाध्याय को दैनन्दिन कर्मों का अत्याज्य अङ्ग बनाकर उन्हें आजीवन स्वाध्याय में संलग्न रहने का निर्देश दिया गया है। सर्वविदित है कि शास्त्राध्ययन तथा चिन्तन मानव के लिए आत्मविकास का आधार तथा उत्तरोत्तर ज्ञान का प्रतिपादक तथा संवर्धक है।

प्रतीत होता है, श्रीप्रश्नसंहिता के 'स्वाध्यायं ब्रह्मयज्ञाय पठेदुच्चैस्तु सुस्वरम्'[5] कथन को ध्यान में रखते हुए ऐसा निर्देश किया गया है। पाञ्चरात्रिक पञ्चकाल में अन्यतम स्वाध्यायकाल स्मृत्यादि[6] ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्रह्मयज्ञ के समान है। जहाँतक शास्त्रों का सम्बन्ध है, उस क्रम में लक्ष्मीतन्त्र का कहना है कि श्रीमन्नारायण ही वस्तुतः तत्तद्रूपों में तत्तच्छास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित हैं। सभी शास्त्र भूतों के कल्याणार्थ तथा

---

१. (क) नारदीय संहिता, ३०.७-८
(ख) स्वाध्याये तु तथा काले चिन्तयेद्वैष्णवान् मनून्।
इतिहासपुराणानि पठेदर्थाववोधतः ॥
स्वाध्यायकाल इत्युक्तः ... ...।
—सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०, १.१२-१३

२. (क) पौष्करसंहिता, ३८.२८८-२८९
(ख) पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ९.६४-६५
(ग) जयाख्यसंहिता, २२.७२-७३

३. श्रीप्रश्नसंहिता, १७.५४—५९

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, अनुवाक ११
V. Ramaswami and Sons, मद्रास, सन् १९५२ ई०

५. श्रीप्रश्नसंहिता, १७—५४

६. मनुस्मृति, ३.७०, चौखम्बा, संस्कृत-सीरिज, बनारस, संस्करण, सन्१९५१ ई०

श्रेयस् के सम्पादनार्थं ही प्रवर्त्तित हैं। अतः, आचारवान् आराधक या साधक के लिए किसी भी शास्त्र के प्रति अवज्ञा का भाव प्रदर्शन सर्वथा वर्जित है। श्रेयस् अल्प हो या अधिक, पर वह सभी शास्त्रों के माध्यम से सुलभ है, अतः किसी शास्त्र के प्रति द्वेषबुद्धि नहीं होनी चाहिए। जिस शास्त्र से जितना अपेक्षित हो, उतना स्वीकार करना चाहिए।[1] पाद्मसंहिता ने स्वाध्याय के लिए यथानिर्दिष्ट स्थलों का निर्देश किया है : १. हरि का मन्दिर, २. नदी का तीर, ३. मठभूमि, ४. विविक्त विपिनक्षेत्र, ५. पर्वत, अथवा ६. गृह।[2]

उपर्युक्त स्वाध्याय-काल के विषयों के पर्यालोचन से वैष्णवाचार के अन्तर्गत आनेवाले ज्ञानसंवर्धन तथा आत्मविकास के मूलस्रोत स्वाध्याय के प्रति विशिष्ट श्रद्धात्मक आसक्ति तथा परशास्त्र एवं परमत-प्रतिपादक साहित्य के प्रति समादर तथा सम्मान की भावना का प्रदर्शन आदि महत्त्वपूर्ण विषय कहे जा सकते हैं।

योगकाल : वैष्णवों की पञ्चकाल-प्रक्रिया के अन्तर्गत अन्तिम तथा पाँचवाँ काल योगकाल है। नारदीय संहिता ने इसके पूर्वोक्त चार कालों के वर्णन की अपेक्षा इस काल का वर्णन विशद रूप से किया है। जहाँतक इस काल के लक्षण का प्रश्न है, उसका निर्देश करते हुए कहा गया है :

यदा भागवतश्रेष्ठो योगं योगी च योगवित्।
स योगकालो विज्ञेयः ... ... ॥[3]

इस तरह, अति संक्षेप रूप में काल का स्वरूप-निर्देश होने पर भी, योग के विविध अङ्गों का वर्णन कुछ विस्तार से किया गया है, जिसका क्रमिक स्पष्ट रूप हम आगे देखेंगे।

जैसा कि हमने पहले देखा है, पाञ्चरात्रसंहिताओं में पाद्मसंहिता का अपना महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। इस संहिता में पाञ्चरात्रिक विषयों को उनकी प्रकृति के आधार पर चार भागों में विभक्त किया गया है। एक-एक भाग को पाद कहा गया है। दूसरा पाद योगपाद है। इस पाद में पांच अध्यायों में केवल पाञ्चरात्रिक योगविषय प्रतिपादित है। यहाँ योग को एक स्वतन्त्र प्रतिपाद्य विषय माना गया है। इस संहिता के अनुसार योगयुक्त को निःश्रेयस प्राप्त होता है।[4] वस्तुतः, यही योग का प्रयोजन है। श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि का नाश, नाना मार्गों से दुष्प्राप्य कैवल्य-पद की प्राप्ति एवं सर्वग, सर्वसाक्षी, निष्कल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत निरञ्जन-रूप परब्रह्म की उपलब्धि का साधक भी योग ही है।[5] पाद्मसंहिता ने भी प्रायः योग को

१. लक्ष्मीतन्त्र, २८.२८—३७
२. पाद्म च०, १३.६७-६८
३. नारदीय संहिता, ३०.८-९
४. पाद्म यो०, १.१
५. श्रीप्रश्नसंहिता, १३.३—५

इसी रूप में इन सबका साधक कहा है।[1] योगहीन ज्ञान से मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अतः, मोक्षकामियों के लिए योग का विशद एवं सम्यक् ज्ञान नितान्त आवश्यक है।[2] योग का सार निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट है :

मन्त्रे योगो लयश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।
निष्पत्तेश्चेत्यवस्थाश्च योगेषु परिकीर्त्तिताः॥

अर्थात्; योग की ये उपर्युक्त १. मन्त्रयोग, २. लययोग ३. परिचय तथा ४. निष्पत्ति ये चार अवस्थाएँ होती हैं। अल्पबुद्धि साधकाधम मातृकायुक्त मन्त्र का बारह वर्षों तक जप कर अणिमादि गुणों को प्राप्त करता है। लययोग कोटिशः कहे गये हैं।[3] यहाँ, जाते हुए, स्थिर रहते हुए, सोते हुए, प्रत्येक अवस्था में निष्कल ब्रह्म का ध्यान होना बताया गया है। इसके अतिरिक्त यम, नियम आदि भेदयुक्त हठयोग का निर्देश किया गया है।[4] विष्णुतिलकसंहिता तथा पाद्मसंहिता में योग का लक्षण समान रूप से निर्दिष्ट है। इनका कहना है कि 'व्याकुल मन का विषय में बन्ध को योग कहते हैं।'[5] वस्तुतः, यह लक्षण भी योगसूत्र में निर्दिष्ट योगलक्षण के समान ही कहा जा सकता है। वहाँ 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[6] कहकर इसी विषय को दूसरे शब्दों में कहा गया है, ऐसा कहना असंगत नहीं प्रतीत होता।

पाञ्चरात्रसंहिताओं ने योग-साधन के लिए रात्रि में कुछ निश्चितकाल का निर्धारणपूर्वक निर्देश किया है। 'समुत्थाय महानिशि' कहते हुए पाद्मसंहिता ने 'महानिशि' से मध्यरात्रिकाल इंगित किया है।[7] जयाख्य के अनुसार, विश्राम के अनन्तर निशा के अवसान में योगकाल का विधान किया है।[8] इसी प्रकार पारमेश्वरसंहिता का कहना है :

क्षपयित्वा निशांशं तु उत्थाय शयनात्ततः। योगं युञ्जीत...।

अर्थात्, रात्रि-अंश व्यतीत होने के पश्चात् निद्रा त्याग कर योगसाधना करनी चाहिए। साधना के बाद पुनः शय्या पर शयन का विधान भी यहाँ देखते हैं। अतः, सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ भी योग का काल मध्यरात्रि ही विवक्षित है।[9]

---

१. पाद्म०, यो०, ५.३०-३१
२. श्रीप्रश्नसंहिता, १३.७-८
३. श्रीप्रश्नसंहिता, १३.१३—१७
४. वही, १३.१७—७०
५. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.३-४
(ख) पाद्मसंहिता, क्रि०, १.३
६. योगसूत्र, १.२
७. पाद्म०, च०, १३.७५
८. जयाख्यसंहिता, २२.७३-७४
९. पारमेश्वरसंहिता, क्रि० का०, ९.६६—६९

श्रीप्रश्नसंहिता ने भी 'महानिशि' को ही योग का काल कहा है।[1] उपर्युक्त सारी संहिताओं के अनुसार, प्रायः मध्यरात्रिकाल को ही योगकाल माना गया है। इनके विपरीत लक्ष्मीतन्त्र ने जो योग के लिए काल का विधान किया है, वह थोड़ा विलक्षण-सा है। इसके अनुसार सायंकालिक सन्ध्योपासन के बाद भगवदर्चन सम्पन्न कर रात्रि के प्रथम याम में आराधक योगसाधन तथा जप करें। उसके बाद योगस्थ रूप में ही दो यामों तक शयन करें। यहाँ स्पष्ट ही योग के लिए पूर्वोक्त संहिता की तरह मध्यरात्रि का काल स्वीकृत नहीं है।

योगसाधना के स्थान का निर्देश करते हुए जनसंघात से रहित स्थान को स्वीकार करना कहा है। यह प्रदेश सुविविक्त, शुचि, निःशलाक तथा मनोरम होना आवश्यक है। आसन के लिए मृद, दारु, दर्भ अथवा कृष्णाजिनमय आसन का स्वीकार विहित है। इनमें किसी एक आसन पर आसीन होकर प्राणायामादि द्वारा योगक्रिया का सम्पादन किया जाता है।[2] लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार यमादिपरिशोधित आराधक को पद्म या स्वस्तिक चक्रासन लगाकर नाडीमार्गों के निपीडन द्वारा वायु को जीतकर जितेन्द्रिय धारणाओं में श्रम के साथ लक्ष्मी के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। लक्ष्मी का स्वरूप वराभयप्रद होता है, अथवा नारायण के अङ्क में स्थित सामरस्योपगत चिदानन्दमयी लक्ष्मी देवी का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यानक्रम में जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय ये तीनों एक हो जाते हैं, तब उसी स्थिति में योग की पूर्णता हो जाती है। इस प्रकार, योग से श्रान्त साधक जप तथा पुनः जप से श्रान्त होने पर योगाभ्यास करता है।[3] श्रीप्रश्नसंहिता के अनुसार, लक्ष्मी के ध्यान के स्थान पर वासुदेव के ध्यान का विधान किया गया है। यह संहिता कहती है : पादशुद्धादि सम्पादन कर आसन लगाये और योगपर्यङ्कासन पर आसीन होकर प्राणायाम द्वारा शंख-चक्र-गदाधृत पीताम्बरालङ्कृत श्वेतवर्ण वनमालाविभूषित हृदयस्थित वासुदेव में अपनी आत्मा को संलग्न करे। इसे ही योग कहते हैं। यहाँ स्पष्ट रूप से योगसाधना के बाद पुनःशयन का विधान है।[4]

योग दो हैं : १. कर्मयोग तथा २. ज्ञानयोग। कर्त्तव्य के सम्पादन-हेतु विहित चित्तबन्धन को कर्मयोग कहते हैं। श्रेयस् अर्थ में सतत चित्त के निबन्ध को ज्ञानयोग कहते हैं। जिस योग द्वारा मन का सतत भगवान् में नियोजन किया जाता है, उससे अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।[5]

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, १७.६२
२. (क) पाद्म, यो०, ३.२
   (ख) विष्णुतिलकसंहिता, ४.५७
   (ग) विष्णुतन्त्र, २८.३७
३. लक्ष्मीतन्त्र, २८.३७—४८
४. श्रीप्रश्नसंहिता, १७.६३—६७
५. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.४—७
   (ख) पाद्मसंहिता, क्रि० का०, १.४—६

योग के दो अङ्ग निर्दिष्ट हैं : १. यम तथा २. नियम।[१] योगसाधना की पूर्णता के लिए योग के इन दो अङ्गों का ज्ञान परमावश्यक है। इन योगाङ्गों की साधना के साथ ही योगसाधन पूर्ण हो सकता है। अतः, योगी के लिए यम तथा नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है। यम दस हैं :

आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दम आर्जवम्।
दानं प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश ॥

अर्थात् १. आनृशंस्य, २. क्षमा, ३. सत्य, ४. अहिंसा, ५. दम, ६. आर्जव, ७. दान, ८. प्रसाद, ९. माधुर्य तथा १०. मार्दव ये दस यम के अंगभूत भेद हैं।[२] विष्णुतिलकसंहिता ने भी यम के दस अंग बताये हैं, पर ये दस सर्वथा नारदीय संहिता के अनुकरण ही नहीं हैं। यहाँ निर्दिष्ट यम इस प्रकार हैं : १. ब्रह्मचर्य २. दया, ३. सत्य, ४. अहिंसा, ५. आर्जव, ६. क्षमा, ७. मिताहार, ८. धृति, ९. शौच तथा १० अक्रोध।[३] पाद्म में यम के प्रायः ये ही भेद निर्दिष्ट हैं। यहाँ अक्रोध की जगह अस्तेय का उल्लेख देखते हैं।[४] नियम भी दस हैं :

शौचमिज्या तपः सत्यं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च ध्यानं च नियमा दश ॥

अर्थात्, १. शौच, २. इज्या, ३. तप, ४. सत्य, ५. स्वाध्याय, ६. उपस्थनिग्रह, ७. व्रत, ८. उपवास, ९. मौन तथा १०. ध्यान ये दस नियम के अंग हैं।[५] विष्णुतिलक-संहिता ने नियम के अन्तर्गत १. वासुदेवार्चन, २. तुष्टि, ३. आस्तिक्य, ४. जप, ५. तप, ६. सिद्धान्तश्रवण, ७. दान आदि का समावेश किया गया है। पाद्म के अनुसार, इन सात के अतिरिक्त आराधन का अन्तर्भाव नियम के अन्दर है।[६] वस्तुतः, वासुदेवार्चन तथा आराधन में कोई बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। यह संक्षिप्त तथा सामान्य रूप में पाञ्चरात्र-आगम के अनुसार यम तथा नियम के भेद हैं।

योगवर्णन के क्रम में नारदीय संहिता ने सामान्य रूप से योग को अष्टाङ्गयोग कहा है।[७] और उसके अन्यतम भेद के रूप यम-नियमादि का निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। उपर्युक्त यम तथा नियम के भेद-परिगणन के अनन्तर जो अन्यान्य छह योगाङ्ग यहाँ निर्दिष्ट हैं, वे हैं : १. आसन, २. प्रणायान, ३. प्रत्याहार, ४. धारणा, ५. ध्यान तथा ६. समाधि।[८] पूर्वोक्त यम तथा नियम एवं ये परिगणित छह कुल मिलाकर योग के आठ अंग हैं।

---

१. विष्णुतिलकसंहिता, ४.७
२. नारदीय संहिता, ३०.१०-११
३. विष्णुतिलकसंहिता, ४.७-८
४. पाद्मयोग, १.८;
५. नारदीय संहिता, ३०.११-१२
६. पाद्मयोग, १.९-१०
७. योगोऽष्टाङ्गस्तु विज्ञेयः योगिभिर्भगवन्मयैः ॥—नारदीय संहिता, ३०.९
८. नारदीय संहिता, ३०.१०—२०

आसन : यम-नियम के सामान्य विवरणों के पश्चात् योग के तृतीय अंग आसन का लक्षण अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट देखते हैं :

प्रमाणयुक्तमचलं यथारुचि सुखप्रदम् ।
योगिनामासनं प्रोक्तं योगसंसिद्धिकारणम् ॥

योगियों का आसन प्रमाणयुक्त, अचल तथा रुचि के अनुसार और सुखप्रद होता है। यह आसन योगसंसिद्धि में हेतु कहा गया है।[1] आसन अनेक तरह के कहे गये हैं। योगाभ्यास के क्रम में निम्ननिर्दिष्ट आसन ग्राह्य माने गये हैं :

१. स्वस्तिक आसन, २. पद्मासन, ३. वीरासन, ४. सिंहासन, ५. मयूरासन, ६. गोशयनासन, ७. मुक्तासन, ८. यज्ञमुक्तासन तथा भद्रासन।[2] पाद्मसंहिता ने गोशयनासन के स्थान पर गोमुखासन का निर्देश किया है। यहाँ उपर्युक्त विभिन्न आसनों के लक्षण भी निर्दिष्ट हैं।[3] योग की पूर्णता में आसन का विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान कहा गया है।

प्राणायाम : आसन के बाद योग का चतुर्थ अङ्ग प्राणायाम आता है। प्रमाथिन्, दृढ तथा चञ्चल चित्त की समाधि-योग्यता के लिए प्राणायाम आवश्यक होता है।[4] पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों ने प्राणायाम-वर्णनक्रम में प्राणायाम के लिए आवश्यक तथा सहायक शरीरस्थ वायु तथा नाडियों का भी विस्तृत वर्णन किया है। प्रसंगवश कुछ अन्य विषय भी वर्णित हैं। जैसे : शरीरस्थवायुनिरोधादिविषय। प्राणायाम का शरीर के साथ सन्निकट का सम्बन्ध होने के कारण पाञ्चरात्रागम के कुछ ग्रन्थों ने शरीर के मानादि विषयों का प्रतिपादन इसी प्रसंग में किया है। यहाँ के वर्णन के अनुसार शरीरी के शरीर का आयाम उसके अपने अंगुल से ९६ अंगुल होता है। उसमें स्थित वायु का आयाम शरीर के आयाम से १२ अंगुल अधिक होता है।[5] सामान्य रूप से शरीर का वर्णन करते हुए द्विपद, चतुष्पद, अण्डज, स्वेदज आदि जन्तुओं के शरीर-मध्यभाग का पृथक्-पृथक् स्थान बताया गया है। उसी मध्यभाग में प्राणियों की नाभि होती है। नाभि में द्वादशार चक्र स्थित होता है। ये बारह अर बारह महीने कहे गये हैं। उन बारह अरों में विष्णवादि बारह मूर्त्तियाँ स्थित रहती हैं। उसमें विद्यमान वासुदेव अपनी माया से द्वादशार चक्र को चलाता है। अरों में जीव क्रमशः भ्रमण करता है। भ्रमणशील जीव प्राणयुक्त होता है, निष्प्राण नहीं।[6]

---

१. नारदीय संहिता, ३०.१०—२०
२. विष्णुतिलकसंहिता, ४.१०—२०
३. पाद्मसंहिता, यो० पा०, १.१०—२२
४. पारमेश्वरसंहिता, ३.८८-८९
५. (क) पाद्मसंहिता, यो० पा०, २.२
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ४.२२
६. (क) पाद्मसंहिता, यो० पा०, २.७—१३
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ४.२६—३१

देहमध्य, अर्थात् नाभि से तिर्यक् ऊपर की ओर कुण्डली का स्थान है। वह अष्ट-प्रकृतिरूपा आठ बार कुण्डली मारकर स्थित रहती है। कन्द के चारों तरफ सतत वायु-संचार तथा अग्नि-प्रज्वलन द्वारा उसका निरोध होता रहता है। वायु को मुख से समा-वेष्टित कर ब्रह्मरन्ध्रविल में रखकर उससे यागकाल में अग्नि को प्रतिबोधित किया जाता है। प्रतिबोधित एवं स्फुरित अग्नि हृदयाकाश में महोज्ज्वल नागरूप में विद्यमान रहता है। वायु वायुमुख से गमन करता है। यह वायुमुख सुषुम्णा नाडी है। कन्द के मध्य विद्यमान नाडी सुषुम्णा नाडी है। यह नाडी पद्मसूत्र के समान होती है और ऋजु रूप से ऊपर की ओर अग्रसर होती है। ब्रह्मविवर तक विद्युदाभावाली नालयुक्त यह वैष्णवी ब्रह्मनाडी कही गई है। यह नाडी निर्वाणप्राप्ति का मार्ग है। इस नाडी के दक्षिण तथा वाम भाग में क्रमशः इडा तथा पिङ्गला नाडियाँ हैं। ये दोनों (इडा तथा पिङ्गला) नाडियाँ कन्द से उठकर क्रमशः वाम तथा दक्षिण नासापुट तक जाती है। उसके आगे तथा पीछे की ओर बायें तथा दायें क्रमशः गान्धारी एवं हस्तिजिह्वा नाडियाँ विद्यमान होती हैं। पूषा तथा यशस्विनी नाडियाँ कन्द से ही उठकर क्रमशः दायें तथा बायें भाग में विद्यमान हो ऊपर की ओर कर्णमूल तक जाती हैं। अलम्बुषा तथा कुहू नाम की दो नाडियाँ कन्द से निकलकर नीचे की ओर मेढ्र तक जाती हैं। धाता तथा केशिनी ये दो नाडियाँ कन्द से नीचे पादांगुष्ठ तक पहुँचती हैं। कन्द से निकलनेवाली ये दस प्रधान नाडियाँ हैं। एतन्मूलक अन्यान्य बहुत सारी स्थूल तथा सूक्ष्म नाडियाँ हैं। शरीर में विद्यमान इन स्थूल तथा सूक्ष्म नाडियों की संख्या बहत्तर हजार है। इनके अतिरिक्त, अन्य प्रकार की सूक्ष्म तथा स्थूल नाडियों की संख्या अनन्त हैं। ये उसी प्रकार शरीर में विद्यमान होती हैं, जिस प्रकार अश्वत्थ-पत्र में विद्यमान असंख्य रेखाएँ अथवा शिराएँ।

उपर्युक्त दस प्रधान नाडियों में दस वायुओं की स्थिति कही गई है। ये दस वायु हैं : १. प्राण, २. अपान, ३. समान, ४. उदान, ५. व्यान ६. नाग, ७. कूर्म, ८. कृकर, ९. देवदत्त तथा १०. धनञ्जय ! इन दस वायुओं में प्राणादि पाँच वायु प्रधान कहे गये हैं। इन पाँच वायुओं में भी प्रारम्भिक दो प्रमुख हैं। इन दो प्रमुख वायुओं में भी जीवात्मा को धारण करनेवाला प्राणवायु प्रधान और श्रेष्ठ है।

प्रधान रूप से स्वीकृत प्राणादि वायुओं का स्थान शरीर में अधोलिखित रूप में कहे गये हैं : १. प्राणवायु आस्य, नासिकामध्य, हृदय, नाभिमण्डल तथा पादांगुष्ठ में रहता है। २. अपानवायु गुदा, मेढ्र, ऊरु तथा जानु में सञ्चरित होता है। ३. समानवायु सभी गात्रों में समान रूप से विद्यमान रहता है। ४. उदानवायु शरीरस्थ सभी सन्धिस्थलों में रहता है। जैसे : हाथ, पाँव तथा अन्यान्य अङ्गों के सन्धिस्थल। ५. व्यानवायु श्रोत, ऊरु, कटि, गुल्फ, स्कन्ध तथा गलप्रदेश में विद्यमान रहता है। इन वायुओं के कार्य अधोलिखित रूप में निर्दिष्ट हैं :

१. प्राणवायु : तुन्द में विद्यमान अन्न तथा जलादि का समीकरण कर तुन्दस्थ प्राण अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् स्थिर करता है और उसी के फलस्वरूप शरीर विद्यमान रहता है। उसका क्रम इस प्रकार है :

२. अपानवायु : इस वायु के द्वारा मल तथा मूत्र का विसर्जन होता है।
३. व्यानवायु : इस वायु के द्वारा प्राण तथा अपानादि वायुओं की क्रियाएँ होती हैं।
४. उदानवायु : शरीरस्थ उदानवायु ऊर्ध्वगमन करता है।
५. समानवायु : इस वायु के द्वारा शरीर का पोषण आदि होता है।
६. नागवायु : इस वायु के द्वारा उद्‌गारादि क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं।
७. कूर्मवायु : इस वायु के द्वारा अक्षि आदि की उन्मीलनादि क्रियाएँ होती हैं।
८. कृकरवायु : इसके द्वारा क्षुधा उत्पन्न होती है।
९. देवदत्तवायु : यह वायु प्राणियों को निद्रा दिलाता है।
१०. धनञ्जय वायु : मरणोपरान्त प्राणी के शरीर में शोभा कायम रखता है।

वस्तुतः, सभी इन्द्रियों को स्व-स्व कार्य में नियोजित रखनेवाला जीवन का आधार एक प्राणवायु है, फिर भी क्रियाभेद से इसके प्राण, अपानादि पाँच भेद हैं।[1]

शरीरस्थ नाडियों तथा वायुओं का वर्णन देखने के पश्चात् हम इनके द्वारा सम्पाद्यमान प्राणायाम के लिए वायु के उपयोग का वर्णन देखने का प्रयत्न करेंगे। प्राणायाम का सामान्य लक्षण इस प्रकार कहा गया है—आसनों एवं योगाङ्गों, अर्थात् यम-नियमों के द्वारा विशेष रूप से सुसंयत नाडीशुद्धि में वायु की प्रक्रियाविशेष को प्राणायाम कहते हैं।[2] पाद्म तथा विष्णुतिलकसंहिता में एक दूसरी जगह भी प्राणायाम का समान ही लक्षण बताया गया है। वहाँ कहा गया है :

> रेचनं पूरणं वायोः रोधनं रेचनं तथा।
> चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीरितः ॥[3]

अर्थात्, प्राणायाम में वायु का रेचन प्रथम सोपान है। इस क्रम में दक्षिण हस्त से नासिकापुट को बन्द करते हुए इडा के द्वारा उसे पूरित करते हैं और आत्मा के अन्दर कुम्भित करते हैं। पुनः पिङ्गला के द्वारा कुम्भित वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालते हैं। उदर में वायु को ३२ मात्राओं से इडा के द्वारा पूरित करने का निर्देश है। पुनः, बासठ मात्राओं द्वारा सम्पूर्ण शरीर को कुम्भित करने का विधान है। इससे शरीर वायुपूर्ण हो जाता है। यह वायुपूर्णता ठीक कुम्भपूर्णता की तरह होती है, अतएव इसे कुम्भित करना कहा है। इस प्रकार, शरीर को कुम्भित

---

१. (क) पाद्मसंहिता, योग० पा०, २.१३—३७
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ४.३२—५५
(ग) योगदर्शन, विभूतिपाद, ३९, टीका
(घ) पारमेश्वरसंहिता, ३.१०२—१०८ (दशनाडी-परिगणन)
२. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.२१
(ख) पाद्मसंहिता, योग० पा०, २.१
३. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.६३—६९
(ख) पाद्मसंहिता, योग० पा०, ३.८—१४

करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से शरीरस्थ सभी नाडियाँ वायुपूर्ण हो जाती हैं। इस क्रम में शरीर के अन्दर दस वायुओं का संचरण होता है। हृदय-कमल का संकोच समाप्त होता है और वह स्फुटित होकर विकसित होता है। पूरण तथा कुम्भीकरण के द्वारा उन्मुख रूप में स्थित कमल अधोमुख होता है। उस कमल का नाल ताल-परिमाणात्मक कहा गया है। उस कमल के आठ दल वर्णित हैं। यह कमल कदली-पुष्पाकार चन्द्रकान्त-मणि के समान बताया गया है। इस प्रकार का प्राणायाम वैष्णवों के लिए उभयसन्ध्या तथा मध्यरात्रि में विहित है।[1]

पारमेश्वरसंहिता ने भी प्रायः पाद्मसंहिता तथा विष्णुतिलकसंहिता की तरह प्राणायाम का निर्देश किया है। परन्तु, यहाँ कुछ भिन्नता भी है। इसके अनुसार निःश्वासोच्छ्वास की गति-विशेष को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम के यथानिर्दिष्ट तीन भाग हैं: १. सदा निःश्वासरूप रेचक, २. आभ्यन्तर समुच्छ्वासरूप पूरक तथा ३. श्वासोच्छ्वास-निरोधात्मक स्तम्भवृत्तिक को कुम्भक कहा गया है। रेचक द्वादश मात्रावाला, पूरक चतुर्विंशति मात्रावाला तथा कुम्भक षट्त्रिंशत् मात्रावाला कहा गया है। मात्रा का लक्षण इस प्रकार है: न तो अत्यन्त द्रुत तथा न अत्यन्त विलम्ब से जानु की प्रदक्षिणा करते हुए अंगुलि के विस्फोट को मात्रा कहते हैं। आस्यमन्त्र के साथ रेचक, हृदयमन्त्र के साथ पूरक तथा नेत्रमन्त्र के साथ कुम्भक के सम्पादन का विधान है। सामान्य रूप से प्राणायाम दो तरह के होते हैं: १. अगर्भ तथा २. सगर्भ। जपध्यानरहित प्राणायाम अगर्भ तथा जपध्यान के साथ सम्पादित प्राणायाम सगर्भ कहा गया है। यहाँ जप के समय नाभिदेशस्थ हरि का ध्यान निर्दिष्ट है।[2]

प्राणायाम के इस विस्तृत विषय को नारदीय संहिता ने अत्यन्त ही संक्षिप्त रूप से केवल कुछ श्लोकों में प्रतिपादित किया है। यहाँ प्राणायाम का लक्षण इस प्रकान है:

पूरणाद्रेचनाद्वायोः रोधनाद्वा च यः श्रमः।
भवेत्प्राणकृतः पुंसां प्राणायामः स उच्यते ॥[3]

प्राणायाम का सम्पादन-क्रम इस प्रकार है:

प्रथमं पूरयेन्नाडीं वायुना रेचयेत्ततः।
ततस्तु सम्भरेद्वायुं क्रमो ह्येष प्रकीर्त्तितः॥
एते निरोधमात्रास्तु आलम्बनगुणाः स्मृताः।
सालम्बनश्चतुर्थोऽन्यो बाह्यान्तर्विषयः स्मृतः ॥[4]

---

१. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.६३—६९
(ख) पाद्मसंहिता, योग० पा० ३.८—१४
२. पारमेश्वरसंहिता, ३.१०८—१२६
३. नारदीय संहिता, ३०.१३-१४
४. वही, ३०.१४—१६

विष्णुतिलक तथा पाद्मसंहिता ने प्राणायाम तीन तरह के कहे हैं :

१. अधम प्रणायाम—यदि प्रणायाम करते समय प्रस्वेद उत्पन्न हो, उसे अधम प्रणायाम कहते हैं।

२. मध्यम प्रणायाम—प्राणायाम के समय जहाँ देहकम्पादि का अनुभव हो, उसे मध्यम प्राणायाम कहते हैं।

३. उत्तम प्राणायाम—प्राणायाम करते समय यदि शरीर ऊपर की ओर उठता हो, तो उसे उत्तम प्रणायाम कहते हैं।

अधम प्राणायाम से व्याधियाँ होती हैं। मध्यम प्राणायाम से विनाश होता है, और उत्तम प्राणायाम से पाप, रोग तथा महाव्याधि का नाश होता है।[1]

इस प्रकार, प्राणायाम के उपर्युक्त विवेचन-क्रम में सामान्य रूप से योगदर्शन की मान्यताओं तथा पाञ्चरात्रागम के सिद्धान्तों के अनुसार प्राणायाम के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। साधारणतः, विचार करने पर पाञ्चरात्रागम में वर्णित प्राणायाम-क्रम योगशास्त्रीय प्राणायाम-क्रम के अनुरूप ही दिखता है। इन दोनों में किसी असाधारण भेद या विशेषता का दर्शन नहीं होता। मूलरूप से प्राणायाम की विधि प्रायः पाञ्चरात्रिकों ने योगपादस्थ अन्यान्य विषयों के साथ योगदर्शन से ही ली होगी। जहाँतक नारदीय संहिता में वर्णित प्रणायाम का प्रश्न है, उसपर विचार करते समय हम यह देखते हैं कि यह वर्णन पाञ्चरात्रागम की अन्य संहिताओं में वर्णित प्राणायाम के सर्वथा अनुकूल दृष्टिगोचर होता है। पर, पाद्म तथा विष्णुतिलक ने जिस विषय को अत्यन्त विस्तार से प्रतिपादित किया है, वह यहाँ अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है। प्रधान रूप से प्राणायाम के क्रम में मनुष्यकृत प्राणश्रम को प्राणायाम कहा गया है। इस श्रम में तीन बातें प्रमुख रूप से देखते हैं। वायु से शरीरस्थ नाडियों का पूरण, पुनः उनका रेचन और उसके बाद वायु द्वारा उनका सम्भरण।

इस प्रसंग में भगवान् पतञ्जलि के योगसूत्र—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' के साथ पाञ्चरात्रिक प्राणायाम की मौलिक समानता सामान्यतः स्पष्ट है। इसके अनुसार आसन पर स्थिर होकर श्वास-प्रश्वास की गति के विच्छेद को प्राणायाम कहते हुए प्राणायाम का सामान्य रूप में निर्देश किया गया है। यहाँ पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में प्राणायाम की एक-एक क्रिया का निर्देशपूर्वक विशेषस्वरूपनिर्देश किया गया है। वस्तुतः, दोनों में मौलिक भेद नहीं कह सकते।[2]

प्रत्याहार : अष्टाङ्गयोग में प्राणायाम के बाद प्रत्याहार का क्रम आता है। विष्णुतिलकसंहिता तथा पाद्मसंहिता के अनुसार मन से आत्मा में नित्यकर्मों के अनुष्ठान को प्रत्याहार कहते हैं। अथवा, १. पादांगुष्ठ, २. गुल्फ, ३. जङ्घामध्य,

---

१. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.७४—७७
(ख) पाद्म० योग०, ३.१८—२०

२. पातञ्जलयोगसूत्र, साधनपाद, ४९ के समीप

४. ऊरुमध्य, ५. ऊरुमूल, ६. पायु, ७. हृदय, ८. मेहन, ९. देहमध्य, १०. नाभि, ११. गलकुबर, १२. तालुमूल, १३. मूल (मज्जा), १४. घ्राण १५. अक्षिमण्डल, १६. भ्रूमध्य, १७. ललाट, १८. मूर्धामूल और १९. कर्णमूल, इन मर्मस्थानों में वायु के धारण तथा एक स्थान से दूसरे स्थान के प्रति आकर्षण को प्रत्याहार कहते हैं।[1] नारदीय संहिता ने भी प्रत्याहार का प्रायः इसी तरह का लक्षण-निर्देश किया है :

शब्दादिष्वनुरक्तानि ग्राह्याण्यक्षाणि योगवित् ।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥[2]

योगी शब्दादि तत्तद्विषयों में अनुरक्त ग्राह्य इन्द्रियों को तत्तद्विषयों से विरक्त कर चित्त की अनुकारिणी बना देता है, तो उस क्रियाविशेष को प्रत्याहार कहते हैं। अर्थात्, 'प्रत्याह्रियन्ते इन्द्रियाणि तत्तद्विषयेभ्यः यस्मिन् कर्मणि तत् कर्म प्रत्याहारः' इस प्रकार का व्युत्पत्त्यर्थ-लाभ कह सकते हैं। अर्थात्, जिस आन्तरिक क्रियाविशेष द्वारा इन्द्रियों को उनके अपने-अपने विषयों से विरत कर उन्हें चित्त के अनुकारी बना दिया जाता है, उसे प्रत्याहार कहते हैं। भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में भी प्रत्याहार का लक्षण प्रायः ऐसा ही कहा है। उनका कहना है : "अपने विषयों से सम्बन्ध-रहित इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप के साथ तदाकार हो जाना ही प्रत्याहार है।[3] इसका क्रम इस प्रकार है ; चित्त यम, नियम तथा प्राणायाम की क्रियाओं द्वारा बाह्य विषयों से विरत होकर समाहित होता है। इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उसी के अनुरूप कार्यरत हो जाती हैं। उस अवस्था में चित्तगत चंचलता नष्ट हो जाती है और उसका निरोध हो जाता है। प्राकृतिक रूप से इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इस तरह इन्द्रियों के विषय से विमुख होकर चित्त की अनुगामिनी हो जाने के बाद प्रत्याहार सिद्ध होता है। प्रत्याहार द्वारा मनुष्य अपने को सर्वथा एकाग्र बना पाता है। प्रत्याहार की सिद्धि से योगी स्वतः इन्द्रियों का जय कर लेते हैं।

धारणा : नारदीय संहिता ने धारणा का लक्षण निम्नांकित रूप में कहा है :

शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यच्च धारणम् ।
निश्चलेन तु योगीन्द्रैः धारणा तु समीरिता ॥[4]

इन्द्रियों के चित्त में अन्तर्मुख होने के बाद किसी एक शुभ स्थल में निश्चल रूप से चित्त के धारण को धारणा कहते हैं। पाद्म तथा विष्णुतिलकसंहिता ने इसे यथानिर्दिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है : पञ्चभूतमयदेहस्थ पाँच भूतों में यमादि के द्वारा मन के धारण को

१. (क) विष्णुतिलकसंहिता, ४.९९—१०३
(ख) पाद्मसंहिता, यो० पा०, ४.८—१३
२. नारदीय संहिता, ३०.१६—१७
३. "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।" (योगसूत्र, साधनपाद, ५४)
४. नारदीय संहिता, ३०.१७-१८

धारणा कहते हैं। यह धारणा संसार से पार करनेवाली है।[1] पाञ्चरात्र-ग्रन्थों के अनुसार शरीरस्थ पाँच भूतों की स्थिति तथा उनके जय का विधान अधोलिखित रूप से देखते हैं। इस क्रम में पञ्चभूतों का शरीर में स्थान, उनके स्वरूप तथा उनके स्मरण के लिए कालावधि, ये तीन-चार विषय मुख्य रूप से इस प्रकार दिखाये गये हैं :

१. भूत (पाँच)	२. स्थान (शरीरस्थ)	३. स्वरूप	४. स्मरण-कालावधि
(क) पृथ्वी	जानु से पादावधि	१. पित्तला २. वज्रलाञ्छित ३. चतुरस्रा	पञ्चघटिकावधि (प्रभञ्जन का आरोप कर)
(ख) वारि	जानु से ऊरुमूलावधि	१. श्वेतवर्ण २. अम्बुजलाञ्छित ३. अर्धचन्द्राकार	दशनाडीकालावधि
(ग) अग्नि	नाभि से देहमध्यान्त	१. अग्निवर्ण २. सिन्दूर की तरह ३. त्रिकोण	पञ्चदशनाडीकाल
(घ) वायु	नाभि से नासान्त	१. धूम्रवर्ण २. वेदी की तरह	विंशतिघटिकावधि (प्राणवायु का आरोप कर कुम्भक के द्वारा स्मर्तव्य)
(ङ) आकाश	घ्राण से ब्रह्मबिलावधि	१. भिन्नाञ्जनप्रभ	(मारुत का आरोप कर कुम्भक से ध्यानार्ह)

इस क्रम से तत्तद्भूतों की धारणा के बाद पृथिव्यादि भूतों में अनिरुद्धादि के रूप का ध्यान तथा अर्चन कहा गया है। वे निम्नांकित रूप से निर्दिष्ट हैं :

पृथिवी में—चतुर्बाहु किरीटधारी अनिरुद्ध की पूजा भवविमुक्ति के निमित्त।

जलांश में—उदग्रधी योगी नारायण का समर्चन।

अग्नि के अंश में—प्रद्युम्न का अर्चन।

वायु के अंश में—सङ्कर्षण की आराधना।

व्योम-अंश में—परमात्मा वासुदेव का अर्चन।

इन्हीं ध्यान तथा आराधनाओं द्वारा देहस्थ पञ्चभूतों का जय किया जा सकता है।[2]

---

१. (क) पाद्म०, योग०, ४.१३-१४
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ४.१०४—१५

२. श्रीप्रश्नसंहिता, ३.७१—८९
पाद्म०, यो०, ४.१५—२४
विष्णुतिलकसंहिता, ४.२०६—२२६

भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में—चित्त को वृत्तिमात्र से किसी एक देश में ठहराने की प्रक्रिया को धारणा कहा है। यह देश शरीर के अन्दर हो या बाहर।[1] यहाँ नारदीय संहिता में प्रतिपादित धारणा का स्वरूप योगसूत्रस्थ धारणा के समान है। योगसूत्र चित्त को एक देश में ठहराने की क्रिया का निर्देश करता है और उसी प्रकार नारदीय संहिता और पाञ्चरात्र की अन्य संहिताओं ने, जिनका कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इन दोनों की अपेक्षा कुछ विस्तार से तथा भिन्न प्रकार की प्रक्रिया धारणा के लिए बताई है। यहाँ देहस्थ पञ्चभूतों में विशेष रुप से अनिरुद्धादि चतुर्मूर्त्तियों का ही ध्यान तथा आराधन एवं उसके द्वारा पञ्चभूतों के जय करने का विधान निश्चित ही नई प्रक्रिया है। नारदीय संहिता तथा योगसूत्र ने किसी भी धारणा के आधार-विशेष का निर्देश किये बिना सामान्य रूप से क्रमशः 'विषय' तथा 'देश' शब्द का निर्देश किया है। इस स्थल में सामान्य रूप से विषय के पर्यालोचन से हम कह सकते हैं कि नारदीय संहिता में वर्णित धारणा का लक्षण भगवान् पतञ्जलि के लक्षण से प्रभावित हो सकता है।

ध्यान : धारणा के स्वरूप-वर्णन के अनन्तर अष्टाङ्गयोग में ध्यान का वर्णन करते हुए नारदीय संहिता ने इसका लक्षण इस प्रकार कहा है :

पौनःपुन्येन यत्रैव विषये सैव धारणा।
ध्यानमित्युच्यते ब्रह्मन् सदा भागवतैर्द्विजैः॥

अर्थात्, ध्यान धारणा की ही एकत्र पुनः पुनः अविचलित स्थिति है।[2] पाद्म तथा विष्णुतिलकसंहिता ने इसे कुछ विस्तार के साथ कहा है। यह इस प्रकार है : योगासन में स्थित साधक हृदयदेश में अञ्जलि बाँधकर, नेत्रों को नासाग्र में एकाग्र कर, जिह्वा का तालु में विन्यास कर दाँतों को दाँतों से विना स्पर्श किये हुए, ऋजुकाय तथा अनन्यधी होकर और विशुद्ध बुद्धि से इन्द्रियसमूह का संहार कर अपने हृदयस्थ कमल-रूपी आसन पर स्वरूप-व्याप्त-रूप परमपरमात्मस्वरूप वासुदेव का जब ध्यान करता है, उसे ही 'ध्यान' कहते हैं।[3] इस क्रम में चित्तवृत्ति का स्थाननिर्देश निम्नलिखित रूप में किया गया है :

१. जाग्रद्वृत्ति—नाभि से हृदय-पर्यन्त
२. स्वप्नवृत्ति—हृदय से कण्ठ-पर्यन्त
३. सुषुप्तिवृत्ति—तालुमध्यस्थ
४. तुरीयवृत्ति—भ्रूमध्यस्थ
५. तुर्यातीतवृत्ति—ब्रह्मरन्ध्रस्थ

---

१. 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।' —योगसूत्र, विभूतिपाद, १
२. नारदीय संहिता, ३०.१८–१९
३. (क) पादम०, यो०, ५—१४
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ५.४-५

यहाँ जाग्रद्वृत्ति-स्थल से प्रारम्भ कर ब्रह्मवेलान्तर तक सदोदय तूर्य है। तूर्य के अन्त में विष्णु की स्थिति है और उसी विष्णु का ध्यान वहाँ विहित है।[1]

ध्यान के वर्णन-क्रम में दो प्रकार का ध्यान दृष्टिगोचर होता है। एक स्थूलतः हृदय-कमल में वासुदेव का ध्यान तथा दूसरा ब्रह्मबिल के अन्तर्गत तूर्यातीतवृत्ति में सदा उदित विष्णु का ध्यान। यहाँ के वर्णन के अनुसार ब्रह्मबिल नासिका के ऊपर भाग में कहा जा सकता है। हृदय-कमल हृदय-प्रदेशस्थ है। इस प्रकार, ध्येय की स्थिति के स्थान-भेद के आधार पर ध्यान दो प्रकार का कह सकते हैं। पर, इन दोनों स्थलों में ध्येय केवल वासुदेव ही हैं। एक जगह उसे विष्णु तथा एक जगह वासुदेव अवश्य कहा गया है।

भगवान् पतञ्जलि ने ध्यान का जो लक्षण अपने 'योगसूत्र' में कहा है, वह नारदीय संहिता के समान है। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'[2] अर्थात्, चित्तवृत्ति की जहाँ एकतानता हो, उसे ध्यान कहते हैं। पहले वर्णित धारणा के अनुसार चित्तवृत्ति की स्थिर संलग्नता को ही ध्यान कहा जायगा।

उपर्युक्त ध्यान के लक्षणों के विषय में विचार करने पर हम पाते हैं कि मूलतः इन विविध लक्षणों में विस्मयकारी मौलिक भेद नहीं है। धारणा से जिस देश-विशेष में चित्त लगाया जाय, उसी ध्येय में जब चित्तवृत्ति समान प्रवाह से निरन्तर लगी रहे, उसे ही ध्यान कहते हैं। इसके अन्दर दूसरी कोई भी वृत्ति नहीं आती। चित्तवृत्ति ध्येय में इस प्रकार तन्मय हो जाती है, जिस प्रकार भ्रमर कमलपुष्प में तन्मय होकर बेसुध हो जाता है और सूर्यास्त के समय कमलमुख के बन्द हो जाने पर बेसुध-सा उसी में बन्द भी हो जाता है। ध्यान में जो तन्मयता होती है, वह ठीक भ्रमर तथा कमल की तरह होती है।

समाधि : ध्यान के पश्चात् अष्टाङ्ग योग का अन्तिम अङ्ग समाधि आता है। नारदीय संहिता के अनुसार समाधि का लक्षण है :

> तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
> मनसा ज्ञाननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥[3]

तस्यैव, अर्थात् ध्यान का ही मन से ज्ञाननिष्पाद्य कल्पनाहीन रूप समाधि कही जाती है। स्पष्ट है कि ध्यान में तीन विषय नितान्त अपेक्षित हैं : १. ध्याता, २. ध्यान तथा ३. ध्येय। जो ध्यान करता है वह ध्याता, जिसका ध्यान किया जाता है, अर्थात् ध्यान का विषयभूत कर्म ध्येय तथा ध्येय एवं ध्याता के बीच की वृत्ति को ध्यान कहते हैं। ध्याता ध्येय की कल्पना करता है तथा उसी के आधार पर ध्यान करता है।

---

१. विष्णतिलकसंहिता, ५.१२१—१२३
   पाद्मम०, यो०, ५.५—७
२. योगसूत्र, विभूतिपाद २
३. नारदीय संहिता, ३०.१९-२०

अर्थात्, ये तीनों ध्याता, ध्येय तथा ध्यान सर्वथा पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखते हैं। ये तीनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं। किन्तु, ध्यानस्थ होने के पश्चात् अनवरत उसके अभ्यास से ध्याता की चित्तवृत्ति ध्येय के रूप में परिणत हो जाती है। वहाँ कल्पित ध्येय का सर्वथा हान हो जाता है। अब ध्याता यह अनुभव नहीं करता कि मैं अमुक का ध्यान करता हूँ। इस अवस्था में ध्येय के रूप में ध्याता के चित्त की एकता को समाधि कहते हैं। इस प्रकार, ध्यान की ही कल्पनाहीन स्थिति में, चित्त वृत्ति का ध्येय-रूप में परिणत हो जाना, अर्थात् मानसिक ज्ञान का ध्येय-रूप में परिणत हो जाना समाधि है।

समाधि के विषय में पाद्म तथा विष्णुतिलकसंहिता ने विस्तृत विवेचन नहीं किया है। इनके अनुसार, जीवात्मा का परमात्मा के साथ जब ऐक्य हो जाता है, उसी अवस्था को समाधि कहते हैं। मूलतः, यहाँ भी उसी विषय को स्वीकारा गया है, जिसका निर्देश नारदीय संहिता ने किञ्चित् सूक्ष्म तथा विस्तृत रूप से किया है। तदनुसार—

जीवात्मनः परस्यापि यदैक्यमुभयोरपि।
समाधिः स तु विज्ञेयः साध्वर्थानां प्रसाधकः॥

यही समाधि का लक्षण है।[1]

भगवान् पतञ्जलि के अनुसार, ध्यान के क्रम में जब केवल ध्येयमात्र की स्थिति रह जाती है, चित्तवृत्ति का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, अर्थात् चित्त वृत्ति से रहित हो जाता है, उसी ध्यान को समाधि कहते हैं: 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'[2] पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित समाधि के लक्षणों की इससे तुलना करने पर कुछ अधिक वैलक्षण्य नहीं देखते। सामान्यतः, योगदर्शन में प्रतिपादित समाधि पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में भी स्वीकृत है।

इन योगाङ्गों का नित्य अभ्यास करता हुआ अतन्द्रित मन्त्री महान् आनन्द का अनुभव करता है। योगाभ्यास से महत्सम्पदा की उपलब्धि होती है। अतः, प्रत्येक वैष्णव के लिए यह पञ्चकालाङ्गभूत योगाभ्यास आवश्यक एवं अनिवार्य रूप से विहित है।

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित योग-विषय का सम्यगवगाहन करने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हर मोक्षाभिलाषी, अर्थात् परमपुरुषार्थसाधक के लिए चित्तनिर्मलता के साथ-साथ परमध्येय वासुदेव में उसका एकान्ततः संलग्न होना अपेक्षित है। एकान्ततः वासुदेव में संलग्नता का एकमात्र साधन योगाभ्यास ही है। इसीलिए, योगाभ्यास को वैष्णवों के दैनन्दिन कृत्यों का आवश्यक अत्याज्य अङ्ग माना गया है। अतएव, इसके लिए पञ्चकाल के अन्तर्गत एक काल का विधान किया गया है। पाञ्चरात्रागम में स्वीकृत योगप्रक्रिया प्रायः मूलतः पातञ्जल योगदर्शन से स्वीकृत है। क्योंकि,

---

१. (क) पाद्मसंहिता, यो०, ५.१७
(ख) विष्णुतिलकसंहिता, ५.१३२-१३३

२. योगदर्शन, विभूतिपाद ३

इन दोनों की प्रक्रियाओं में मूलतः कोई विशेष अन्तर नहीं देखते। फिर भी, दोनों प्रक्रियाओं में कुछ भेद भी स्पष्ट ही परिलक्षित होते हैं। योगसूत्र के अनुसार, 'अहिंसा सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'—क्रम से यम के पाँच भेद हैं।[1] पर, पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित यम के दस भेद कहे गये हैं। इसी प्रकार, योगसूत्र में नियम के पाँच भेद कहे गये हैं। जैसे : 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' कहा गया है।[2] जबकि, पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में नियम के दस भेद कहे गये हैं। पाञ्चरात्रीय योग में एक अन्य विशेषता यह है कि यहाँ ध्यान तथा समाधि के लिए अपने सिद्धान्त के अनुसार, वासुदेव का ध्यान तथा उसी में समाधिस्थ होने का विधान है, जबकि योगसूत्र के अनुसार, 'ओंकार' को ही ईश्वर का वाचक, अतः ध्येय बताया गया है।[3] इस भेद का कारण स्पष्ट ही प्रणव की अपेक्षा विशिष्ट रूपवान् वासुदेव के ध्यान की सुकरता हो सकती है। इसके अतिरिक्त, योगदर्शन तथा पाञ्चरात्रीय योगप्रक्रिया में लक्ष्य तथा साधना-प्रणाली आदि प्रमुख विषयों में कोई मौलिक अन्तर नहीं कहा जा सकता।

यही पाञ्चरात्रागम के एक प्रमुख विषय पञ्चकाल-प्रक्रिया का सामान्यतः संक्षिप्त स्वरूप है। इस विषय की चर्चा श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने अपने ग्रन्थ 'पाञ्चरात्ररक्षा' में की है। उस क्रम में आचार्य देशिक ने अनेक पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों से उद्धरण दिया है।[4] पर, वस्तुतः 'पाञ्चरात्ररक्षा' में वर्णित कोई भी ऐसी विशिष्ट या असाधारण विषय हम नहीं देखते, जो उल्लेखनीय हो।

●

---

१. योगदर्शन, साधनपाद, ३०

२. योगदर्शन, साधनपाद, ३२

३. 'तस्य वाचकः प्रणवः।' —योगदर्शन, समाधिपाद २७

४. पाञ्चरात्ररक्षा, अधिकार २ (अडयार, सन् १९४२ ई०)

परिशिष्ट

पाञ्चरात्रागम-ग्रन्थों में वर्णित मुद्राएँ

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१. अग्निप्राकारमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१२-१३
२. अग्निमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	१४-१६
	ईश्वरसंहिता	२४	६५
	नारदीय संहिता	६	३
	विष्णुतिलकसंहिता	४	६८-६९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३५-३७
३. अङ्कुशमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	४८-५०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१६
	ईश्वरसंहिता	२४	४१
४. अञ्जलिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६२
	कपिञ्जलसंहिता	२७	१०-१३
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५६
	विष्णुतिलकसंहिता	४	८१-८३
५. अनन्तमुद्रा	परमसंहिता	१४	२७
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६०-६१
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	४०-४३
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६३
६. अनन्तासनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	४९
	जयाख्यसंहिता	८	६१-६७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	८३-८४
७. अनिरुद्धमुद्रा	नारदीय संहिता	६	५
	नारदीय संहिता	६	१९
८. अभयमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	१०३-१०६
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७८-७९
	विष्णुतिलकसंहिता	४	८३-८४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५७-५९
९. अभिवादनमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२९-३०
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३२
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	६७

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१०. अर्घ्यमुद्रा	विष्णुतिलकसंहिता	६३	१५-१६
११. अर्थमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४६
१२. अलंकारमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	३५
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रात्र०	२	८
१३. अस्त्रमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२२-२३
	कपिञ्जलसंहिता	२७	८
	जयाख्यसंहिता	८	२२-२३
	नारदीय संहिता	६	१०-११
	पारमेश्वरसंहिता	१४	१०
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१०-११
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६२
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	२७-२८
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	४०-४२
	विश्वामित्रसंहिता	१३	११-१२
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८१
१४. आकल्पमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६५
१५. आचमनमुद्रा	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	१६-१७
१६. आचारमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९ १०
१७. आचार्यमुद्रा	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	६४
१८. आज्ञामुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४७
१९. आधारशक्तिमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	५९-६०
	विश्वामित्रसंहिता	१३	८१–८३
२०. आप्यायनमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	३५–३७
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३७–३९
२१. आभरणमुद्रा	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१९-२०
२२. आराधनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	८–११
२३. आवाहनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६६
	कपिञ्जलसंहिता	२७	१७
	जयाख्यसंहिता	८	११०
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४०-४१
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२९
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	८५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	४१-४२
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०३

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
२४. आवाहनीयमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२२-२३
२५. आशुगतिमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३७
२६. आश्लेषमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२७-२८
२७. आसनमुद्रा	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	१३-१४
२८. ईशानमुद्रा	नारदीयसंहिता	६	३२-३३
२९. उदरमुद्रा	नारदीयसंहिता	६	१२-१३
३०. उपवीतमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१९
३१. उपांगमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	२९-३०
३२. ऊरुमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१५
३३. कपिलमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	२६–२८
३४. कर्ममुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९०-९१
३५. कलशमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९५
३६. कल्किमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४८-४९
३७. कल्पमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	७१
३८. कवचमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	७
	जयाख्यसंहिता	८	१७–१९
	नारदीय संहिता	६	९-१०
	परमसंहिता	१४	९
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	२३-२४
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	३९-४०
	विश्वामित्रसंहिता	१३	१०-११
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९७
३९. कामधेनुमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	४६
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	८७–८९
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०३
४० कालमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८३
४१. किरीटमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२४
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	३०-३१
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८२
४२. कीर्त्तिमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१५–१७
४३. कुण्डमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६६-६७
४४. कुमुदादिमुद्रा	नारदीयसंहिता	६	३४
४५. कुम्भमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१७-१८
	विश्वामित्रसंहिता	१३	२०
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	११०

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
४६. कूटमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४९-५०
४७. कूर्मकालाग्निमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	८३
	जयाख्यसंहिता	८	५९-६०
४८. कूर्ममुद्रा	नारदीय संहिता	६	४०
४९. कृष्णमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४५-४६
५०. केसरमुद्रा	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	३२-३३
५१. कौमोदकीमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	३५
५२. कौस्तुभमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३३–३५
	ईश्वरसंहिता	२४	२५–२७
	जयाख्यसंहिता	८	३१–३३
	परमसंहिता	१४	३०
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	३१–३३
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८६
५३. क्षीरार्णवमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	४६–४८
५४. क्षीराब्धिमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	८६–८८
५५. क्षेत्रेशमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८०-८१
५६. क्षेत्रेशादिमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	५६–५८
५७. क्रोडमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	२८–३०
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	६–९
५८. खड्गमुद्रा	नारदीय संहिता	६	२९
	परमसंहिता	१४	२२–२४
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५३-५४
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	९
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	५४-५५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५५-५६
५९. खेटकमुद्रा	परमसंहिता	१४	२२–२४
६०. गङ्गामुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८६
६१. गणेशमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८८–९२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६५–६८
६२. गणेशादिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	५५
६३. गदामुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३०
	ईश्वरसंहिता	२४	३६
	जयाख्यसंहिता	८	४१-४२
	नारदीय संहिता	६	२६

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
	परमसंहिता	१४	१९-२०
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४९-५०
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	३
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५१-५२
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९३
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४३-४४
६४. गन्धमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२०
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६३
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६९
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२
६५. गरुडमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३५-३६
	परमसंहिता	१४	२४–२६
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५६–५८
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१२-१३
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५९–६९
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५२-५३
६६. गाङ्गमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	६६
६७. गीतमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८५
६८. गुरुमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७३-७४
	जयाख्यसंहिता	८	९७-९८
६९. गुर्वादित्रितयमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६०
७०. गोकर्णमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४९
७१. ग्रासमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	७२-७३
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२२-२३
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	५७-५८
	विष्णुतिलकसंहिता	४	७८-७९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७८-७९
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१११
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१७
७२. घृतमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२५
७३. चक्षुमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	१४
७४. चक्रमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२१–३०
	ईश्वरसंहिता	२४	३३-३४

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
	जयाख्यसंहिता	८	३९-४०
	नारदीय संहिता	६	२५
	परमसंहिता	१४	१७-१८
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४८
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	५
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	५०-५१
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	६१-६२
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	६३
	विष्णुतिलकसंहिता	४	६५-६८
	विश्वामित्रसंहिता	१३	४९-५०
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८८
	सनत्कुमारसं०, ऋ० रा०	२	४१-४२
७५ चण्डमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६३
७६. चापमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५१
७७. चिद्भासनमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३५	५२-५४
७८. जङ्घामुद्रा	नारदीय संहिता	६	१६
७९. जपमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२५-२६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	२७-२८
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	११५
८०. जयमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८५
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६०-६१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	९४-९६
८१. जयामुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	६-९
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१५-१७
८२. जलमुद्रा	विष्णुतिलकसंहिता	६३	४५-५९
८३. जामदग्न्यमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४४
८४. ज्ञानमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२३
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६३
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४६
	विष्णुतिलकसंहिता	४	८७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	२५
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८७

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
८५. तत्त्वमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२३
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८८-८९
८६. तनुमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२२-२३
८७. तर्जनीमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१४
८८. तार्क्ष्यमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२
८९. तालत्रयमुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९९
९०. तोमरमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६८-६९
९१. तोरणमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४०
९२. दण्डमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	६३	५१-५२
९३. दर्पणमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२३
९४. दहनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	४३
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२३	३३–३५
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२५
९५. दानमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३१–३२
९६. दाशरथिमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४५
९७. दीपमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२१–२३
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२३	६७–६९
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२१-२२
	विष्णुतिलकसंहिता	४	७५–७७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७३–७५
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३–५
९८. देशिकमुद्रा	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	६२-६३
९९. द्वन्द्वमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१४
१००. धनुर्मुद्रा	परमसंहिता	१४	२२–२४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४७
१०१. धर्ममुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	८८–९०
१०२ धर्मादिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	५३
	जयाख्यसंहिता	८	७२–७५
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	४९–५१
१०३. धामत्रयमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	५५
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	५२–५४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	९१–९३
१०४. धूपमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२३-२४
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६६

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
	पुरुषोत्तमसंहिता	२०	२१
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	२२
	विष्णुतिलकसंहिता	४	७४-७५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७२
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६
१०५. धेनुमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३२-३३
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५३
१०६. ध्यानमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	७८
१०७. ध्वजमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३०-३१
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३५
१०८. नमस्कृतिमुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	६९
१०९. नागमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१५
११०. नाराचमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२०
१११. निर्ऋतिमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७५-७६
११२. निर्माल्यमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७८-७९
११३. नृत्तमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८४
११४. नृसिंहमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	१६-२०
	कपिञ्जलसंहिता	२७	१३-१४
	नारदीय संहिता	६	४२-४३
	विष्णुतन्त्रसंहिता	६३	४६-४७
११५. नेत्रमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२२-२३
	कपिञ्जलसंहिता	२७	९
	जयाख्यसंहिता	८	२०-२१
	नारदीय संहिता	६	११-१२
	परमसंहिता	१४	११
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	११-१२
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१३
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	२५-२६
	विष्णुतन्त्र	६३	४२-४५
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७८
११६. न्यासमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२३-२४
	विष्णुतिलकसंहिता	४	८७
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९२
११७. पक्षिराजमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	३९-४१
	जयाख्यसंहिता	८	४२-४६
११८. पटमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३७

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
११९. पद्मनिधिमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८७
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६७
१२०. पाद्ममुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३१-३२
	ईश्वरसंहिता	२४	२४
	कपिञ्जलसंहिता	२७	१८
	जयाख्यसंहिता	८	३६
	नारदीय संहिता	६	२६
	परमसंहिता	१४	१६
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४३-४४
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१०
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	५
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	३६
	विष्णुतन्त्र	६३	५२-५३
	विष्णुतिलकसंहिता	४	६९–७१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	४६-४७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८४
१२१. परममुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६७-६८
१२२. परशुमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१७-१८
१२३. परिचारकमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	५९–६१
१२४. पाणिमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	५०
१२५. पादमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१६
१२६. पाद्मीमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	३०
१२७. पात्रमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	५६-५७
१२८. पाशमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	४६–४८
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	३७–३९
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९४
१२९. पितृगणमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	९८–१०१
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७४–७६
१३०. पुष्टिमुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	११३
१३१. पुष्पमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२०-२१
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६४
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१७
	विष्णुतन्त्र	६३	२१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१३२. पृथिवीमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	६७–६९
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	४४–४६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	८५-८६
१३३. पृष्ठमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१३
१३४. प्रचण्डमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८४
१३५. प्रणवमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता	२	२६-२७
१३६. प्रणाममुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	४३–४५
१३७. प्रतिभामुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६९-७०
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	३३-३४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७६
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०५
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१३
१३८. प्रतिमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२४-२५
१३९. प्रदीपमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	२३
१४०. प्रद्युम्नमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३
	नारदीय संहिता	६	१९
१४१. प्रसृतिमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२९
१४२. प्राणमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२१
१४३. प्रार्थनामुद्रा	परमसंहिता	१४	२९
	पाद्मसंहिता; च० पा०	२२	७१
	विष्णुतिलकसंहिता	४	८५-८६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७८
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०८
१४४. प्रावणमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१८
१४५. बलिमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	३२	६१
१४६. बाहुमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१४
१४७. बीजमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३२
१४८. बुद्धमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४६-४७
१४९. ब्रह्ममुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२६-२७
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३३
१५०. भगवन्मुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	३४
१५१. भद्रमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२२
	विष्णुतन्त्र	६३	१२-१३

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१५२. भागवतमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	३१-३२
१५३. भावासनमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	९३-९४
१५४ भूतमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	५८-५९
१५५. मत्स्यमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३९-४०
१५६ मन्त्रन्यासमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	२६-२७
१५७. मन्त्रमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९३
१५८. महतीग्रासमुद्रा	विष्णुतिलकसंहिता	४	८०
१५९. महाजयामुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	५४–५९
१६०. महामुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२६-२७
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५८-५९
१६१. महाश्रीमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	४–६
१६२. महासौरभीमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	२५–२७
१६३. मातृमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	२३
१६४ मायामुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१५–१७
१६५. मालामुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२७–२९
	जयाख्यसंहिता	८	३४-३५
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५९-६०
१६६. मुखमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४५
१६७. मुनिमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	६६
१६८. मुष्ठिमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६२
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१६
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२५-२६
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१
१६९. मुसलमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१८
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५१-५२
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	८-९
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२४
	विष्णुतन्त्र	६३	५३-५४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५३-५४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६०-६१
१७०. मृगीमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१९-२०
१७१. यज्ञोपवीतमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२४ २५
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	६४
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१८
	विष्णुतन्त्र	६३	१९-२०
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१७२. यामुनमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८६
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६२-६३
१७३. योगमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१४-१५
	विष्णुतिलकसंहिता	४	७७-७८
	विश्वामित्रसंहिता	१३	१६-१७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७२
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८७-८८
१७४. योगसम्पुटमुद्रा	परमसंहिता	१४	१४
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१५-१६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	१७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७३
१७५. योनिमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३९-४०
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१०–१४
१७६. रक्षा मुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१०
१७७. रतिमुद्रा	नारदीय संहिता	६	२२
१७८. रुद्रमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२८-२९
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१६
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३१
	सनत्कुमारसंहिता	२	३५
१७९. लक्ष्मीमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१४–१७
१८०. लिंगमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता. ऋ० रा०	२	२३-२४
१८१. लोकमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८३
१८२ वनमालामुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३७ ३८
	नारदीय संहिता	६	३१-३२
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५५
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	११
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	३४-३५
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	८७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	५६-५७
१८३. वनमालिकामुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	३४-३५
१८४. वन्दिनीमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	५७–५९
१८५. वरदमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	१०३–१०६
१८६. वरमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७८-७९
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	११

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
१८७. वराहमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	१४-१५
	नारदीय संहिता	६	४१
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	३२-३३
	विष्णुतन्त्र	६३	४७-४८
१८८. वरुणमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७६
१८९. वर्ममुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	८-९
१९०. वलयमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६४-६५
१९१. वसनमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७९-८०
१९२. वस्त्रमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२०
	विष्णुतन्त्र	६३	१८-१९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	१८–६९
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८
१९३. वह्निप्राकारमुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७१
१९४. वागीश्वरीमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	९२–९६
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६९–७२
१९५. वाद्यमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८६-८७
१९६. वामनमुद्रा	नारदीय संहिता	६	४३-४४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७१-७२
१९७. वायुमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७७
१९८. वाराहमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	३५
१९९. वासवाद्यष्टमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३२–३४
२००. वासुदेवमुद्रा	नारदीय संहिता	६	२
	नारदीय संहिता	६	१७-१८
२०१. विघ्नराजमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	३०-३१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३३
२०२. विघ्नेशमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२९
२०३. विजयमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८५
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६२
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६५
२०४. विप्रसंवादमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	२७
२०५. विष्णुमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३८
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२७-२८
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३०
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३४

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
२०६. विष्वक्सेनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	५९
	जयाख्यसंहिता	८	१०६–१०९
	नारदीय संहिता	६	३७-३८
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५९
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	१४
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	८३–८५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६२
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९७
२०७. विसर्जनमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	७१
	जयाख्यसंहिता	८	११-१२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	८६-८७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	११६
२०८. विस्तीर्णमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२८-२९
२०९. वैनतेयमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३५-३६
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	९
२१०. वैभवीमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	११–१५
२११. व्यूहमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१५
२१२. व्योममुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५४-५५
२१३. शक्तिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	३७
	जयाख्यसंहिता	८	९–१२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७–९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	९८–१०१
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४८
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	८०-८१
२१४. शक्रमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७३–७५
२१५. शङ्खनिधिमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	६३
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६७
२१६. शङ्खमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२७-२८
	ईश्वरसंहिता	२४	३१–३३
	जयाख्यसंहिता	८	३७–३९, ८७
	नारदीय संहिता	६	२३-२४
	परमसंहिता	१४	२०–२२
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	४६ ४७
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	४

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	५
	विष्णुतिलकसंहिता	४	६४-६५
	विश्वामित्रसंहिता	१३	४७—४९
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९०
२१७. शयनमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५१
२१८. शरमुद्रा	परमसंहिता	१४	२२—२४
२१९. शान्तमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	५५-५६
२२०. शिखामुद्रा	नारदीय संहिता	६	२१-२२, ३०
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	७-८
२२१. शिखामुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२२-२३
	कपिञ्जलसंहिता	२७	६
	जयाख्यसंहिता	८	१५
	नारदीय संहिता	६	८-९
	परमसंहिता	१४	८
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	७-८
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	२०—२२
	विष्णुतिलकसंहिता	६३	३८-३९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	९
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७८
२२२. शिरोमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	२२-२३
	कपिञ्जलसंहिता	२७	५
	जयाख्यसंहिता	८	१४
	नारदीय संहिता	६	७-८
	परमसंहिता	१४	७
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	११
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	१९
	विष्णुतन्त्र	६३	२७—३८
२२३. शीर्षमुद्रा	पाद्मसंहिता च० पा०	२२	६-७
	विश्वामित्रसंहिता	१३	८
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७७
२२४. शेषमुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	९६
२२५. श्रीबीजमुद्रा	लक्ष्मीतन्त्र	३४	५८—६०

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
२२६. श्रीमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	८२-८३
	नारदीय संहिता	६	२१
२२७ श्रीवत्समुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	३६-३७
	ईश्वरसंहिता	२४	२४
	परमसंहिता	१४	३०
२२८. श्रीवृक्षमुद्रा	सनत्कुमारसं०, ऋ० रा०	२	६२-६४
२२९. श्र्यादिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	३८
२३०. संख्यामुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	१२
२३१. संहारमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	१८-१९
	विश्वामित्रसंहिता	१३	२१-२२
२३२. सकलीकरणीमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२६
२३३. सङ्कर्षणमुद्रा	नारदीय संहिता	६	३-१८
२३४. सत्यादिमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	५०-५३
२३५. सन्निधिकारणीमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२४
२३६. सन्निधिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०७
२३७. सन्निरोधिनीमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२५
२३८- सुभद्रमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	६९-७२
२३९. सम्पुष्टीकरणमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	२९
२४०. सम्मुखीकरणमुद्रा	अगस्त्यसंहिता	१८	२५
२४१. सरस्वतीमुद्रा	नारदीय संहिता	६	१२
२४२. सर्पमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	५६-५७
२४३. सर्वसिद्धिमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३२
२४४. सर्वसौरभीमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	२८-३१
२४५. साम्मुख्यमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६९
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०९
२४६. साङ्करीमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४१
२४७. सामान्यमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४२
२४८. सिंहमुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	३८-३९
२४९. सिद्धमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	१०२
	लक्ष्मीतन्त्र	३४	७७-७८
२५०. सिद्धिमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	१५-१६
२५१. सिद्धिसन्ततिमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२४	६१

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक संख्या
२५२. सिद्धमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	२४–२६
२५३. सुरभिमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	१११-११२
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	३८–४०
	पुरुषोत्तमसंहिता	२३	२८-२९
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४४
	विष्णुतिलकसंहिता	४	७३
	विश्वामित्रसंहिता	१३	३९–४१
२५४. सूर्येन्द्वनिललक्षणा धामत्रयमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	७६–७८
२५५. सृष्टिमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	२०-२१
	विश्वामित्रसंहिता	१३	२३-२४
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२५-२६
२५६. सेनामुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३४
२५७. सोममुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	७७
२५८. सौरभीमुद्रा	विष्णुतन्त्र	६३	२४-२५
२५९. स्थापनामुद्रा	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०४
२६०. स्थापनीमुद्रा	जयाख्यसंहिता	१८	२३ २४
२६१. स्नानमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	१९
	विष्णुतन्त्र	६३	१७-१८
	विश्वामित्रसंहिता	१३	६८-६९
	सनत्कुमारसंहिता	२	२
२६२. स्वस्तिकमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	४६
२६३. स्वागतमुद्रा	कपिञ्जलसंहिता	२७	२६
	पुरुषोत्तमसंहिता	३३	२४
	विश्वामित्रसंहिता	१३	७७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	१०६
	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	११
२६४. स्वागतादिमुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	७०-७१
२६५. स्वाहामुद्रा	मार्कण्डेयसंहिता	३१	४१
२६६. हंसमुद्रा	जयाख्यसंहिता	८	७८–८०
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	३१
२६७. हयशीर्षमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	६९–७१
२६८. हवनमुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	८०-८१
२६९. हस्तमुद्रा	सनत्कुमारसंहिता, ऋ० रा०	२	२१-२२

मुद्रा	संहिता	अध्याय	श्लोक-संख्या
२७०. हृदयमुद्रा	ईश्वरसंहिता	२८	५–८
	ईश्वरसंहिता	२४	२०-२१
	कपिञ्जलसंहिता	२७	४
	जयाख्यसंहिता	८	१२-१३
	नारदीय संहिता	६	६
	परमसंहिता	१४	६
	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	५-६
	मार्कण्डेयसंहिता	३१	१०
	लक्ष्मीतन्त्र	३५	१७-१८
	विष्णुतन्त्र	६३	३६-३७
	श्रीप्रश्नसंहिता	५३	७६
२७१. हृन्मुद्रा	विश्वामित्रसंहिता	१३	६-७
२७२. होममुद्रा	पाद्मसंहिता, च० पा०	२२	७३-७४

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१. अगस्त्यसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
२. अग्निपुराण
३. अजितागम (शैवागम)
४. अत्रिसंहिता (वैखानसागम)
५. अथर्ववेद
६. अनिरुद्धसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
७. अपराजितपृच्छा (शिल्पशास्त्र)
८. अभिधानचिन्तामणि
९. अमरकोश
१०. अर्चनाधिकार (वैखानसागम)
११. अहिर्बुध्न्यसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१२. आनन्दसंहिता (वैखानसागम)
१३. आपस्तम्बश्रौतसूत्र
१४. आश्वलायनगृह्यसूत्र
१५. ईश्वरसंहिता (पाञ्चरात्रागम
१६. उणादिसूत्र
१७. उत्सवसंग्रह (पाञ्चरात्रागम-सम्बद्ध मातृका)
१८. ऋग्वेद
१९. ऐतरेयब्राह्मण
२०. कपिञ्जलसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
२१. कात्यायनश्रौतसूत्र
२२. काश्यपज्ञानकाण्ड (वैखानसागम)
२३. काश्यपशिल्पशास्त्र (शिल्पशास्त्र)
२४. कुवलयानन्द (अलंकारशास्त्र)
२५. कौषीतकिब्राह्मण
२६. क्रियाधिकार (वैखानसागम)
२७. खादिरगृह्यसूत्र
२८. खिलाधिकार (वैखानसागम)
२९. गोभिलगृह्यसूत्र
३०. गौतमसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
३१. गौतमस्मृति
३२. गौतमीयतन्त्र
३३. घेरण्डसंहिता
३४. छान्दोग्योपनिषद्
३५. जयाख्यसंहिता
३६. जैमनीयोपनिषद्
३७. तत्त्वार्थसूत्र
३८. तन्त्रसमुच्चय
३९. तन्त्रसार
४०. तैत्तिरीय-आरण्यक
४१. तैत्तिरीयब्राह्मण
४२. तैत्तिरीयसंहिता
४३. तैत्तिरीयोपनिषद्
४४. दुर्वासिसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
४५. देवालयार्चनाविधान
४६. नन्दिकेश्वरकारिका
४७. नलकूबरसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
४८. नारदीय संहिता (पाञ्चरात्रागम)
४९. नारायणसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
५०. निरुक्त
५१ निरुक्ताधिकार (वैखानसागम)
५२. निर्माणतन्त्र
५३. परमसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
५४. पराशरसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
५५. पाञ्चरात्रप्रासादप्रसाधन
५६. पाञ्चरात्ररक्षा (पाञ्चरात्र-सम्बद्ध ग्रन्थ)
५७. पाद्मसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
५८. पारमेश्वरसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
५९. पारस्करगृह्यसूत्र
६०. प्रकीर्णाधिकार (वैखानसागम)
६१. प्रतिमाविचार (मातृका)

६२. प्रपञ्चसार
६३ पुरुषोत्तमसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
६४. पौष्करसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
६५. बौधायनगृह्यसूत्र
६६. बृहदारण्यकोपनिषद्
६७. बृहद्ब्रह्मसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
६८. ब्रह्मसूत्र
६९. ब्राह्मीचित्रकर्मशास्त्र (शिल्पशास्त्र)
७०. भविष्यपुराण
७१. भारद्वाजसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
७२. मन्त्रपाठ (आपस्तम्बीय)
७३. मन्त्रब्राह्मण
७४. मत्स्यपुराण
७५. मनुस्मृति
७६. मयमतम् (शिल्पशास्त्र)
७७. मयवास्तुशिल्परत्न
७८. महाभारत
७९ महाभाष्य (त्रिपदी टीका)
८०. मानवगृह्यसूत्र
८१. मानवश्रौतसूत्र
८२. मानसार (शिल्पशास्त्र)
८३. मार्कण्डेयसंहिता (शिल्पशास्त्र)
८४. मुद्रानिघण्टु
८५. मृगेन्द्रागम (शैवागम)
८६. मैत्रायणीसंहिता
८७. यज्ञतत्त्वप्रकाश
८८. यज्ञाधिकार (वैखानसागम)
८९. योगदर्शन
९०. योगभाष्य
९१. योगसूत्र
९२. लक्ष्मीतन्त्र (पाञ्चरात्रागम)
९३. ललितासहस्रनाम
९४. वराहपुराण
९५. वराहसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
९६. वाराहगृह्यसूत्र
९७. वाशिष्ठसंहिता (पाञ्चरात्रागम-मातृका)
९८ वासाधिकार (वैखानसागम-मातृका)
९९. विमानार्चनकल्प (वैखानसागम)
१००. विश्वामित्रसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०१. विष्णुतन्त्रसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०२. विष्णुतिलकसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०३. विष्णुसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०४. विष्वक्सेनसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०५. विहगेन्द्रसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१०६. वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश
१०७. वैखानसधर्मसूत्र
१०८. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
१०९. शतपथब्राह्मण
११०. शब्दकल्पद्रुम
१११. शब्दस्तोममहानिधि
११२. शाङ्खायनगृह्यसूत्र
११३. शाण्डिल्यसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
११४. शारदातिलक
११५. शिवसूत्रवार्तिक
११६. शेषसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
११७. श्रीप्रश्नसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
११८. श्रीमद्भागवत
११९. श्रीशङ्कराद्वैतवाद
१२०. षड्विंशब्राह्मण
१२१. सनत्कुमारसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१२२. सनन्दसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१२३. समूर्तार्चनाधिकरण (वैखानसागम)
१२४. सरस्वतीकण्ठाभरण
१२५. सात्त्वतसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१२६ साधनमाला
१२७. सामवेद
१२८. सुप्रभेदागम
१२९. सुश्रुतसंहिता

१३०. सोमशम्भुपद्धति (शैवागमग्रन्थ)
१३१. स्वच्छन्दतन्त्र
१३२. हयशीर्षसंहिता (पाञ्चरात्रागम)
१३३. हारीतगृह्यसूत्र
१३४. हिरण्यकेशीगृह्यसूत्र

हिन्दी-ग्रन्थ

१३५. गृह्यमन्त्र एवं उनका विनियोग
१३६. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका
१३७. भारतीय दर्शन (उपाध्याय)
१३८. भारतीय दर्शन (गैरोला)
१३९. भारतीय दर्शन का इतिहास (दासगुप्ता)
१४०. मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य
१४१. संस्कृत-व्याकरण का उद्भव और विकास
१४२. संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास
१४३. संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश
१४४. हिन्दी-विश्वकोश
१४५. हिन्दू-संस्कार

अँगरेजी-ग्रन्थ

१४६. इण्ट्रोडक्शन टु द पाञ्चरात्र ऐण्ड अहिर्बुध्न्यसंहिता
१४७. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ हिन्दू आर्चिटेक्चर
१४८. एलिमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइक्नोग्राफी
१४९. द स्टूडेण्ट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी
१५०. मुद्राविचारप्रकरणम् ऐण्ड मुद्राविधि
१५१. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलिजन
१५२. संस्कृतड्रामा
१५३. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर
१५४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर

पत्रिका

१५५. अनाल्स ऑफ भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना।
१५६. विश्वसंस्कृतम्
१५७. साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान'

विशिष्ट शब्दानुक्रमणी

आ

इ

उ

य

विशिष्ट शब्दों की विवरणी

(वर्णानुक्रम से)

अग्नि—१. आह्वनीय २. सभ्य, ३. गार्हपत्य।

अग्निकुण्ड—१. चतुष्कोण २. अर्धचन्द्राकार ३. वर्त्तुल ४. पद्माकार।

अग्निजिह्वा—१. नीलवर्णा २. ताम्रवर्णा ३. शुक्ला ४. कृष्णाभा ५. अतसीकुसुमप्रभा ६. शुक्लवर्णा।

अग्निसंस्कार—१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्त ४. जातकर्म ५. नामकरण ६. अन्नप्राशन ७. चौल ८. व्रतबन्ध ९. वेदव्रत १०. समावर्त्तन ११. पत्नीयोग।

अङ्कुरबीज—१. व्रीहि २. मुद्ग ३. श्यामतिल ४. शिम्ब ५. निष्पाव ६. सर्षप ७. प्रियङ्गु ८. माष ९. कौलुत्थ।

अन्न—१. पायसान्न २. गौल्यान्न ३. कृसरान्न ४. हरिद्रान्न ५. यवान्न ६. मिश्रान्न।

अर्पणार्ह पुष्प—१. कमल २. मालती ३. तुलसी ४. यूथिका ५. कुमुद ६. सिन्दुवार ७. कुन्द ८. उत्पल ९. कुब्जक १०. वणिज्या ११. प्रियङ्गु १२. वनमाला १३. कुटज १४. चम्पक १५. मदन १६. पिण्डितकद्वय १७. कुरकद्वय १८. केतकीवनमाला १९. भृङ्गराज २०. सिंहतिका २१. अशोकद्वय २२. केण्ड २३. करवीर २४. नन्द्यावर्त्तद्वय २५. कर्णिकार २६. वकुल २७. पुन्नाग २८. सुवर्चल २९. शिरीष ३०. द्रोणपुष्प ३१. मल्लिकावनमाला ३२. कुरण्डक ३३. फलिनी ३४. सदाभद्रा ३५. कुन्दली ३६. नीलिका ३७. सिंहिका ३८. केसरी ३९. वनजाति ४०. स्थलपद्म ४१. विष्णुवर्णी ४२. सहदेवी ४३. बृहण्णल ४४. शतपत्र ४५. श्रीवेर ४६. दूर्वा ४७. काश ४८. कुश ४९. कदली ५०. कुमुद ५१. माधवी ५२. श्वेतरोहित ५३. बिल्वपत्र ५४. सितार्क ५५. पलास ५६. खदिर ५७. वैडूर्यवर्त्तिनी।

अर्पणार्ह फल—१. कदली २. पनस ३. आम्र ४. द्राक्षा ५. खर्जूर ६. नालिकेर ७. करीर ८. कपित्थ ९. जम्बू १०. जिह्विक ११. वालुक १२. पारावत १३. वरद १४. मातुलुङ्ग १५. दाडिम १६. बिल्व १७. आमलक १८. कार्वल्ली १९. वृन्ताक २०. क्षुद्रपनस २१. करवर्द २२. कर्णाटकफल २३ बल्लित्रय २४. पिण्डा २५. क्षुद्रपिण्डा २६. गङ्गाद्वय २७. आद्र २८. महाशूरण।

अर्घ्यद्रव्य—१. गन्ध २. पुष्प ३. फल ४. यव ५. सिद्धार्थक ६. तिल ७. कुश ८. अक्षत।

अवतार—१. मत्स्य २. कूर्म ३. वराह ४. नरसिंह ५. वामन ६. परशुराम ७. राम ८. कृष्ण ९. वुद्ध १०. कल्की

अश्विनी-परिवार—१. आयुर्वेद २. धनुर्वेद ३. धन्वन्तरि ४. आत्रेय ५. चिकित्सा ६. रोहिणी ७. दीपिनी ८. विशाला।

अष्टमङ्गल (१)—१. शङ्ख २. चक्र ३. पताका ४. श्रीवत्स ५. दर्पण ६ वृष ७. मत्स्ययुग्म ८. कुम्भ।

अष्टमङ्गल (२) १. शङ्ख २. चक्र ३. स्वस्तिक ४. कलश ५. श्रीवत्स ६. चामर ७. सिंह ८. तार्क्ष्य ।

आचमनीय द्रव्य—१. लवंग २. जाति ३. तक्कोल ।

आभासनिवासी—१. शङ्कुकर्ण २. अनन्तगुलिकादि ३. विकट ४. शूलदन्त ५. लोहिताक्षादि ।

आलयचातुर्विध्य—१. वृत्त २. चतुरस्र ३. आयतवृत्त ४. आयतचतुरस्र ।

आसन—१. योगासन २. स्नानासन ३. अलङ्कारासन ४ भोजनासन ५. यात्रासन ।

आहुतिद्रव्य—१. घृत २. क्षीर ३. मधु ४. दधि ५. गौल्यान्न ६. परमान्न ७. कृसरान्न ८. अन्न ९. कृसर १०. गुलगुल ११. तिलादि १२. फल १३. पुष्प १४. लवंग १५. सर्षप १६. पत्र १७. अङ्कुर ।

इन्द्र-परिवार—१. त्रिदशाचार्य २. शुक्र ३. ऐरावत ४. उच्चैःश्रवा ५. शची ६. उपश्री ७. अहल्या ८. कुलिश ।

उत्सव (कालाधृत)—१. द्वादशाहोत्सव २. नवाहोत्सव ३. सप्ताहोत्सव ४. पञ्चाहोत्सव ५. त्र्यहोत्सव ६. एकाहोत्सव ।

उत्सव (त्रिविध)—१. नित्योत्सव २. नैमित्तिकोत्सव ३. काम्योत्सव ।

उत्सवरात्र-देवता—१. वराह २. नृसिंह ३. वामन ४. परशुराम ५. राम ६. राम ७. कृष्ण ८ कल्की ९. मत्स्य ११. कूर्म १२. नारायण ।

उत्सवरात्र-बलिदेवता—१. सर्वभूत २. पैत्रिक ३. यक्ष ४. नाग ५. ब्रह्मा ६. शिव ७. विष्णु ।

उत्सवरात्र-बलिद्रव्य—१. निशाचूर्ण २. पलल ३. दधि ४. शक्तु ५. सतिलशालितण्डुल ६. लाजा ७. मधु ८. बीज ९. नारिकेलपय १० पद्माक्षत ११. यव १२. चरु १३ अपूप १४. गुलान्न १५. पायस १६. कृसर १७. शुद्धान्न १८. मुद्गान्न १९ क्षीर ।

कन्दर्प-परिवार—१. वसन्त २. मदन ३. मार ४. सोम ५. रति ६. वारुणी ७. उषा ८. मकर ।

कन्दर्पशर—१. तापिनी २. मोहिनी ३. मर्दनी ४. प्रमाथिनी ५. हारिणी ।

कर्मेन्द्रियाँ—१. वाक् २. पाणि ३. पाद ४ पायु ५. उपस्थ ।

कलातत्त्वस्थ तत्त्व—१. सर्वात्मा ३. निवृत्यात्मा ३. विश्वात्मा ४. पुरुषात्मा ५. परमेष्ठ्यात्मा ।

कषायोदक-वृक्ष—१. शमी २. उदुम्बर ३. बिल्व ४. पलाश ५. वट ६. खदिर ७. अश्वत्थ ८. विकङ्कत ।

काम्यदेवता—१. अग्नि २. ब्रह्मा ३. धनद ४. गजास्य ५ श्री ६. स्कन्द ७. सूर्य ८. रुद्र ९. दुर्गा १०. यम ११. इन्द्र १२. विष्णु १३. काम १४. अश्विनी १५. चन्द्र ।

केसराचल—१. निषध २. हेमकूट ३. हिमवान् ४. नीलगिरि ५. श्वेतगिरि ६. शृङ्गवान् ।

क्षिति (चतुर्विध)—१. वारुणी २. ऐन्द्री ३. वायवी ४. आग्नेयी ।

गन्धोदकद्रव्य—१. चन्दन २. कुसुम ३. मांसी ४. ह्रीबेर ५. मुर ६. उशीर ७. कुष्ठ ८. अगरु ।

गभस्तिमत्तृतीयखण्ड-निवासी—
१. महोदर २. महाकाय ३. महोत्कट ।

गभस्तिमद्द्वितीयखण्ड-निवासी—
१ कार्कोट २. पद्मराग ३. खण्डक ।

गभस्तिमत्प्रथमखण्ड-निवासी—
१. महिषादि ।

गर्भागार-पद—१. ब्राह्म २. दैवत ३. मानुष ४. पैशाच।

चतुर्मूर्त्ति—१. वासुदेव २. सङ्कर्षण ३. प्रद्युम्न ४. अनिरुद्ध।

चतुर्मूर्त्ति देवियां—१. शान्ति २. श्री ३. सरस्वती ४. रति।

चतुष्कालार्चन—१. प्रातः २. मध्याह्न ३. सायं ४. निशीथ।

चतुष्पत्नीभुवनपत्न—१. भारत २. केतुमाल ३. भद्राश्व ४. कुरव।

चन्द्र-परिवार—१. रोहिणी २. रेवती ३. ज्योत्स्ना ४. ह्लादिनी ५. वैकृती ६. वायवी ७. वारुणी ८. ऐन्द्री।

जम्बूद्वीपस्थ द्वीप—१. अङ्गद्वीप २. मलयद्वीप ३. शङ्खद्वीप ४. कुमुदद्वीप ५. वराहद्वीप ६. लङ्काद्वीप।

जलतत्त्वस्थ तीर्थ—१. अमरेश २. प्रभास ३. नैमिष ४. पुष्कर।

जाति (मन्त्रस्थ)—१. नमः २. स्वाहा ३. वषट् ४. वौषट् ५. हूँ ६. फट्।

जीर्ण संस्कार (त्रिविध)—१. मानुष २. आर्षक ३. स्वव्यक्त।

ज्ञानकर्त्री शक्तियाँ—१. शब्द २. स्पर्श ३. रूप ४. रस ५. गन्ध।

ज्ञानेन्द्रियां—१. श्रोत्र ३. त्वक् ३. चक्षु ४. जिह्वा ५. घ्राण।

तत्त्वशोधन पद—१. दामोदरपद २. पद्मनाभपद ३. हृषीकेशपद ४. श्रीधर-पद ५. वामनपद ६. त्रिविक्रमपद ७ मधुसूदनपद ८. विष्णुपद ९. गोविन्द-पद १०. माधवपद ११. नारायणपद १२ केशवपद।

तत्त्व—१. पृथ्वी २. आप ३. तेज ४. वायु ५. व्योम ६. गन्धतन्मात्रा ७. रस-तन्मात्रा ८. रूपतन्मात्रा ९. स्पर्शतन्मात्रा १०. शब्दतन्मात्रा ११. वाक् १२. पाणि १३. पाद १४. पायु १५. उपस्थ १६. श्रोत्र १७. त्वक् १८. नेत्र १९. जिह्वा २०. घ्राण २१. अहंकार २२. बुद्धि २३. मन २४. तम २५. रज २६. सत्त्व।

तन्त्र—१. वैखानस २. शैव ३. पाशुपत ४. पाञ्चरात्र।

तिलपद्म पर अर्चनीय देवता—१. इन्द्र २. पुरुष ३. अग्नि ४. सन ५. सत्य ६. यातुधान ७. अधिप ८. नारायण ९. वरुण १०. अच्युत ११. सदागति १२. अनिरुद्ध १३. धनद १४. हर १५. शशिशेखर १६. कृष्ण।

तिल (पाँच)—१. श्वेत २. कृष्ण ३. पीत ४. वन्य ५. महातिल।

तीर्थ—१. ब्राह्म २. दैवत ३. पैत्रिक।

तीर्थ (क्षेत्र)—१. सालग्राम २ द्वारवती ३. चक्रदान ४. कुरुप्रिय ५ रङ्ग; ६. सौकर ७. कण्ठ ८. काञ्ची ९. शिवप्रिय।

तीर्थों के आराध्य—१. मुकुन्द २. केशव ३. चक्रधर ४. माधव ५. वासुदेव ६. सौकरानन ७. जनार्दन ८. वरद ९. हरि।

तोरणध्वज-देवता—१. कुमुद २. कुमुदाक्ष ३. पुण्डरीक ४. वामन ५. शङ्कुकर्ण ६ सर्वनेत्र ७. सुमुख ८. सुप्रतिष्ठ।

त्रिकालार्चन—१. प्रातः २ मध्याह्न ३. सायं।

दक्षिणा—१. उत्तमा २. मध्यमा ३. अधमा।

दिक्पाल—१. इन्द्र २. यम ३. वरुण ४. धनद ५. वह्नि ६. नैर्ऋति ७. वायु ८. ईशान।

दीक्षित—१. समयी २. दीक्षित ३. चक्रवर्त्ती ४. अभिषिक्त ५. गुरु ६. आचार्य ६. भगवान्।

दुर्गा-परिवार—१. जया २. विजया ३. पूर्णा ४. पुष्कला ५. पुष्टि ६. तुष्टि ७. इष्टि ८. प्रीति।

देवपुरी—१. अमरावती २. तेजोवती ३. वैवस्वती ४. रक्षोवती ५. शुद्धवती ६. गन्धवती ७. महोदया ८. यशस्विनी

द्वादशार देव—१. धाता २. अर्यमा ३. विधाता ४. मित्र ५. वरुण ६. भग ७. इन्द्र ८. विवस्वान् ९. सविता १०. पूषा ११. त्वष्टा १२. विष्णु।

द्वारकुम्भ देव—१. पूर्ण २. पुष्कर ३. आनन्द ४. नन्द ५. वीरसेन ६. सुषेण ७. सम्भव ८. प्रभव।

द्वारकुम्भरत्न—१. पद्मराग २. प्रवाल ३. वैडूर्य ४ पुष्पक ५. नील ६. मरकत ७. मुक्ताफल ८. स्फटिक।

द्वारपाल—१. चण्ड २. प्रचण्ड ३. जय ४. विजय ५. पूर्ण ६. पुष्कर ७. गरुड ८. विष्वक्सेन ९. आनन्द १०. नन्द ११. वीरसेन १२. सुषेण १३ सम्भव १४. प्रभव।

धनद-परिवार—१. नर २. यक्षप्रिय ३. नलकूबर ४. धनप्रिय ५. धनाध्यक्ष ६. धनी ७. धनिनायक ८ कूप्य।

धान्य (ग्राम्य)—१. तिल २. व्रीहि ३. यव ४. माष ५. गोधूम ६. प्रियङ्गु ७. मुद्ग।

धान्य (वन्य)—१. वेणु २. श्यामाक ३. नीवार ४. जर्तिला ५. गवीधुक् ६. कर्कट ७. श्रुतक।

नितल द्वितीय खण्ड-निवासी—१. कम्बलाश्वतरादि २. यमद्रंष्ट्र ३. उग्रद्रंष्ट्र ४. विषलाभ।

नितल प्रथमतल-निवासी—१. शिशुमाराण्डकादि।

नियम (दस)—१. शौच २. इज्या ३. तप ४. सत्य ५. स्वाध्याय ६. उपस्थ-निग्रह ७. व्रत ८. उपवास ९. मौन १०. ध्यान।

निषेकादि संस्कार—१. गर्भाधान २. पुंसवन ३. सीमन्त ४. जातकर्म ५ गुह्य-नामकरण ६. स्तनपान ७. नामकरण ८. उपनिष्क्रमण ९. भानुनिरीक्षण १०. अन्न-प्राशन ११. चूडाकरण १२. उपनयन १३. वेदाभ्यास १४. दीक्षा १५. समावर्त्तन १६. विवाह १७. अग्न्याधान १८. वान-प्रस्थ १९. संन्यास २०. शरीरत्याग २१. दाहसंस्कार २२. श्राद्धकर्म।

न्यास (त्रिविध)—१. स्थितिन्यास २. सृष्टिन्यास ३. संहृतिन्यास।

पञ्चकाल—१. अभिगमनकाल २. उपादानकाल ३. इज्याकाल ४. स्वाध्यायकाल ५. योगकाल।

पञ्चकालार्चन—१. प्रातः २. मध्याह्न ३. अपराह्न ४. सायं ५. निशीथ।

पञ्चगव्य (त्रिविध)—१. प्रोक्षणार्थ २. प्राशनार्थ ३ स्नपनार्थ।

पञ्चगव्यद्रव्य (प्राशनार्थ)—१. शकृद्-रस २. मूत्र ३. दधि ४. आज्य ५. पय।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपनार्थ)—१. गो-मूत्र २. गोक्षीर ३. गोदधि ४. गोघृत ५. गोशकृत्।

पञ्चगव्यद्रव्य (स्नपन)—१. घृत २. शकृत् ३. रस ४. दधि ५. क्षीर।

पञ्चज्ञानशक्ति—१. सूक्ष्मा २. सुसूक्ष्मा ३. मृता ४. अमृता ५. व्यापिनी।

पञ्चतत्त्व—१. पृथिवी २. वायु ३. आकाश ४. आप् ५. ज्योति।

पञ्चभूत—१. पृथ्वी २. आप् ३. तेज ४. वायु ५ आकाश।

पञ्चशक्ति—१. परमेष्ठी २. पुमान् ३. विश्व ४. निवृत्ति ५. सर्व।

परताल-तृतीय खण्ड-निवासी—१. विद्युन्माली २. ताम्रजिह्व ३. हिरण्याक्ष।

परताल-द्वितीय खण्ड-निवासी—१. वासुकी २. शङ्खपाल ३. धृतराष्ट्र।

परताल-प्रथम खण्ड-निवासी—१. प्रह्लाद २. ह्लाद ३. वह्निजिह्व।

पल्लवार्थ वृक्ष—१. न्यग्रोध २. उदुम्बर ३. अश्वत्थ ४. चम्पक ५. अशोक ६. पलास ७. प्लक्ष ८ वकुल ९. कदम्ब १०. आम्र ११. बिल्व १२. अर्जुन।

पवित्रभेद—१. अधम २. मध्यम ३. उत्तम ४. वनमाला।

पाद्याङ्ग द्रव्य—१. विष्णुपर्णी २. दूर्वा ३. पद्म ४. श्यामाक।

पाताल सप्ततल—१. आभास २. परतल ३. नितल ४. गभस्तिमत् ५. महातल ६. सुतल ७. रसातल।

पालिका (त्रिविध)—१. पालि २ घटिका ३. शराव।

पिण्डिकान्यास-बीज—१. यव २. व्रीहि ३. निष्पाव ४. प्रियङ्गु ५. तिल ६ माष ७. नीवार ८. महाशालि।

पिण्डिकान्यास-रत्न—१. रत्न २. मौक्तिक ३. वैडूर्य ४. शङ्ख ५. स्फटिक ६. पुष्टि ७. चन्द्रकान्त ८. इन्द्रनील ९. पद्मराग १०. मनःशिला ११. हरताल १२. अञ्जन १३. श्यामशीशक १४ सौराष्ट्र १५. रोचन १६. गैरिक १७. पारद १८. हिरण्य १९, रजत २०. ताम्र २१ आयस २२. त्रपु २३. कांस्य।

पुष्पाहरण-पात्र—१. पत्रज २. लौहज ३. दारुज ४. जलज।

पूजा-साधन—१. आप् २. पुष्प ३. पत्र ४. गन्ध ५. वास ६. माला ७. धूप ८. दीप ९. भूपणादि १०. गुग्गुल ११. मुद्ग १२. मत्स्यपिण्ड १३. दधि १४. फल १५. हृतक १६. सूप १७. व्यञ्जनादि १८. स्रुव।

प्रतिमा (त्रिविध)—१. चित्र २. अर्धचित्र ३. चित्राभास।

प्रतिमोपादानद्रव्यकृत भेद—१. शिलामयी २. लौहमयी ३. मणिमयी ४. काष्ठमयी ५. मृण्मयी।

प्रतिष्ठाकल्प—१. मुख्य कल्प २. अनुकल्प।

प्रतिष्ठाभेद (पञ्च)—१. स्थापना २. आस्थापना ३. संस्थापना ४. प्रस्थापना ५. प्रतिष्ठा।

प्रतिष्ठा - यागशाला - तोरण—१. सुशोभन २. सुभद्र ३. सुकर्म ४. सुगोत्र।

फलाम्भद्रव्य—१. कदली २. मातुलुङ्ग ३. बिल्व ४. आमलक ५. पनस ६. नालिकेर ७. चूत ८. बीजपूरक।

बिम्बमृद्भेद—१. शुक्ला २. रक्ता ३. पीता ४. कृष्णा।

बिम्ब (षड्विध)—१. मूल २. कौतुक ३. वलिबिम्ब ४. तीर्थयात्राबिम्ब ५. उत्सवबिम्ब ६. स्नपनबिम्ब।

बुद्धि—१. अहंकार २. मन ३. सङ्कल्प।

बेरचातुर्विध्यम्–१. आसन २. शयन ३. स्थानक ४. यानग।

ब्रह्मपरिवार–१. सावित्री २. गायत्री ३. कपिल ४. काश्यप ५. दक्ष ६. रुद्र ७. अग्नि ८. मरुत् ९. भृगु १०. नारद।

भक्ष्यभेद—१. भोज्य २. लेह्य ३. चोष्य ४. पेय।

भद्राश्वादिदेश–१. भद्राश्व २. केतु-माल ३. भारत ४. कुरव।

भद्राश्वादि देवता—१. हयशीर्ष २. वराह ३. कूर्म ४. मत्स्य।

भारत-विभाग—१. इन्द्र २. कसेरु ३. ताम्र ४. गभस्ति ५. सौम्यक ६. गन्धर्व ७. चारण ८. कन्यकाद्वीप ९. वारुण।

भारतस्थ सर—१. अनन्त २. पङ्कज ३. चन्द्र ४. आगस्त्य ५. पुष्कर।

भारतस्थ शिवक्षेत्र—१. वाराणसी २. कालार्क ३. चक्रदान ४. वासुकेश्वर ५. वटचिह्नित ६. आदिमुक्तेश्वर।

भारतस्थ नदी—१. भागीरथी २. यमुना ३. नर्मदा ४. सरस्वती ५. कावेरी ६. ताम्रपर्णी ७. गोदा ८. वेगा ९. महानदी।

भारतस्थ महाचल—१. महेन्द्र २. मलय ३. सह्य ४. कीर्त्तिमान् ५. ऋक्षपर्वत ६. विन्ध्य ७. पारियात्र ८. कन्यक।

भूमण्डल-विभाग—१. जम्बूद्वीप २. शाकद्वीप ३. कुशद्वीप ४. क्रौञ्चद्वीप ५. शाल्मलीद्वीप ६. गोमेदद्वीप ७. पुष्करद्वीप

मणिजार्चा (त्रिविध)—१. चन्द्र-कान्तमयी २. सूर्यकान्तमयी ३. स्फटिकजा।

मण्डल—१. भद्रक २. चक्राब्ज।

मन्त्रभेद—१. एकाक्षर २. द्व्यक्षर ३. त्र्यक्षर ४. पञ्चाक्षर ५. षडक्षर ६. सप्ताक्षर ७. अष्टाक्षर ८. बह्वक्षर।

महातल तृतीयखण्ड-निवासी—१. ज्वालास्य २. पद्म ३. गुह्य।

महातल द्वितीयखण्ड-निवासी—१. मणिमत् २. तीक्ष्णजिह्व ३. काद्रवेय।

महातल प्रथमखण्ड-निवासी—१. धनंजय २. सुकलादि।

महानदी-विभाग—१. सीता २. अलकनन्दा ३. चक्षु ४. भद्रा।

महोत्सव-भेद—१. ध्वजारोहणपूर्वक २. देवताह्वानपूर्वक ३. अङ्कुरार्पणपूर्वक।

मातृसप्त—१. वागीश्वरी २. क्रिया ३. कीर्त्ति ४. लक्ष्मी ५. सृष्टि ६. विद्या ७. कान्ति।

मानुषबिम्ब-पूजनभेद—१. स्थावर २. अस्थावर।

मार्जनाम्भोद्रव्य–१. सहदेवी २. श्रीश ३. रजनी ४. सूर्यवर्त्तिनी ५. सदाभद्रा ६. कुशाग्र।

मासाधिप (द्वादश)–१. विष्णु २. मधु-सूदन ३. त्रिविक्रम ४. वामन ५. श्रीधर ६. हृषीकेश ७. पद्मनाभ ८. दामोदर ९. केशव १०. नारायण ११. माधव १२. गोविन्द।

मुद्ग (सप्त)—१. मुद्गा २. कृष्णा हेमा ४. श्वेता ५. पीता ६. महत्तरा ७. अञ्जनाभा।

मेखला (अग्निकुण्ड)—१. सात्त्विकी ५. राजसी ३. तामसी।

मेरुचतुर्दिक् - स्थित पर्वत—१ सितान्त २. चक्रमुञ्ज ३. माल्यवान् ४. कुकुरी वैकङ्कत ६. सिंशर ७. पतङ्ग ८. रुचक ९. त्रिकूट १०. निषद् ११. वैडूर्य

१२. विवास १३. कपिल १४. गन्धमादन मारुधि १६. हंस १७. वृषभ १८. शङ्कु १९. कुम्भनाग २०. अञ्जन २१. काल।

मेरुभृङ्ग—१. सौवर्ण २. राजत ३. रत्नज।

मेरु के उत्तर के वर्ष—१. रम्यक २. हिरण्यक ३. कुरव।

यम-परिवार—१. चित्रगुप्त २. कवि ३. कृतान्त ४. मृत्यु ५. कालकन्या ६. निद्रा

यम (दस)—१. आनृशंस्य २. क्षमा ३. सत्य ४. अहिंसा ५. दम ६. आर्जव ७ शम ८. प्रसाद ९. माधुर्य १०. मार्दव।

याग (सप्त)—१. याग २. स्तोम ३. महायाग ४. अध्वर ५. सव ६. क्रतु ७ हरिस्तोम।

यागोपकरण—१. समित् २. इध्म ३. परिधि ४. आज्यपात्र ५. प्रणीता ६. प्रोक्षणी ७. अर्घ्यादिपात्र ८. धूपपात्र ९, सर्वपात्राधार १०. घट ११. वर्धनी १२. कटाह १३. कर्पर १४. जलपात्र १५. स्थाली १६. मुकुटादि भूषण १७. स्नपनद्रव्य १८. पञ्चगव्यद्रव्य १९. वस्त्र २०. ध्वज २१. छत्र २२. अष्ट-मङ्गल २३. तालवृन्त २४, पाद्यप्रतिग्रहपात्र २५. आचमनप्रतिग्रहपात्र २६. आसन २७. पीठ २८. विष्टर २९. पादुका ३०. दर्पण ३१. ओदनपात्र ३२. खट्वा।

योगपीठगात्र—१. अधर्म २. अज्ञान ३. अवैराग्य ४. अनैश्वर्य।

योगपीठपाद—१. धर्म २. ज्ञान ट. वैराग्य ४. ऐश्वर्य।

यौवनशिलाभेद—१. स्त्रीशिला २. पुंशिला ३. नपुंसकशिला।

रत्नोदक द्रव्य—१. माणिक्य २. पद्म-राग ३. नील ४. वज्र ५, पुष्य ६. प्रवाल ७. मुक्तक ८. मरकत ९. वैडूर्य।

रसातल तृतीय खण्ड-निवासी—१. हाटक।

रसातल द्वितीय खण्ड-निवासी—१. लोहिताक्षादि।

रसातल प्रथम खण्ड-निवासी—१. सालवन्ध्य २. तक्षक।

रुद्र-परिवार—१. गङ्गा-यमुना २. वृषभ ३. सनक ४. स्कन्द ५. सनत्कुमार ६. ब्रह्मा ७. चन्द्र ८. आदित्य।

लोहचतुष्टय—१. सुवर्ण २. रजत ३. ताम्र ४. आरकूट।

लोहोदकद्रव्य—१. रुक्म २. रूप्य ३. ताम्र ४. आयस ५. त्रपु।

वर्षपर्वत—१. मन्दर २. गन्धमादन ३. विपुल ४. सुपार्श्व।

वायुतत्त्वस्थ तीर्थ—१. कुरुक्षेत्र २. विमल ३. प्रभास।

वास्तुपददेव—१. ब्रह्मा २, गुरु ३. पर्जन्य ४. जय ५. माहेन्द्र ६. आदित्य ७. सत्य ८. भृगु ९. अन्तरिक्ष १०. वह्नि ११. पूषा १२. गृहक्षत्ता १३. भृगु १४. यम १५. गन्धर्व १६. भृङ्ग १७. राजा १८. पितृ १९. दौवारिक २०. सुग्रीव २१. पुष्पदन्त २२. वरुण २३. असुर २४. शोषण २५. पापयक्ष्मा २६. रोग २७. अहि २८. मुख्य २९. भल्लाट ३०. सोम ३१. भुजग ३२. अदिति ३३. दिति ३४. आप् ३५. आप-वत्स ३६. सविता ३७. सावित्र ३८. इन्द्र ३९. इन्द्रजय ४०. रुद्र ४१. यक्ष्मा ४२. मारीचि ४३. विपश्चित् ४४. मित्र ४५. भृगु।

वास्तुभूमिभेद— १. सुवर्णा २. सुभद्रा ३. पूर्णा ४. धूम्रा।

वास्तुहोमदेव—१. इन्द्र २. वह्नि ३. सोम ४. वरुण ५. समीर ६. कुवेर ७. रुद्र ८. भूत ९. ग्रह १०. नक्षत्र ११. विश्व १२. विष्णु।

विमानक्रम—१. स्वतन्त्र २. अस्वतन्त्र ३. केवलालय।

विमानदेव—१. आदिवराह २. श्रीहरि ३. श्रीधर ४. हयशीर्ष ५. वराह ६. नृकेसरी ७. जनार्दन ८. अनन्त ९. हस्तिवदन १०. ईश ११. दक्षिणामूर्ति १२. विश्वरूप १३. कमलासन १४. अम्बिका।

विमानस्थ तत्त्व—१. पृथ्वी २. आप् ३. तेज ४. समीर ५, गगन ६. वाक् ७. कर ८. पाद ९. पायु १०. योनि ११ श्रोत्र १२. त्वक् १३. नेत्र १४. जिह्वा १५. घ्राण १६. गन्ध १७. रस १८. रूप १९. स्पर्श २०. शब्द २१. मन २२. बुद्धि २३. अभिमान २४. प्रकृति २५. पुरुष।

विषुवभेद—१. शक्त्यतीत विषुव २. मन्त्रविषुव ३. प्रशान्तविषुव ४. कालविषुव।

विष्णुशक्तिपात—१. दिव्य २. मन्द ३. मध्य।

शय्यास्थपूज्य देव—विष्णु २. मधुसूदन ३. त्रिविक्रम ४. वामन ५. श्रीधर ६. हृषीकेश ७. पद्मनाभ ८. दामोदर।

शान्त्यादि परिवार-देवी—१. शान्ति २. श्री ३. सरस्वती ४. रति।

शालि (दस)—१. रक्तशालि २. महाशालि ३. कल्मा ४. गन्धशालि ५. श्वेतशालि ६. ससूर ७. हेमशालि ८. भार्गवशालि ९. सुकुमारशालि १० सूक्ष्मशालि।

शिलाभेद (अवस्थाकृत)—१. बाला २. वृद्धा ३. मध्यमा।

शिलाभेद (स्थानकृत)—१. वारुणी २. माहेन्द्री ३. आग्नेयी ४. वायवी।

शिलासंग्रह-स्थान—१. हिमवान् २. हेमकूट ३. निषध ४. त्रिकूट ५. माल्यवान् ६. ऋक्ष ७. शृङ्गवान् ८. मलय ९. गन्धमादन १० मेरु ११. सत्य १२. विन्ध्य १३. पारियात्र १४. अर्बुद १५. श्रीपर्वत १६. जयन्त १७. श्वेतपर्वत।

श्रीपरिषद्-देव—१. पद्महस्ता २. कमला ३. वासुदेवी ४. हरिप्रिया ५. पद्मासना ६. पद्मभवा ७. महोदध्यात्मजा ८. इला।

षट्कालार्चन—१ प्रात २. मध्याह्न ३. अपराह्न ४. सायं ५. निशीथ ६. प्रत्यूष।

षड्द्वीप—१ प्लक्षद्वीप २. कुशद्वीप ३. क्रौञ्चद्वीप ४. शाल्मलीद्विप ५. गोमेदद्वीप ६. पुष्करद्वीप।

सप्तलोक—१. भू २. भुव ३. स्व ७. मह ५. जन ६. तप ७. सत्य।

सप्तसमुद्र—१. क्षार २. क्षीर ३. सर्पि ४. इक्षु ५. सुरा ६. दधि ७. स्वच्छोद।

समरस—१. मन्त्रसमरस २. नाडीसमरस ३. भूतसमरस ४. तत्त्वसमरस।

सुतल तृतीय खण्ड-निवासी—१. मेघनाद २. भीम ३. अभिबल।

सुतल द्वितीय खण्ड-निवासी—१. नागराज ३. श्वेतभद्र ३. सुदर्शन ४. दुर्मुख।

सुतल प्रथम खण्ड-निवासी—१. शङ्खोदर।

सूर्यकला—१. तपनी २. तापनी ३. धूम्रा ४. ज्वलिनी ५. ज्वालिनी ६. पावनी ७. हव्यवाहा ८. तेजोवती ९. शतधा १०. वामा ११. पद्मप्रबोधिनी १२. तमोपहा ।

सूर्य-परिवार—१. उषा २. सन्ध्या ३. चन्द्र ४. अङ्गार ५. बुध ६. बृहस्पति ७. शुक्र ८. शनैश्चर ९. राहु १०. केतु ।

सोमकला—१. पूषा २. अर्यमा ३. सुमना ४. पुष्टि ५. प्रीति ६. रति ७. सृष्टि ८. धृति ९. मति १०. मेधा ११. मनीषा १२. अंशुमालिनी १३. शङ्खिनी १४. स्वच्छा १५. सम्पूर्ण-मण्डला ।

स्कन्द-परिवार—१. मयूर २. शक्ति ३. मेधा ४. प्रज्ञा ५. द्विरद ६. ककुद् ७. देवसेना ८. विद्या ।

स्नपन-द्रव्य—१. घृत २. उष्णोदक ३. रत्नवारि ४. फलोदक ५. लोहाम्भ ६. मार्जनाम्भ ७. गन्धाम्भ ८. अक्षतवारि ९. यवोदक १०. पाद्य ११. अर्घ्य १२. आचमन १३. पञ्चगव्य १४. दधि १५. पय १६. मधु १७. कषाय १८. गुलोदक १९. इक्षुरस २०. नालिकेर-रस २१. शान्तिवारि २२. मङ्गलोदक ।

स्नपनदेव—१. विष्णु २. दिवाकर ३. ब्रह्मा ४. कुबेर ५. वसव ६. विश्वेदेव ७. गन्धर्व ८. निर्ऋति ९. आर्या १०. पितृदेव ११. श्री १२. वाग्देवी १३. दक्ष १४. शुक्र १५. सोम १६. महेन्द्र १७. यम १८. वराह १९. नृसिंह २०. श्रीधर २१. भव २२. वासुदेवादि २३. शान्त्यादि २४. अश्विनी २५. शेष २६. परब्रह्म २७. मातृ २८. विष्णु

हविरादि निवेदपात्र-द्रव्य—१. सुवर्ण २. लौह ३. दारु ४. शिला ५. पर्ण ६. मृद् ७. शाख ८. जलज ९. फलमय ।

हविर्भेद—१. नित्य २. नैमित्तिक ३. काम्य ।

हविर्भेद (आलयार्चा में)—१. उत्तमोत्तम २. उत्तम-मध्यम ३. उत्तमाधम ४. मध्यमोत्तम ५. मध्यम-मध्यम ६. मध्य-माधम ७. अधमोत्तम ८. अधम-मध्यम ९. अधमाधम ।

हविर्भेद (गृहार्चा में)—१. उत्तम २. मध्यम ३. अधम ।

हुताशन-काल—१. उद्भवा २. विरजा ३. विश्वा ४. विमला ५. बिन्दुमालिनी ६. सुप्रभासा ७. जलदा ८. क्षीरदा ९. सुवर्चसा १०. आज्यभागा ११. हविर्भागा १२. आहुति १३. यज्ञोद्भवा १४. व्यापिनी १५. पूर्णा १६. निर्वाणा ।

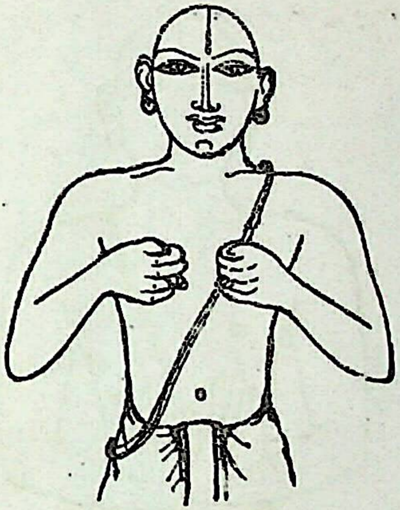
हेति-परिवार—१. शङ्ख २. चक्र ३. गदा ४. पङ्कज ५. मुसल ६. खड्ग ७. शार्ङ्ग ८. वनमाला ।[1]

(१. नारदीय संहिता, अनुबन्ध ३, पृ० ५३०—५४२)

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ० सं० : पंक्ति-सं०
ग्रन्थों	ग्रन्थ	३—७
प्रसादमण्डल	प्रासादमण्डल	४—१
आमुद्रित	अमुद्रित	४—१०
काल्माय	काल्माष	४१—२३
नारदीय	नासदीय	४७—७
उत्पत्तिकमकम	उत्पत्तिक्रम	४८—२२
क्षीरदशायी	क्षीरोदशायी	४९—३१
सृष्टया	सृष्ट्यादि	५०—१
ककारसेखकारकी	ककार से चकार की	६८—३
पुरांजलि	पुटांजलि	१०१—१५
२	७	१०३—३६
३	८	१०३—३८
भगच्छक्ति	भगवच्छक्ति	११३—१९,२१
चार	विचार	११७—१
वार्ण	वाण	१२८—१०
ब्रह्म	ब्रह्मा	१३५—१४
भूतप्रभाति	भूतप्रमाथि	१३५—२२
या	०	१३७—३
मुनियो	मुनियों	१३७—३
ऊहा	ऊह	१४१—१४
कल्प	कल्पन	१५४—२०
ब्रह्माणादि	ब्राह्मणादि	१५६—१९
भागव	भागवत	१७४—१३
प्रभेदनाम्	प्रभेदानाम्	१८४—१६
वहा	कहा	१९६—१८
कारण	काल	२१३—३
विज्ञान	विज्ञापन	२१८—७
शक्ति	भक्ति	२२१—४
विधन	विधान	२२५—१०
पवित्रोत्स्व	पवित्रोत्सव	२३७—११
क्षौभ	क्षौम	२३९—१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृ० सं० : पंक्ति-सं०
विशेप	विशेष	२४५—१६
सिद्धान्त	सिद्धान्न	२५५—२४
वैंणव	वैष्णव	२५५—२६
भगवद्भाग	भगवद्याग	२६१—१६
भगवद्भजन	भगवद्यजन	२६१—२०
रक्तवर्ग	रक्तवर्ण	२८६—२
कसरों	केसरों	२८८—१०
आकृतियाँ	आहुतियाँ	२८६—१८
मंच	मन्त्र	३०२—२८
पाञ्चरात्र	पञ्चकाल	३१२ ८
ने	के	३२०—१०
के	०	३२१—११
किञ्चितृ	किञ्चित्	३४६—१२
४४६	३४६	३४६—१



हृदयमुद्रा



शिरोमुद्रा

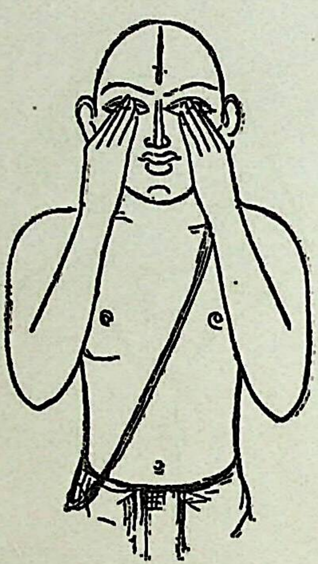


शिखामुद्रा

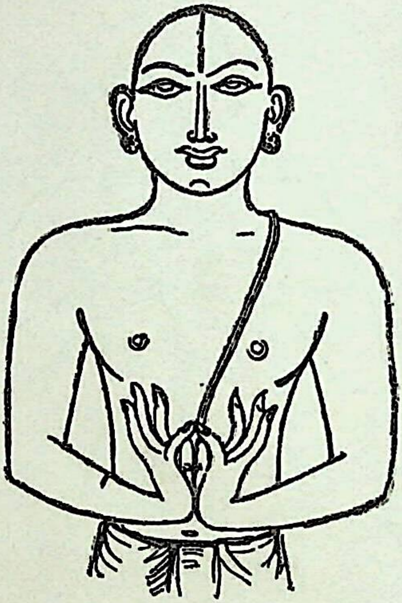


कवचमुद्रा

ख



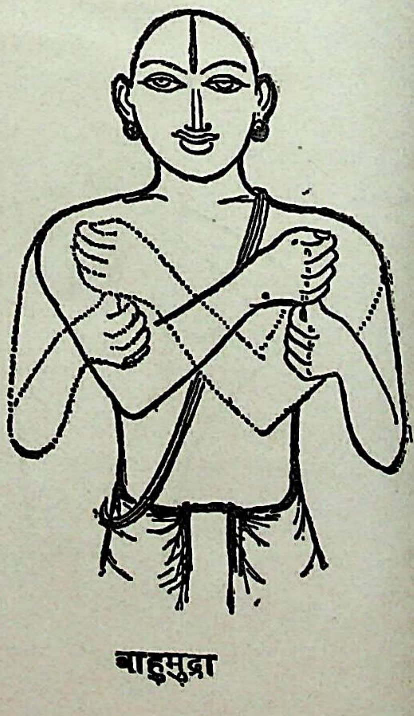
नेत्रमुद्रा



उदरमुद्रा



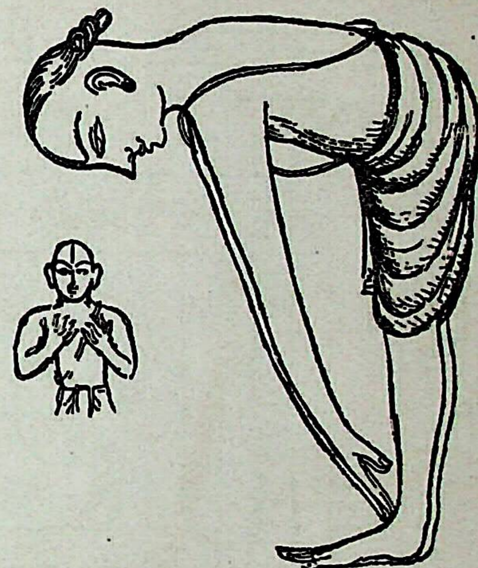
पृष्ठमुद्रा



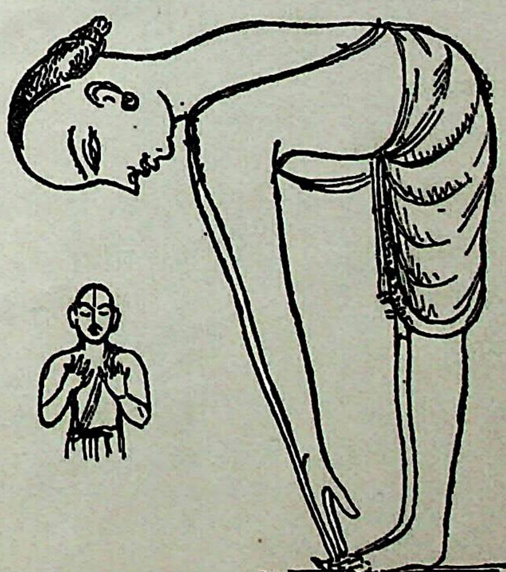
बाहुमुद्रा



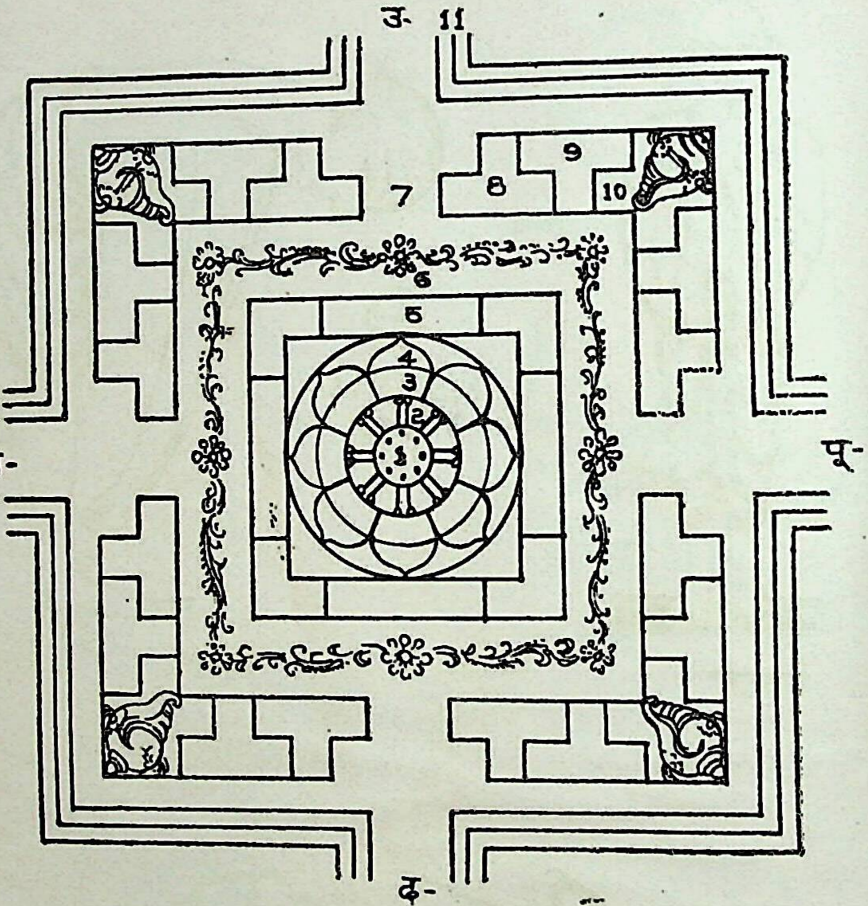
ऊरुमुद्रा



जङ्घामुद्रा



पादमुद्रा

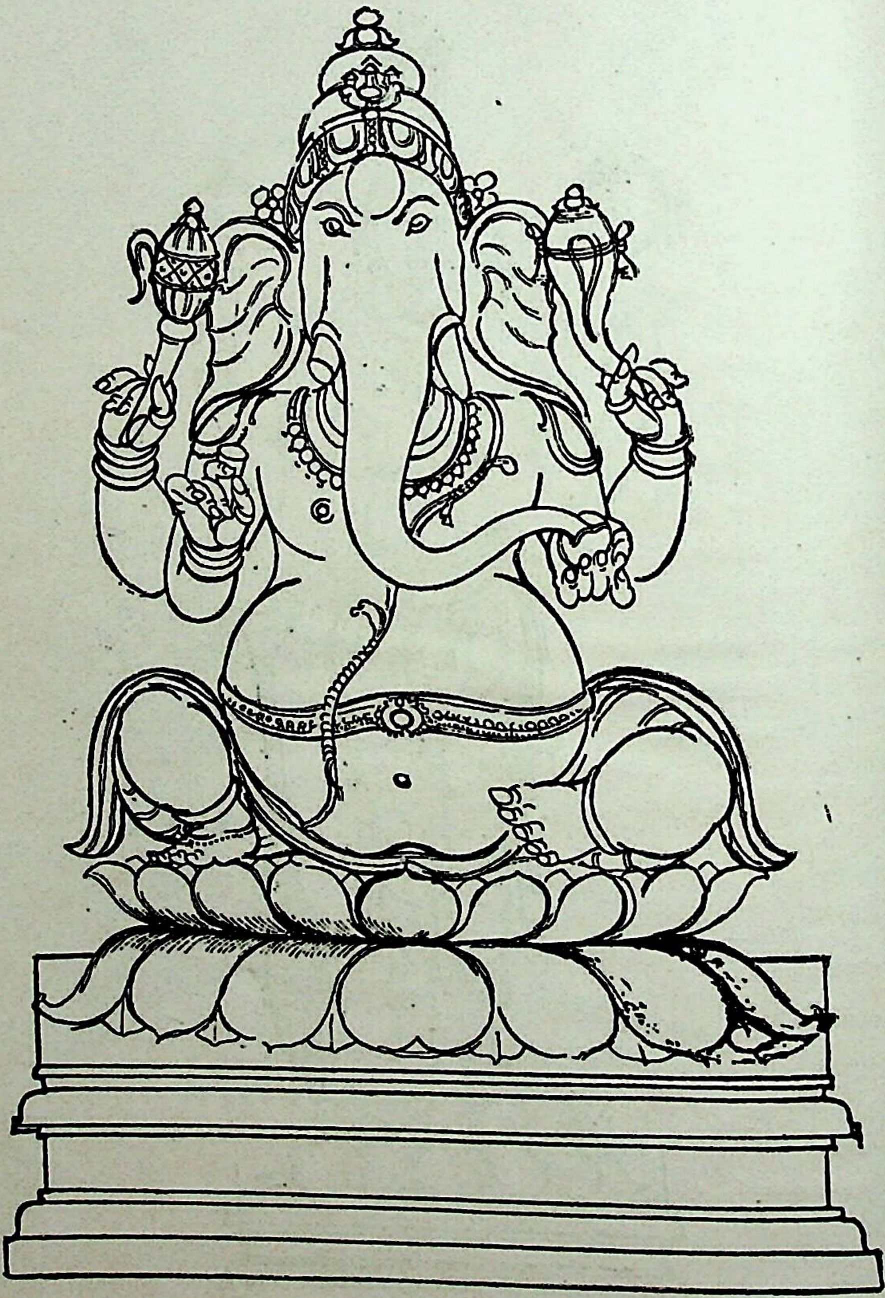


भद्रकमण्डलम्

1. कर्णिकाक्षेत्रम्
2. केसरक्षेत्रम्
3. दलसन्धिक्षेत्रम्
4. दलाग्रक्षेत्रम्
5. पीठम्
6. वीथिः
7. द्वारम्
8. शोभा
9. उपशोभा
10. कोणः
11. बहिरावरण-रेखा



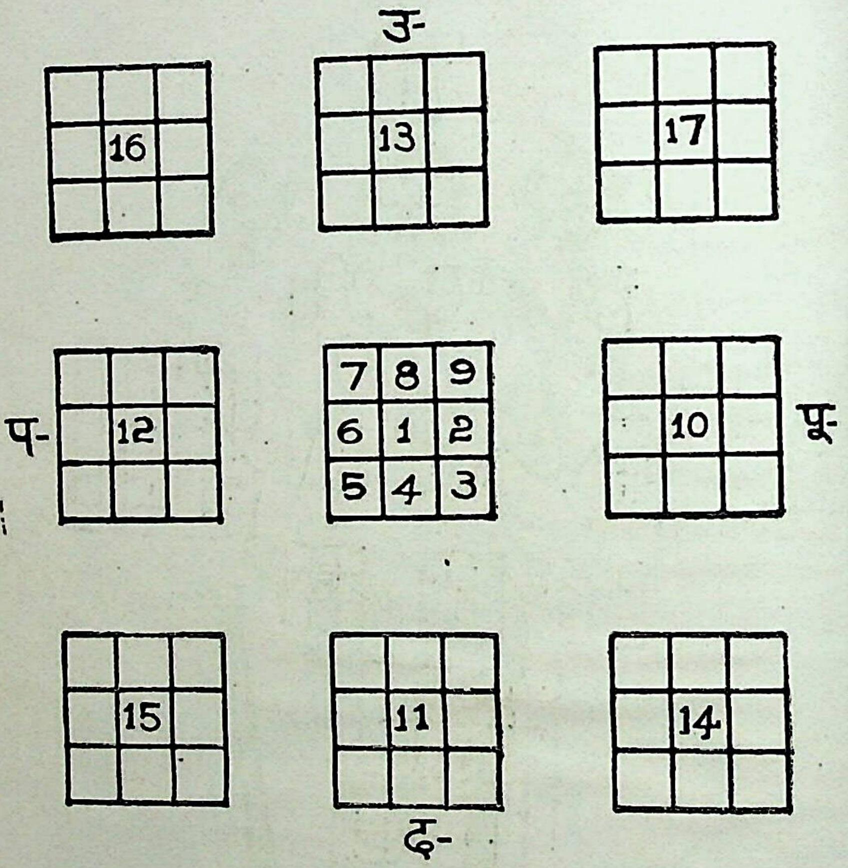
स्थानकवासुदेवः



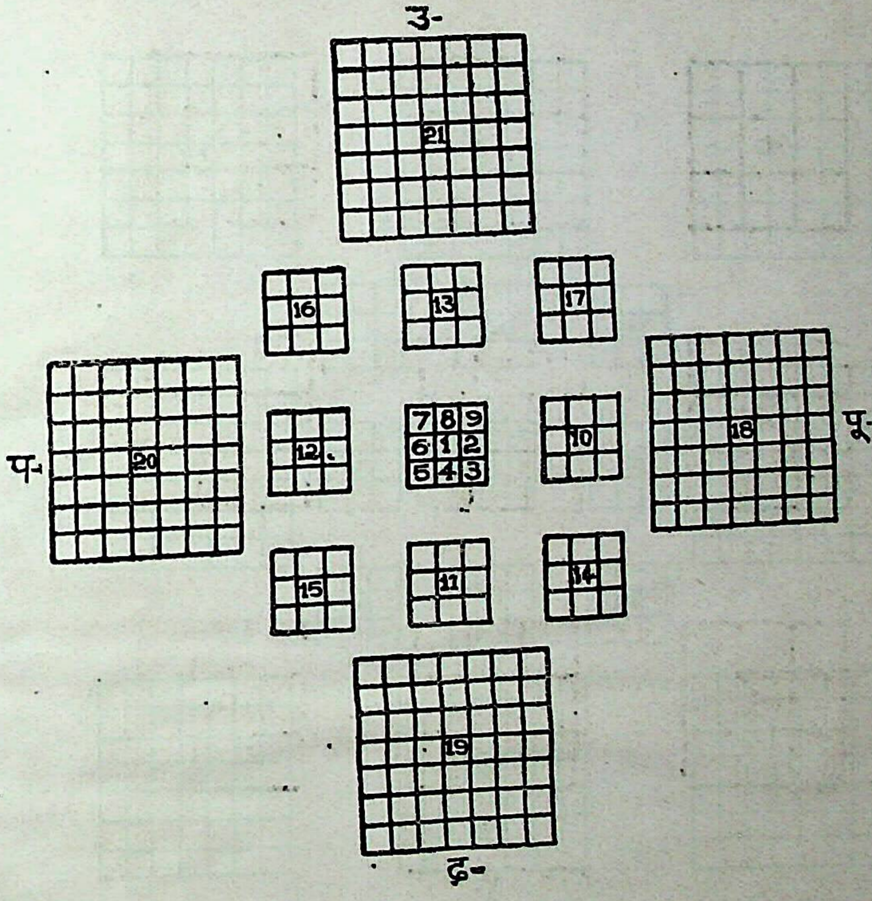
गजाननः



दुर्गा

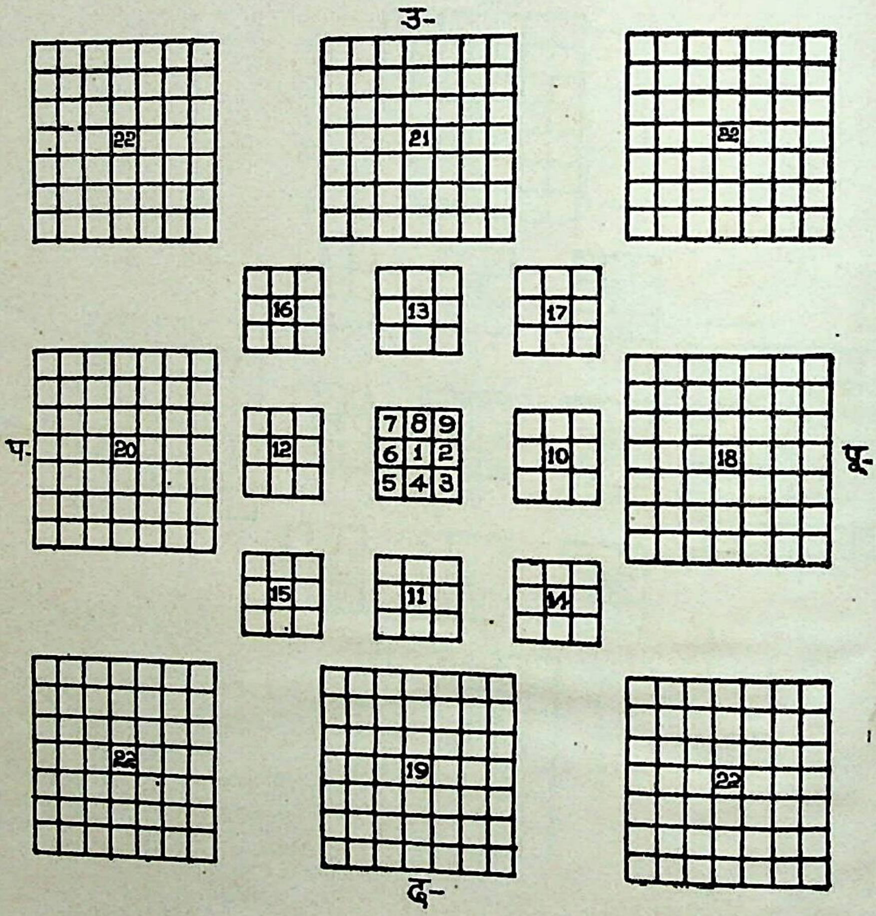


अधमस्नपनपीठम्



मध्यमस्नपनपीठम्

ञ



उत्तमस्नपनपीठम्